ॐ

श्री वीतरागाय नमः

प्रवचन सुधा

भाग - 6

श्रीमद् भगवत् कुन्दकुन्दाचार्यदेव विरचित प्रवचनसार परमागम
पर हुए परमपूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी के गुजराती
प्रवचनों का शब्दश: हिन्दी अनुवाद
(गाथा 127 से 171 तक)

अनुवादक

देवेन्द्रकुमार जैन

बिजौलियाँ - भीलवाड़ा (राज.)

प्रकाशक :

वीतराग सत्साहित्य प्रसारक ट्रस्ट

भावनगर (सौराष्ट्र)

प्रथमावृत्ति : 1000 प्रति

न्यौछावर राशि : 25 रुपये

प्रकाशक एवं प्राप्ति स्थान :

- **वीतराग सत् साहित्य प्रसारक ट्रस्ट**
  श्री सत्सुख प्रभावक ट्रस्ट
  580, जूनी माणेकवाड़ी, भावनगर–364001
  फोन : (0278) 423207/ 2151005
- **गुरु गौरव**
  श्री कुन्दकुन्द कहान जैन साहित्य केन्द्र
  पूज्य सोगानीजी मार्ग, सोनगढ़
- **तीर्थधाम मंगलायतन**
  अलीगढ़–आगरा मार्ग, सासनी–204216, (महामायानगर) उ.प्र.
- **श्री खीमजीभाई गंगर (मुम्बई) :** (022) 26161591
  श्री डोलरभाई हेमाणी (कोलकाता) : (033) 24752697
  अमी अग्रवाल (अहमदाबाद):(079) 25450492, 9377148963

टाइपसैटिंग :
विवेक कम्प्यूटर्स, अलीगढ़
vivekapal78@gmail.com

मुद्रण व्यवस्था :
भगवती ऑफसेट
15–सी, वंशीधर मिल कम्पाउण्ड
बारडोलपुरा, अहमदाबाद

प्रकाशकीय

श्रीमद् भगवत् कुन्दकुन्दाचार्यदेव प्रणीत पञ्च परमागमों में प्रवचनसार शास्त्र द्वितीय श्रुतस्कन्ध के सर्वोत्कृष्ट आगमों में से एक है। भगवान कुन्दकुन्दाचार्य की महिमा दर्शानेवाले अनेक शिलालेख आज भी विद्यमान हैं। उनके द्वारा लिखित शास्त्र, साक्षात् गणधरदेव के वचनों जितने ही प्रमाणभूत माने जाते हैं।

महाविदेहक्षेत्र में विद्यमान त्रिलोकनाथ वीतराग सर्वज्ञ परमदेवाधिदेव श्री सीमन्धर भगवान की प्रत्यक्ष दिव्यदेशना सुनकर, भरतक्षेत्र में आकर भगवान कुन्दकुन्दाचार्यदेव ने अनेक शास्त्रों की रचना की है। जिनशासन के अनेक मुख्य सिद्धान्तों के बीज इस प्रवचनसार शास्त्र में विद्यमान है। पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी इस ग्रन्थ के प्रवचनों में फरमाते हैं - प्र + वचन + सार। प्र अर्थात् दिव्यवचन। जो दिव्यध्वनि - तीन लोक के नाथ परमात्मा की दिव्यध्वनि, जो ओमध्वनि है - वह यहाँ कहते हैं। अत: यह प्रवचनसार ग्रन्थ है, वह भगवान श्री सीमन्धरस्वामी के दिव्य सन्देश ही हैं। तीन विभाग में विभाजित हुए इस ग्रन्थ में वस्तुस्वरूप को समझाते हुए मूलभूत सिद्धान्तों का प्रतिपादन हुआ है। जो मुमुक्षु जीव को महामिथ्यात्वरूपी अन्धकार को नष्ट करने के लिये दिव्यप्रकाश समान ही है।

महामिथ्यात्व से प्रभावित इस दुषम काल में ऐसे सर्वोत्कृष्ट परमागमों के सिद्धान्त समझने की सामर्थ्य अज्ञानी जीवों में कहाँ थी ? परन्तु भरतक्षेत्र के अहो भाग्य से तथा भव्यजीवों के उद्धार के लिये इस मिथ्यात्व के घोर तिमिर को नष्ट करने के लिये एक दिव्यप्रकाश हुआ! वह है कहान गुरुदेव!! पूज्य गुरुदेवश्री इस काल का एक अजोड़ रत्न हैं! जिन्होंने स्वयं के ज्ञान प्रवाह द्वारा गूढ़ परमागमों के रहस्य समझाये। जिनके घर में आगम उपलब्ध थे, उन्हें भी आगम समझने की शक्ति नहीं थी, ऐसे इस दुषम काल में पूज्य गुरुदेवश्री के परम प्रभावनायोग से घर-घर में मूलभूत परमागमों के स्वाध्याय की प्रणाली शुरु हुई। द्रव्य-गुण-पर्याय, उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य, निश्चय-व्यवहार, उपादान-निमित्त इत्यादि अनेकानेक वस्तुस्वरूप को स्पष्ट करते हुए सिद्धान्तों का पूज्य गुरुदेवश्री ने प्रकाश किया है।

प्रशममूर्ति पूज्य बहिनश्री चम्पाबेन के वचनानुसार 'पूज्य गुरुदेवश्री इस काल का एक अचम्भा ही हैं।' पूज्य गुरुदेवश्री को श्रुत की लब्धि थी। पञ्चम काल में निरन्तर अमृत झरती

गुरुदेवश्री की वाणी भगवान का विरह भुलाती है। इत्यादि अनेकानेक बहुमान सूचक वाक्य पूज्य गुरुदेवश्री की असाधारण प्रतिभा को व्यक्त करते हैं।

ऐसे भवोदधि तारणहार, निष्कारण करुणाशील, अध्यात्ममूर्ति पूज्य गुरुदेवश्री ने अनेक मूल परमागमों पर प्रवचन प्रदान करके दिव्य अमृतधारा बरसायी है। उन अनेक शास्त्रों में से एक प्रवचनसार जैसे गूढ़ परमागम पर पूज्य गुरुदेवश्री के प्रवचन प्रकाशित करने का महान सौभाग्य वीतराग सत्साहित्य प्रसारक ट्रस्ट को प्राप्त हुआ है। प्रवचनसार शास्त्र पर पूज्य गुरुदेवश्री के कुल 274 प्रवचन हुए हैं। मूल परमागम तीन अधिकारों में विभाजित है। उनमें अन्य अधिकारों के विभाग भी किये गये हैं जो प्रवचनसार शास्त्र की अनुक्रमणिका में दिये गये हैं। तद्नुसार 274 प्रवचनों को समाहित करने के लिये कुल ग्यारह भागों में प्रकाशित किया जायेगा। इस षष्ठम भाग में कुल 29 प्रवचन हैं। जिसमें गाथा-127 से 171 तक का समावेश होता है। ये गाथाएँ द्रव्य सामान्य अधिकार के शीर्षक के अन्तर्गत ली गयी हैं।

प्रस्तुत ग्रन्थ के स्वाध्याय में सरलता रहे तदर्थ मूल सूत्रकार श्रीमद् भगवत् कुन्दकुन्दाचार्यदेव की प्राकृत गाथायें, सूत्र टीकाकार आचार्य भगवान श्रीमद् भगवत् अमृतचन्द्राचार्यदेव की तत्त्वप्रदीपिका टीका तथा श्रीमद् भगवत् जयसेनाचार्यदेव की तात्पर्यवृत्ति टीका संस्कृत में दी गयी है। तदुपरान्त तीर्थधाम मङ्गलायतन द्वारा प्रकाशित प्रवचनसार परमागम के हरिगीत दिये गये हैं। साथ ही हिन्दी टीका भी समायोजित की गयी है।

समादरणीय सिद्धान्तनिष्ट जिनवाणी रहस्यज्ञ पूज्यभाईश्री शशिभाई के मार्गदर्शन में इससे पहले प्रवचन नवनीत भाग 1-4 प्रकाशित किये गये हैं। उसी अनुसार इन प्रवचनों के संकलन में भी पूर्ण सावधानी रखकर पूज्य गुरुदेवश्री की वाणी अक्षरशः सलामत रहे तथा भावों का प्रवाह भी यथावत् रहे, यह प्रयास किया गया है। पूज्य गुरुदेवश्री के सभी प्रवचन प्रकाशित हों ऐसी भाईश्री की भावना थी। तद्र्थ सभी प्रवचन कम्प्यूटर में पुस्तकाकाररूप आ जायें ऐसी भी उनकी शोध चलती थी। यह बात उनकी पूज्य गुरुदेवश्री के प्रति भक्तिभावना को प्रदर्शित करती है। इसलिए इस भावना का अनुसरण करके यह कार्य किया जा रहा है। अतः इस प्रसंग पर उनके उपकार का स्मरण करके उनके चरणों में वन्दन करते हैं।

वीतराग सत्साहित्य प्रसारक ट्रस्ट की नीति अनुसार इन प्रवचनों को सर्व प्रथम ओडियो कैसेट से अक्षरशः लिखा जाता है। तत्पश्चात् इन प्रवचनों का कैसेट सुनते-सुनते सम्पादन किया जाता है। वाक्य रचना को पूर्ण करने के लिये कोष्ठक भी भरा जाता है। जहाँ-जहाँ व्यक्तिगत सम्बोधन किया गया है अथवा व्यक्तिगत बात की गयी है वह इसमें नहीं ली गयी है। पूर्णरूप से

प्रवचन तैयार होने के बाद एक बार अन्य मुमुक्षु द्वारा उन्हें कैसेट के साथ मिलान किया जाता है। जिससे किसी भी प्रकार की भूल न रह पाये। इसके फलस्वरूप प्रवचन सुधा, भाग-6 प्रकाशित करते हुए हमें अत्यन्त हर्ष होता है।

इन प्रवचनों के प्रकाशन में जिन-जिन मुमुक्षुओं का सहयोग प्राप्त हुआ है, उनका भी यहाँ आभार प्रदर्शित करते हैं। प्रस्तुत प्रवचन ग्रन्थ का हिन्दी रूपान्तरण एवं एक बार पुनः सी.डी. प्रवचन से मिलान करने के लिये पण्डित देवेन्द्रकुमार जैन, बिजौलियाँ (राजस्थान) का आभार व्यक्त करते हैं।

प्रस्तुत ग्रन्थ की सुन्दर टाईप सेटिंग के लिये विवेककुमार पाल, विवेक कम्प्यूटर्स, अलीगढ़ तथा सुन्दर मुद्रण कार्य के लिये मैसर्स भगवती आफसेट का आभार व्यक्त करते हैं।

इन प्रवचनों के प्रकाशन में प्रमादवश या अजागृतिवश कोई क्षति रह गयी हो तो सर्व जिनेन्द्र भगवान से, आचार्य भगवन्तों से, जिनवाणी माता से तथा सर्व सत्पुरुषों से शुद्ध अन्त:करणपूर्वक क्षमा चाहते हैं।

अन्ततः इन प्रवचनों की दिव्यदेशना को अन्तर में ग्रहण करके। सभी जीव शीघ्र आत्महित को प्राप्त करें - ऐसी भावना के साथ। विराम लेते हैं।

ट्रस्टीगण

वीतराग सत्साहित्य प्रसारक ट्रस्ट

भावनगर

अनुक्रमणिका

क्रम संख्या	गाथा नम्बर	प्रवचन नम्बर	पृष्ठ संख्या
१	१२७	१४४, १४५	१
२	१२८	१४५	२३
३	१२९	१४५, १४६	३४
४	१३०	१४७	६२
५	१३१	१४७	७९
६	१३२	१४८	८२
७	१३३–१३४	१४९,१५०	९९
८	१३५	१५०	१२४
९	१३६	१५०	१३१
१०	१३७	१५१	१३८
११	१३८	१५१, १५२	१५२
१२	१३९	१५२, १५३	१६०
१३	१४०	१५३, १५४	१९३
१४	१४१	१५४, १५५	२१०
१५	१४२	१५५, १५६	२२७
१६	१४३	१५६	२४२
१७	१४४	१५६, १५७	२४९
१८	१४५	१५७, १५८	२६७
१९	१४६	१५८	२७८
२०	१४७	१५८	२८२
२१	१४८	१५८	२९१
२२	१४९	१५९	२९४
२३	१५०	१५९	३०१
२४	१५१	१५९, १६०	३०७

क्रम संख्या	गाथा नम्बर	प्रवचन नम्बर	पृष्ठ संख्या
२५	१५२	१६०	३२०
२६	१५३	१६१	३३१
२७	१५४	१६१, १६२, १६३	३४०
२८	१५५	१६३, १६४	३७२
२९	१५६	१६४	३८२
३०	१५७	१६४	३९४
३१	१५८	१६५	३९७
३२	१५९	१६५	४०५
३३	१६०	१६६, १६७, १६८	४१५
३४	१६१	१६८	४५५
३५	१६२	१६९	४६१
३६	१६३	१६९, १७०	४७५
३७	१६४	१७०, १७१	४९२
३८	१६५	१७१	४९९
३९	१६६	१७१	५०५
४०	१६७	१७१	५१५
४१	१६८	१७२	५२२
४२	१६९	१७२	५२६
४३	१७०	१७२	५३२
४४	१७१	१७२	५३६

ॐ

नमः श्री सिद्धेभ्यः

प्रवचन सुधा

(प्रवचनसार प्रवचन)

भाग – ६

ज्ञेयतत्त्व प्रज्ञापन

द्रव्यविशेष अधिकार

गाथा – १२७

द्रव्यसामान्यविज्ञाननिम्नं कृत्वेति मानसम्।
तद्विशेषपरिज्ञानप्राग्भारः क्रियतेऽधुना।।९।।

इति प्रवचनसारवृत्तो तत्त्वदीपिकायां श्रीमदमृतचंद्रसूरिविरचितायां ज्ञेयतत्त्वप्रज्ञापने द्रव्यसामान्यप्रज्ञापनं समाप्तम्।।

अथ द्रव्यविशेषप्रज्ञापनम्। तत्र द्रव्यस्य जीवाजीवत्वविशेषं निश्चिनोति -

दव्वं जीवमजीवं जीवो पुण चेदणोवओगमओ।
पोग्गलदव्वप्पमुहं अचेदणं हवदि य अजीवं।। १२७।।

द्रव्यं जीवोऽजीवो जीवः पुनश्चेतनोपयोगमयः।
पुद्‌गलद्रव्यप्रमुखोऽचेतनो भवति चाजीवः।। १२७।।

इह हि द्रव्यमेकत्वनिबन्धनभूतं द्रव्यत्वसामान्यमनुज्झदेव तदधिरूढविशेषलक्षणसद्भावाद-न्योन्यव्यवच्छेदेन जीवाजीवत्वविशेषमुपढौकते। तत्र जीवस्यात्मद्रव्यमेवैका व्यक्तिः। अजीवस्य पुनः पुद्‌गलद्रव्यं धर्मद्रव्यमधर्मद्रव्यं कालद्रव्यमाकाशद्रव्यं चेति पञ्च व्यक्तयः। विशेषलक्षणं जीवस्य चेतनोपयोगमयत्वं; अजीवस्य पुनरचेतनत्वम्। तत्र यत्र स्वधर्मव्यापकत्वात्स्वरूपत्वेन द्योतमानयानपायिन्या भगवत्या संवित्तिरूपया चेतनया, तत्परिणामलक्षणेन द्रव्यवृत्तिरूपेणो-पयोगेन च निर्वृत्तत्वमवतीर्णं प्रतिभाति स जीवः। यत्र पुनरुपयोगसहचरिताया यथोदितलक्षणाया-श्चेतनाया अभावाद्बहिरन्तश्चाचेतनत्वमवतीर्णं प्रतिभाति सोऽजीवः।।१२७।।

एवमेकसूत्रेण पञ्चमस्थलं गतम्। इति सामान्यज्ञेयाधिकारमध्ये स्थलपञ्चकेन भेदभावना गता। इत्युक्तप्रकारेण `तम्हा तस्स णमाइं' इत्यादिपञ्चत्रिंशत्सूत्रैः **सामान्यज्ञेयाधिकार**व्याख्यानं समाप्तम्। इत ऊर्ध्वमेकोनविंशतिगाथाभिर्जीवाजीवद्रव्यादिविवरणरूपेण विशेषज्ञेयव्याख्यानं करोति। तत्राष्टस्थलानि भवन्ति। तेष्वादौ जीवाजीवत्वकथनेन प्रथमगाथा, लोकालोकत्वकथनेन द्वितीया, सक्रियनिःक्रियत्वव्याख्यानेन तृतीया चेति। `दव्वं जीवमजीवं' इत्यादिगाथात्रयेण प्रथमस्थलम्। तदनन्तरं ज्ञानादिविशेषगुणानां स्वरूपकथनेन `लिंगेहिं जेहिं' इत्यादिगाथाद्वयेन द्वितीयस्थलम्। अथानन्तरं स्वकीयस्वकीयविशेषगुणोपलक्षितद्रव्याणां निर्णयार्थं `वण्णरस' इत्यादिगाथात्रयेण तृतीयस्थलम्। अथ पञ्चास्तिकायकथनमुख्यत्वेन `जीवा पोग्गलकाया' इत्यादिगाथाद्वयेन चतुर्थस्थलम्। अतः परं द्रव्याणां लोकाकाशमाधार इति कथनेन प्रथमा, यदेवाकाशद्रव्यस्य प्रदेशलक्षणं तदेव शेषाणामिति कथनरूपेण द्वितीया चेति `लोगालोगेसु' इत्यादिसूत्रद्वयेन पञ्चमस्थलम्। तदनन्तरं कालद्रव्यस्याप्रदेशत्वस्थापनरूपेण प्रथमा, समयरूपः पर्यायकालः कालाणुरूपो द्रव्यकाल इति कथनरूपेण द्वितीया चेति `समओ दु अप्पदेसो' इत्यादिगाथाद्वयेन षष्ठस्थलम्। अथ प्रदेशलक्षणकथनेन प्रथमा, तिर्यक्प्रचयोर्ध्वप्रचयस्वरूपकथनेन द्वितीया चेति `आगासमणुणिविट्ठं' इत्यादिसूत्रद्वयेन सप्तमस्थलम्। तदनन्तरं कालाणुरूपद्रव्यकालस्थापनरूपेण `उप्पादो पद्धंसो' इत्यादिगाथात्रयेणाष्टम-स्थलमिति विशेषज्ञेयाधिकारे समुदायपातनिका। तद्यथा - अथ जीवाजीवलक्षणमावेदयति- **दव्वं जीवमजीवं** द्रव्यं जीवाजीवलक्षणं भवति। **जीवो पुण चेदणो** जीवः पुनश्चेतनः स्वतःसिद्धया बहिरङ्गकारणनिरपेक्षया बहिरन्तश्च प्रकाशमानया नित्यरूपया निश्चयेन परमशुद्धचेतनया, व्यवहारेण पुनरशुद्धचेतनया च युक्तत्वाच्चेतनो भवति। पुनरपि किंविशिष्टः। **उवजोगमओ** उपयोगमयः अखण्डैकप्रतिभासमयेन सर्वविशुद्धेन केवलज्ञान-दर्शनलक्षणेनार्थग्रहणव्यापाररूपेण निश्चयनयेनेत्थंभूत-शुद्धोपयोगेन, व्यवहारेण पुनर्मतिज्ञानाद्यशुद्धो-पयोगेन च निर्वृत्तत्वान्निष्पन्नत्वादुपयोगमयः। **पोग्गलदव्वप्पमुहं**

अचेदणं हवदि अज्जीवं पुद्गल-द्रव्यप्रमुखचेतनं भवत्यजीवद्रव्यं; पुद्गलधर्माधर्माकाशकालसंज्ञं द्रव्यपञ्चकं पूर्वोक्तलक्षणचेतनाया उपयोगस्य चाभावादजीवमचेतनं भवतीत्यर्थः।।१२७।।

अब, द्रव्यविशेष का प्रज्ञापन करते हैं (अर्थात् द्रव्यविशेषों को – द्रव्य के भेदों को – बतलाते हैं)। उसमें (प्रथम), द्रव्य के जीव-अजीवपनेरूप विशेष को निश्चित करते हैं, (अर्थात् द्रव्य के जीव और अजीव – ऐसे दो भेद बतलाते हैं) –

हैं द्रव्य जीव-अजीव अरु, जीव चेतना-उपयोग है।
पुद्गल प्रमुख जो हैं अचेतन, द्रव्य सब ही अजीव है॥

अन्वयार्थ – **[द्रव्यं]** द्रव्य **[जीवः अजीवः]** जीव और अजीव है। **[पुनः]** उसमें **[चेतनोपयोगमयः]** चेतनामय तथा उपयोगमय सो **[जीवः]** जीव है, **[च]** और **[पुद्गलद्रव्यप्रमुखः अचेतनः]** पुद्गलद्रव्यादिक अचेतन द्रव्य वे **[अजीवः भवति]** अजीव हैं।

टीका : यहाँ (इस विश्व में) द्रव्य, एकत्व के कारणभूत द्रव्यत्वसामान्य को छोड़े बिना ही, उसमें रहे हुए विशेष लक्षणों के सद्भाव के कारण एक-दूसरे से पृथक् किये जाने पर जीवत्वरूप और अजीवत्वरूप विशेष को प्राप्त होता है। उसमें, जीव का आत्मद्रव्य ही एक भेद है; और अजीव के पुद्गलद्रव्य, धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य, कालद्रव्य, तथा आकाशद्रव्य – यह पाँच भेद हैं। जीव का विशेष लक्षण चेतना-उपयोगमयत्व (चेतनामयपना और उपयोगमयपना) है; और अजीव का, (विशेष लक्षण) अचेतनपना है। वहाँ (जीव के) स्वधर्मों में व्यापनेवाली होने से (जीव के) स्वरूपरूप से प्रकाशित होती हुई, अविनाशिनी, भगवती, संवेदनरूप चेतना के द्वारा तथा चेतनापरिणामलक्षण, द्रव्यपरिणतिरूप[१] उपयोग के द्वारा जिसमें निष्पन्नता (रचनारूपपना) अवतरित प्रतिभासित होता है, वह जीव है और जिसमें उपयोग के साथ रहनेवाली, यथोक्त[२] लक्षणवाली चेतना का अभाव होने से बाहर तथा भीतर अचेतनपना अवतरित प्रतिभासित होता है, वह अजीव है।

---

१. चेतना का परिणामस्वरूप उपयोग जीवद्रव्य की परिणति है।
२. यथोक्त लक्षणवाली = ऊपर कहे अनुसार लक्षणवाली (चेतना का लक्षण ऊपर ही कहने में आया है।)

भावार्थ – द्रव्यत्वरूप सामान्य की अपेक्षा से द्रव्यों में एकत्व है, तथापि विशेष लक्षणों की अपेक्षा से उनके जीव और अजीव ऐसे दो भेद हैं। जो (द्रव्य) भगवती चेतना के द्वारा और चेतना के परिणामस्वरूप उपयोग द्वारा रचित है, वह जीव है, और जो (द्रव्य) चेतनारहित होने से अचेतन है, वह अजीव है। जीव का एक ही भेद है; अजीव के पाँच भेद हैं। इन सबका विस्तृत विवेचन आगे किया जायेगा॥ १२७॥

प्रवचन नं. १४४ श्रावण कृष्ण ११ शनिवार, १९ अगस्त १९७९

'प्रवचनसार' श्लोक नववाँ। **(अब, श्लोक द्वारा नवीन विषय...)** नवीन विषय (अर्थात्) द्रव्य की विशेषता के प्रकार। उसके **(वर्णन को – सूचित किया जाता है –)**

द्रव्यसामान्यविज्ञाननिम्नं कृत्वेति मानसम्।
तद्विशेषपरिज्ञानप्राग्भारः क्रियतेऽधुना॥ ९॥

अर्थ – **इस प्रकार द्रव्यसामान्य....** द्रव्यसामान्य अर्थात् विशेष के छह प्रकार के (बिना का सामान्य) द्रव्य – सब द्रव्य। द्रव्य में से कोई छह द्रव्य में नहीं है — ऐसा है? सब द्रव्य। उस **द्रव्यसामान्य के ज्ञान से मन को गम्भीर करके...** मूल पाठ तो यह है कि **विज्ञाननिम्नं 'विज्ञाननिम्नं'** (अर्थात्) विज्ञान में ढला हुआ, मुड़ा हुआ (है), इसलिए **गम्भीर करके** ऐसा उसका अर्थ किया।

द्रव्यसामान्य के ज्ञान से... 'विज्ञान' शब्द है न पाठ में? मन को **'निम्नं'....** 'निम्नं' (अर्थात्) **गम्भीर करके,...** मन को द्रव्यसामान्य के ज्ञान में झुकाकर, अन्तर्मुख करके, **अब द्रव्यविशेष के परिज्ञान का प्रारम्भ किया जाता है।** (अर्थात्) द्रव्य के जो भिन्न-भिन्न भेद हैं, (उसे कहेंगे)। सामान्य द्रव्य की व्याख्या तो कही लेकिन भिन्न-भिन्न छह द्रव्य की व्याख्या (कहेंगे)। (द्रव्य) विशेष के परिज्ञान (अर्थात्) विस्तारपूर्वक ज्ञान। परिज्ञान है न? परि अर्थात् समस्त प्रकार से। **प्रारम्भ किया जाता है।**

इस प्रकार (श्रीमद् भगवत्कुन्दकुन्दाचार्यदेव प्रणीत) श्री प्रवचनसार शास्त्र की श्रीमद् अमृतचन्द्राचार्यदेव... इसमें दोनों में 'श्रीमद्' (शब्द) तो आता है, हाँ!

भगवान को भी श्रीमद् कहते हैं - भगवान अरहन्त! 'कुन्दकुन्दाचार्य' श्रीमद्, 'अमृतचन्द्राचार्यदेव' श्रीमद्। टीका में आता है - श्री अरहन्त - श्रीमद् अरहन्त भगवान! श्रीमद् - स्वरूप की लक्ष्मीवाले! उसी प्रकार यहाँ (कहते हैं) **(श्रीमद्भगवान-कुन्दकुन्दाचार्यदेव प्रणीत) श्री प्रवचनसार शास्त्र की श्रीमद् अमृतचन्द्राचार्यदेव** विरचित **तत्त्वदीपिका नाम की टीका में ज्ञेयतत्त्व-प्रज्ञापन में द्रव्यसामान्य प्रज्ञापन समाप्त हुआ)**। सामान्य द्रव्य की व्याख्या कही।

अब, द्रव्यविशेष का प्रज्ञापन करते हैं (अर्थात् द्रव्यविशेषों को - द्रव्य के भेदों को....) द्रव्य कितने प्रकार के हैं (उनके) **(भेदों को - बतलाते हैं)। उसमें (प्रथम), द्रव्य के जीव-अजीवपनेरूप विशेष को निश्चित करते हैं,....** पहले सामान्य द्रव्य कहा था। अब जीव और अजीव ऐसे (भेद) किये। जीव एक और अजीव के पाँच (ऐसे) छह द्रव्य हुए। आहा...हा...! **(अर्थात् द्रव्य के जीव और अजीव - ऐसे दो भेद बतलाते हैं)** - गाथा!

दव्वं जीवमजीवं जीवो पुण चेदणोवओगमओ।
पोग्गलदव्वप्पमुहं अचेदणं हवदि य अजीवं।। १२७।।

हैं द्रव्य जीव-अजीव अरु, जीव चेतना-उपयोग है।
पुद्गल प्रमुख जो हैं अचेतन, द्रव्य सब ही अजीव है॥

भगवान के ज्ञान में छह द्रव्य देखे (गये) हैं। सामान्य द्रव्य की व्याख्या हो गई। छह द्रव्य हैं और ज्ञान की पर्याय का धर्म इतना है। द्रव्य का स्वभाव तो अलौकिक है परन्तु ज्ञान की पर्याय का स्वभाव छह द्रव्य को जानना (है), तब वह पर्याय पूर्ण होती है। द्रव्य तो पूर्ण है, भगवान आत्मा, हाँ! उसकी पर्याय छह द्रव्य को जाने, उतनी ताकतवाली वह पर्याय पूर्ण है! समझ में आया?

स्वद्रव्य के ज्ञानपूर्वक परद्रव्य को जाने — ऐसी पर्याय की ताकत है। परद्रव्य को छुए बिना.... आहा...हा....! अपनी पर्याय, द्रव्य को छुए बिना, अपनी पर्याय दूसरे द्रव्य को छुए बिना अपनी पर्याय में उसका ज्ञान होता है। ऐसी बात बहुत सूक्ष्म है, भाई! समझ में आया?

टीका - यहाँ (इस विश्व में) द्रव्य, एकत्व के कारणभूत..... (अर्थात्) द्रव्य - छहों द्रव्य। **एकत्व के कारणभूत द्रव्यत्वसामान्य को छोड़े बिना ही,....** सभी द्रव्य सामान्यरूप से द्रव्य हैं ही किन्तु अब उनके भेद करते हैं। **उसमें रहे हुए विशेष लक्षणों के सद्भाव के कारण.....** सामान्य द्रव्य तो कहा। अब, प्रत्येक द्रव्य का भिन्न-भिन्न लक्षण है (उसे बतलाते हैं)। **विशेष लक्षणों के सद्भाव....** सद्भाव - विशेष लक्षण का (सद्भाव)। प्रत्येक द्रव्य के विशेष लक्षणों का सद्भाव (है) कि जिस लक्षण से वह द्रव्य जानने में आता है।

एक-दूसरे से पृथक् किये जाने पर..... आहा....हा....! विशेष लक्षणों की अस्ति के कारण एक-दूसरे से भिन्न किये जाने पर **जीवत्वरूप और अजीवत्वरूप विशेष को प्राप्त होता है।** सामान्य द्रव्य जो कहा, अब द्रव्य के दो भेद किये - जीव (और) अजीव। जीव में एक आया और अजीव में पाँच आये। आ....हा....हा...!

उसमें, जीव का आत्मद्रव्य ही एक भेद है;.... जीव भले अनन्त हो परन्तु आत्मद्रव्य ही उसका एक प्रकार है। **और अजीव के पुद्गलद्रव्य, धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य, कालद्रव्य, तथा आकाशद्रव्य - यह पाँच भेद हैं।**

जीव का विशेष लक्षण.... पहले कहा था न? **विशेष लक्षणों के सद्भाव के कारण एक-दूसरे से पृथक् किये जाने पर.....** प्रत्येक द्रव्य के विशेष लक्षण द्वारा दूसरे द्रव्य से पृथक्-भिन्न करने से। द्रव्यरूप से एक है (अर्थात्) सब द्रव्य... द्रव्य.... द्रव्य....(है)। परन्तु द्रव्य के भेद (होते) हैं (वह) उसके विशेष लक्षण द्वारा उन द्रव्यों के भेद जानने में आते हैं। आहा....हा....!

जीव का विशेष लक्षण चेतना-उपयोगमयत्व.... आ...आ....हा...! जीव का विशेष लक्षण चेतना अर्थात् त्रिकाली स्वभाव। चेतना त्रिकाली स्वभाव (और) उपयोग उसका परिणमन - पर्याय। आत्मद्रव्य का चेतना लक्षण है और यह चेतना चेतन का लक्षण है। चेतनद्रव्य का चेतना लक्षण है और चेतनागुण है और उसका परिणमन उपयोगरूपी परिणमन (है)। वह चेतन की उपयोग दशा है। आहा...हा...! उपयोग दशा द्वारा चेतना और चेतना को धारण करनेवाला चेतन (द्रव्य का) ज्ञान होता है। थोड़ी सूक्ष्म बात है। समझ में आया?

पाँच अजीवद्रव्यों से जीवद्रव्य भिन्न (है)। भिन्न का लक्षण क्या? द्रव्य लक्षणभेद से भिन्न है न? तो उसका लक्षण चेतना है। चेतनद्रव्य का चेतना लक्षण है। इस चेतना से यह (चेतन) द्रव्य है — ऐसा जानने में आता है परन्तु यह चेतना किस में जानने में आती है? (तो कहते हैं कि) चेतना के उपयोग में जानने में आता है। गुण तो है.... समझ में आया? परन्तु इस चेतन का चेतना गुण है और उसके उपयोग में जानने में आता है। उपयोग (अर्थात्) जानना-देखना जो उपयोग है, उसके द्वारा चेतना और चेतन का ज्ञान होता है। ऐसी बातें हैं! आहा...हा...! समझ में आया?

जीवद्रव्य को किस लक्षण से जानने में (आता है)? जीव द्रव्य लक्ष्य (है तो उसका) लक्षण क्या? दूसरे द्रव्य से उसका लक्षण भिन्न हो तो भिन्न रहता है न? तो भगवान चेतन द्रव्य है, उसका चेतना गुण (है), यह लक्षण (है)। यह ध्रुव लक्षण (है) परन्तु इस लक्षण को और द्रव्य को जाननेवाला चेतन का परिणमन (है)। आहा...हा...! चेतन का परिणमन, रागादि नहीं। चेतन का परिणमन (अर्थात्) उपयोग। इस उपयोग से चेतना लक्षण और द्रव्य लक्ष्य — इस उपयोग में जानने में आता है। अरे...! अरे...! ऐसी बात!

मुमुक्षु - 'तत्त्वार्थसूत्र' में एक उपयोग ही आता है।

पूज्य गुरुदेवश्री - 'तत्त्वार्थसूत्र' में उपयोग के भेद किये हैं। उपयोग के भेद करके जीवतत्त्व को अशुद्ध चेतनामय भी गिनने में आया है। यहाँ भी 'जयसेनाचार्यदेव' की टीका में लिया है। भाई! टीका में लिया है। **शुद्धोपयोगेन, व्यवहारेण पुनर्मतिज्ञानाद्य-शुद्धोपयोगेन** लिया है। **निश्चयेन परमशुद्धचेतना, व्यवहारेण पुनरशुद्धचेतनया** संस्कृत टीका में है।

वहाँ भी ऐसा लिया है, आत्मतत्त्व - शुद्ध-अशुद्ध चेतनावाला आत्मतत्त्व। उसके भेद (किये)। अकेली शुद्ध चेतना (कहे) तो नहीं समझे। 'तत्त्वार्थसूत्र' में ऐसा लिया है। राग-द्वेष अशुद्ध चेतना भी उसमें है और शुद्ध चेतना - निर्मल परिणमन भी उसमें है। तो निर्मल परिणमन द्वारा चेतना और चेतन का ज्ञान हुआ (और) साथ में अशुद्ध परिणमन है, उसका भी चेतना उपयोग में ज्ञान हुआ। आहा...हा...! क्या कहा?

भगवान आत्मा चेतनद्रव्य है। छह द्रव्य तो अजीव हैं। यह चेतनद्रव्य है तो किस

लक्षण से चेतन ख्याल में आता है ? (तो कहते हैं कि) चेतना लक्षण गुण (है) यह गुण दूसरे (द्रव्य) में नहीं है। (इस) चेतना से लक्ष्य में आता है। चेतना से लक्ष्य में आता है (तो) इस चेतना गुण से लक्ष्य में आता है या उसके परिणमन से लक्ष्य में आता है ? ऐसी बात है, प्रभु ! क्या हो ? चेतना तो त्रिकाली ध्रुव है परन्तु उसका परिणमन जो होता है, (उसमें लक्ष्य में आता है)। आ...हा...हा... ! सूक्ष्म बात, प्रभु ! ये तो एक-एक श्लोक अलौकिक (है) ! 'प्रवचनसार' है, भगवान की दिव्यध्वनि का सार है !! आ...हा....हा... !

कहते हैं कि छह द्रव्य में जीवद्रव्य की विशेषता - भिन्नता उसके लक्षण से भिन्नता जानने में आती है। तो यह लक्षण क्या ? प्रभु चैतन्य का लक्षण क्या ? चेतना लक्षण है। वह तो ध्रुव है। चेतना से लक्ष्य में आता है — ऐसा तो वहाँ है नहीं। ध्रुव से ध्रुव लक्ष्य में आता है ? चेतन का चेतना लक्षण, जीवद्रव्य का चेतना स्वभाव - लक्षण, उसके परिणमन में ख्याल में आता है। चैतन्य का परिणमन हुआ, चेतना का परिणमन उपयोग हुआ, वह उपयोग लक्षण (है) और चेतना लक्ष्य (है) और चेतना लक्षण और द्रव्य लक्ष्य (है) परन्तु यह चेतना लक्षण जीवद्रव्य का है, उसका ख्याल किस में आता है ? उपयोग - चेतना का जो उपयोग - परिणमन है, उसमें (यह) चेतना (है) — ऐसा लक्ष्य में आता है। आ...हा...हा... ! ऐसी बातें हैं ! और उसे तो निर्णय हो जाता है कि भव्य तो हूँ लेकिन सम्यग्दृष्टि हूँ ! उसे भगवान को पूछने जाना नहीं पड़े। समझ में आया ?

यह प्रश्न (संवत) १९९० की साल में राजकोट में हुआ था (कि) भव्य है या (अभव्य) ? अरे... ! भव्य (अभव्य) का प्रश्न ही नहीं है। मैं एकान्त भवि तो हूँ ही। आ...हा... ! मोक्ष के लायक ही मैं हूँ। अभव्य भव्य का प्रश्न यहाँ है नहीं, और मार्गणा में तो ऐसा कहा है न कि भव्य-अभव्य की शोध मत कर क्योंकि पर्याय का भेद है न ? भव्य पर्याय में है और एक अभव्य (पर्याय में है)। अभव्य का त्रिकाल गुण है नहीं और भव्य का त्रिकाली गुण (नहीं है)। वह तो वर्तमान पर्याय में लायकात से भव्य है और वर्तमान पर्याय में लायकात नहीं है, वह अभव्य है। आ...हा...हा... ! ऐसा सब (है)। (आप के) हीरे-मानिक से (अलग बात है)।

चैतन्य-हीरे को कैसे परखना ? चेतनास्वभाव से उसे परखना। भगवान आत्मा

चेतना से है — ऐसा जान परन्तु वह चेतना से है, ऐसा ध्रुव में तो जानने में आता नहीं। आहा...हा... ! दो शब्द हैं न ? **चेदणोवओगमओ** ऐसी भाषा है न ? मूल पाठ (है)। **दव्वं जीवमजीवं जीवो पुण चेदणोवओगमओ।** आ...हा...हा... ! चेतना का जो उपयोग - परिणमन - पर्याय है (उसमें ख्याल में आता है)। चेतना गुण है, चेतना गुण का आधार द्रव्य है और चेतन का यह चेतना लक्षण है। ऐसा होने पर भी ध्रुव से वह अनुभव में नहीं आता। आहा...हा... ! वह परिणमन में ख्याल में आ गया (अर्थात्) उपयोगरूपी परिणमन में चेतना, चेतन का लक्षण है — ऐसा उपयोग में ख्याल में आया। आ...हा...हा... ! तब तो वह उपयोग ज्ञानचेतना हुआ। आ...हा...हा... ! क्या प्रभु की गम्भीरता ! ! आ...हा...हा... ! समझ में आया ?

भगवान आत्मा — चेतन को दूसरे द्रव्य से भिन्न जानने का लक्षण क्या ? भगवान आत्मा को दूसरे द्रव्य से, जड़ से - पाँच अजीव से, पुद्गल से, कर्म से (भिन्न जानने का लक्षण क्या ?) कर्म भी पुद्गल है न ? पुद्गल का लक्षण पुद्गल में है। भगवान तो उसके लक्षण से भिन्न है। आ....हा...हा...हा... ! चेतना चेतन का लक्षण है परन्तु यह लक्षण तो ध्रुव है परन्तु ध्रुव जानने में कब आया कि यह चेतना चेतन का लक्षण है ? आ...हा...हा... ! जाननरूप परिणमन हुआ... यहाँ तो सीधी बात है... आ...हा...हा... ! जाननरूप - ज्ञानचेतना (का) परिणमन हुआ, तब ख्याल में आया कि यह चेतना लक्षण (है) और लक्ष्य द्रव्य (है), वह उपयोग में ख्याल में आया। आ...हा...हा... ! वहाँ तो निर्णय भी हो गया कि मैं तो भव्य हूँ और चेतना (को) जानने से मैं तो समकितदृष्टि हूँ। आ...हा...हा... ! समझ में आया ? भगवान को पूछना नहीं पड़े (कि) भगवान जाने !

अरे...र... ! ऐसी बड़ी-बड़ी बातें लिखी और अन्त में यह तात्पर्य निकाला। आत्मा हम और तुम — ऐसा लिया है। हम और तुम, भव्य-अभव्य है, काललब्धि परिपक्व हुई, नहीं हुई वह सर्वज्ञ जाने। अरे...रे... ! प्रभु ! क्या करता है ? भाई ! अभी तो अभव्य हूँ या भव्य इस निर्णय का - ज्ञान का कहाँ ठिकाना है ? बड़ी भूल (है), भाई ! आहा...हा... ! क्या हो ? भाई ! अरे... ! पुण्य को लेकर दस-दस हजारी आदमी इकट्ठे हों। विद्यालय स्थापनेवाले हैं। जयपुर में महाविद्यालय (स्थापेंगे)। महाविद्यालय स्थापित करके उनकी

श्रद्धावाले पण्डितों को भेजेंगे। आज आया है, स्पष्ट लिखा है — हम-तुम भव्य है या अभव्य हैं और हमारी-तुम्हारी काललब्धि परिपक्व हुई या नहीं हुई? — ये सर्वज्ञ जाने। अर...र...र...!

मुमुक्षु - सम्यग्दृष्टि हो उन्हें मालूम पड़े।

पूज्य भाईजी - लेकिन अन्दर में ज्ञान का आनन्द आया और ज्ञान और आनन्द स्वरूप परिपूर्ण है (— ऐसा) नमूना से सारा (द्रव्य) परिपूर्ण है (— ऐसा अनुभव हुआ)। भव्य तो हुआ परन्तु मैं समकिती हूँ और अल्पकाल में मेरी केवलज्ञान पाने की तैयारी है! आहा...हा....! समझ में आया? ऐसी बातें है, बापू! बहुत कठिन काम। वर्तमान में तो ऐसी गड़बड़ कर दी है....

भगवान चैतन्य का नाथ अन्दर विराजता है! आहा...हा...! उसका जो ज्ञान होता है, वह ज्ञानचेतना (है)। इस ज्ञानचेतना के साथ अशुद्ध कर्म और कर्मफलचेतना भी है। समझ में आया? परन्तु इस ज्ञानचेतना में ज्ञान द्वारा चेतना और द्रव्य जानने में आया तो इस ज्ञान उपयोग में अशुद्धपना भी चेतना में है, उसका भी ज्ञानचेतना में ख्याल में आया। समझ में आया? क्योंकि अशुद्ध चेतना कोई जड़ में होती नहीं। शुभाशुभ परिणाम मलिन (हैं) और उसका फल दु:ख कोई पाँच द्रव्य में होता नहीं, मेरी पर्याय में है। आ...हा...हा...! समझ में आया? ओ...हो...हो...!

मेरी पर्याय (का) जो ज्ञान उपयोगरूप परिणमन हुआ, इस परिणमन से चेतना में चेतन का भान हुआ, उसके साथ अशुद्धचेतना भी है। साधक की बात है न? (इसलिए) अशुद्धचेतना भी है परनतु इस अशुद्धचेतना का शुद्ध उपयोग की चेतना में ज्ञान होता है कि अभी परिणमन में अशुद्धपना है। समझ में आया? अरे...! ऐसी व्याख्या! कभी उसके पिता ने भी सुनी न हो! पिता का आत्मा भिन्न है, ये आत्मा भिन्न है।

'श्रेणिक' राजा मरकर नरक में गये, और 'अभयकुमार' मोक्ष में गये। लड़का मोक्ष में गया और पिता नरक में गये। आ...हा...हा...! 'श्रेणिक' राजा तीर्थंकर होनेवाले हैं! परन्तु इस समय नरक में गये हैं। आ...हा...हा...! क्षायिक सम्यग्दर्शन! पूर्व में भव-बन्धन हो गया, नरक की आयुष्य का बन्धन हो जाये, उसमें कमी होती है किन्तु अभाव नहीं

होता। नरक गति के बन्ध में बड़ी स्थिति का बन्ध पड़ा था। मुनि की अशातना की थी तब बड़ी स्थिति थी। मुनि थे, आत्मा के आनन्द में रमते थे। ('श्रेणिक' राजा) बौद्धमति थे। एक मरा हुआ सर्प था, (उसे) उठाकर (मुनिराज के) गले में डाल दिया। लाखों चींटियाँ थी (लेकिन) मुनि तो ध्यान-आनन्द में हैं। घर पर रानी समकिती थी। 'चेलना रानी'! आ...हा...हा...! उसे कहा कि तेरे गुरु के गले में मैं सर्प डालकर आया हूँ। उन्होंने निकाल दिया होगा। (तो रानी कहते है) प्रभु! ऐसा नहीं होता। ऐसे हमारे गुरु नहीं होते। हमारे गुरु तो उस उपसर्ग के समय ध्यान में होते हैं, आनन्द में होते हैं! (तो राजा कहते हैं) अरे...! निकाल नहीं देते? ऐसी करोड़ों चीटिंयाँ हैं! (रानी कहती है) प्रभु! चलिए देखने! अन्नदाता, देखिये! वहाँ जाते हैं (और देखते हैं तो) मुनि तो अतीन्द्रिय आनन्द में मस्त (हैं)!! आ...हा...हा...! सर्प को निकाल दिया। (रानी कहती हैं) राजा! देखिये! मुनि ध्यान और आनन्द में हैं! वे मुनि जब (शुद्ध) उपयोग से बाहर आते हैं... आ...हा...हा...! (कहते हैं)। राजन! क्या है? आ...हा...!

श्वेताम्बर में तो आता है कि राजन! तुम अनाथ हो! तेरे आत्मा का कोई शरण नहीं। (राजा कहता है) प्रभु! मैं अनाथ हूँ या आप अनाथ हैं? अकेले हो, कोई साधन नहीं। आ...हा...हा...! (मुनिराज कहते हैं कि) मैं अनाथ हूँ या तुम अनाथ हो? तेरे आत्मा को शरण नहीं, तुम अनाथ हो। हम तो सनाथ हैं। आ...हा...! (राजा को बोध दिया) और समकित प्राप्त किया। आ...हा...हा...! सम्यक् प्राप्त किया और भगवान के पास समवसरण में गये, वहाँ क्षायिक समकित हुआ। पहले उपशम (सम्यग्दर्शन) था, फिर तुरन्त क्षयोपशम हुआ। 'धवल' में ऐसा पाठ है कि तुरन्त ही मिथ्यात्व हो जाता है और एक जगह ऐसा पाठ है कि उपशम होकर तुरन्त क्षयोपशम होता है। ऐसी दो (बातें) 'धवल' हैं।

यहाँ कहते हैं कि वह तो उपशम में से क्षयोपशम हुआ और भगवान के पास गये.... आ...हा...हा...! तो उनके समीप में, अपने समीप में अन्दर में विशेष एकाग्र हुए तो क्षायिक समकित हुआ। आहा...हा...! और तीर्थंकरगोत्र बाँधने की शुरुआत हो गई। आहा...हा...! अभी तो सम्यग्दृष्टि हैं, श्रावक - पंचम गुणस्थान की भी दशा नहीं है। मुनि की दशा भी नहीं है। आ...हा...हा...! (मुनि) अन्तर आनन्द (की) दशा में झूलते हैं!

आहा...हा...! 'श्रेणिक' को कहते हैं, प्रभु! तू अनाथ है, भाई! अन्दर भगवान चैतन्य है, वह तुझे शरण है। (राजा कहते हैं) महाराज! मैं राजन हूँ, मैं अनाथ? मुझे पहचाना नहीं। (मुनिराज कहते हैं) राजन कहकर तुझे बुलाया, मालूम नहीं? तू राजा है। पुण्य की प्रकृति (दिखती है)। तेरे शरीर में पुण्य के ठाठ दिखते हैं! शरीर का तेज! तेजस्वी शरीर, चमकवाला शरीर और तेरे गहने! तुझे पहले ही राजन नहीं कहा? आहा...हा...! परन्तु राजन! तुम अनाथ हो, भाई! आहा...हा...! दरिद्र हो, राजन!

(राजा कहते हैं) प्रभु! मुझे आप दरिद्र किस प्रकार से कहते हो? (मुनिराज कहते हैं) भाई! तुझे आत्मा की ऋद्धि मिली नहीं, इसलिए दरिद्र हो। तुम दरिद्र हो! उपदेश दिया तो सम्यग्दर्शन (प्रगट हुआ)! दरिद्रपना मिट गया और लक्ष्मीवन्त हो गया!! आहा...हा...! भगवान आत्मा की ज्ञान, दर्शन, अनन्त आनन्द की लक्ष्मी (प्राप्त की)। वह लक्ष्मीवान हो गया। ये लक्ष्मीवान, हाँ! आ...हा...हा...!

(हम) पढ़ते थे तब आता था। ७८ साल पहले की बात है। 'प्रभुता प्रभ तारी तो खारी, मुजरो मुझ रोग ले हरि.....' (अर्थात्) प्रभु! इस अज्ञान-रोग को हर ले तो मैं तुझे प्रभु मानूँ! आहा...हा...! वे 'दलपतराम' (कवि) तो ईश्वर (को कहते हैं)। पढ़ने में आता था। 'प्रभुता....' उसमें प्रभुत्वगुण है न? 'प्रभुता प्रभु तारी तो खारी, मुजरो मुज रोग ले हरि....' मेरे मुजरे से प्रभु! मेरा रोग हर ले! मैं तेरा मुजरा कर रहा हूँ।

(यहाँ) उपयोग जहाँ द्रव्य में जाता है तो वहाँ उसने मुजरा किया! उसका अज्ञान का रोग नाश हो गया। आ...हा...हा...! यह (शरीर का) रोग आत्मा में नहीं है। अज्ञानरूपी रोग, मिथ्या भ्रान्तिरूपी रोग! 'आत्मभ्रान्ति सम रोग नहि....' आता है न? 'श्रीमद्' में! 'आत्मभ्रान्ति सम रोग नहिं, सद्गुरु वैद्य सुजाण, गुरु आज्ञा सम पथ्य नहिं, औषध विचार ध्यान।' आ...हा...! भ्रान्ति का बड़ा रोग है कि मैं रागवाला हूँ, पर्यायवाला हूँ, परवाला हूँ। त्रिकाली आनन्द का नाथ हूँ — ऐसा जिसे मालूम नहीं वे भ्रान्ति में — भ्रान्ति के रोग में पड़े हैं। आ...हा...हा...! अपने आ गया है, भ्रान्ति का नाश होता है। आत्मा के पद की प्राप्ति होने पर भ्रान्ति का नाश होता है, आत्मलाभ होता है। आहा...हा...! यहाँ तो बापू! अन्दर की बातें हैं! आहा...हा...!

यहाँ ये कहते हैं कि **उसमें, जीव का आत्मद्रव्य ही एक भेद है; और अजीव के पुद्‌गल द्रव्य, धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य, कालद्रव्य, तथा आकाशद्रव्य - यह पाँच भेद हैं। जीव का विशेष लक्षण.....** विशेष अर्थात् उसी में रहनेवाला लक्षण, पर में नहीं (रहनेवाला) **चेतना-उपयोगमयत्व....** चेतना और उपयोगमय — ऐसे दो। चेतना गुण (है) और उपयोगमय पर्याय (है)। समझ में आया ? आ...हा...हा... !

यह करने का है, बापू ! बाकी तो सब थोथा (बेकार) है। आहा...हा... ! दुनिया में मान मिला, बड़े पद मिले... आहा...हा... ! यह तो भगवान चेतनस्वरूप ! उस चेतना का उपयोगमय परिणमन (और) लक्ष्य में आत्मद्रव्य। आहा...हा... ! ये लक्षण — उपयोग और चेतना दो कहने में आया। चेतना — ऐसा कहा न ? और **उपयोगमयत्व...** अर्थात् उसका परिणमन। वैसे तो चेतना (और डेश) करके उपयोग कहा लेकिन चेतना माने परिणमना। त्रिकाल तो है परन्तु उपयोगमयत्व (कहा है)। उपयोगमयत्व ! चेतनामयपना और उपयोगमयपना है। आ...हा...हा... !

'सर्वविशुद्धज्ञान अधिकार' में आता है न ? भाई ! कि लक्षण कहने का क्या कारण है ? 'समयसार' 'सर्वविशुद्धज्ञान अधिकार' में आता है। लक्षण से बापू ! भिन्नपना होता है। आहा...हा... ! जिसे आत्मा चेतनमय और उपयोगमय (है), यह मालूम नहीं है, उसे ज्ञान कराने को लक्षण — भेद (करके कहा)। लक्षण और लक्ष्य (दो) भेद हो गया। समझ में आया ? लक्षण बताते हो तो लक्ष्य (और लक्षण दो) भेद हो गया। इतना भेद बतलाने का कारण क्या ? सुन, प्रभु ! जिसने उपयोगमय आत्मा है — ऐसा जाना नहीं, उसे लक्षण से बताना है। (लेकिन) है तो भेद, है तो उपयोगमय पर्याय, द्रव्य से भिन्न, भेद, आ...हा...हा... ! परन्तु जिसे आत्मा जानने में आया नहीं, उसे लक्षण के भेद से बताना है। उसका लक्षण पर लक्ष्य नहीं (है), लक्षण जिसका है, उस पर लक्ष्य है। आ...हा...हा... ! समझ में आया ?

हम लक्षण भिन्न करते हैं तो तुझे शंका हुई कि ये भेद क्यों करते हैं ? भाई ! जिसे लक्षण से लक्ष्य का ख्याल नहीं है, उसे भेद किये बिना, लक्षण का ज्ञान कराये बिना उसे लक्ष्य में आता नहीं। आहा...हा... ! ऐसी बातें हैं ! ओ...हो...हो... ! तीन लोक के नाथ !

उनकी दिव्यध्वनि में यह आया है और अन्दर दिव्यध्वनि की अन्तरदशा प्रगट होने पर उसे भान होता है... आ...हा...हा... ! कि मैं तो चेतनास्वरूप हूँ, मैं तो चेतनास्वरूप हूँ। आ...हा... ! उसमें भव्य का निर्णय तो हो गया लेकिन मिथ्यात्व का नाश होकर सम्यग्दर्शन का निर्णय हो गया। आ...हा... ! यहाँ यह बात है, हाँ !

जीव का विशेष लक्षण.... आहा...हा... ! **चेतना-उपयोगमयत्व (चेतनामयपना और उपयोगमयपना) है;....** आहा...हा... ! छह सामान्य द्रव्य में से जीवद्रव्य के विशेष लक्षण द्वारा भिन्न किया। छह द्रव्य से भिन्न अपने विशेष लक्षण से उसके ख्याल में आया। पर का लक्ष्य करके स्व का लक्ष्य हुआ — ऐसा नहीं। आहा...हा... ! अर्थात् ? कि पाँच द्रव्य का ज्ञान हुआ, उससे लक्ष्य में नहीं आता। आहा...हा... ! समझ में आया ? वह तो पाँच द्रव्य का (ज्ञान) हुआ, वह पर्याय में (हुआ)। अब पर्याय में द्रव्य का लक्षण लेना है। उपयोगमय परिणमन में द्रव्य का लक्षण है। आहा...हा... ! क्या प्रभु की शैली ! तेरे प्रभु की शैली। हाँ !! आ...हा...हा... ! वह जीव का उपयोगमयता (कहकर) पर से भिन्नपना बताया। जिसने भिन्नपना जाना, उसने आत्मा को जाना। समझ में आया ?

अब, अजीव (की बात करते हैं)। **अजीव का, (विशेष लक्षण)....** अर्थात् पाँच द्रव्य का आत्मद्रव्य से भिन्न लक्षण। आत्मद्रव्य से भिन्न लक्षण (कहा) ! इस लक्षण से अजीव जानने में आता है। आहा...हा... ! **अचेतनपना है। वहाँ (जीव के) स्वधर्मों में व्यापनेवाली होने से (जीव के) स्वरूपरूप से प्रकाशित होती हुई,...** आ...हा...हा... !

वहाँ (जीव के) स्वधर्मों में व्यापनेवाली होने से.... (अब) चेतना की व्याख्या करते हैं। अचेतन और चेतना दोनों को भिन्न किये। अब, आहा...हा... ! **(जीव के) स्वधर्मों में व्यापनेवाली होने से (जीव के) स्वरूपरूप से प्रकाशित होती हुई,....** कौन ? चेतना और चेतना के परिणाम। आहा...हा... ! बातें बहुत (सूक्ष्म) ! यह तो धर्मकथा है न, बापू ! आ...हा... ! **(जीव के) स्वधर्मों में व्यापनेवाली होने से (जीव के) स्वरूपरूप से प्रकाशित होती हुई, अविनाशिनी,....** (अर्थात्) चेतना अविनाशिनी है। आ...हा...हा... !

भगवती,... यह चेतना भगवतीस्वरूप है। आहा...हा...! **संवेदनरूप चेतना के द्वारा....** (अर्थात्) अन्तर में चेतना के वेदन द्वारा। **चेतना के द्वारा तथा चेतना परिणामलक्षण....** आ...हा...हा...! चेतना का परिणामलक्षण ऐसा जो उपयोग। **द्रव्यपरिणतिरूप उपयोग के द्वारा....** द्रव्य की परिणति (अर्थात्) चेतना की परिणति (है), वह द्रव्य की परिणति (है)। आहा...हा...! विशेष का इतना सारा स्पष्टीकरण!! यह तो मूल तत्त्व की बातें हैं, बापू! आहा...हा...!

जीव (के) स्वधर्म में व्यापनेवाली चेतना। आत्मा में स्वधर्म - स्वभाव में व्यापनेवाली चेतना। **स्वरूपरूप से.....** स्वरूपरूप से! आहा...हा...! शरीर का रूप नहीं परन्तु स्व-स्वरूपरूप से.... स्व-स्वरूपरूप से! आ...हा...! **प्रकाशित होती हुई, अविनाशिनी, भगवती, संवेदनरूप चेतना के द्वारा....** (इतनी) चेतना की बात कही।

तथा चेतनापरिणामलक्षण,.... अब परिणाम आया। ख्याल में तो परिणाम में आया है परन्तु 'ये चेतन है' ऐसा ख्याल चेतनालक्षण से आया। वह परिणाम में ख्याल आया, तब ख्याल आया। यहाँ तो चेतना से चेतन है — ऐसा बताया। समझ में आया? आहा...हा...! बाद में चेतना परिणाम अर्थात् उपयोग। पहले चेतना शाश्वत् चीज बतलाई; अब उसका उपयोग (बताते हैं)। भाई! यह चेतना को - चेतन को प्राप्त करने की रीत है। आहा...हा...!

भले ही उसे ऐसा कहने में आये कि सर्व प्रथम अध:करण, अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण (लब्धि होती है) परन्तु वह व्यवहार की बात का ज्ञान कराया परन्तु वास्तव में तो चेतना का अर्थ वह ऐसे करण से प्रगट होती नहीं। तीन करण - अध:करण, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण। वास्तव में तो चेतना के उपयोग के परिणमन द्वारा आत्मा जानने में आता है। तीन करण का भी अभाव होता है। आहा...हा...! समझ में आता है? आगमभाशा से करण कहा है, अध्यात्म भाषा से शुद्धात्म-अभिमुख परिणाम (कहा है)। इस परिणाम की यहाँ बात है। **चेतनापरिणामलक्षण**! धीरे से समझ में आये ऐसा है। भाई! धीरे से बात चलती है, भाई!

अरे...रे...! उसने अनन्त काल में चेतना चेतन की है, चेतना स्वधर्म में व्यापती है और उसका परिणमन (होना), वह उपयोग है (ऐसा जाना नहीं)। इस उपयोग द्वारा चेतनाधर्म

में व्यापक है, ऐसा ख्याल में आता है। चेतना स्वधर्म में व्यापक है — ऐसा ध्रुव चेतना द्वारा ख्याल में नहीं आता। आहा...हा...! ऐसा उपदेश, ऐसा तत्त्व! यह तो मूल रकम की बात है।

भगवान चेतनास्वरूप! उसका परिणमन चैतन्य उपयोग। **चेतनापरिणामलक्षण,...** अर्थात् उपयोग। अर्थात्? है? द्रव्य है न? **द्रव्यपरिणतिरूप....** (मूल ग्रन्थ में फुटनोट में अर्थ दिया है)। 'चेतना का परिणामस्वरूप उपयोग, जीवद्रव्य की परिणति है।' चेतना का परिणाम — पर्यायस्वरूप उपयोग, वह जीवद्रव्य की परिणति है — जीवद्रव्य की दशा है। आहा...हा...! धीरे-धीरे विचार करना चाहिए। आ...हा...हा...!

द्रव्यपरिणतिरूप उपयोग के द्वारा जिसमें निष्पन्नता (रचनारूपपना) अवतरित-प्रतिभासित होता है,.... आ...हा...हा...! द्रव्य की परिणति द्वारा सारा द्रव्य प्रतिभासित होता है। आहा...हा...! समझ में आया? **द्रव्यपरिणतिरूप उपयोग के द्वारा जिसमें निष्पन्नता (रचनारूपपना) अवतरित-प्रतिभासित होता है, वह जीव है....** उपयोग की परिणति में द्रव्य जानने में आया, यह उपयोग की परिणति... आहा...हा...! उपयोग के द्वारा जिसमें प्राप्ति होती है, अवतरित होता है, उपयोग में प्रतिभासित होता है। आहा...हा...! उपयोग में प्रतिभासित (होता है अर्थात्) सारी चीज चेतना और चेतन इस उपयोग में प्रतिभासित होता है। उपयोग परिणति — पर्याय में चेतना और चेतन इस उपयोग में प्रतिभासित होता है। सूक्ष्म बात है, भाई!

यह तो 'प्रवचनसार', 'समयसार'....! आ...हा...हा...! ऐसे शास्त्र! जगत के भाग्य कि ऐसा रह गया!! भगवान का विरह (हुआ) लेकिन भगवान की वाणी रह गई। वाणी ने भगवान का विरह भुला दिया। समझ में आया? भगवान की वाणी ने भगवान का विरह भुला दिया! इस प्रकार आत्मा के उपयोग ने आत्मा का विरह भुला दिया कि मैं नहीं जानने में आऊँ — ऐसा नहीं है!! आ...हा...हा...हा...! चैतन्य की उपयोगमय परिणति द्वारा प्रकाशमान भगवान अवतरित होता है, उत्पन्न होता है, दिखता है, प्रतिभासित होता है।

ऐसी बात कहाँ है? लोग बेचारे कहाँ के कहाँ चढ़ जाते हैं! अन्यमत में, साधु में और उसे क्या कहते हैं? 'रजनीश'! और उसे क्या कहते हैं? बाबा! 'सांईबाबा'! अज्ञानी, मूढ़! अरे...रे...! लोग कहाँ चढ़ जाते हैं? जैन सम्प्रदाय में जन्मे हो वे भी कहाँ चढ़ जाते

हैं ! भगवान ! तेरे घर में तू स्वयं है न ! आ...हा...हा... ! उसे परिणति द्वारा जानने में आये तो उस (कुदेव को नहीं माने) । कुदेव, कुगुरु (कहे कि) मेरी भक्ति करो, मुझे मानो तो आपको (लाभ होगा) ! आहा...हा... ! चमत्कार दिखाते हैं, लो ! सब झूठ ! (यहाँ एक मुमुक्षु आते हैं उनका) भतीजा, पढ़ा-लिखा ! बहुत लड़कियाँ आने के बाद लड़का हुआ तो (कहते हैं) हम इनको मानते हैं, इसलिए लड़का हुआ ! कहो, पढ़ा हुआ ! उनके भाई है वे यहाँ के माननेवाले और वह साधु को माने ! हमने उनको माना, इसलिए आठ-आठ लड़कियों के बाद नववाँ लड़का हुआ ! 'मुम्बई' में है, सुनने नहीं आता । आ...हा...हा... ! अरे...रे... ! प्रभु ! कहाँ गया ? उन पाखंडियों के रास्ते पर चढ़ गया, उसका अवतार कहाँ होगा ? आहा...हा.... !

यहाँ तो चैतन्यपरिणति द्वारा उपयोग का जन्म हुआ (तो) आत्मा उत्पन्न हुआ ! समकित (हुआ) ! आ...हा... ! उसे अब जन्म-मरण नहीं होते । एकाद-दो भव हो उसकी कोई गिनती नहीं है, वह तो ज्ञान का ज्ञेय है । आहा...हा... ! जैनदर्शन में यह होता है । दूसरी जगह यह बात कहीं नहीं है । आहा...हा... ! उसमें भी दिगम्बर दर्शन (है) वह जैनदर्शन है । आहा...हा... !

आचार्य तो परमेष्ठी हैं, बापू ! पंच परमेष्ठी ! आचार्य, उपाध्याय, साधु ने तो शुद्ध उपयोग को ग्रहण किया है । महाव्रत को ग्रहण किया है, ऐसा है नहीं । परमशुद्ध उपयोग ! 'प्रवचनसार' और 'मोक्षमार्गप्रकाशक' ! 'मोक्षमार्गप्रकाशक' में भी आता है (कि) आचार्य, उपाध्याय, साधु शुद्ध उपयोग में झुलते हैं और 'प्रवचनसार' की पहली पाँच गाथा (में आता है) । आचार्य, उपाध्याय, साधु ने परमशुद्ध उपयोग को ग्रहण किया है । आहा...हा... ! यह बात तो पड़ी रही और राग और व्रत (ले लो)... और (एक पत्रिका में) ऐसा लिखा है कि 'कुन्दकुन्दाचार्यदेव' ने पहले व्यवहार कहा है, बाद में निश्चय की बात कही है । इसलिए पहले व्यवहार होता है — ऐसा लिखा है । 'नियमसार' में आता है न ? अब, निश्चय कहेंगे, ऐसा (आता है) । वह तो व्यवहार का कथन पहले आया है परन्तु पहले व्यवहार फिर निश्चय, ऐसा नहीं है । आहा...हा... ! समझने में आये तब व्यवहार से आये । अर्थात् व्यवहार की बात आये परन्तु वह व्यवहार का मार्ग है वह निश्चय (मार्ग) प्राप्त

कराये, ऐसा है नहीं। ऐसा भी लिखा है कि 'कुन्दकुन्दाचार्य' को मानते हों तो पंच महाव्रत के साधन से निश्चय होता है, (ऐसा माने) तो उसे (हम) माने नहीं तो नहीं माने। इसलिए 'नियमसार' का (आधार दिया है) परन्तु 'नियमसार' में लीन जगह लिखा है कि षट् आवश्यक आदि क्रिया (है) वह निश्चय आवश्यक से विरुद्ध (है) और उसका फल विरुद्ध (है)। भाई! ऐसा आता है न?

तीन जगह आता है। 'शुद्धभाव अधिकार' है न? उसमें नहीं। प्रतिक्रमण है न? 'परमार्थ प्रतिक्रमण'! (शुरुआत में आता है)। **सकल व्यावहारिक चारित्र से और उसके फल की प्राप्ति से प्रतिपक्ष ऐसा जो शुद्धनिश्चयनयात्मक परम चारित्र,....** कहेंगे। व्यवहारचारित्र का फल निश्चय है? आहा...हा...! **व्यावहारिक चारित्र से और उसके फल की प्राप्ति से प्रतिपक्ष ऐसा जो शुद्धनिश्चयनयात्मक परम चारित्र,....** उसे कहेंगे। छह व्यवहार आवश्यक से प्रतिपक्ष (कहा है तो) प्रतिपक्ष से निश्चय होता है? **व्यवहार छह आवश्यकों से प्रतिपक्ष (शुद्धनिश्चय-आवश्यक का) अधिकार कहा जाता है।** ('नियमसार' गाथा-१४१ का शीर्षक) आहा...हा...! समझ में आया? फिर १४७ गाथा में कहेंगे। **बाह्य षट् - आवश्यकप्रपंचरूपी नदी के कोलाहल के श्रवण से (-व्यवहार छह आवश्यक के विस्ताररूपी नदी की कलकलाहट के श्रवण से) पराङ्मुख....** आ...हा...हा...! व्यवहार के छह आवश्यक से रहित - पराङ्मुख, प्रभु! आहा...हा...! मुनि को कहते हैं, तुम व्यवहार से पराङ्मुख हो! आ...हा...हा...!

हे शिष्य! शुद्धनिश्चय-धर्मध्यान तथा शुद्धनिश्चय-शुक्लध्यानस्वरूप स्वात्माश्रित आवश्यक को... प्राप्त कर। स्वआश्रय... स्वआश्रय.... (कर)। पराश्रय, व्यवहार विकल्प को छोड़ दे। आहा...हा...! जैसे कथन पड़े हैं उसे पकड़े नहीं और (कहते हैं कि) पहले व्यवहार (होता है) परन्तु वह कथन की शैली है। अरे...रे...! अरे.... भाई! छह आवश्यक, व्यवहार क्रियाकांड का फल तो बन्धन है। स्व आत्मा का निश्चय और उसका फल मोक्ष है। व्यवहार आवश्यक रागरूप है, उसका फल बन्धन (है)। निश्चय आवश्यक है, वह वीतरागपर्यायरूप है, उसका फल मोक्ष (है)। आहा...हा...!

दोनों एकदम विरुद्ध हैं। (अज्ञानी) कहते हैं कि व्यवहार से निश्चय प्राप्त होता है। क्या है ? बापू! प्रभु! क्या हो ?

वे ऐसा कहते हैं कि पाठ ऐसा है — व्यवहार पहले कहा। (लेकिन) वह तो व्यवहार पहले समझाया। ऐसा तो 'पंचास्तिकाय' में भी आता है न? अनादि से पहले व्यवहार (होता है)। १७२ गाथा में आता है। पहले व्यवहार का अर्थ — निश्चय समकित सहित राग की मन्दता का भाव पहले आता है। फिर व्यवहार छूटकर, अन्दर में पूर्ण शुद्धता होती है। ऐसा कहते हैं। आहा...हा...! क्या हो ? 'नियमसार' में तो प्रभु ने कहा, स्वसमय और परसमय के साथ वाद-विवाद मत करना, प्रभु! परन्तु ये तो अलौकिक बातें हैं! अन्दर लायकता के बिना, जीव के भेद-भव्य-अभव्य, उसे प्राप्त बुद्धि का क्षयोपशम भिन्न-भिन्न (है) उसमें तू किसके साथ चर्चा करेगा ? स्वसमय और परसमय के साथ वाद-विवाद मत करना। तेरा धन तुझे मिला उसे तू भोग। **णाणाजीवा णाणाकम्मं णाणाविहं** (नियमसार की १५६) गाथा है। ऐसी बात कैसे बैठे ? व्यवहार के कथन निकालकर कहे कि देखो! यहाँ लिखा है परन्तु क्या कहा है ? वह तो व्यवहार का ज्ञान कराया है। निमित्त का ज्ञान कराने, निमित्त से होता है — ऐसा जहाँ लिखा है, वहाँ निमित्त का ज्ञान करवाया है। आचार्य भी ऐसा कहे, दो कारण से कार्य होता है। वह तो दूसरी चीज का ज्ञान करवाया है, बापू! निमित्त से उसमें कार्य होता है ? कार्य के काल में स्वत: कार्य-काल होता है तब होता है, भले सामने निमित्त हो। जिस काल में आत्मा का आनन्द और शान्ति का स्वकाल है, वह पर्याय तो उस स्वकाल में होती ही है, वह जन्मक्षण है, वह (उसकी) उत्पत्ति का काल है, (कार्य) तो हुआ ही है। भले ही निमित्त हो। निमित्त से हुआ है ? आ...हा...हा...! ऐसा कठिन काम है।

यहाँ कहते हैं कि **उपयोग के द्वारा जिसमें निष्पन्नता (रचनारूपपना) अवतरित प्रतिभासित होता है, वह जीव है और जिसमें उपयोग के साथ रहनेवाली, यथोक्त लक्षणवाली चेतना का अभाव होने से...** जड़ में... **बाहर तथा भीतर अचेतनपना अवतरित प्रतिभासित होता है, वह अजीव है।**

विशेष आयेगा.....

**प्रवचन नं. १४५	श्रावण कृष्ण १२	रविवार, १९ अगस्त १९७९**

'प्रवचनसार' १२७ (गाथा) का भावार्थ। **द्रव्यत्वरूप सामान्य की अपेक्षा से द्रव्यों में एकत्व है....** क्या कहते हैं ? द्रव्यसामान्य की अपेक्षा से जीवद्रव्य, धर्मास्तिद्रव्य, अधर्मास्ति (आदि) द्रव्यरूप से सब एक हैं। द्रव्यरूप से (एक है) परन्तु प्रत्येक की भिन्नता (है)। **तथापि विशेष लक्षणों की अपेक्षा से....** सामान्यरूप से तो द्रव्य छह हैं परन्तु प्रत्येक द्रव्य का लक्षण भिन्न है। प्रत्येक द्रव्य विशेषपने भिन्न हैं। आहा...हा... !

सामान्य की अपेक्षा से द्रव्यों में एकत्व है तथापि विशेष लक्षणों की अपेक्षा से उनके जीव और अजीव ऐसे दो भेद हैं।.... भेदज्ञान करना है तो अजीव चीज है, उसे जानना पड़ेगा न कि उससे मैं भिन्न हूँ। शरीर, वाणी, कर्म आदि अजीव हैं, उन अजीव के लक्षण में अचेतनता है और भगवान आत्मा के लक्षण में चेतना है और चेतना अविनाशी भगवती (स्वरूप है)। आया था न ? **अविनाशी, भगवती,....** त्रिकाल, हाँ ! और **संवेदनरूप चेतना के द्वारा तथा चेतनापरिणामलक्षण,....** आहा...हा... ! त्रिकाल चेतना स्वभाव, त्रिकाल ! वह तो अविनाशी भगवती चेतना (है)। चेतन की (चेतना है) और उस चेतन के परिणाम – उपयोगलक्षण पर्याय (है)। चेतना है, वह त्रिकाली गुण है। आ...हा.... ! उसके द्वारा आत्मा में चेतना उतरी है और चेतना का उपयोग लक्षण है, वह परिणति भी चेतना में उतरी है, चेतन में झुकती है। शुद्धरूप से (झुकती है)। अशुद्धरूप से भी चेतना गिनने में आयी है। आहा...हा... !

चेतना का परिणमन तीन प्रकार का है। (१) शुद्ध चेतनारूप परिणमन। वह धर्म (स्वरूप है)। (२) अशुद्ध चेतनारूप परिणमन। साथ में पुण्य और पाप का भावरूप परिणमन (है) वह अशुद्ध (चेतनारूप परिणमन है)। है चेतना की परिणति। फिर भी, उस परिणति में शुभ और अशुभ भाव (है), वह धर्मस्वरूप नहीं (है)। आहा...हा... !

पर से तो भिन्न करना है परन्तु अपने में अशुद्ध चेतना परिणाम है, उससे भी भिन्न करना है। आहा...हा... ! सूक्ष्म बात बहुत, भाई ! अशुद्ध चेतना में तो दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजा आदि के भाव (होते हैं), वे अशुद्ध चेतनारूप शुभभाव (हैं) और हिंसा, झूठ, चोरी,

विषय-वासना (के भाव हैं) वे अशुद्ध चेतनारूप अशुभभाव (हैं), दोनों भाव चेतना की परिणति में हैं, फिर भी, जब द्रव्य-दृष्टि (करनी हो), चेतनस्वरूप है, उसकी दृष्टि करनी हो तो इस चेतना के शुद्धपरिणमन से चेतन का लक्ष्य होता है। अशुद्धपरिणाम से चेतन लक्ष्य में आता नहीं। आहा....हा....! समझ में आया ? ऐसी बात है। अशुद्ध अर्थात् पुण्य और पाप (भाव)।

कल रात को कहा था वह शब्द 'धर्म', 'अधर्म' है। सुख (का) कारण धर्म है, दु:ख का कारण है वह अधर्म, ऐसा वहाँ लिखा है। सुख दो प्रकार का है — एक आनन्द का सुख और एक संसारी सुख। 'अधर्म' (शब्द) आया, इसलिए ऐसा लगा कि अधर्म अकेले पाप (परिणाम को) ही कहते हैं या पुण्य को धर्म कहकर पाप को अधर्म कहते हैं ? 'जयधवल' में है। 'धवल', 'जयधवल', 'महाधवल' (के) ३५ भाग हैं, उसमें पहले भाग (में है)। आहा...हा...!

पुण्य को धर्म कहने में आया है परन्तु वह धर्म क्या ? कि अपने शुद्ध चैतन्यस्वरूप का आश्रय लेकर जो धर्मपरिणति हुई, वीतरागी दशा (हुई), वह निश्चय-यथार्थ धर्म (है) और साथ में राग - पुण्य बाकी रहा, उसे उपचार से धर्म कहने में आया है। है पुण्य (के परिणाम) विकार, दु:ख, परन्तु यहाँ निश्चय सम्यग्दर्शन, ज्ञान की अपेक्षा से व्यवहार (से) पुण्य को धर्म कहा। धर्म है नहीं, उसे धर्म कहा। अरे...! अरे...! ऐसी बातें!

यहाँ यह कहते हैं, विशेष लक्षणों (की अपेक्षा से) **जीव और अजीव ऐसे दो भेद हैं। जो (द्रव्य) भगवती चेतना के द्वारा....** आ...हा...हा....! चेतना त्रिकाल! चेतन जो आत्मा (है), उसको जो चेतना गुण (है), वह भगवती चेतना (है)। महिमावन्त चेतना! इसके द्वारा — एक बात (हुई)। इसके द्वारा यह जीव है — ऐसा जानने में आता है।

और चेतना के परिणामस्वरूप उपयोग द्वारा रचित.... चेतना (में) जो त्रिकाली चेतना है, उसके द्वारा जीव जानने में आता है **और चेतना के परिणामस्वरूप उपयोग द्वारा रचित है, वह जीव है,.....** यहाँ शुद्ध और अशुद्ध की परिणति (साथ में) लेकर जीव की पर्याय कही परन्तु जीव के वास्तविक स्वरूप को चेतना के परिणाम से जानने में आता है। चेतना के शुद्ध परिणमन से चेतन जानने में आता है। आ...हा...हा...! अभी

तो सब व्यवहार की गड़बड़ (करते) हैं न ? साधु और पण्डितों की प्ररूपणा यह (चलती है कि) व्यवहार धर्म है, त्याग धर्म है, संसार छोड़ा, व्रत है यह धर्म (है)। व्रत है वह तो राग है, पुण्य है। पुण्य है, वह परमार्थ से तो दुःख का कारण है। आहा...हा... !

अन्दर भगवान चेतनस्वरूप ! उस चेतन की शुद्धपरिणति, इस शुद्धपरिणति द्वारा चेतन का लक्ष्य आना और यह जो शुद्धपरिणति उत्पन्न हो, वह धर्म है, यह सुखरूप है। यह चेतना का परिणमन, आनन्द के साथ चेतना का ज्ञान होता है। आहा...हा... ! साधारण बुद्धिवाले को यह कठिन पड़े। मार्ग बहुत (सूक्ष्म है)।

जितनी विपरीतता हुई है, उतनी ही अविपरीतता समझ में आये तो विपरीतता मिटे। समझ में आया ? जितने प्रकार की विपरीतता है, उतने प्रकार की अविपरीतता समझे तो विपरीतता मिटे। आहा...हा... !

यहाँ यह कहते हैं, **वह जीव है, और जो (द्रव्य) चेतनारहित होने से अचेतन है, वह अजीव है। जीव का एक ही भेद है; अजीव के पाँच भेद हैं।** धर्म, अधर्म, आकाश (आदि)। **इन सबका विस्तृत विवेचन आगे किया जायेगा।** ●

अनन्त जन्म-मरण का भय क्यों नहीं ?

देखो, यह जीव एक सर्प देखने पर कितना अधिक भयभीत होता है क्योंकि इसे शरीर के प्रति ममत्व और प्रीति है। अरे ! प्राणी को एक शरीर पर सर्प के डंसने का इतना भय है तो अनन्त जन्म-मरण का भय क्यों नहीं है ? आत्मा की समझ बिना अनन्त अवतार के दुःख खड़े हैं, इस बात का तुझे भय क्यों नहीं है ? अरे ! यह भव पूरा हुआ, वहीं दूसरा भव तैयार है; इस प्रकार एक के बाद दूसरा भव, तू अनन्त काल से कर रहा है। आत्मा स्वयं सच्ची समझ न करे तो जन्म-मरण का अभाव नहीं होता।

- पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी

गाथा - १२८

अथ लोकालोकत्वविशेषं निश्चिनोति-

पोग्गलजीवणिबद्धो धम्माधम्मत्थिकायकालड्ढो।
वट्टदि आगासे जो लोगो सो सव्वकाले दु।।१२८।।

पुद्गलजीवनिबद्धो धर्माधर्मास्तिकायकालाढ्यः।
वर्तते आकाशे यो लोकः स सर्वकाले तु।।१२८।।

अस्ति हि द्रव्यस्य लोकालोकत्वेन विशेषविशिष्टत्वं, स्वलक्षणसद्भावात्। स्वलक्षणं हि लोकस्य षड्द्रव्यसमवायात्मकत्वं, अलोकस्य पुनः केवलाकाशात्मकत्वम्। तत्र सर्वद्रव्य-व्यापिनि परममहत्याकाशे यत्र यावति जीवपुद्गलौ गतिस्थितिधर्माणौ गतिस्थिती आस्कन्द-तस्तद्गतिस्थितिनिबन्धनभूतौ च धर्माऽधर्मावभिव्याप्यावस्थितौ, सर्वद्रव्यवर्तनानिमित्तभूतश्च कालो नित्यदुर्ललितस्तत्तावदाकाशं शेषाण्यशेषाणि द्रव्याणि चेत्यमीषां समवाय आत्मत्वेन स्वलक्षणं यस्य स लोकः। यत्र यावति पुनराकाशे जीवपुद्गलयोर्गतिस्थिती न संभवतो धर्माधर्मौ नावस्थितौ, न कालो दुर्ललितस्तावत्केवलमाकाशमात्मत्वेन स्वलक्षणं यस्य सोऽलोकः।।१२८।।

अथ लोकालोकरूपेण पदार्थस्य द्वैविध्यमाख्याति - **पोग्गलजीवणिबद्धो** अणुस्कन्धभेदभिन्नाः पुद्गलास्तावत्तथैवामूर्तत्वातीन्द्रियज्ञानमयत्वनिर्विकारपरमानन्दैकसुखमयत्वादिलक्षणा जीवाश्चेत्थंभूतजीव-पुद्गलैर्निबद्धः संबद्धो भृतः पुद्गलजीवनिबद्धः। **धम्माधम्मत्थिकायकालड्ढो** धर्माधर्मास्तिकायौ च कालश्च धर्माधर्मास्तिकायकालास्तैराढ्यो भूतो धर्माधर्मास्तिकायकालाढ्यः। **जो** यः एतेषां पञ्चानामित्थंभूतसमुदायो राशिः समूहः। **वट्टदि** वर्तते। कस्मिन्। **आगासे** अनन्तानन्ताकाशद्रव्यस्य मध्यवर्तिनि लोकाकाशे। **सो लोगो** स पूर्वोक्तपञ्चानां समुदायस्तदाधारभूतं लोकाकाशं चेति षड्द्रव्यसमूहो लोको भवति। क्व। **सव्वकाले दु** सर्वकाले तु। तद्बहिर्भूतमनन्तानन्ताकाशमलोक इत्यभिप्रायः।।१२८।।

अब, (द्रव्य के) लोकालोकत्वरूप विशेष (भेद) निश्चित करते हैं —

आकाश में जो भाग जीव, अरु पुद्‌गलों से युक्त है।
धर्म अधर्म रु काल से, समृद्ध नित यह लोक है॥

अन्वयार्थ - **[आकाशे]** आकाश में **[यः]** जो भाग **[पुद्‌गलजीवनिबद्धः]** जीव और पुद्‌गल से संयुक्त **[धर्माधर्मास्तिकायकालाढ्यः वर्तते]** तथा धर्मास्तिकाय अधर्मास्तिकाय और काल से समृद्ध है, **[सः]** वह **[सर्वकाले तु]** सर्व काल में **[लोकः]** लोक है। (शेष केवल आकाश वह अलोक है।)

टीका - वास्तव में द्रव्य लोकत्व और अलोकत्व के भेद से विशेषवान् है, क्योंकि अपने-अपने लक्षणों का सद्‌भाव है। लोक का स्वलक्षण षड्‌द्रव्यसमवायात्मकपना (छह द्रव्यों का समुदायस्वरूपपना) है और अलोक का केवल आकाशत्मकपना (मात्र आकाश -स्वरूपपना) है। वहाँ, सर्व द्रव्यों में व्याप्त होनेवाले परम महान आकाश में, जहाँ जितने में गतिस्थिति धर्मवाले जीव तथा पुद्‌गल गति-स्थिति को प्राप्त होते हैं, (जहाँ जितने में) उन्हें, गति-स्थिति में निमित्तभूत धर्म तथा अधर्म व्याप्त होकर रहते हैं और (जहाँ जितने में) सर्व द्रव्यों को वर्तना में निमित्तभूत काल सदा वर्तता है, वह उतना आकाश तथा शेष समस्त द्रव्य - उनका समुदाय जिसका स्वपने से[१] स्वलक्षण है, वह लोक है; और जहाँ जितने आकाश में जीव तथा पुद्‌गल की गति-स्थिति नहीं होती, धर्म तथा अधर्म नहीं रहते और काल नहीं वर्तता, उतना केवल आकाश जिसका स्वपने से स्वलक्षण है, वह अलोक है ॥१२८॥

प्रवचन नं. १४५ का शेष श्रावण कृष्ण १२ रविवार, १९ अगस्त १९७९

अब (द्रव्य के) लोकालोकत्वरूप विशेष (भेद) निश्चित करते हैं — क्या कहते हैं ? पहले तो यहाँ जीव, अजीव का भेद बताया। द्रव्य सामान्यरूप से तो जीव और अजीव द्रव्य सब (हैं) परन्तु अब द्रव्य के विशेष लक्षणों से भिन्न बताया। जीव का स्वरूप चेतना — भगवती चेतना और जड़ का स्वरूप अचेतन। वे अजीव पाँच द्रव्य — धर्मास्ति, अधर्मास्ति (आदि)। भगवान ने छह द्रव्य देखे हैं। आ...हा...हा...हा... ! इसका

१. स्वपने से = निजरूप से (षड्द्रव्यसमुदाय ही लोक है, अर्थात् वही लोक का स्वत्व है - स्वरूप है। इसलिए लोक के स्वपने से षट्‌द्रव्यों का समुदाय लोक का स्वलक्षण है।)

भी ज्ञान नहीं। इन छह द्रव्य में पाँच अजीव हैं। एक जीव ही जीवद्रव्य है। भले अनन्त (जीवद्रव्य) हैं परन्तु यह जीवद्रव्य एक ही है। **इन सबका विस्तृत विवेचन आगे किया जायेगा।**

अब (द्रव्य के) लोकालोकत्वरूप विशेष (भेद) निश्चित करते हैं — अब क्या कहते हैं ? द्रव्य का जीव-अजीव भेद बताया। अब द्रव्य के रहने के और नहीं रहने के (ऐसे) लोक-अलोक के दो भाग बतलाते हैं। लोक और अलोक — दो भिन्न चीज हैं। यह कहते हैं। देखो! १२८ (गाथा)।

पोग्गलजीवणिबद्धो धम्माधम्मत्थिकायकालड्ढो।
वट्टदि आगासे जो लोगो सो सव्वकाले दु।। १२८।।

आकाश में जो भाग जीव, अरु पुद्गलों से युक्त है।
धर्म अधर्म रु काल से, समृद्ध नित यह लोक है॥

टीका - वास्तव में.... निश्चय से तो **द्रव्य लोकत्व और अलोकत्व के भेद से विशेषवान् है,....** आहा...हा....! लोक और अलोक — ऐसे दो विभाग हैं। **क्योंकि अपने-अपने लक्षणों का सद्भाव है।** लोक का अपना लक्षण - छह द्रव्यस्वरूप रहना, यह उसका लक्षण (है)। आहा...हा....! है ?

लोक का स्वलक्षण षड्द्रव्यसमवायात्मकपना..... लोक - ब्रह्माण्ड - चौदह ब्रह्माण्ड है, उसका **षड्द्रव्यसमवायात्मकपना (छह द्रव्यों का समुदायस्वरूपपना) है....** लोक उसे कहते हैं कि जिसमें छह द्रव्य (रहते) हैं। अन्यमती में तो ये लोक-अलोक की (बात ही नहीं है)।

और अलोक का केवल आकाशत्मकपना (मात्र आकाश-स्वरूपपना) है। अलोक में तो केवल आकाश (है)। आकाशस्वरूपपना (अर्थात्) खाली भाग। यह चौदह ब्रह्माण्ड (जिसमें) छह द्रव्य (रहते) हैं वह लोक (है)। खाली भाग.... गजब बात है! आकाश... आकाश... आकाश... आकाश... आकाश... आहा...हा...! अनन्त... अनन्त... दसों दिशा में कहीं अन्त नहीं!! लोक के क्षेत्र का जो माप है, उससे अलोक का माप अनन्त गुना... अनन्त गुना...!! अरे...! अरे...! ऐसी (बात)!

क्षेत्र का अस्तित्व (है, इसमें) लोक का अस्तित्व षट् द्रव्यस्वरूप (है) और अलोक का अस्तित्व मात्र आकाशस्वरूप (है)। आ...हा...हा...! क्या है यह ?! आकाश का कहीं अन्त नहीं। यह क्या है ?! साधारण ज्ञान करवाने को यह समझाते हैं। प्रभु! एक बार समझ तो सही! षट्द्रव्य जो रहते हैं, उसे लोक कहते हैं और आकाश का अकेला भाग (है) उसे अलोक कहते हैं। उस आकाश का भाग कितना? दसों दिशा में अनन्त... अनन्त... अनन्त... अनन्त... अनन्त... आकाश! उसमें यह लोक — चौदह ब्रह्माण्ड में तो एक परमाणुतुल्य है!! परमाणुतुल्य क्यों कहा? क्योंकि अनन्त अनन्त के भाग में अनन्तवें भाग में एक है। आ...हा...हा...!

आकाश जो अनन्त... अनन्त... अनन्त... अनन्त... अनन्त... अनन्त... अनन्त... अनन्त... दसों दिशा में (अनन्त), हाँ! लोक के (अग्र भाग में) सिद्ध (रहते हैं उसके) बाद भी आकाश (है)। पीछे अनन्त... अनन्त... अनन्त... (आकाश है)। यहाँ भी लोक में समुद्र आदि (हैं) उसके बाद देखो तो अलोक अनन्त... अनन्त... अनन्त... (है)। नीचे देखो – सातवीं नरक से नीचे (देखो तो) अलोक अनन्त... अनन्त... अनन्त... अनन्त... (है)। इस ओर देखो तो भी अनन्त... अनन्त... (है)। आहा...हा...! देखो! ये क्षेत्र की अनन्तता! इस अनन्तता को जाननेवाले भगवान हैं। आत्मा जाननेवाला है। आहा...हा...! चेतना कहा या नहीं? इस चेतना द्वारा उसे जाननेवाला है।

अलोक का अन्त नहीं, इसकी आकाश को खबर नहीं। उसे कहाँ (खबर है)? वह तो अजीव है। ऐ...ई...! क्या कहते हैं यह? दसों दिशा में लोक के अन्त के बाद अनन्त आकाश! इस अनन्त आकाश की अपेक्षा से, असंख्य योजन (में) जो चौदह ब्रह्माण्ड (रहा है वह) अनन्त... अनन्त... अनन्तवें... भाग में (रहा) है। अरे... अरे....! ऐसा कभी (सुना नहीं होगा)। उसके घर का माप जाने कि इतने में इतना मेरा मकान है। ऊपर आकाश का भाग उसके कब्जे में रहे। लेकिन ऊपर दोनों बाजू यदि मकान हो और सातवें मंजले पर उसका मकान ऊपर से जाये तो (बाजुवाला कहेगा) नहीं, हमारे आकाश के भाग में (नहीं रहेगा)।

मुमुक्षु – आकाश क्या पाताल तक हमारा मकान....

पूज्य गुरुदेवश्री – हाँ, यह बात है। आहा...हा...! जहाँ जितने में उसकी जगह है, उतनी जगह के ऊपर दूर से, भले एक मील से दूर, यहाँ से तो सैंकड़ों योजन दूर (हो) परन्तु यदि ऊपर मकान बनाये तो (कहे कि) नहीं, हमारे आकाश का भाग है! ऊपर की मंजिल नहीं बनने दे। आ...हा...हा...! वह आकाश तेरा नहीं। सुन तो सही! वह क्षेत्र तेरा नहीं और अलोक का अमाप क्षेत्र भी तेरा नहीं। आहा...हा...!

यहाँ यह कहते हैं कि **सर्व द्रव्यों में व्याप्त होनेवाले परम महान आकाश में,....** परम महान आकाश में (अर्थात्) लोक और अलोक सारा आकाश। **जहाँ जितने में गति-स्थिति....** जितने क्षेत्र में धर्मास्ति, अधर्मास्ति **गति-स्थिति धर्मवाले जीव तथा पुद्गल गति-स्थिति को प्राप्त होते हैं, (जहाँ जितने में) उन्हें, गति-स्थिति में निमित्तभूत धर्म तथा अधर्म व्याप्त होकर रहते हैं....** आहा...हा...! जड़ और चेतन – पुद्गल और चेतन जितने में गति करे, इतने में लोक है और उस गति में धर्मास्ति नाम का पदार्थ है, (वह) उसमें निमित्त है। धर्मास्ति पदार्थ भी लोक में है, अलोक में नहीं। ऐसी बातें....!

धर्म तथा अधर्म व्याप्त होकर... धर्म-अधर्म अर्थात् ये धर्मास्ति-अधर्मास्ति (द्रव्य), हाँ! पुण्य-पाप नहीं। जीव और जड़ – पुद्गल गति करते हैं तो धर्मास्ति (नाम का) एक अरूपी लोकप्रमाण असंख्यप्रदेशी द्रव्य है, वह लोक में गति करनेवाले जीव-पुद्गल (को) निमित्त है और गति करके स्थिर होते हैं तो स्थिर (होनेवाले) जीव और पुद्गल को अधर्मास्ति नाम का पदार्थ है, वह निमित्त है।

'इष्टोपदेश' (की) ३५ गाथा में ऐसा लिया है कि प्रत्येक पदार्थ आत्मा को निमित्त है (वह) कैसे? कि धर्मास्तिकायवत्। जैसे गति में धर्मास्ति (द्रव्य) निमित्त है, वैसे प्रत्येक पदार्थ निमित्त (हैं), अपने कार्य में निमित्त (हैं)। निमित्त से कार्य होता नहीं। आ....हा....! समझ में आया?

प्रश्न – निमित्त बिना ही कार्य होता है?

समाधान – निमित्त बिना ही कार्य होता है। फिर भी यहाँ काल नाम का पदार्थ है, उसका निमित्त परिणमन में है। अलोक में नहीं (है) तो भी निमित्त कहने में आता है। क्या

कहा ? लोक में काल नाम के असंख्य द्रव्य है। एक-एक प्रदेश में एक-एक (कालद्रव्य है)। इस लोक के द्रव्य को गति-स्थिति में धर्मास्ति और अधर्मास्ति निमित्त (हैं)। तो आकाश में क्या ? काल (द्रव्य) यहाँ इतने में (लोकाकाश में) है। अलोक में काल नहीं (है), फिर भी ऐसा कहने में आता है कि आकाश के परिणमन में काल (द्रव्य) निमित्त कहने में आया है। आकाश के परिणमन में (कालद्रव्य निमित्त है)। काल यहाँ लोकप्रमाण है। बापू! यह तो वीतरागमार्ग बहुत सूक्ष्म! आहा...हा...! अलोक में आकाश का जो परिणमन है, उसमें लोक में रहा कालद्रव्य निमित्त कहने में आया है। छह द्रव्य के परिणमन में निमित्त है न ? तो लोक में ही निमित्त है — ऐसा नहीं। आहा...हा...! समझ में आया ?

कुम्हार का चाक होता है न ? चाक! उसे इतने में ही खूँटा होता है, परन्तु पूरा (चाक) घूमता है। इस प्रकार लोक में काल नाम का द्रव्य खूँटे की भाँति है। परन्तु लोक और अलोक दोनों के परिणमन में निमित्त है। समझ में आया ? भगवान ने कहे हुए जगत के छह द्रव्य अलौकिक बातें हैं, बापू! आ...हा...हा...! (कुम्हार का) चाक घूमता है न ? तो चाक में खूँटे का निमित्तपना तो इतने में ही है। वैसे आकाश लोक और अलोक प्रमाण है (और) कालद्रव्य तो इस लोक प्रमाण है, खूँटे की भाँति, फिर भी पूर्व लोकालोक और आकाश के परिणमन में काल निमित्त है। यह क्या है!?

उसे जाननेवाला तू चैतन्य है, भगवान! तुझे अनन्तपना लगे.... आहा...हा.. क्षेत्र की अनन्तता को जाननेवाला क्षेत्रज्ञ है। यह भगवान उसे जाननेवाला है। आ...हा...! उसका रचयिता नहीं है, उसका स्वयं के काम में सहायकपना निमित्त से कहने में आता है। समझ में आया ? अपनी परिणति अपने से होती है, तब धर्मास्तिकाय को गति में निमित्त कहने में आता है। स्थिति में अधर्मास्ति को निमित्त, परिणमन में काल को निमित्त (कहने में आता है)।

'नियमसार' में तो यहाँ तक आता है कि कालद्रव्य न हो तो परिणमन होता नहीं। 'नियमसार' में है। उसका अर्थ कि (वहाँ) कालद्रव्य को सिद्ध करना है। परिणमन तो अपने से अपने कारण से होता है। कालद्रव्य जगत् में एक (द्रव्य है)। श्वेताम्बर लोग कालद्रव्य नहीं मानते, क्योंकि उन्होंने सर्वज्ञपना कल्पित उठाया है। आहा...हा...! यह तो

सीधी सर्वज्ञ (की वाणी है) और सर्वज्ञ का कहा हुआ धर्म अनादि की यह वस्तु है। दिगम्बर धर्म यह सर्वज्ञ का कहा हुआ है। उन्होंने (श्वेताम्बरों ने) तो कल्पित बनाया है, अत: उसने कालद्रव्य माना ही नहीं। आहा...हा...!

यहाँ तो आत्मा ज्ञानप्रमाण, ज्ञान ज्ञेयप्रमाण। ज्ञेय हैं उसमें काल द्रव्य तो उन्होंने माना नहीं, तो उसका ज्ञान का प्रमाण भी अल्प हो गया। क्या कहा? इस 'प्रवचनसार' में पाठ में ऐसा है कि आत्मा ज्ञानप्रमाण हे और ज्ञान ज्ञेयप्रमाण है। तो जितने ज्ञेय हैं, उतने प्रमाण में ज्ञान जानता है, तो ज्ञान ज्ञेयप्रमाण (है) तो कालद्रव्य (उसने) माना नहीं, ज्ञेय जो असंख्य कालाणु और अनन्ती पर्याय (हैं) वह ज्ञेय है तो उस ज्ञेय को माना नहीं। तो ज्ञेय अल्प है, उसे ज्ञान जाननेवाला रहा, पूर्ण को जाननेवाला नहीं रहा। सूक्ष्म बात है। आहा...हा...! समझ में आया? किन्तु जगत् को कहाँ पड़ी है? जिस सम्प्रदाय में जन्म लिया (उसमें धर्म मान लिया)। आ...हा...हा...!

यह तो तीन लोक के नाथ जिनेश्वरदेव का यह वचन है। इस शास्त्र में जिनेश्वरदेव का यह धर्म है! यह कल्पित है, ऐसी बात नहीं है। आ...हा...हा...! ज्ञान को जब ज्ञेयप्रमाण कहें तो जितने ज्ञेय हैं, उतने प्रमाण में ज्ञान (हुआ)। तो ज्ञेय में उसने काल को तो माना नहीं।

यहाँ यह कहते हैं, देखो! **धर्म तथा अधर्म व्याप्त होकर रहते हैं और (जहाँ जितने में) सर्व द्रव्यों को वर्तना में निमित्तभूत काल....** है? **(जितने में) सर्व द्रव्यों को वर्तना में निमित्तभूत काल सदा वर्तता है,....** आ...हा...हा...! क्या ज्ञान की महत्ता (बताते हैं) कि ज्ञान इतनी चीज है, (उन) सब को जानते हैं। इस चीज में कमी मानते हैं तो उसके ज्ञान में कमी हो गई, तो सर्वज्ञ ज्ञान रहा नहीं। आ...हा....हा....! समझ में आया?

यहाँ कहा? **सर्व द्रव्यों की वर्तना में....** (अर्थात्) प्रत्येक द्रव्य के परिणमन में **निमित्तभूत काल (द्रव्य) सदा वर्तता है,....** कालद्रव्य सदा वर्तता है। तो जिसने कालद्रव्य माना नहीं — श्वेताम्बर कालद्रव्य मानता नहीं। पाँच द्रव्य की पर्याय (है), वह काल (है ऐसा मानते हैं)। पर्याय को काल कहते हैं। बहुत फर्क, बड़ा फर्क!

मुमुक्षु – वह तो पर्याय का स्वकाल हुआ।

पूज्य गुरुदेवश्री – वह तो प्रत्येक (द्रव्य की) पर्याय तो उसका स्वकाल है परन्तु पर काल निमित्त है या नहीं ? सूक्ष्म बात है। बहुत साल पहले 'जामनगर' में कहा था कि जिसने कालद्रव्य है, उसे माना नहीं, उसका परिणमन निर्मल हुआ ही नहीं। यह तो एक बार 'जामनगर' में कहा था। (संवत्) १९८८ का चातुर्मास था न ? 'जामनगर'! ८८, ८८! ८९ और ९० यहाँ 'राजकोट' (हुआ था)। यह तो सूक्ष्म बात है, भाई!

कालद्रव्य सर्व द्रव्यों में **वर्तना में निमित्तभूत काल सदा वर्तता है,...** काल सदा वर्तता है (ऐसा कहा है)। जगत में कालद्रव्य सदा वर्तता है। आहा...हा...! कालद्रव्य को नहीं माने (तो ज्ञान पूर्ण रहा नहीं)। 'हेमचन्द्राचार्य' ने पीछे से माना है। क्योंकि (बात का) मेल पाया नहीं, इसलिए माना है। लेकिन उनके शास्त्रों में नहीं है। शास्त्र हैं वे सब कल्पित बनाये हैं। मिथ्यादृष्टि के (बनाये हुए हैं)। सूक्ष्म बात है, बापू!

सिद्धान्त में तो ऐसे लेख है कि जिसने सबसे पहले दिगम्बर में से श्वेताम्बर पन्थ निकाला.... सूक्ष्म बात है, प्रभु! वह मरकर नरक में गया है, ऐसा पाठ है। 'दर्शनसार' में 'देवसेनाचार्य' का पुस्तक है। हमने तो सब देखा है न! उसमें ऐसा लिखा है कि जिसने प्रथम श्वेताम्बर धर्म निकाला, (उसने) बहुत विशेष किया, तत्त्व से विरुद्ध कह दिया, वह मरकर नरक में गया (है)। श्वेताम्बर को बात कठिन पड़े!

यहाँ यह कहते हैं कि असंख्य कालद्रव्य सदा वर्तते हैं। जितने आकाश के प्रदेश हैं उन एक-एक प्रदेश में काल (द्रव्य रहा है), असंख्य चौबीसी के समय जितने तो प्रदेश हैं, तो असंख्य चौबीसी के समय जितने कालद्रव्य हैं। यह बात...! यह तो ज्ञान की विशेषता में ये सब जाननेयोग्य है और ज्ञान की इतनी महत्ता है! ज्ञान इतना विशाल है! ऐसा बताना है। आ...हा...!

लोक और अलोक दोनों को कालद्रव्य सदा निमित्तभूत होकर वर्तता है। है ? **सर्व द्रव्यों को...** ऐसा कहा न ? भाई! तो सर्व द्रव्य में आकाश आ गया ? अलोक का आकाश (आ गया) ? भाई! ये सब सूक्ष्म है। आप के व्यापार-धन्धे में उलझ गये हो तो समझना कठिन हो गया। आहा...हा...! क्या सर्वज्ञ परमात्मा जिनेश्वरदेव के जाने हुए द्रव्य!

कहते हैं कि लोक में **सर्व द्रव्यों को...** सर्व द्रव्य में आकाश आया न ? अलोक

का आकाश आ गया या नहीं ? आहा...हा... ! **सर्व द्रव्यों को...** (कहा) उसमें आकाश द्रव्य (आ गया) तो आकाशद्रव्य (मात्र) लोकप्रमाण नहीं है। लोक और अलोकप्रमाण आकाशद्रव्य है। आ...हा...हा... ! (लोगों को) नयी बात लगे (परन्तु) नयी नहीं है, अनादि से भगवान की कही हुई बात है।

सर्व द्रव्यों को.... धर्मास्ति, अधर्मास्ति, आकाश, पुद्‌गल और जीव। और स्वयं भी स्वयं को निमित्त है। सर्व द्रव्यों (कहा है न) ? आहा...हा... ! **वर्तना में निमित्तभूत...** आ...हा...हा... ! **काल सदा वर्तता है,....** क्या प्रभु की बात ! अरे... ! उसे निवृत्ति से छह द्रव्य का क्या स्वरूप है (यह जानना चाहिए)। वह पर्याय का धर्म है कि छह द्रव्य को जाने — ऐसा तो पर्याय की ताकतवाला स्वरूप है। पर्याय को यथार्थ जाने, उसे छह द्रव्य जानने में आ जाता है। समझ में आया ? 'कलश टीका' में है कि जिसने पर्याय नहीं मानी है, उसने छह द्रव्य माने नहीं और जिसने पर्याय मानी है, उसने छह द्रव्य माने हैं। समझ में आया ? 'कलश टीका' में है। 'राजमलजी' की टीका है न ? आ...हा...हा... ! ऐसी बातें... !

बापू ! तेरे चैतन्य की, स्व पर प्रकाशक चेतना की ताकत कितनी है — यह बताने में यह बात बताते हैं। तू किसी का कर्ता नहीं (है) परन्तु किसी को जाने बिना रहता है — ऐसा नहीं। समझ में आया ? किसी चीज का, वास्तव में तो ज्ञानी, राग का भी कर्ता नहीं परन्तु ज्ञान में कुछ जाने बिना रहे, ऐसी चीज नहीं। आहा...हा... ! ऐसा स्वरूप है !

(जहाँ जितने में) सर्व द्रव्यों को वर्तना में निमित्तभूत काल सदा वर्तता है, वह उतना आकाश तथा शेष समस्त द्रव्य - उनका समुदाय जिसका स्वपने से स्वलक्षण है, वह लोक है;..... निमित्तरूप से कालद्रव्य सदा वर्तमान वर्तता है, उसे यहाँ कहा। समझ में आया ? बाह्य में वर्तता नहीं परन्तु उसका परिणमन षट् द्रव्य में निमित्त है। यहाँ तो **(जितने में)** ऐसा कहा न ? लोक में **निमित्तभूत काल सदा वर्तता है, वह उतना आकाश तथा शेष समस्त द्रव्य - उनका समुदाय जिसका स्वपने से स्वलक्षण है, वह लोक है;.....** समझ में आया ? जितने में अस्तिपने कालद्रव्य है (वह) वर्तना में निमित्त है परन्तु (जितने में है उतने में) अस्तिपने है। यह बात है। भले निमित्त अलोक

को (भी) हो परन्तु वर्तता है, रहता है लोक में। आहा...हा...! सन्तों ने, दिगम्बर मुनियों ने करुणा करके जितनी स्पष्टता की है!! ऐसी बात कहीं है नहीं। लोगों को दु:ख लगे कि तो क्या हमारा धर्म झूठा है ? बापू! वस्तुस्वरूप का विचार कर तो तुझे लगेगा कि सत्य और असत्य क्या है ? आहा...हा...!

जितने में निमित्तभूत कालद्रव्य वस्तु वर्तती है, इतने में **आकाश तथा शेष समस्त द्रव्य - उनका समुदाय जिसका स्वपने से....** स्व अर्थात् लोकपने से। (मूल ग्रन्थ में नीचे फुटनोट में है न ?) 'स्वपने से = निजरूप से। (षट्द्रव्यसमुदाय ही लोक है, अर्थात् वही लोक का स्वत्व है - स्वरूप है)। इसलिए लोक के स्वपने से षट्द्रव्यों का समुदाय लोक का स्वलक्षण है)।' षट् पदार्थ (का) रहना, यही लोक का स्वलक्षण है। अलोक में (अन्य द्रव्य) वर्तते नहीं, उसमें द्रव्य है नहीं, भले निमित्तभूत हो लेकिन उसमें है नहीं। जितने में कालद्रव्य, धर्मास्ति, अधर्मास्ति आदि आते हैं, उतने में लोक कहने में आता है। आहा...हा...! उसमें भी गड़बड़ है। भगवान सिद्ध हैं वे सिद्ध (शिला में) रहते हैं। (वे) ऊपर क्यों नहीं जाते ? (क्योंकि) (अलोकाकाश में) धर्मास्तिकाय का अभाव (है)। धर्मास्तिकाय के अभाव के कारण वहाँ टिक रहा है परन्तु लोक का द्रव्य लोक में ही रहता है। लोक का द्रव्य कहा न ? काल भी लोक में ही रहता है। ऐसे सिद्ध आदि पर्याय लोक में ही रहती हैं, उसका अपना स्वभाव है। धर्मास्ति नहीं है, इसलिए (नहीं जाते अथवा) धर्मास्ति हो तो जाये, ऐसी बात है नहीं। इस प्रकार से शास्त्र में कहा है। उसकी अपनी योग्यता वहाँ तक जाने की है, बस! तब धर्मास्तिकाय नहीं है (इसलिए नहीं जाते), ऐसा निमित्त से कथन किया। आहा...हा...!

पूर्ण परमानन्द का नाथ, प्रभु! देह से मुक्त हो, तब लोक तक जाते हैं, (फिर आगे) नहीं जाते हैं तो शास्त्र में (कहा कि) धर्मास्तिकाय (नहीं है इसलिए नहीं जाते) परन्तु वास्तव में तो उसका अर्थ यह है कि वहाँ तक जाने की अपनी योग्यता है। लोक के अन्त (तक) जाने की ही स्थिति है, बस। आगे जाने की अपनी योग्यता ही नहीं। अरे...अरे...! ऐसी बातें हैं, लो!

और जहाँ जितने आकाश में जीव तथा पुद्गल की गति-स्थिति नहीं

होती,.... है ? **धर्म तथा अधर्म नहीं रहते...** गति-स्थिति नहीं होती और उसका निमित्त भी नहीं रहता **और काल नहीं वर्तता,...** देखो ! काल अलोकाकाश में रहता नहीं। **उतना केवल आकाश जिसका स्वपने से स्वलक्षण है,...** स्वपने से स्वलक्षण है। आ...हा...हा... ! **वह अलोक है।**

पहला फर्क क्या कहा ? कि, (पहले) सामान्य द्रव्य कहा था, उसमें जीव और अजीव दो भेद किये। दूसरा भेद क्या किया ? क्षेत्र का भेद (किया) — लोक और अलोक। अब, तीसरा भेद क्या करते हैं ? कि क्रियावती और भाववती शक्तिवाला द्रव्य कहा है। समझ में आया ? पहले ऐसा कहा कि सामान्य द्रव्य है, इतना कहा। फिर कहा कि प्रत्येक द्रव्य का लक्षण भिन्न-भिन्न है, इसलिए वे द्रव्य भिन्न-भिन्न हैं। और (उनको) रहने का स्थान कितना है ? कि लोकप्रमाण से है और अलोक आकाश में नहीं (रहते)। यह भेद बताया।

अब, प्रत्येक द्रव्य की शक्ति (कहते हैं)। दो गुण हैं — भाववती शक्ति और क्रियावती (शक्ति)। (क्रियावती शक्ति के कारण) क्षेत्रान्तर होता है। ये दो शक्तियाँ (हैं)। छह द्रव्य में कुछ एक को भावशक्ति है और कुछ एक को क्रियाशक्ति है। आहा...हा... ! ●

मोक्ष के सन्मुख, भव से विमुख : मुनिराज

अहा ! मोक्ष के साधक साधुओं की दशा तो परमात्मतत्त्व की भावना में परिणमित हो गयी है, एकदम अन्तर्मुख होकर ढल गयी है; इसलिए वे निर्मोह और निर्ग्रन्थ हैं। चैतन्य के आनन्द का अनुभव करके जो विषयों से सदा विरक्त है और आत्मा में सदा अनुरक्त हैं — ऐसे चार आराधना के आराधक साधु, मोक्ष के सन्मुख और भव से विमुख हैं — ऐसे साधुओं की पवित्र चैतन्यदशा को हम वन्दन करते हैं। *- पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी*

गाथा - १२९

अथ क्रियाभावतद्भावविशेषं निश्चिनोति -

उप्पादट्ठिदिभंगा पोग्गलजीवप्पगस्स लोगस्स।
परिणामा जायंते संघादादो व भेदादो।।१२९।।

उत्पादस्थितिभङ्गाः पुद्गलजीवात्मकस्य लोकस्य।
परिणामाज्जायन्ते संघाताद्वा भेदात्।।१२९।।

क्रियाभाववत्त्वेन केवलभाववत्त्वेन च द्रव्यस्यास्ति विशेषः। तत्र भाववन्तौ क्रियावन्तौ च पुद्गलजीवौ, परिणामाद्भेदसंघाताभ्यां चोत्पद्यमानावतिष्ठमानभज्यमानत्वात्। शेषद्रव्याणि तु भाववन्त्येव, परिणामादेवोत्पद्यमानावतिष्ठमानभज्यमानत्वादिति निश्चयः। तत्र परिणाममात्र-लक्षणो भावः, परिस्पन्दनलक्षणा क्रिया। तत्र सर्वाण्यपि द्रव्याणि परिणामस्वभावत्वात् परिणामेनोपात्तान्वय-व्यतिरेकाण्यवतिष्ठमानोत्पद्यमानभज्यमानानि भाववन्ति भवन्ति। पुद्गलास्तु परिस्पन्दस्वभाव-त्वात्परिस्पन्देन भिन्नाः संघातेन, संहताः पुनर्भेदेनोत्पद्यमानावतिष्ठमानभज्यमानाः क्रियावन्तश्च भवन्ति। तथा जीवा अपि परिस्पन्दस्वभावत्वात्परिस्पन्देन नूतनकर्मनोकर्म-पुद्गलेभ्यो भिन्नास्तैः सह संघातेन, संहताः पुनर्भेदेनोत्पद्यमानावतिष्ठमानभज्यमानाः क्रियावन्तश्च भवन्ति।।१२९।।

अथ द्रव्याणां सक्रियनिःक्रियत्वेन भेदं दर्शयतीत्येका पातनिका, द्वितीया तु जीवपुद्गलयो-रर्थव्यञ्जनपर्यायौ द्वौ शेषद्रव्याणां तु मुख्यवृत्यार्थपर्याय इति व्यवस्थापयति - **जायंते** जायन्ते। के कर्तारः। **उप्पादट्ठिदिभंगा** उत्पादस्थितिभङ्गाः। कस्य संबन्धिनः। **लोगस्स** लोकस्य। किंविशिष्टस्य। **पोग्गलजीवप्पगस्स** पुद्गलजीवात्मकस्य, पुद्गलजीवावित्युपलक्षणं षड्द्रव्यात्मकस्य। कस्मात्सकाशात् जायन्ते। **परिणामादो** परिणामात् एकसमयवर्तिनोऽर्थपर्यायात्। **संघादादो व भेदादो** न केवलमर्थपर्यायात्सकाशाज्जायन्ते जीवपुद्गलानामुत्पादादयः संघाताद्वा, भेदाद्वा व्यञ्जनपर्यायादित्यर्थः। तथाहि - धर्माधर्माकाशकालानां मुख्यवृत्यैकसमयवर्तिनोऽर्थपर्याया एव, जीवपुद्गलानामर्थपर्याय-व्यञ्जनपर्यायाश्च। कथमिति चेत्। प्रतिसमयपरिणतिरूपा अर्थपर्याया भण्यन्ते। यदा जीवोऽनेन शरीरेण सह भेदं वियोगं त्यागं कृत्वा भवान्तरशरीरेण सह संघातं मेलापकं करोति तदा विभावव्यञ्जनपर्यायो भवति, तस्मादेव भवान्तरसंक्रमणात्सक्रियत्वं भण्यते। पुद्गलानां तथैव विवक्षितस्कन्धविघटनात्सक्रियत्वेन

स्कन्धान्तरसंयोगे सति विभावव्यञ्जनपर्यायो भवति। मुक्तजीवानां तु निश्चयरत्नत्रयलक्षणेन परमकारणसमयसारसंज्ञेन निश्चयमोक्षमार्गबलेनायोगि-चरमसमये नखकेशान्विहाय परमौदारिकशरीरस्य विलीयमानरूपेण विनाशे सति केवलज्ञानाद्य-नन्तचतुष्टयव्यक्तिलक्षणेन परमकार्यसमयसाररूपेण स्वभावव्यञ्जनपर्यायेण कृत्वा योऽसावुत्पादः स मेदादेव भवति, न संघातात्। कस्मादिति चेत्। शरीरान्तरेण सह संबन्धाभावादिति भावार्थः।।१२९।।

अब, 'क्रिया' रूप और 'भाव' रूप ऐसे जो द्रव्य के भाव हैं, उनकी अपेक्षा से द्रव्य का विशेष (भेद) निश्चित करते हैं —

उत्पाद व्यय अरु ध्रौव्यता, जीव-पुद्गलात्मक लोक के।
परिणमन द्वारा, भेद वा संघात द्वारा होय है॥

अन्वयार्थ - [**पुद्गलजीवात्मकस्य लोकस्य**] पुद्गल-जीवात्मक लोक के [**परिणामात्**] परिणमन से और [**संघातात् वा भेदात्**] संघात (मिलने) और भेद (पृथक् होने) से [**दत्पादस्थितिभंगाः**] उत्पाद, ध्रौव्य और व्यय [**जायन्ते**] होते हैं।

टीका - कोई द्रव्य 'भाव' तथा 'क्रियावाले' होने से और कोई द्रव्य केवल 'भाव' वाले होने से - इस अपेक्षा से द्रव्य का विशेष (भेद) है। वहाँ पुद्गल तथा जीव (१) भाववाले तथा (२) क्रियावाले हैं, क्योंकि (१) परिणाम द्वारा तथा (२) संघात और भेद के द्वारा वे उत्पन्न होते हैं, टिकते हैं और नष्ट होते हैं। शेष द्रव्य तो भाववाले ही हैं, क्योंकि वे परिणाम के द्वारा ही उत्पन्न होते हैं, टिकते हैं और नष्ट होते हैं — ऐसा निश्चय है।

उसमें, 'भाव' का लक्षण परिणाममात्र है; 'क्रिया' का लक्षण परिस्पन्द (कम्पन) है। वहाँ समस्त ही द्रव्य भाववाले हैं, क्योंकि परिणामस्वभाववाले होने से परिणाम के द्वारा अन्वय[१] और व्यतिरेकों को प्राप्त होते हुए वे उत्पन्न होते हैं, टिकते हैं और नष्ट होते हैं। पुद्गल तो (भाववाले होने के अतिरिक्त) क्रियावाले भी होते हैं, क्योंकि परिस्पन्दस्वभाववाले होने से परिस्पन्द के द्वारा पृथक्[२] पुद्गल एकत्रित हो जाते हैं इसलिए; और एकत्रित —

१. अन्वय, स्थायीपने को और व्यतिरेक, उत्पाद तथा व्ययपने को बतलाते हैं।
२. पृथक् पुद्गल कम्पन के द्वारा एकत्रित होते हैं। वहाँ वे भिन्नपने से नष्ट हुए, पुद्गलपने से टिके और एकत्रपने से उत्पन्न हुए।

मिले हुए पुद्गल पुनः पृथक् हो जाते हैं, इसलिए (इस अपेक्षा से) वे उत्पन्न होते हैं, टिकते हैं और नष्ट होते हैं। तथा जीव भी (भाववाले होने के अतिरिक्त) क्रियावाले भी होते हैं, क्योंकि परिस्पन्दस्वभाववाले होने से परिस्पन्द के द्वारा नवीन कर्म — नोकर्मरूप पुद्गलों से भिन्न जीव उनके साथ एकत्रित होने से और कर्म-नोकर्मरूप[३] पुद्गलों के साथ एकत्रित हुए जीव बाद में पृथक् होने से (इस अपेक्षा से) वे उत्पन्न होते हैं, टिकते हैं और नष्ट होते हैं॥ १२९॥

प्रवचन नं. १४५ का शेष श्रावण कृष्ण १२ रविवार, १९ अगस्त १९७९

१२९ (गाथा)। **अब, 'क्रिया' रूप और 'भाव' रूप....** देखो! क्रियारूप अर्थात् जैसे क्षेत्रान्तर होता है। जैसे शरीर की गति होती है न? जीव भी ऐसे गति करता है न? वह क्रिया (शक्ति)। (ऐसे) क्रिया और भाव। भाव तो छहों द्रव्य को है। भाववती शक्ति तो छहों द्रव्य में है परन्तु क्रियावती शक्ति दो (द्रव्य) में है — जीव और पुद्गल।

पैर ऐसे गति करते हैं न? तो पैर तो जमीन को छूते ही नहीं और अपनी क्रियावर्ती शक्ति के कारण ये गति करते हैं। आत्मा की प्रेरणा है, इसलिए शरीर चलता है, ऐसा है नहीं। ये पैर जो चलते हैं, वे जमीन को छूते नहीं, क्योंकि जमीन के परमाणु और अपने (पैर के) परमाणु के बीच में अत्यन्त अभाव है। ठीक! गति करने की क्रियावती शक्ति अपने में है तो इस क्रियाशक्ति के कारण पैर चलते हैं, आत्मा से नहीं, आत्मा की प्रेरणा से नहीं। आहा...हा...! (और) कालद्रव्य का परिणमन है तो उससे गति करते हैं, ऐसा नहीं। उसकी (अपनी) क्रियावती शक्ति है।'धवल' में इसका बहुत विस्तार है। समझ में आया?

जड़ — पुद्गल और चैतन्य (दो में क्रियावती शक्ति है)। चार (में) नहीं — धर्मास्ति, अधर्मास्ति, आकाश, काल में नहीं है। वे जहाँ है वहाँ (रहते) हैं, ऐसे क्षेत्रान्तर नहीं होता और जीव और पुद्गल का क्षेत्रान्तर होता है। पैर चलते हैं, वह क्षेत्रान्तर हुआ न? और आत्मा का क्षेत्रान्तर हुआ वह अपने से (हुआ)। आहा...हा...! ऐसी बातें हैं।

३. ज्ञानावरणादि कर्मरूप और शरीरादि नोकर्मरूप पुद्गलों के साथ मिला हुआ जीव कम्पन से पुनः पृथक् हो जाता है। वहाँ (उन पुद्गलों के साथ) एकत्ररूप से वह नष्ट हुआ, जीवरूप से स्थिर हुआ और (उनसे) पृथक्रूप से उत्पन्न हुआ।

ऐसे जो द्रव्य के भाव हैं, उनकी अपेक्षा से.... 'क्रिया' रूप और 'भाव' रूप ऐसे जो द्रव्य के भाव हैं, उनकी अपेक्षा से द्रव्य का विशेष (भेद) निश्चित करते हैं — १२८ (गाथा)।

उप्पादट्ठिदिभंगा पोग्गलजीवप्पगस्स लोगस्स।
परिणामा जायंते संघादादो व भेदादो।। १२९।।

नीचे हरिगीत —

उत्पाद व्यय अरु ध्रौव्यता, जीव-पुद्गलात्मक लोक के।
परिणमन द्वारा, भेद वा संघात द्वारा होय है॥

१२८ (गाथा की) **टीका - कोई द्रव्य 'भाव' तथा 'क्रियावाले' होने से और कोई द्रव्य केवल 'भाव' वाले होने से...** ऐसा (कभी) सुना न हो, फिर (अज्ञानी कहते हैं कि) जड़ की क्रिया आत्मा करता है; आत्मा चलाये तो जड़ चलता है (— ऐसा मानते हैं।) जड़ में क्रियावती शक्ति (है) इसका भान नहीं। आ...हा...! समझ में आया? यह हाथ ऊँचा होता है न? वह क्रियावती शक्ति के कारण से क्षेत्रान्तर होता है, आत्मा से नहीं। और आत्मा भी, अन्दर क्रियावती शक्ति है (तो) वह अपने से (चलता है)। यह अंगुली चलती है, इसलिए आत्मा को चलना पड़ा — ऐसा नहीं। सूक्ष्म बात है, बापू! वीतराग के छह द्रव्य बहुत सूक्ष्म हैं। आहा...हा...! **कोई द्रव्य 'भाव' तथा 'क्रियावाले' होने से और कोई द्रव्य केवल 'भाव' वाले होने से - इस अपेक्षा से द्रव्य का विशेष (भेद) है।** इस अपेक्षा से छह द्रव्य भिन्न हैं। द्रव्यरूप से भले सामान्य (हो) परन्तु क्रियावती और भाववती शक्ति की अपेक्षा से द्रव्य भिन्न हैं।

वहाँ पुद्गल तथा जीव (१) भाववाले तथा (२) क्रियावाले हैं,.... जीव और परमाणु परिणमन के भाववाले भी हैं और क्षेत्रान्तर की क्रियावाले भी हैं। आहा...हा...! आत्मा 'मुम्बई' से आया न? वह अपनी क्रियावती शक्ति से आया। शरीर यहाँ आया वह शरीर की क्रियावती शक्ति से आया।

मुमुक्षु - रेलवेवाले को पैसे दिये, इसलिए यहाँ आये।

पूज्य गुरुदेवश्री - किसको पैसे दे? दे कौन और ले कौन? उस परमाणु की

क्रिया - पैसे की जाने की क्रियावती शक्ति से जाते हैं। आत्मा ने (पैसे) दिये ऐसी बात है नहीं। अरे... ! दुनिया से उल्टा है।

मुमुक्षु - जेब में से निकालकर दिये।

पूज्य गुरुदेवश्री - जेब कहाँ उसके बाप की थी ? वह तो पुद्गल (है)। जेब पुद्गल की पर्याय, पैसे पुद्गल की पर्याय (है)। वह पुद्गल की पर्याय जेब में से निकलकर ऐसे जाती है, वह तो क्रियावती शक्ति के कारण से जाती है। तेरे हाथ से निकाला, इसलिए गया — ऐसा है नहीं। भाई ! कभी यह सुना नहीं। ऐसा है, बापू !

आ...आ....हा... ! प्रभु ! तेरी प्रभुता का वर्णन करते हैं ! तेरी प्रभुता में सब द्रव्य की विशेषता तेरे ख्याल में आ जाती है। सामान्यरूप से ख्याल में आया परन्तु विशेषरूप से जितनी-जितनी शक्तिवाला है (वह भी ख्याल में आ जाता है)। लोक और अलोक का (भेद) ख्याल (में) आ जाता है। क्रियावर्ती और भाववर्ती से भेद है, यह भी तेरे ख्याल में आ जाता है। आहा...हा... ! समझ में आया ?

क्या कहा ? कि क्रियावती और भाववती शक्ति से द्रव्य में भेद है। **वहाँ पुद्गल तथा जीव (१) भाववाले...** भी हैं। अपने परिणमनवाले भी हैं और क्षेत्रान्तरवाले भी हैं। अपने से क्षेत्रान्तर होता है, अपनी क्रियावती शक्ति (से होता है)। समझ में आया ? आहा...हा... !

मुमुक्षु - गाड़ी में बैठकर आया।

पूज्य गुरुदेवश्री - वह बात ही झूठ है, गाड़ी में बैठा ही नहीं।

एक ब्रह्मचारी (भाई) यहाँ का विरोध करने के लिए कहता था कि 'सोनगढ़' की मोटर से हम जाते नहीं, हम अपने कारण से (जाते हैं)। 'सोनगढ़'वाले कहते हैं कि शरीर शरीर के कारण जाता है, मोटर, मोटर के कारण जाती है। 'सोनगढ़' वाले कहते हैं कि शरीर के कारण शरीर जाता है, मोटर के कारण ऐसे चलता है, ऐसा नहीं।

मुमुक्षु - 'सोनगढ़' की मोटर बिना पेट्रोल के चलती है।

पूज्य गुरुदेवश्री - वह दूसरी (बात है)। 'सोनगढ़' की मोटर बिना पेट्रोल के

चलती है और अपनी मोटर (पेट्रोल से चलती है)। अरे.... ! सुन न, प्रभु ! तू यह क्या कर रहा है ? पेट्रोल के परमाणु में ऐसा जाना, आना, गिरना वह तो क्रियावतीशक्ति के कारण से होता है और मोटर का चलना (होता है) वह परमाणु की क्रियावतीशक्ति के कारण मोटर चलती है, पेट्रोल के कारण नहीं। अरे... अरे... !

मुमुक्षु – विज्ञान है, वहाँ बिना पेट्रोल के मोटर चलती है।

पूज्य गुरुदेवश्री – यहाँ भी चलती है, लेकिन वह प्रश्न नहीं। जिस समय, जिस क्षेत्र में से परमाणु और आत्मा भिन्न होते हैं वह अपनी क्रियावतीशक्ति के कारण (होते हैं)। आहा...हा... ! समझ में आया ? मोटर में (आदमी) बैठा ही नहीं। मोटर को शरीर छूता ही नहीं। आहा...हा... ! बैठा नहीं, छूता ही नहीं। छुए बिना बैठे कहाँ से ? ऐसा कहाँ का (उपदेश) ? दुनिया पागल है।

'परमात्मप्रकाश' में (एक) बात (आती) है कि धर्मात्मा जब सत् की बात करते हों तो ऐसा लगे कि ये तो पागल हैं। प्रत्यक्ष दिखता है कि आत्मा की प्रेरणा से शरीर चलता है और वे कहें कि ना.... ना। पेट्रोल से मोटर चलती है। ऊपर (विमान) जाता है तो क्या बिना पेट्रोल के जाता है ? अभी ऐरोप्लेन गिरा नहीं ? छह साल (से चलता था)। 'अमेरिका' का ! छह साल से ऊपर घूमता था। बहुत जोखिम था लेकिन समुद्र में गिरा। लाखों का नुकसान ! परन्तु वह क्रियावतीशक्ति के कारण वहाँ घूमता था। अन्दर इंजिन है, उसके कारण नहीं, दूसरे क्रियावती (शक्तिवाले) परमाणु के कारण उस परमाणु की क्रिया नहीं (हुई)। अरे.... ! ऐसी बातें.... ! समझ में आया ?

यह लकड़ी है वह ऐसे (सीधी) होती है, वह अंगुली के कारण नहीं। अंगुली के परमाणु की क्रियावतीशक्ति के कारण (अंगुली) ऐसे चलती है। उसकी क्रियावतीशक्ति के कारण ऐसे चलती है, आत्मा के कारण नहीं। ऐसा मार्ग है। भेदज्ञान करवाते हैं।

आहा...हा... ! एक-एक परमाणु गति करता है (वह क्रियावतीशक्ति के कारण करता है)। वह परमाणु इसके आधार से रहा है — ऐसा नहीं। ये ऊपर के परमाणु हैं न ? वे इसके आधार से रहे हैं, ऐसा नहीं। ये परमाणु जब गति करते हैं तो नीचे के परमाणु गति करते हैं, इसलिए (ऊपर के परमाणु) गति करते हैं, ऐसा नहीं। उस परमाणु की स्वतः

क्रिया अपने से गति होती है, नीचे के परमाणु में अपने से गति होती है। आत्मा से तो नहीं लेकिन दूसरे परमाणु से भी नहीं। अरे... अरे...! ऐसी बातें...! भाई! कभी सुनी थी? आ...हा...हा...!

एक-एक परमाणु जो गति करते हैं, वे अपनी क्रियावतीशक्ति के कारण (करते हैं)। दूसरे परमाणु का धक्का लगा, (इसलिए गति हुई, ऐसा नहीं)। एक सेठ थे वे ऐसा कहते थे कि देखिये! यहाँ एक चीज है, उसे यहाँ छुए तो खिसक जाती है। हमारी तो बड़ी चर्चा हुई थी न! (हमने) कहा, वह बात झूठ है। यहाँ छुआ, इसलिए खिसका है — ऐसा भी नहीं। उस परमाणु की क्रिया उस काल में, उस प्रकार से (होनेवाली थी तो हुई है)। उसने गति की इसलिए इसने गति की, ऐसा भी नहीं। एक एक परमाणु की क्रियावतीशक्ति के कारण क्षेत्रान्तर होता है, वह उसके क्रियावर्ती नाम के धर्म और गुण के कारण (होता है)। आहा...हा...! समझ में आता है? आ...हा...!

लकड़ी में कील (कीली) घुसती है। लोहे की कील होती है न? तो कहते हैं कि कील के परमाणु अपनी क्रियावतीशक्ति के कारण अन्दर चले हैं, हथोड़ा मारा है, इसलिए चली है, ऐसा नहीं।

मुमुक्षु - आप कहते हो कि लकड़ी को छूती नहीं।

पूज्य गुरुदेवश्री - लकड़ी को छूती नहीं, वह बाद में कहता हूँ। अभी तो हथोड़े की बात कही। कील लकड़ी को छूती नहीं और कील के कारण खड्डा हुआ नहीं। उस खड्डे के परमाणु की जो क्रियावतीशक्ति है उस कारण से वह चौड़ा हो जाता है। भाई! आप छह भाई लोग मिलकर ऐसी चर्चा करते हो? कहाँ थी, ऐसी (बात) थी कहाँ (तो चर्चा होगी)? रुपये की (बातें) चलती हो।

रुपये के परमाणु अनन्त हैं। वे एक-एक परमाणु अपनी गति - क्रिया से यहाँ आता है, आत्मा के कारण से नहीं, पुण्य के कारण नहीं। आहा...हा...! पुण्य के परमाणु से (पैसा) मिलता है, वह निमित्त से कथन (है)। बाकी उस परमाणु की स्वत: क्रिया, वहाँ से यहाँ आने की क्रिया परमाणु से अपने से होती है, आत्मा से नहीं; दूसरे परमाणु से इस परमाणु की क्रिया भी नहीं (हुई)। क्योंकि प्रत्येक परमाणु में क्रियावती का गुण अपने से

है। वह क्रियावती (शक्ति) अपने से है तो दूसरे परमाणु से यह गति-क्रिया होती है, ऐसा है नहीं। आत्मा से तो नहीं परन्तु दूसरे परमाणु से दूसरे परमाणु की गति होती है — ऐसा भी नहीं।

प्रश्न – 'मोरबी' में पानी (बाढ़) आयी इसमें क्या हुआ?

समाधान – 'मोरबी' के उस परमाणु की पर्याय उस काल में, उस प्रकार से होनेवाली हुई है (एक मुमुक्षु) कहते थे कि पानी की बाढ़ देखकर, हमारे मकान की सीढ़ी अन्दर में थी तो हम लोग ऊपर चढ़ गये, पानी तो आया और सामने मकान था, उसकी सीढ़ी बाहर थी। पानी आया तो बाहर निकल नहीं पाये। सीढ़ी चढ़ने के लिए निकल नहीं सके। वहीं के वहीं सब मर गये! सामनेवाले मकान में! वह तो उस शरीर के परमाणु की पर्याय वहीं रहने की (थी) और गति करने की थी इस कारण से हुई है, पानी के कारण से भी नहीं। पानी के परमाणु की क्रियावतीशक्ति अपने से पानी (के) रजकण गति करता है। अन्दर जीव है, उस जीव में भी क्रियावतीशक्ति है। पानी ऐसे चले तो शरीर के रजकण की क्रियावतीशक्ति के कारण और जीव अपनी क्रियावतीशक्ति के कारण ऐसे चलते हैं। यह कभी सुना नहीं। आ...हा...हा...!

ज्ञान का यह स्वभाव है कि ऐसी चीज जिस प्रकार है, उस प्रकार से जानना, वह ज्ञान है। यह प्रयोजन (है)। ये सब कहने का हेतु क्या? कि जिस प्रकार से पदार्थ का स्वभाव जिस प्रकार से है, उसी प्रकार ज्ञान जाने, उसे सम्यक्ज्ञान कहते हैं, भले पर ही अपेक्षावाला (ज्ञान) है। समझ में आता है? आ...हा...हा...! यह विषय तो (गजब है)!

मुमुक्षु – कर्तापना तो कहीं उड़ गया।

पूज्य गुरुदेवश्री – था कब? स्वयं में गति करने की क्रियावतीशक्ति नहीं है? (है) तो करता है। 'मुम्बई' से यहाँ आये तो आत्मा अपनी क्रियावतीशक्ति के कारण यहाँ आया है, शरीर के कारण नहीं। आ...हा...हा...! शरीर आया है, वह भी अपनी क्रियावतीशक्ति के कारण आया है।

प्रश्न – ट्रेन में बैठकर आये न?

समाधान – कोई ट्रेन में बैठा नहीं। (ऐसा सुने तो) पागल लगे।

'परमात्मप्रकाश' में कहा है कि जैनदर्शन के तत्त्व की बातें ऐसी सूक्ष्म हैं कि कहनेवाले को पागल लोग पागल मानें! 'परमात्मप्रकाश' में लेख है। 'योगीन्द्रदेव'! ऐसी बातें करें तो पागल लोगों को पागल जैसा लगे! आ...हा...! क्या बकते हैं? अरे...! सुन तो सही, प्रभु! पागल लोगों को पागल लगे, 'परमात्मप्रकाश' में है।

आत्मा इस शरीर को हिलाये — ऐसा तो तीन काल में है नहीं, परन्तु शरीर का एक परमाणु हिले, इसलिए दूसरे परमाणु गति करते हैं; इसलिए चलता है — ऐसा भी नहीं। दूसरा परमाणु अपनी गति के कारण से — क्रियावतीशक्ति के कारण गति करता है और दूसरा परमाणु अपनी क्रियावतीशक्ति के कारण — अपने गुण के कारण से वहाँ परिणमन करता है। आ...हा...हा...हा...!

यह चश्मा है, वह नीचे से ऊपर आता है तो क्रियावतीशक्ति के कारण से प्रत्येक परमाणु का नीचे से ऊपर क्षेत्रान्तर होता है।

प्रश्न - ये ऑपरेशन करते हैं, उसमें शरीर के दो टुकड़े करते हैं तो छुरी से करते हैं न?

समाधान - टुकड़े कौन करे? धूल!

मुमुक्षु - ऐसे छुरा मारते तो हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री - छुरा उसको छूता ही नहीं, मारे कौन?

यहाँ अंगुली है (और) देखो! खड्डा हुआ, तो अंगुली से खड्डा हुआ ऐसा है ही नहीं। उस समय अपनी क्रियावतीशक्ति के कारण, ऐसे (सीधा) था वहाँ (खड्डा) हुआ, अंगुली के कारण से नहीं। पागल जैसा लगे! भाई! कहाँ थी, आप के यहाँ थी यह बात? आहा...हा...!

यहाँ तो वस्तु का जो स्वभाव जिस प्रकार से है, उस प्रकार से उसका ज्ञान हो तो वह सच्चा ज्ञान कहा जाये। वस्तु की स्थिति जिस प्रकार से है, उससे विरुद्ध माने तो उसका ज्ञान झूठा (है)। आहा...हा...! आ...हा...!

रोटी के टुकड़े होते हैं, वह अपनी क्रियावतीशक्ति के कारण से ऐसे होते हैं, डाढ

से नहीं। बाद में 'संघात' कहेंगे। परमाणु का एकत्रित होना और भिन्न पड़ना; वैसे जीव का भी शरीर के साथ एकत्रित होना और भिन्न पड़ना, वह अपनी क्रियावतीशक्ति के कारण (होता है)। ऐसी बातें हैं! लेकिन इसमें हमारा धर्म क्या? बापू! जिस जिस पदार्थ का जिस प्रकार का स्वभाव (है) उसे इस प्रकार से ज्ञान जाने तो वह ज्ञान सच्चा कहा जाये। उससे विपरीत जाने तो वह ज्ञान सच्चा नहीं। यह इसका प्रयोजन है। आ...हा...! आहा...हा...! है?

पुद्गल तथा जीव (१) भाववाले तथा (२) क्रियावाले हैं,.... आहा...हा...! थोड़े शब्दों में कितना भरा है!! शब्दों में तो नहीं (भरा), हाँ! शब्दों में तो शब्द की पर्याय भरी है। किन्तु उसके पीछे भाव जो हैं (उसमें सब भरा है)! आ...हा...हा...! **क्योंकि (१) परिणाम द्वारा....** जड़ और आत्मा अपनी परिणति — परिणाम द्वारा **तथा (२) संघात और भेद के द्वारा....** जीव कर्म के साथ मिलता है, वह क्रियावतीशक्ति (के कारण) और कर्म से भिन्न होता है, वह भी क्रियावतीशक्ति के (कारण)। समझ में आया?

(१) परिणाम द्वारा तथा (२) संघात और भेद के द्वारा वे उत्पन्न होते हैं, टिकते हैं और नष्ट होते हैं। आ...हा...हा...हा...! जीव और पुद्गल (में) प्रत्येक समय में क्रियावर्ती गुण के कारण क्षेत्रान्तर होता है और भाव के कारण परिणमन होता है। परिणमन सामान्यरूप हुआ। क्षेत्रान्तर (हुआ), वह क्रियावती (शक्ति के कारण हुआ)। आ...हा...हा...! मैंने रुपया दिया वह बात झूठी है, क्योंकि रुपये जड़ के परमाणु हैं और उन एक-एक परमाणु में क्रियावतीशक्ति (है)। उस कारण से वहाँ से नोट गई और पैसा गया। लाख-लाख (रुपये) की नोट आती है न? करोड़ोंपति एक-एक की नोट (देते हैं ऐसे) लाख-लाख (रुपये देते हैं)। सौ लाख के करोड़! सब नोट आती है न? यहाँ हमारे दस हजार तक के आये थे पाँच नोट! दस हजार के पाँच नोट! (एक मुमुक्षु), उनकी माँ और भाई आये थे। मैं अन्दर बैठा था तो पैसे रखे। मुझे लगा कि दो-पाँच हजार होंगे, लेकिन देखा तो पचास हजार! दस-दस हजार के पाँच नोट! बोले कुछ नहीं, कितने रखे (कुछ नहीं), रख दिया। देखा तो पचास हजार! हमने कहा (प्रमुख) को दे दो। व्यवहार है, कौन किसे दे और कौन किससे ले?

विशेष कहेंगे.....

प्रवचन नं. १४६ श्रावण वद तेरस सोमवार, २० अगस्त १९७९

'प्रवचनसार' १२९ गाथा। टीका फिर से (लेते हैं)। द्रव्य में द्रव्यरूप से भले (सभी द्रव्य) एक हो परन्तु द्रव्य के स्वभाव की स्थिति से (सब) भिन्न-भिन्न हैं। छह द्रव्य में **कोई द्रव्य 'भाव' तथा 'क्रियावाले' होने से....** पहले सामान्य बात करते हैं। **कोई द्रव्य 'भाव' तथा 'क्रियावाले' होने से और कोई द्रव्य केवल 'भाव' वाले होने से - इस अपेक्षा से द्रव्य का विशेष (भेद) है।** इस अपेक्षा से द्रव्य की पृथक्ता है।

वहाँ पुद्गल तथा जीव (१) भाववाले तथा (२) क्रियावाले हैं,.... आहा...हा...! परिणमनवाले भी हैं और क्षेत्रान्तर होने की क्रियावाले भी हैं। कायम क्रियावाले (का) क्षेत्रान्तर होता है, ऐसा नहीं। कोई समय स्थिर भी (रहते) हैं परन्तु क्षेत्रान्तर होता है, उस समय उसकी जो पर्याय उस समय उत्पन्न होने की थी, वह उत्पन्न हुई। समझ में आया?

यह शरीर है। ऐसे ही है तो (इस समय) तो स्थिर है। क्रियावतीशक्ति तो है परन्तु वह स्थिर है। ऐसे क्षेत्रान्तर होता है... आ...हा...हा...! उस परमाणु की पर्याय में उस समय क्षेत्रान्तर उत्पन्न होने की पर्याय का काल था तो वह क्षेत्रान्तर उत्पन्न हुआ है। आहा...हा...! जड़ और जीव का ऐसा स्वत: स्वरूप है। (बाकी के) चार (द्रव्य में) अकेला भाव है। छहों द्रव्य में (सभी द्रव्य) भाववाले (हैं) और जीव तथा पुद्गल दोनों भाव और क्रियावाले (हैं)। आहा...हा...! है?

(१) भाववाले तथा (२) क्रियावाले हैं, क्योंकि (१) परिणाम द्वारा तथा (२) संघात और भेद के द्वारा..... जीव और परमाणु संघात अर्थात् एकत्रित होना और भेद अर्थात् भिन्न पड़ना (ऐसी शक्तिवाले हैं)। दृष्टान्त देंगे। संघात अर्थात् एकत्रित होना, भेद अर्थात् भिन्न पड़ना। (इसके द्वारा) **वे उत्पन्न होते हैं, टिकते हैं और नष्ट होते हैं।** आहा...हा...! ऐसी सूक्ष्म बातें!

शेष द्रव्य तो भाववाले ही हैं,.... धर्मास्ति, अधर्मास्ति, आकाश और काल; इनका क्षेत्रान्तर नहीं है। वे भाववाले हैं, मात्र परिणमनवाले हैं। यहाँ तो कहते हैं कि अजीव

का जैसा स्वरूप है, ऐसा उसको जानना। उससे विरुद्ध जाने तो अजीव की ज्ञानदशा (जानने की दशा) सच्ची नहीं। आ...हा...हा... ! **भेद के द्वारा वे उत्पन्न होते हैं, टिकते हैं और नष्ट होते हैं। शेष द्रव्य तो भाववाले ही हैं, क्योंकि वे परिणाम के द्वारा ही उत्पन्न होते हैं,....** ध्रुवपने **टिकते हैं और नष्ट होते हैं - ऐसा निश्चय है।** यहाँ तक तो आ गया था।

उसमें, 'भाव' का लक्षण परिणाममात्र है;.... बदलना, यह भाव का लक्षण है। प्रत्येक द्रव्य अपना कायमरूप रखकर, पलटना — बदलना, यह परिणामस्वभाव है। यह उसका परिणामस्वभाव है। वे पर के कारण परिणमते हैं, ऐसा नहीं। आहा...हा... ! **'क्रिया' का लक्षण परिस्पन्द (कम्पन) है।** ऐसे कम्पन होना, क्षेत्रान्तर होना। आहा...हा... !

एक बार ऐसा प्रश्न आया था कि जो योग का कम्पन है, उसमें धर्मास्तिकाय निमित्त नहीं। यह प्रश्न आया था। बहुत वर्ष पहले (आया था), ख्याल है। योग का कम्पन केवली को होता है परन्तु क्षेत्रान्तर नहीं है, ऐसा (कोई) कहता था। क्षेत्रान्तर का कम्पन और योग का कम्पन — (दोनों) की बात अलग है। बहुत वर्ष पहले प्रश्न आया था।

मुमुक्षु - कम्पन हो और क्षेत्रान्तर नहीं हो।

पूज्य गुरुदेवश्री - कम्पन हो और क्षेत्रान्तर नहीं हो। वहीं के वहीं रहकर कम्पन हो; और क्षेत्रान्तर ऐसे होता है — एक प्रदेश से दूसरे प्रदेश में जाना, क्षेत्रान्तर (होना)। आहा...हा... ! कम्पन हो, फिर भी क्षेत्रान्तर नहीं होता। यह प्रश्न पहले आया था, याद है ? (एक दिगम्बर विद्वान ने प्रश्न) किया था कि कम्पन होता है, उसमें धर्मास्तिकाय का निमित्त नहीं, ऐसा आया था। यहाँ तो एक बार आया हो तो भी ख्याल (में रह जाता है)। आहा...हा... ! गजब बात ! यह तो 'धवल' और 'जयधवल' में से थोड़ा-थोड़ा देखा। गजब बात है ! ! उसकी सूक्ष्मता... आचार्यों ने उसका वर्णन (किया)... ओ...हो...हो...हो... !

एक परमाणु की पर्याय के अविभाग प्रतिच्छेद — सर्व जीव से अनन्तगुने ! आ...हा...हा... ! यह तो अलौकिक परमात्मा सर्वज्ञदेव ने जाना, बापू ! आ...हा...हा... ! ऐसी बातें बहुत आयी हैं। आज थोड़े (ग्रन्थ) देखे थे। मुझे तो, आकाश से भी अनन्त गुने

(जीव में) गुण हैं, ऐसा कहीं आता है (या नहीं यह देखना था)। कहीं होगा, लेकिन ख्याल में नहीं आया। आहा...हा...! एक परमाणु की एक पर्याय, उस एक पर्याय के अविभाग प्रतिच्छेद। पर्याय के भाग - खण्ड करते-करते इतने अविभाग प्रतिच्छेद (होते हैं कि) सर्व जीव की संख्या से अनन्तगुने होते हैं! ऐसी बात अन्दर आयी थी। आ...हा...हा...!

सर्वज्ञ भगवान त्रिलोकनाथ ने जो देखा ऐसा कहा। आहा...हा...! यह तो जम जाने की बात है! किसी का मैं (कुछ) कर दूँ (ऐसा है ही नहीं)। आ...हा...हा...! एक बात तो ऐसी भी आयी थी उसमें कि जब अध्यात्म की बात कहते हैं और (जो) तुरन्त भूल जाते हैं तो ऐसे श्रोता अध्यात्म की बात श्रवण करने योग्य नहीं है। उसमें है। आहा...हा...! क्योंकि तुझे गरज नहीं है तो एकबार सुनने में आया तो तुरन्त ही भूल जाता है। कुछ समय बाद भूल जाये वह अलग बात है परन्तु यहाँ कहा और वहीं भूल गया (वह लायक नहीं)। ए...ई...! आहा...हा...! अध्यात्म है, आगे लिखा है।

जो अध्यात्म की बात अन्दर रुचिपूर्वक सुनते हैं तो वह सुनने की चीज तुरन्त ही भूल जाये, सुनने के तुरन्त ही दूसरे समय (भूल जाये), वह (श्रोता लायक) नहीं। फिर थोड़े काल के बाद भूल जाये (वह अलग बात है)। समझ में आया? (ऐसा) लेख है, 'जयधवल' में एक लेख है। अन्दर में देखा है, पहले सब थोड़ा-थोड़ा देखा है, चिह्न भी किये हैं। आहा...हा...! मूल बात, हाँ!

भगवान अन्दर राग से भिन्न और अपने स्वरूप से अभिन्न — एकत्व-विभक्त.... आहा...हा...! ऐसी चीज सुनने (के बाद) तुरन्त ही भूल जाये, (वह लायक नहीं)। तो कहा कि शिष्य के लाभार्थ फिर से कहना। (तो कहा कि) वह शिष्य लायक ही नहीं। ऐसा (आया) है। आ...हा...हा...! उसे गाली देते हैं तो गाली तुरन्त याद रहती है या नहीं? आहा...हा...! ऐसी बात!

मुमुक्षु - शादी के समय गाना गाते हैं, उसमें गाली देते हैं....

पूज्य गुरुदेवश्री - देते हैं। वह याद रहता है। वही कहा न। शादी के समय जमाई आया हो और ऐसी गाली दी हो और सत्ताप्रिय आदमी हो, काम में थोड़ी ज्यादा होशियारी करता हो (उसे कहे कि), (यह) आप क्या करते हो? इतना कहें तो याद रखता है।

अरे.... ! सही मौके पर उसने मेरा अपमान किया है। आ...हा... !

'खस' (नाम के गाँव में) एक राजपूत साला था। उसके जीजाजी ने कुछ कहा होगा। जीजाजी ने साले के साथ कभी ऐसी गुस्ताखी की होगी। साले को वह (बात) अन्दर ऐसी लगी (कि एक बार) उसकी बहन रोटी बनाती थी, उसके जीजाजी खा रहे थे। वहाँ जाकर, जमैया (कटार) लेकर (मार दिया)।'खस' में बना है।'बोटाद' के पास 'खस' (गाँव) है न? (उसे) मारा... मर गया! आहा...हा... ! राजपूत था न? और सत्ताप्रिय आदमी, कुछ गुस्ताखी की होगी। बहन बैठी थी (और मार दिया), उसकी बहन बोली, नहीं.... नहीं.... (लेकिन वह) छुरा मारकर चला गया। मुर्दा बना दिया! आहा...हा... !

ऐसे परमात्मा तीन लोक के नाथ की अध्यात्म की बात... आ...हा...हा... ! मूल बात कि राग से भिन्न भगवान शुद्ध चैतन्यमूर्ति! ऐसा सुनकर तुरन्त भूल जाये... आहा...हा... ! वह लायक नहीं। सुनने के लायक नहीं, ऐसा पाठ है। अध्यात्म की बात सुनने के लायक नहीं। आ...हा...हा... ! ध्यान दूसरी जगह हो और यह सुने तो ख्याल नहीं रहता। वह लायक ही नहीं। आहा...हा... ! ऐसी बात है।'धवल', 'जयधवल' (आदि) ३५ पुस्तकें हैं। एक-एक पुस्तक १०-१२ रुपये की! ढेर पड़ा है! हम तो सब पढ़ सके नहीं। आहा...हा... ! ऊपर-ऊपर से ऐसी कोई सत्य बात हो (तो पढ़ लेते हैं)।

यहाँ कहते हैं, आत्मा और पुद्गल भाववाले और क्रिया (का) लक्षण परिस्पन्दवाले दो द्रव्य हैं। **वहाँ समस्त ही द्रव्य भाववाले हैं,....** (अर्थात्) छहों द्रव्य परिणमनवाले हैं। **क्योंकि परिणामस्वभाववाले होने से....** छहों द्रव्य पलटने के स्वभाववाले होने से। आहा...हा... ! ऐसी बातें... ! **परिणाम के द्वारा अन्वय....** (अर्थात्) स्थायीपने रहना, ध्रुव। **और व्यतिरेकों को...** (अर्थात्) उत्पाद-व्ययपने होना। (ऐसा) **होते हुए वे उत्पन्न होते हैं,....** (मूल ग्रन्थ में फुटनोट में अर्थ दिया है)।'अन्वय, स्थायीपने को और व्यतिरेक, उत्पाद तथा व्ययपने को बतलाते हैं।' आहा...हा... !

परिणाम के द्वारा उत्पन्न होते हैं, टिकते हैं - स्थायी (रहते हैं) और नष्ट होते हैं। **पुद्गल तो (भाववाले होने के अतिरिक्त)...** आ...हा...हा... ! **क्रियावाले भी होते हैं, क्योंकि परिस्पन्दस्वभाववाले होने से....** क्षेत्रान्तर की क्रियावाले, भाववाले होने से।

परिस्पन्द नाम परक्रियान्तर होने (से) **परिस्पन्द के द्वारा पृथक् पुद्‌गल एकत्रित हो जाते हैं....** आ...हा...हा...! (मूल ग्रन्थ में फुटनोट में अर्थ दिया है) 'पृथक् पुद्‌गल कम्पन के द्वारा एकत्रित होते हैं।' आ...हा...! भिन्न परमाणु हो परन्तु कम्पन से क्षेत्रान्तर से दूसरे परमाणु के साथ एकत्व (हो जाता है)। एकत्व अर्थात् साथ में आ जाये। आ...हा...हा...!

पृथक् पुद्‌गल कम्पन के द्वारा एकत्रित होते हैं, वहाँ भिन्नपने से नष्ट हुआ। परमाणु पुद्‌गल जुदा था, वह दूसरे के साथ जुड़ गया तो भिन्न था, वह नष्ट हुआ, यहाँ उत्पन्न हुआ। यहाँ से नष्ट हुआ, संयोग से उत्पन्न हुआ। समझ में आया?

जैसे, यह देखो! यह कम्पन (और) यह कम्पन। अब इसके साथ संयोग हुआ, तब संयोग से उत्पन्न हुआ, भिन्न(पने) से नष्ट हुआ और टिकने से कायम रहनेवाला है। अरे...! ऐसी सूक्ष्म बातें! यहाँ तो (अज्ञानी को) क्षण क्षण में, पल पल में ये करूँ... ये करूँ... ये बनाऊँ... इसका करूँ.... इसका करूँ..... (चलता है)। वर्तमान में तो साधु उपदेश ही ऐसा देते हैं कि यह करो... ये करो... ये करो....! कौन करे? भाई! आ...हा...!

यहाँ तो ऐसा कहते हैं कि जिस परमाणु की प्रतिमा बनी है, वह जब स्थापना में रहती है, वह भी उसकी क्रियावतीशक्ति के कारण से वहाँ आयी। आहा....हा...! और ध्रुवपने के कारण वहाँ स्थिर है। और भिन्नपने के जो अलग परमाणु थे, वे वहाँ उत्पन्न हुए, वह उत्पन्न (उत्पाद) हुआ। आ...हा...हा...! दूसरे आत्मा से वहाँ स्थापना हुई — ऐसा नहीं। ऐसी बात...! वर्तमान में तो यह करो... यह करो... यह करो... (यही चलता है)। तीर्थंकर तुल्य जिसे निक्षेप में गिना — प्रतिमा! 'जिन प्रतिमा जिन सारखी'!

मुमुक्षु - एक जगह लिखा है दस हजार तीर्थंकर....

पूज्य गुरुदेवश्री - दस हजार तीर्थंकर से अधिक एक प्रतिमा की विशेषता है! आहा...हा...! तारणपन्थ में मूर्ति का जिनभवन नहीं स्थापित करते। (यह बात तो) विरोध है - तत्त्व से विरोध है। पुस्तक को मानते हैं, मूर्ति और जिनभवन को नहीं। 'धवल', 'जयधवल' में लिखा है कि मूर्ति को नहीं माने, वह अज्ञान, मिथ्यादृष्टि है। (मूर्ति को) माने यह राग है, परन्तु नहीं माने (तो मिथ्यादृष्टि है)। आ...हा...हा...हा...! ऐसी बातें हैं, बापू! भगवान के समय-समय के लेख अलग हैं! आहा...हा...!

यहाँ कहते हैं.... आ...हा... ! पुद्‌गल तो क्रियावाले भी होते हैं, क्योंकि परिकम्पन द्वारा — **परिस्पन्द के द्वारा पृथक् पुद्‌गल...** भिन्न है, वह पुद्‌गल **एकत्रित हो जाते हैं...** दूसरे के साथ संयोग होता है। संयोग में एकत्रित (होते हैं) अर्थात् परमाणु परमाणु ऐसे मिल जाते हैं, ऐसा नहीं। भिन्न था, उसका संयोग हुआ। गाथा बहुत ऊँची है ! छह द्रव्य को भिन्न-भिन्नपने भाव और क्रियावतीशक्ति से (भेद करके निश्चय करवाते हैं)। दो (द्रव्य क्रिया और) भाववाले हैं और छहों (द्रव्य) भाववाले हैं, ऐसी स्थिति बतानी है। आ...हा... ! अरे... ! यहाँ तो थोड़ा जानपना हो जाये तो उसे ऐसा हो जाये कि आ...हा...हा... ! भाई ! मार्ग अलग है, बापू !

इसलिए और एकत्रित - मिले हुए पुद्‌गल.... संयोग में (आते हैं)। उसमें से परिस्पन्द के द्वारा पृथक् - भिन्न हो गया। वह अपने कारण से वहाँ परमाणु भिन्न हो गया। समझ में आया ? आ...हा... ! जैसे कि रोटी में परमाणु एकत्रित हुए तो भिन्नपने का नाश हुआ और एकत्व से उत्पन्न हुआ, टिकने से ध्रुव है। और उसका टुकड़ा हुआ, वह दाँत से नहीं (हुआ)। टुकड़ा होने की पर्याय से — भिन्न होने की पर्याय से उत्पन्न हुआ, (पहले) अभिन्न था न ? उसका नाश हुआ, अभिन्नपना का नाश हुआ। अभिन्न अर्थात् संयोगपने था उसका नाश हुआ, भिन्नपने (हुआ वह) उत्पन्न हुआ और परमाणुपने कायम रहा।

अरे....अरे... ! ऐसी बातें ! भाई ! ऐसी बात और कहाँ है ? मुफ्त में भटकेगा। (इनके) छोटे भाई देव-देवी को (माने)। (ये भाई) यहाँ (का) माने। विरासत में पैसे दिये और यह नहीं (दिया)। और दूसरे (मुमुक्षु हैं) उनका साढू है, वह भी बड़ा मूर्ख है ! बहुत लड़कियाँ हुई, उसके बाद लड़का हुआ तो कहते हैं, 'सांईबाबा' के कारण लड़का हुआ ! पढ़ा-लिखा (आदमी ऐसा कहे) ! उसका छोटा भाई 'अहमदाबाद' (रहता है वह) यहाँ का माननेवाला है। (यहाँ) सुनने नहीं आये। (कहता है कि) 'सांईबाबा' चमत्कारिक आत्मा हैं ! आहा...हा... ! जगत् में प्राणी को भटकने के रास्ते (अनेक हैं)। आ...हा...हा... !

मुमुक्षु - वह मर जाये तो 'सांईबाबा' तो उसे बुला ले।

पूज्य गुरुदेवश्री – कौन बुलाये ? मूर्ख है। वह तो बात हुई थी न ? (एक भाई) मर गया था न ? तो कहे कि 'मैंने उसे (मेरे पास) बुला लिया है !' और माननेवाले भी कैसे ! 'मैंने यहाँ बुला लिया है !' आ...हा... ! करोड़ोंपति आदमी ! भाषण करते-करते देह छूट गया। तब इन्होंने कहा कि देह छूट गया है, हम क्या करें ? (सांईबाबा) को पूछा। (तो उन्होंने कहा), 'जला दो, अब कुछ नहीं हो सकता। मैंने उसे बुला लिया है।' अ...र...र...र... ! ये बनिये... ! बुद्धि के वारदान ! अरे...रे... ! भाई ! ये सब आप के बनिये की बातें ! आहा...हा... !

यहाँ कहते हैं कि वह शरीर जो आत्मा के संयोग में था, वह भिन्न हुआ। भिन्न हुआ वह अपनी क्षेत्रान्तर क्रिया से भिन्न हुआ और एकत्रित थे, उसका नाश हुआ; भिन्न की उत्पत्ति हुई, टिकने का तो कायम है। आ...हा...हा... ! अन्य से होता है, यह तीन काल में नहीं। आ...हा...हा... ! शरीर से मैंने आत्मा को झूठा कर दिया और मैंने मेरे पास रखा है (ऐसा कहनेवाला) बड़ा मूर्ख है, मिथ्यादृष्टि है, आहा...हा... ! उसे बनिये लोग माने ! जैन में जन्मे हुए (ऐसा माने) ! आहा...हा... ! वीतराग परमात्मा ने कहा हुआ ऐसा तत्त्व, उसकी जिसे खबर नहीं... आ...हा...हा... !

यहाँ कहते हैं कि **परिस्पन्दस्वभाववाले होने से....** कौन ? पुद्गल। **परिस्पन्द के द्वारा पृथक् पुद्गल....** (अर्थात्) भिन्न (पुद्गल) **एकत्रित...** हुआ, संयोग में इकट्ठे हुए। दो-पाँच-दस परमाणु एकत्रित हुए। **परिस्पन्दस्वभाववाले होने से परिस्पन्द के द्वारा पृथक् पुद्गल एकत्रित हो जाते हैं, इसलिए और एकत्रित — मिले हुए पुद्गल पुनः पृथक् हो जाते हैं,....** एकत्रित हैं, वे पृथक् हो जाते हैं। **इसलिए (इस अपेक्षा से) वे उत्पन्न होते हैं,....** एकत्रित हैं और पृथक् हुआ तो उत्पन्न हुआ। **टिकते हैं और....** पूर्व से **नष्ट होते हैं।** आ...हा...हा... ! समझ में आया ? यह तो पुद्गल की बात कही। **मिले हुए पुद्गल पुनः पृथक् हो जाते हैं, इसलिए (इस अपेक्षा से) वे उत्पन्न होते हैं,....** पृथक् हुआ इस अपेक्षा से उत्पन्न हुआ; एकत्रित थे, इस अपेक्षा से नाश हुआ; परमाणुपने कायम है। ऐसी बातें हैं !

अब, जीव (की बात करते हैं)। **जीव भी (भाववाले...)** होने से उत्पन्न होता

है, टिकता है और नष्ट होता है। परिणमन द्वारा उत्पन्न होता है, पूर्व के परिणाम का नाश होता है और ध्रुव तो कायम रहता है। अब, यहाँ यह (कहते हैं) **परिस्पन्दस्वभाववाले होने से....** आ...हा...हा... ! अब जीव की बात आयी। जीव में भी कम्पन — क्षेत्रान्तर की योग्यता होने से, अपने परिणमन की क्षेत्रान्तर होने की अपनी (योग्यता) होने से **परिस्पन्द के द्वारा नवीन कर्म — नोकर्मरूप पुद्‌गलों से भिन्न जीव उनके साथ एकत्रित होने से....** आ...हा...हा... ! शरीर और कर्म जो भिन्न हैं, उसके साथ, जीव भिन्न है, वह (उनके साथ) संयोग में आ जाता है तो संयोग में आया वह अपनी क्रियावतीशक्ति (के कारण आया)। संयोग में आया, वह उत्पन्न हुआ; (पहले) भिन्न था, उसका नाश हुआ और जीवपने कायम (रहा)। ऐसी बातें हैं ! समझ में आया ?

फिर से, यह जीव जो है, वह शरीर और कर्म (जो) पृथक् हैं, वे संयोग में आ जाते हैं, वह क्रियावतीशक्ति के कारण से (आते हैं)। क्षेत्रान्तर होने से कर्म और शरीर के साथ संयोग (हुआ) वह उत्पत्ति हुई, भिन्न (था उसका) नाश हुआ और जीवपने कायम रहा। ऐसी बातें हैं ! उसके स्वभाव से ऐसा हुआ, ऐसा कहते हैं। दूसरे से हुआ नहीं। आहा...हा... ! समझ में आया ?

भगवान आत्मा ! जो कर्म और शरीर से भिन्न है। वह कर्म और शरीर के साथ संयोगरूप आया। तो संयोगरूप (में) आया वह परिस्पन्द के कारण उत्पन्न हुआ, परन्तु भिन्न था उसका नाश हुआ। भिन्नता का नाश (हुआ), संयोग से उत्पन्न हुआ (और) जीवपने कायम टिकता है। आहा...हा... ! ऐसी बातें !

एक-एक जीव जब, कर्म और नोकर्म (जो) भिन्न हैं, उसके साथ संयोग में आते हैं तो अपनी क्रियावतीशक्ति से आये। आ...हा...हा...हा... ! क्रियावतीशक्ति के कारण से संयोग उत्पन्न हुआ, भिन्न था उसका नाश हुआ, संयोग से उत्पन्न हुआ, जीवपने कायम है। आ...हा...हा... ! ऐसा स्वरूप ! वीतराग परमात्मा के अलावा यह बात वर्तमान सम्प्रदाय में लोप हो गई। यह करो... यह करो... मूर्ति स्थापो... मन्दिर करो... आ...हा... ! श्वेताम्बर के साधु तो मन्दिर होते हो वहाँ खड़े रहे, खुद बतायें और सब कुछ करें। एक बार गये थे, तब साधु सब करते थे — इसे ऐसा करो... ऐसा करो... ! अर...र...र... ! क्या है ? भाई ! आहा...हा... !

यहाँ परमात्मा सर्वज्ञदेव ने छह द्रव्य देखे, उसमें छहों द्रव्य परिणमनवाले हैं परन्तु क्रियाशक्तिवाले दो हैं — जीव और पुद्गल। धर्मास्तिकाय में क्रियावती (शक्ति) नहीं है, इसलिए अपने क्षेत्र से क्षेत्रान्तर होता है — ऐसा नहीं। धर्मास्ति, अधर्मास्ति, आकाश और असंख्य काल द्रव्य, जहाँ है वहाँ है। एक-एक आकाश के प्रदेश में काल (द्रव्य) है, ऐसे असंख्य प्रदेश में असंख्य (काल) द्रव्य हैं। जहाँ है वहाँ है। काल का क्षेत्रान्तर नहीं होता। धर्मास्तिकाय जहाँ है वहाँ है, क्षेत्रान्तर नहीं होता। अधर्मास्तिकाय जहाँ है वहाँ है, क्षेत्रान्तर नहीं होता। आकाश जहाँ है वहाँ है, क्षेत्रान्तर नहीं होता। क्षेत्रान्तर (होने की) क्रियावतीशक्ति जीव और पुद्गल दो (द्रव्य) में है। आहा...हा...!

ऐसा अजीव का तत्त्व है, ऐसे जानना चाहिए। नौ तत्त्व की श्रद्धा कहते हैं न? नौ तत्त्व में जीव और अजीव आया कि नहीं? अजीव क्या चीज है और जीव का क्या स्वभाव है? — उसका ज्ञान तो करना पड़ेगा या नहीं? ज्ञान बिना श्रद्धा किसकी? विश्वास कैसे बैठे? आ...हा...हा...! भारी काम, भाई!

मुमुक्षु - बहुत बोझ हो गया।

पूज्य गुरुदेवश्री - यह तो हलका हो जाय — ऐसी बात है। विपरीत मान्यता से — उल्टी दृष्टि से छूट जाये। आहा...हा...! यह हीरे पर हथौड़ी पड़ती है न? (यहाँ) कहते हैं कि जो भिन्न है, उसका संयोग हुआ वह संयोग में उत्पन्न हुआ, भिन्न था उसका नाश हुआ और परमाणुपने कायम रहा — वह परमाणु से हुआ है। आहा...हा...! घिसनेवाला ऐसा कहे कि मैं घिसता हूँ (तो वह विपरीत मान्यता है)। अरे...रे...! ऐसी प्रभु की बात है। वीतराग त्रिलोकनाथ...!

वहाँ रात्रि को कहा था कि शास्त्र में (ऐसा कहा है कि) एक (जीव) ईश्वर को कर्ता माननेवाला है — जगत् का ईश्वरकर्ता! और जैन में रहे हुए साधु नामधारी या गृहस्थ जैन नामधारी (यदि ऐसा मानता है कि) 'मैं छह काय की रक्षा कर सकता हूँ, छह काय के जीव की रक्षा कर सकता हूँ' तो दोनों एक सरीखे कर्ता हुए। समझ में आया? आहा...हा...! (समयसार) 'सर्वविशुद्ध अधिकार' में है। रक्षा करूँ — इसका अर्थ यह है कि उसने रखा, बनाया। ईश्वर जैसे जगत को बनाये, वैसे यह छह काय को रखे अर्थात्

बनाये। आ...हा...हा... ! छह काय की दया मैंने पाली अर्थात् कि मैंने उन्हें रखा। वह तो ईश्वरकर्ता माना या छह काय की क्रिया का कर्ता माना, दोनों मिथ्यादृष्टि हैं। कठिन बात ! स्थानकवासी में कहे कि 'दया ते सुखनी वेलड़ी, दया ते सुखनी खाण, अनन्ता जीव मुक्तिये गया.... ' पर की दया, हाँ ! आहा...हा... !

प्रश्न – निश्चय दया नहीं ?

समाधान – निश्चय दया की खबर ही कहाँ है, उसने बेचारे ने सुना भी नहीं।

आठ कर्म और नोकर्म शरीर — औदारिक, तैजस और कार्मण। इन **पुद्‌गलों से भिन्न जीव उनके साथ एकत्रित होने से....** पुद्‌गलों से तो भगवान आत्मा भिन्न है परन्तु जब संयोग में आता है, **परिस्पन्द के द्वारा नवीन कर्म — नोकर्मरूप पुद्‌गलों से भिन्न जीव....** आ....हा...हा... ! **उनके साथ एकत्रित होने से....** यह उत्पन्न हुआ **और कर्म-नोकर्मरूप पुद्‌गलों के साथ एकत्रित हुए जीव बाद में पृथक् होने से....** फिर पृथक् होते हैं। जीव और कर्म पृथक् भी होते हैं। यह शरीर छूट जायेगा न ? तो वह पृथक् हुआ। पृथक् हुआ वहाँ एकत्रित (हुआ था उसका) नाश हुआ और पृथक्(पना) उत्पन्न हुआ, जीव और परमाणु कायम रहे। सूक्ष्म बात है। ऐसी तो कभी आयी नहीं हो, ऐसी (बात है) !! आहा....हा.... !

भगवान इस ज्ञेय का स्वरूप बतलाते हैं कि ज्ञेय छह द्रव्य हैं, उस ज्ञेय का स्वभाव क्या है ? जीव भी ज्ञान का ज्ञेय है, परमाणु भी ज्ञान का ज्ञेय है तो इस ज्ञेय का स्वरूप कैसा है ? जैसा है, वैसा ज्ञेय को माने तो वह ज्ञान सच्चा (है) परन्तु उससे विरुद्ध माने तो वह ज्ञान मिथ्या है। अरे...रे... ! ऐसी बातें... ! समझ में आया ?

मैंने अक्षर लिखा तो कागज है, उसके साथ अक्षर के परमाणु का संयोग हुआ, वह उसकी क्रिया से हुआ है। दूसरा कहे कि मैंने यह अक्षर लिखा (तो यह) मिथ्या भ्रम है, अज्ञान है। (बहुत) सूक्ष्म ! कौन लिखे ? कठिन बात, बापू !

भगवान ! यह मार्ग तो भव के अन्त की बातें हैं ! प्रभु ! आहा...हा... ! और भव का अन्त भी जब अन्दर में सम्यग्दर्शन (प्रगट) करे, तब भव का अन्त आयेगा। इसके बिना भव का अन्त माने तो वह मिथ्या भ्रम है। समझ में आया ? आ...हा...हा... ! सम्यग्दर्शन

में जब ज्ञान होता है तो यह ज्ञान ऐसा जानता है कि एक पुद्‌गल भिन्न था और संयोग हुआ वह अपनी क्रियावतीशक्ति से हुआ। भिन्न था, उसका नाश हुआ और संयोग से उत्पन्न हुआ और परमाणु से कायम रहा। ऐसे जीव, शरीर और नोकर्म से भिन्न है। उनके संयोग में आया तो संयोगपने उत्पन्न हुआ और भिन्नत्व का नाश हुआ और जीवपने कायम रहा। ऐसा कभी सुना नहीं था।

आ...हा...हा...! यहाँ कहते हैं कि यह लकड़ी है न? (और) पत्थर, परमाणु! (इनका) संयोग जो हुआ, वह संयोगपने उत्पन्न हुआ। अपने कारण से, हाँ! और जो भिन्न था, उसका नाश हुआ और परमाणुपने कायम रहा। यहाँ संयोग हुआ, वह आत्मा ने ऐसा किया (इसलिए) हुआ — ऐसा तीन काल में नहीं। आहा...हा...! समझ में आया?

मुमुक्षु – रुपया कमाता है न!

पूज्य गुरुदेवश्री – रुपये कहाँ उसके थे तो कमाये! पैसे के परमाणु जो भिन्न थे, वे यहाँ एकत्रित हुए (तो) भिन्नता का नाश हुआ, एकत्रितपना उत्पन्न हुआ और परमाणुपने (कायम रहे)। वह तो परमाणु का स्वभाव है। आत्मा के पास आया, यह बात है ही नहीं। संयोगपने उत्पन्न हुआ, उतना उसके पास आया इतना (कह सकते हैं)। दूसरे परमाणु से दूसरा परमाणु उत्पन्न हुआ (इस अपेक्षा से) आया। उत्पन्न की अपेक्षा से, हाँ! भिन्न था उसका नाश हुआ और परमाणुपने कायम रहा। उस पैसे को मैं देता हूँ और मैं रखता हूँ (ऐसी) दृष्टि विपरीत है। आ...हा...हा...!

ऐसे अनाज के परमाणु साधु के हाथ में (आये)। सच्चे साधु महामुनि हो तो (उनकी) अंगुली के साथ संयोग हुआ, वह परिस्पन्द क्रिया के कारण हुआ, परमाणु भिन्न थे, उसका नाश हुआ, संयोग में उत्पन्न हुआ (और) परमाणुपने कायम रहे। आत्मा से दिया है और आत्मा ने वहाँ हाथ में रखा है, ऐसी बात है ही नहीं। अरे... अरे...! ऐसी कैसी बातें!? आहा...हा...!

मुमुक्षु – आत्मा को लंगड़ा बना दिया।

पूज्य गुरुदेवश्री – परद्रव्य के लिये तो प्रभु लंगड़ा ही है, पंगु ही है। 'परमात्म प्रकाश' में कहा है। वहाँ तो दूसरी रीति से कहा है। वहाँ तो कर्म और नोकर्म ले जाते हैं

(ऐसा कहा है)। वह तो आत्मा का स्वभाव नहीं है (इस अपेक्षा से कहा है)। ले जाने की क्रियावतीशक्ति अपने से (है)।

वह तो कहते हैं न ? कि 'श्रेणिक' राजा नरक में गये तो नरक का आयुष्य बँधा था, इस कारण से वहाँ जाते हैं, यह बात झूठी है। अपनी क्रियावतीशक्ति के कारण यहाँ से नरक में जाने की गति होती है, वह अपने कारण से (होती) है, कर्म से नहीं, आयुष्य से नहीं, (दूसरे कारण से) नहीं। आ...हा...हा... ! नरकगति का बंध पड़ा तो गति के कारण ऐसी नरक में जाने की गति होती है, ऐसा है नहीं। अपनी क्षेत्रान्तर की क्रिया कम्पन के कारण से ऐसा होता है। आहा...हा... ! पहले नरक में संयोगरूप गये (वह उत्पन्न हुआ), भिन्न था उसका नाश हुआ (और) जीवपने कायम रहा। बहुत कठिन बात! आ...हा...हा...हा.... ! यह तो ज्ञेय का स्वरूप ऐसा है, ऐसा बताना है। ऐसा ज्ञेय का स्वरूप है, ऐसे न माने और विपरीत माने तो वह ज्ञान मिथ्या है, वह दुःखरूप ज्ञान है। आहा...हा... ! थोड़ा-थोड़ा हजम करना, बापू! यह तो ऐसी बात है। आहा...हा... ! समझ में आया ?

(संवत् १९८६) 'अमरेली' में चातुर्मास था न ? तीनों सेठ वहाँ थे। उन दिनों में दस लाख थे, ज्यादा नहीं थे। १९८६ में दस लाख थे, फिर करोड़ों हो गये। उन दिनों में दस लाख रुपये (थे)। तीनों भाई सुनते थे, चातुर्मास था। उसमें उपदेश की बात निकली तो एक भाई बोले कि 'महाराज! यह बात हमें हजम नहीं होती।' भाई! तुम्हें क्षुधा लगी हो और रोटी आये तो हजम होवे और उसके अलावा मैसूरपाक (मिठाई) आये तो भी हजम हो जाये। वहाँ इन्कार नहीं कहता कि मुझे हजम नहीं होगा। यह १९८६ की बात है। 'अमरेली'! कितने वर्ष हुए ? ४९ ! पैसेवाले आदमी! वैसे तो (अन्तिम के दिनों में) यहाँ रहने का भाव था परन्तु बड़े गृहस्थ! करोड़ोपति! लाखों रुपये दान में दे। लोग ऐसे आ...हा...हा... ! (करे)। यहाँ अन्त में आये थे तब कहकर गये थे कि यहाँ रहने का भाव है। (लेकिन) आ नहीं सके, देह छूट गया। आहा...हा... !

यहाँ कहते हैं कि आत्मा जो वस्तु है, वह कर्म और शरीर से भिन्न है। वह भिन्न कर्म और शरीर के संयोग में आवे, उसरूप होता नहीं, पररूप होता नहीं, परन्तु पर के साथ संयोगरूप हुआ, वह अपनी क्रियावतीशक्ति के कारण हुआ। भिन्न(पने) का नाश हुआ,

संयोगपने उत्पन्न हुआ और परमाणु, जीवपने कायम है। आहा...हा...! अरे...रे...! यह तो जहाँ-तहाँ मैंने किया... मैंने किया... मैंने किया....

मुमुक्षु - 'नरसिंह महेता' में आता है : 'हूँ करूँ, हूँ करूँ ए ज अज्ञान छे....'

पूज्य गुरुदेवश्री - हाँ, 'हूँ करूँ हूँ करूँ ए ज अज्ञान है, शकटनो भार जेम श्वान ताणे।' बड़ी बैलगाड़ी हो, हजार-दो हजार के बैल चलाते हो, उसमें नीचे कुत्ता (चलता हो उसकी) ठटरी (ऊपर की हड्डी का भाग) छूता हो (तो माने कि यह बैलगाड़ी) मेरे से चलती है। वैसे ये सब दुकान के व्यापार की व्यवस्था, स्त्री-पुत्र की (व्यवस्था) मुझ से चलती है (ऐसा अज्ञानी मानता है)।

मुमुक्षु - हमारी सब पोल खोल देते हो।

पूज्य गुरुदेवश्री - भगवान ऐसी वस्तुस्थिति बोलते हैं! आहा...हा...! अरे...रे...! यह बात सुनने मिले नहीं वह कब उसकी रुचि करे? यह ज्ञेय का, जड़ का, चैतन्य का, क्रियावती का स्वभाव है, इस कारण से संयोग में आये; वियोग था, उसका नाश हो और संयोग में आये। आ...हा...हा...! वह क्रियावतीशक्ति के कारण से है, अपने गुण की परिणति के कारण से है; पर के कारण नहीं। कर्म ने खींचकर उसे वहाँ संयोग दिये, ऐसा नहीं। आहा...हा...!

लोहचुम्बक सूई को खींचता है — ऐसा नहीं। सूई (स्वयं) ही अपनी क्रियावतीशक्ति से वहाँ जाती है तो भिन्नपना का नाश होकर, संयोग में आती है, लोहचुम्बक के कारण से नहीं। अरे...रे....! समझ में आया? सर्वज्ञ परमात्मा छह द्रव्य के ज्ञेयपना का यह स्वरूप है (— ऐसा बतलाते हैं)। तेरी कल्पना में दूसरी रीति से (वस्तु का स्वरूप) हो तो निकाल दे (— ऐसा) कहते हैं। आहा...हा...!

(केश) लोंच होता है तो कहते हैं कि हस्त से बाल नहीं निकले। जो बाल निकले, वह अपनी पर्याय जो संयोग में थी, वह छूट गई। छूट गई उसका संयोग हुआ, एकत्व का नाश हुआ, परमाणुपने कायम रहा। (जीव) ऐसा माने कि यह मैं करता हूँ! अर...र...र...! ऐसी बातें...!

प्रश्न - (हजाम) से हजामत नहीं होती?

समाधान – कौन हजामत करे ? क्या कहते हैं (उसे) ? उस्तरा... उस्तरा... ! उस्तरा भिन्न है और यहाँ संयोग हुआ, वह क्रियावतीशक्ति के कारण हुआ है, तो भिन्न(पना) का नाश हुआ, संयोग से उत्पन्न हुआ और परमाणुपने कायम रहा। भाई ! ऐसा कभी तुम्हारे पिता के पास भी सुना नहीं। यह बात उस समय नहीं कही थी, ये तो अभी (आयी है)। आ...हा... ! 'प्रवचनसार' कभी कभी ही पढ़ा जाता है। 'समयसार' तो हमेशा पढ़ा जाता है। अठारह बार (हो गया), उन्नीसवीं बार चल रहा है। यह 'प्रवचनसार' तो पाँच-छह बार हुआ होगा, या छह-सात बार हुआ होगा। आहा...हा... !

मुमुक्षु – इस बार कुछ अलग प्रकार से पढ़ा जा रहा है।

पूज्य गुरुदेवश्री – धीरे धीरे (चल रहा है)।

यह (पुस्तक का) पन्ना है वह भिन्न है। है न ? (उसकी) क्रियावतीशक्ति के कारण दूसरे पन्नों के साथ संयोग हुआ, वह उत्पन्न हुआ; भिन्नत्व का नाश हुआ (और) परमाणुपने कायम रहा। आत्मा ने ऊँचा किया और ऐसा बनाया — यह बात है नहीं। अरे... ! अरे... ! ऐसी बातें !

जैनदर्शन वस्तुस्वभाव बताता है। जैनदर्शन कोई पन्थ — सम्प्रदाय नहीं। वस्तु का जैसा स्वभाव है, ऐसा जाना, वैसा कहा। भगवान त्रिलोकनाथ ने (ऐसा वस्तुस्वरूप फरमाया है)। यह पन्थ — सम्प्रदाय नहीं। वस्तु का स्वरूप है यह जैनदर्शन है। जड़ और चैतन्य का जैसा स्वरूप है, ऐसा जानना और ऐसा जानकर प्रतीति करना, उसका नाम सम्यग्दर्शन है। आ...हा...हा... ! समझ में आया ?

शरीर और कर्म **पुद्गलों से भिन्न जीव....** जीव उनसे भिन्न है। **उनके साथ एकत्रित होने से....** शरीर और कर्म के साथ संयोग में होने से। **और कर्म-नोकर्मरूप पुद्गलों के साथ एकत्रित हुए जीव बाद में पृथक् होने से....** बाद में भिन्न हो जाते हैं। कर्म परमाणु का संयोग होता है और वे परमाणु फिर खिर जाते हैं। वह परमाणु के कारण (खिर जाते हैं)। और आत्मा (का) भी परमाणु के साथ संयोग होता है और संयोग से आत्मा भिन्न पड़ता है, वह अपनी क्रियावतीशक्ति के कारण (होता) है। आहा...हा... ! बहुत सूक्ष्म, बापू ! आहा...हा... !

वर्तमान में तो ये सब... क्या कहते हैं ? सँचा... सँचा.... ! क्या कहते हैं उसे ? कारखाना ! वर्तमान में कारखाने बहुत चलते हैं। यहाँ कारखाना हुआ, यहाँ कारखाना है.... आ...हा... ! यहाँ एक (आदमी) आया था (वह कहता था) कारखाने में जाना है। फिर खोडियार (का मन्दिर) होगा तो वहाँ दर्शन किये, यहाँ दर्शन करने आये। हमने पूछा, क्यों अभी कैसे ? तो कहा, कारखाने में जाना है। अरे...रे... ! जगत के जीवों की भ्रमणा ! उसे ऐसा था कि खोडियार का दर्शन करें तो अपना कारखाना बराबर चले ! खोडियार (का मन्दिर) है न बीच में ? आहा...हा... !

यहाँ तो ऐसा कहते हैं कि समय-समय में जिस परमाणु के संग में — संयोग में जीव आता है, वह अपनी क्रियावतीशक्ति के कारण (आता है)। अपनी भिन्नता थी, उसका नाश हुआ, संयोग में उत्पन्न हुआ, जीवपने कायम है। इस तरह परमाणु भी जीव के साथ संयोग में आया — कर्मरूपी पर्याय (हुई), कर्मरूपी पर्याय उत्पन्न (हुई) वह कम्पन के कारण से जीव के साथ (संयोग में) आयी, वह (पर्याय) उत्पन्न हुई और परमाणु भिन्न था, उसका नाश हुआ और परमाणुपने कायम रहा। आ...हा...हा...हा... ! ऐसा ज्ञेय का स्वभाव है — ऐसा परमात्मा का कथन है। आ...हा...हा... ! गाथा बहुत ऊँची है ! ओ...हो...हो... !

कलाई पर यह घड़ी है न ? तो कहते हैं कि घड़ियाल के परमाणु में क्रियावतीशक्ति के कारण यहाँ आयी है। (घड़ी) भिन्न थी, उसका नाश हुआ, यहाँ संयोग में उत्पन्न हुई और परमाणुपने कायम (है)। आत्मा यहाँ लाया और बाँधी, ऐसी बात है नहीं। आहा...हा... !

इस तरह यह चश्मा (है), इसमें क्रियावतीशक्ति होने से, भिन्न था वह क्रियावतीशक्ति से यहाँ आया। भिन्नता का नाश हुआ, संयोग से उत्पन्न हुआ, परमाणु(पने) कायम रहा। ऐसी बातें हैं। यह तो (ऐसी बात है कि) चार पैसे का सेर तो एक मन का अढ़ाई (आना)। इस कूँची को जैसे लागू करते हैं — साढ़े सात सौ (ग्राम) का साढ़े सात आना, साढ़े सैंतीस के साढ़े सत्रह आने। (ऐसे) ये सब दृष्टान्त हैं। आ...हा...हा... !

मुमुक्षु - जैनदर्शन के सिद्धान्त अपूर्व हैं !

पूज्य गुरुदेवश्री - अपूर्व हैं, बापू ! ये तो भगवान त्रिलोकनाथ सर्वज्ञ की वाणी

(है) ! वर्तमान में तो सम्प्रदाय में सब गड़बड़ चली है। यह किया... यह किया.... आहार छोड़ा.... आहार के रजकण तो उसके कारण छूटे हैं, उसे मैंने छोड़ा — यह कहाँ से आया ? समझ में आया ? आहार मैं लेता था और छोड़ा। लेने की क्रिया भी परमाणु के कम्पन के कारण आयी थी और नहीं आता है तो भी परमाणु की क्रियावतीशक्ति वहाँ रहने की है, इसलिए नहीं आया। तूने विकल्प किया कि मेरा उपवास है, इसलिए छोड़ूँ — यह बात झूठ है। ऐसी बात.... ! आहा...हा... ! (ऐसा सुनकर) 'सोनगढ़' के नाम से लोग बेचारे विरोध करे न !

आज (एक पत्रिका में) आया है (कि) ''निश्चय सम्यग्दर्शन तो सातवें गुणस्थान में होता है। समकिती गृहस्थ 'समयसार' पढ़ने के लायक ही नहीं। मुनि हो वे 'समयसार' पढ़ने के लायक (हैं)।'' अरे... प्रभु ! अर...र...र... ! बड़ा लेख आया है। यहाँ कहते हैं कि अप्रतिबुद्ध (को) समझाने के लिए 'समयसार' समझाते हैं। आ...हा...हा... ! सातवें (गुणस्थान में) मुनिपना हो, चारित्र हो उन्हें समकित होता है, उन्हें ज्ञानी कहते हैं। नीचे चौथे (गुणस्थानवाले) को ज्ञानी कहते हैं ? ऐसा कहते हैं। आहा...हा... !

ज्ञानी के तीन प्रकार नहीं लिये हैं ? सम्यग्दर्शन हुआ — इस अपेक्षा से ज्ञानी है और बारहवें गुणस्थान का पूर्ण ज्ञान नहीं है — इस अपेक्षा से अज्ञानी है। समझ में आया ? आहा...हा... ! ज्ञानी, सम्यग्दर्शन की अपेक्षा से ज्ञानी है। पर से भिन्न (हूँ) — ऐसा भान हुआ तो ज्ञानी है। यही ज्ञानी, जो केवलज्ञान है, इस अपेक्षा से ज्ञान है और सम्यग्दर्शन की अपेक्षा से ज्ञानी है और सर्वत्र जीव की अपेक्षा से लें तो वह ज्ञानी है। सब (जीव) ज्ञानस्वरूप है न ? (इस अपेक्षा से ज्ञानी कहा)। तीन बार आया न ? तीनों अन्दर आयेंगे। 'समयसार' में है। ज्ञान के तीन प्रकार ! आहा...हा... !

(एक और मुनि) कहते हैं कि चारित्र हो, वहाँ समकित होता है। वह चारित्र कैसा ? कि व्रत, तप, और बाहर के क्रियाकाण्ड। आहा...हा... ! परन्तु सम्यग्दर्शन बिना चारित्र होता ही नहीं। आ...हा... ! मूल बात में बहुत फर्क है, भाई ! क्या कहें ? आहा...हा... !

यहाँ तो कहते हैं — भगवान आत्मा, शरीर और कर्म के सम्बन्ध में आता है तो वह क्रियावतीशक्ति के कारण (आता है), कर्म के कारण नहीं। कर्म में भी जो कर्म पर्याय

होती है और जीव के सम्बन्ध में आता है, वह कर्म की पर्याय क्रियावतीशक्ति के कारण (होती है) और जब कर्म की पर्याय भिन्न पड़ जाती है, वह भी क्रियावतीशक्ति के (कारण)। अभेद (था, उससे) नाश हुआ, भेद से भिन्न हुआ, परमाणु से कायम रहा। ऐसी बात तो सुनी भी नहीं होगी। आहा...हा... !

नवीन कर्म - नोकर्म.... 'नवीन' (शब्द) है न? नवीन कर्म और नवीन शरीर। इन **पुद्गलों से भिन्न जीव....** उससे भिन्न है। **उनके साथ एकत्रित होने से....** पुराने कर्म के साथ तो भले संयोगरूप है। भिन्नता से नाश है और संयोगरूप से उत्पन्न है परन्तु यह तो नवीन कर्म लिया। नवीन कर्म जो आते हैं, (उसकी बात ली)। आहा...हा... !

कर्म और नोकर्मरूप.... (मूल ग्रन्थ में फुटनोट में अर्थ दिया है)। 'पृथक् पुद्गल कम्पन के द्वारा एकत्रित होते हैं। वहाँ वे भिन्नपने से नष्ट हुए, पुद्गलपने से टिके और एकत्रपने से उत्पन्न हुए।' है नीचे? उसके नीचे (दूसरा अर्थ है)। 'ज्ञानावरणादि कर्मरूप और शरीरादि नोकर्मरूप पुद्गलों के साथ मिला हुआ जीव, कम्पन से पुनः पृथक् हो जाता है।' ये मिला (हुआ) है न, (वह) पृथक् हो जाता है, यह अपनी क्रियावतीशक्ति के कारण। आ...हा... ! 'वहाँ (उन पुद्गलों के साथ) एकत्ररूप से वह नष्ट हुआ...' कर्म के साथ था, उसका नाश हुआ। 'जीवरूप से स्थिर हुआ...' और एकत्ररूप से नष्ट हुआ। कर्म के साथ था, वह एकपने से नष्ट हुआ। 'और (उनसे) पृथक्रूप से उत्पन्न हुआ।' (और) 'जीवरूप से स्थिर हुआ और (उनसे) पृथक्रूप से उत्पन्न हुआ।' आहा...हा... !

भगवान (आत्मा) कर्म से भिन्न होता है, वह अपनी क्रियावतीशक्ति के कारण भिन्न होता है। आहा...हा... ! और संयोग होता है, वह भी अपनी क्रियावतीशक्ति के कारण नवीन कर्म के साथ संयोग होता है। ऐसा (सब) बनिये को याद रखना (जो सारा दिन) व्यापार में लीन (रहते हों) ! आहा...हा... !

भगवान का वचन तो यह है, सन्तों जगत् को जाहिर करते हैं। दिगम्बर सन्त! आ...हा...हा... ! चारित्र — प्रचुर आनन्द के वेदनवाले! उसका नाम मुनि! ऐसे मुनिराज ऐसा फरमाते हैं.... आ...हा...हा... ! कि एक-एक परमाणु दूसरे परमाणु के साथ संयोग में आते हैं तो क्रियावतीशक्ति के कारण से उत्पन्न हुआ, भिन्नता का नाश हुआ, संयोग से

उत्पन्न हुआ (और) परमाणुपने कायम रहा। इस प्रकार भगवान आत्मा (का) नवीन कर्म और शरीर के साथ संयोग हुआ, इस अपेक्षा से उत्पन्न हुआ। भिन्न था उसका नाश हुआ, जीवपने कायम है। आहा...हा...! ऐसी बातें हैं! आज के एक घण्टे में ऐसी ही (बातें आयी)। बापू! वस्तु का स्वरूप प्रभु! ऐसा है।

यह ज्ञेयतत्त्व अधिकार है न? ऊपर है न? 'ज्ञेयतत्त्व-प्रज्ञापन'! ज्ञेय का जैसा स्वरूप है, उसका कथन करना। आहा...हा...! प्ररूपणा करनी — भाषा तो ऐसे ही आये न? प्ररूपणा अर्थात् प्ररूपणा है, उसकी पर्याय अपने से उत्पन्न हुई। परमाणु में भिन्न-भिन्न परमाणु थे, (उसमें से) कर्मरूप पर्याय उत्पन्न हुई वह अपने से (हुई)। आहा...हा...! भिन्नता का नाश हुआ और एकत्ररूप से उत्पन्न हुआ, परमाणुपने कायम रहा। **और नष्ट होते हैं।** १२९ (गाथा पूरी) हुई, लो! अब १३० (वीं गाथा) कहेंगे.... ●

स्वरूप में लीनता वृद्धिगत होती है

मुनि को अतीन्द्रिय आनन्द में विशेष लीनता होती ही जाती है। श्रीमद् द्वारा रचित अपूर्व अवसर में समय-समय अनन्तगुने वृद्धिगत संयम परिणाम की बात आती है। जिसे अभी भगवान आत्मा का पूर्ण आश्रय नहीं हुआ है, पूर्ण स्वभाव का आश्रय लेकर मध्यमदशा वर्तती है, उसे समय-समय के परिणाम बढ़ते ही जाते हैं। पूर्ण आश्रय लें तो केवलज्ञान हो जाए। यदि किञ्चित् भी आश्रय न लिया हो तो वह सम्यग्दृष्टि ही नहीं है। मुनि मध्यम आश्रय में, मध्यम वीतरागदशा में वर्तते हैं, उन्हें स्वरूप में लीनता बढ़ती ही जाती है। **अहो! मुनिपना ऐसा होता है।** - *पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी*

गाथा - १३०

अथ द्रव्यविशेषो गुणविशेषादिति प्रज्ञापयति -

लिंगेहिं जेहिं दव्वं जीवमजीवं च हवदि विण्णादं।
तेऽतब्भावविसिट्ठा मुत्तामुत्ता गुणा णेया।।१३०।।

लिङ्गैर्यैर्द्रव्यं जीवोऽजीवश्च भवति विज्ञातम्।
तेऽतद्भावविशिष्टा मूर्तामूर्ता गुणा ज्ञेयाः।।१३०।।

द्रव्यमाश्रित्य परानाश्रयत्वेन वर्तमानैर्लिङ्ग्यते गम्यते द्रव्यतैरिति लिङ्गानि गुणाः। ते च यद्द्रव्यं भवति न तद्गुणा भवन्ति, ये गुणा भवन्ति ते न द्रव्यं भवतीति द्रव्यादतद्भावेन विशिष्टाः सन्तो लिङ्गलिङ्गिप्रसिद्धौ तल्लिङ्गत्वमुपढौकन्ते। अथ ते द्रव्यस्य जीवोऽयम-जीवोऽयमित्यादिविशेषमुत्पादयन्ति, स्वयमपि तद्भावविशिष्टत्वेनोपात्तविशेषत्वात्। यतो हि यस्य यस्य द्रव्यस्य यो यः स्वभावस्तस्य तस्य तेन तेन विशिष्टत्वात्तेषामस्ति विशेषः। अत एव च मूर्तानाममूर्तानां च द्रव्याणां मूर्तत्वेनामूर्तत्वेन च तद्भावेन विशिष्टत्वादिमे मूर्ता गुणा इमे अमूर्ता इति तेषां विशेषो निश्चेयः।।१३०।।

एवं जीवाजीवत्वलोकालोकत्वसक्रियनिःक्रियत्वकथनक्रमेण प्रथमस्थले गाथात्रयं गतम्।अथ ज्ञानादिविशेषगुणभेदेन द्रव्यभेदमावेदयति - **लिंगेहिं जेहिं लिङ्गैर्यैः** सहजशुद्धपरमचैतन्य-विलासरूपैस्तथैवाचेतनैर्जडरूपैर्वा लिङ्गैश्चिह्नैर्विशेषगुणैर्यैः करणभूतैर्जीवेन कर्तृभूतेन **हवदि विण्णादं** विशेषेण ज्ञातं भवति। किं कर्मतापन्नम्। **दव्वं** द्रव्यम्। कंथभूतम्। **जीवमजीवं च** जीवद्रव्यमजीवद्रव्यं च। **ते मुत्तामुत्ता गुणा णेया** ते तानि पूर्वोक्तचेतनाचेतनलिङ्गानि मूर्ता-मूर्तागुणा ज्ञेया ज्ञातव्याः। ते च कथंभूताः। **अतब्भावविसिट्ठा** अतद्भावविशिष्टाः। तद्यथा-शुद्धजीवद्रव्ये ये केवलज्ञानादिगुणास्तेषां शुद्धजीवप्रदेशैः सह यदेकत्वभिन्नत्वं तन्मयत्वं स तद्भावो भण्यते, तेषामेव गुणानां तैः प्रदेशैः सह यदा संज्ञालक्षणप्रयोजनादिभेदः क्रियते तदा पुनरतद्भावो भण्यते, तेनातद्भावेन संज्ञादिभेदरूपेण स्वकीयस्वकीयद्रव्येण सह विशिष्टा भिन्ना इति, द्वितीय-व्याख्यानेन पुनः स्वकीयद्रव्येण सह तद्भावेन तन्मयत्वेनान्यद्रव्याद्विशिष्टा भिन्ना इत्यभिप्रायः। एवं गुणभेदेन द्रव्यभेदो ज्ञातव्यः।।१३०।।

अब यह बतलाते हैं कि गुण विशेष से (गुणों के भेद से) द्रव्य विशेष (द्रव्यों का भेद) होता है —

जिन लिंग द्वारा द्रव्य, जीव-अजीव होते ज्ञात हैं।
वे अतद्भाव विशिष्ट, मूर्त-अमूर्त गुण ही जानिये॥

अन्वयार्थ - **[यैः लिंगैः]** जिन लिङ्गों से **[द्रव्यं]** द्रव्य **[जीवः अजीवः च]** जीव और अजीव के रूप में **[विज्ञातं भवति]** ज्ञात होता है, **[ते]** वे **[अतद्भावविशिष्टाः]** अतद्भाव विशिष्ट (द्रव्य से अतद्भाव के द्वारा भिन्न ऐसे) **[मूर्तामूर्ताः]** मूर्त-अमूर्त **[गुणाः]** गुण **[ज्ञेयाः]** जानने चाहिए।

टीका - द्रव्य का आश्रय लेकर और पर के आश्रय के बिना प्रवर्तमान होने से जिनके द्वारा द्रव्य 'लिंगित' (प्राप्त) होता है — पहचाना जा सकता है, ऐसे लिंग गुण हैं। वे (गुण), 'जो द्रव्य हैं वे गुण नहीं हैं, जो गुण हैं वे द्रव्य नहीं हैं' — इस अपेक्षा से द्रव्य से अतद्भाव[१] के द्वारा विशिष्ट (भिन्न) वर्तते हुए, लिंग और लिंगी[२] के रूप में प्रसिद्धि (ख्याति) के समय द्रव्य के लिंगत्व को प्राप्त होते हैं। अब, वे द्रव्य में 'यह जीव है, यह अजीव है' ऐसा विशेष (भेद) उत्पन्न करते हैं, क्योंकि स्वयं भी तद्भाव[३] के द्वारा विशिष्ट[४] होने से विशेष को प्राप्त हैं। जिस-जिस द्रव्य का जो-जो स्वभाव हो, उस-उस का उस-उसके द्वारा विशिष्टत्व होने से उनमें विशेष (भेद) हैं; और इसीलिए मूर्त तथा अमूर्त द्रव्यों का मूर्तत्व-अमूर्तत्वरूप तद्भाव के द्वारा विशिष्टत्व होने से उनमें इस प्रकार के भेद निश्चित करना चाहिए कि 'यह मूर्त गुण हैं और यह अमूर्तगुण हैं'॥ १३०॥

प्रवचन नं. १४७ श्रावण कृष्ण १४ सोमवार, २१ अगस्त १९७९

'प्रवचनसार' १३० (गाथा)। **अब यह बतलाते हैं कि - गुण विशेष से (गुणों के भेद से) द्रव्य विशेष (द्रव्यों का भेद) होता है** — क्या कहते हैं? कि छह द्रव्य में

१. अतद्भाव = (कथंचित्) उस रूप नहीं होना वह;
२. लिंगी = लिंगवाला, (विशेषगुण वह लिंग चिह्न - लक्षण है और लिंगी वह द्रव्य है)।
३. तद्भाव = उसरूप, उसपना; उसपने से होना; स्वरूप।
४. विशिष्ट = विशेषतावाला; खास; भिन्न।

प्रत्येक गुण की भिन्नता से द्रव्य की भिन्नता भासित होती है। प्रत्येक द्रव्य का गुण भिन्न-भिन्न है तो इस गुण से गुणी ख्याल में आता है। इस कारण से गुण की व्याख्या करते हैं।

लिंगेहिं जेहिं दव्वं जीवमजीवं च हवदि विण्णादं।
तेऽतब्भावविसिट्ठा मुत्तामुत्ता गुणा णेया।। १३०।।

जिन लिंग द्वारा द्रव्य, जीव-अजीव होते ज्ञात हैं।
वे अतद्भाव विशिष्ट, मूर्त-अमूर्त गुण ही जानिये॥

द्रव्य का आश्रय लेकर.... गुण उसे कहते हैं कि जो वस्तु का आश्रय लेकर गुण रहा है और (इस) गुण से वह द्रव्य जानने में आता है। अरे...! ऐसी बात! **द्रव्य का आश्रय लेकर...** जो गुण है, वह प्रत्येक द्रव्य का आश्रय लेकर वह गुण रहता है। 'द्रव्याश्रयागुणाः' 'गुणाश्रया द्रव्यः' नहीं। आहा...हा...! द्रव्य के आश्रय से गुण रहे हैं।

द्रव्य का आश्रय लेकर और पर के आश्रय के बिना... यह अनेकान्त किया। अपना आश्रय लेकर और पर के आश्रय बिना **प्रवर्तमान होने से...** लिंग अर्थात् गुण, चिह्न। प्रत्येक द्रव्य का गुण, द्रव्य के आश्रय से (रहा) है। यह गुण, परद्रव्य के आश्रय से है नहीं। **जिनके द्वारा द्रव्य 'लिंगित'** — जिनके द्वारा — लिंग से लिंगित अर्थात् प्राप्त होता है। (इसके बारे में) विशेष कहेंगे, हाँ! यह तो पहले सिद्धान्त रखते हैं।

लिंग के द्वारा वस्तु — पदार्थ; लिंग अर्थात् चिह्न से लिंगित अर्थात् वह द्रव्य **(प्राप्त) होता है....** ऐसी बातें हैं। आहा...हा...! **पहचाना जा सकता है, ऐसे लिंग गुण हैं।** है ? क्या कहा ? जिस लिंग से अर्थात् गुण से, जो गुण जिस द्रव्य के आश्रय गुण है, वह गुण पर के आश्रय नहीं। यह गुण लिंग है तो लिंगित अर्थात् द्रव्य इस गुण से प्राप्त होता है। विशेष कहेंगे, हाँ! यहाँ तो अभी व्याख्या कहते हैं।

वे (गुण) 'जो द्रव्य हैं, वे गुण नहीं हैं,....' आहा...हा...! जैसे आत्मा (में) चेतना गुण है, तो चेतना गुण लिंग है, तो चेतना गुण से लिंगित अर्थात् द्रव्य का ज्ञान होता है। आहा...हा...! ऐसी बात है। समझ में आया ? चेतन का चेतना यह गुण है, चेतन का चेतना यह लिंग है - चिह्न है। इस गुण से गुणी अर्थात् आत्मा — लिंगी, लिंग से लिंगी

प्राप्त होता है अथवा लिंग से लिंगी पहचाना जाता है। ऐसा कहाँ था, आपके यहाँ वैष्णव में था ? ईश्वरकर्ता है, जाओ ! यह तो वस्तु (स्वभाव है)। आहा...हा... !

भगवन आत्मा लिंगी अर्थात् द्रव्य; उसका लिंग चेतना। चेतना लिंग से लिंगी अर्थात् आत्मा जानने में आता है। ऐसे छहों द्रव्य कहेंगे। समझ में आया ? आहा...हा... ! परद्रव्य के सम्बन्ध से, (परद्रव्य के) गुण से आत्मा जानने में आता है, ऐसा है नहीं। अपनी ज्ञानचेतना लिंग है और ज्ञानचेतना द्वारा लिंगी अर्थात् आत्मद्रव्य प्राप्त होता है, पहचाना जाता है कि यह चेतना ही आत्मा है। आ...हा...हा... !

मुमुक्षु – 'तत्त्वार्थसूत्र' में तो अकेला उपयोग ही लिया है।

पूज्य गुरुदेवश्री – उपयोग लिया है। यहाँ चेतना लिया है। चेतना और चेतना का उपयोग दोनों आ गये न ? चेतना त्रिकाल है परन्तु चेतना का उपयोग – परिणति है, वह परिणमन है। चेतना परिणमन है, वह उसका लिंग है। चेतना गुण है, उससे लक्ष्य नहीं हो सकता। (क्योंकि) गुण तो ध्रुव है। चेतना गुण है, यह तो त्रिकाल है और वस्तु भी त्रिकाल है परन्तु इस गुण से द्रव्य का लक्ष्य नहीं होता। यह गुण, पर्याय जो है, इससे जानने में आता है। जानने में आता है तो पर्याय में जानने में आता है न ? क्या गुण से गुणी जानने में आता है ? गुणपर्याय, ज्ञानपर्याय, परिणति, चेतना (यह) पहले आ गया है। चेतना और चेतना उपयोग ये दो आ गया है न ? चेतना और चेतना का उपयोग — दो से जानने में आता है परन्तु उसका अर्थ यह है कि यह आत्मा भगवान, चेतना के स्वभाव से जानने में आता है परन्तु किसे ? ज्ञान की पर्याय को। ध्रुव में ध्रुव से जानने में आता नहीं।

जिसमें पर्याय का कार्य होता है, उसमें वह जानने में आता है। समझ में आया ? आहा...हा... ! जिसे धर्म करना हो, उसे चेतना लक्षण द्वारा ज्ञान को जानना, यह धर्म है। आहा...हा... !

प्रश्न – बाकी के समय में व्यापार करना या नहीं ?

समाधान – कौन व्यापार (करे) ? कर सकता है कहाँ ? उस समय तो राग करता है। राग करता है और मानता है कि मैं व्यापार करता हूँ। (यह तो) भ्रमणा है। आहा...हा... !

एक न्याय से ऐसा नय - अधिकार है। तेरहवाँ 'जयधवल' है। तेरहवाँ अधिकार! (समयसार की) तीसरी गाथा में तो ऐसा कहा कि आत्मा और प्रत्येक द्रव्य... सूक्ष्म बात (है), प्रभु! अपने गुण-पर्याय को चुंबते हैं परन्तु पर को छूते नहीं, छूते नहीं। अब तेरहवें अध्याय में यह आया, पहले एक बार कहा था, 'जयधवल' का तेरहवाँ भाग! कि परमाणु को आत्मा स्पर्शता है। परमाणु परमाणु को स्पर्शता है, आत्मा परमाणु (को स्पर्शता है)। स्पर्श का अर्थ सम्बन्ध होता है तो स्पर्शता है — ऐसा कहने में आया। पूरा स्पर्श का अधिकार है। पहले एक बार कहा था। बहुत सूक्ष्म बातें, बापू! तेरहवाँ अधिकार है न? बहुत सूक्ष्म हैं। मैं तो मात्र आकाश के प्रदेश से (एक आत्मा में) अनन्त गुण हैं, (ऐसा) कहाँ है, यह ढूँढ रहा था, लेकिन हाथ में आता नहीं।

'धवल', 'जयधवल', 'महाधवल' में (है), (ऐसी एक मुमुक्षु से) बात हुई थी। एक भाई भले कहे कि यह आपने नया निकाला। (लेकिन) ऐसा नहीं है, (एक मुमुक्षु से) बात हुई थी। ए....ई.... कहाँ गये? (एक मुमुक्षु से) बात हुई थी। ऐसा नहीं है कि उन्होंने ना कही थी कि ऐसा नहीं है। उनके साथ बात हुई थी। (आत्मा के) गुण की संख्या आकाश के प्रदेश से अनन्तगुनी है, वह कहाँ है? — यह इस समय याद नहीं। समझ में आया? श्रद्धा का विषय द्रव्य-गुण-पर्याय है, (ऐसा वे कहते थे) वह दूसरी बात है। वह सब मालूम है। यह तो (दूसरी बात है) लेकिन कहाँ है (ये मिलता नहीं)। बिना शास्त्र (आधार) में कहा नहीं। और संख्या का प्रमाण तो हो न शास्त्र में? द्रव्य में कितने गुण हैं इसकी संख्या का प्रमाण (तो होगा न?) इतने-इतने 'धवल', 'जयधवल' भरे हैं।

एक परमाणु में छह अवयव कहे! आ...हा...हा...! चार दिशा और दो विदिशा, ऐसे भेद किये। ऐसा सूक्ष्म में सूक्ष्म परमाणु! आहा...हा...! उसे भी छह अवयव कहे! अवयवी परमाणु (है)। सूक्ष्म बात है, भाई! यह तो वीतराग सर्वज्ञ परमात्मा (का कहा हुआ है)।

परमाणु परमाणु को स्पर्शता है, ऐसा कहा! वह नैगमनय के कथन से, सम्बन्ध किया, उसे स्पर्शता है — ऐसा कहने में आया। ऐसे आत्मा परमाणु को स्पर्शता है — ऐसा स्पर्श का बड़ा अधिकार है। तेरहवाँ अधिकार में! बहुत साल पहले बात हुई थी। मूल बात

साधारण है, इसलिए वह बात विशेष (नहीं कहते थे)। यहाँ तो अन्तर में प्रयोजनभूत (हो) वह बात विशेष कहने में आती है। (यह बात तो) जानने की चीज है। आत्मा और परमाणु का सम्बन्ध होता है तो स्पर्शते हैं — ऐसा कहते हैं और (समयसार की) तीसरी गाथा में कहते हैं कि एक द्रव्य दूसरे द्रव्य को चूंबते नहीं, स्पर्श करते नहीं, छूते नहीं। यह वास्तविक तत्त्व (है), वह नैगमनय का कथन (है)। सम्बन्ध को स्पर्श कहा। बड़ा अधिकार है। ३५ (भाग) हैं और एक-दो (भाग) और दो-तीन महिने में 'काशी' में छप रहे हैं। आ...हा...हा...! भगवान के ज्ञान की क्या महिमा, बापू! उन्होंने जो जाना... आ...हा...हा...!

इतना तो अपने स्तवन में आ गया न? भाई! कि हे नाथ! तेरे गुण को क्या कहूँ! मैं अनन्त मुख बनाऊँ और एक मुख में अनन्ती जीभ करूँ तो भी गुण का पार न आवे!! आ...हा...हा...! इतने अधिक भगवान आत्मा में गुण (हैं)!! आ...हा...हा...! समुद्र है, समुद्र! भगवान चैतन्य-समुद्र है! आ...हा...हा...! जिसकी कीमत के आगे जगत की कीमत छूट जाती है। तेरी लक्ष्मी, राज, चक्रवर्तीपना, इन्द्रपना (की कोई कीमत नहीं)। आहा...हा...! जिसकी स्व-लक्ष्मी की सम्पदा की प्राप्ति के समक्ष... आ...हा...हा...! चेतना से जो चेतन लक्ष्य में आता है, पहचान में आता है, वहाँ चेतन तो गुण का पिण्ड है! आहा...हा...! ऐसी जब दृष्टि हुई, तब उसे सम्यग्दर्शन कहते हैं। इस सम्यग्दर्शन में तो मोक्षसुख का पन्थ हाथ आ गया। राग और द्वेष में जो एकत्व रहता था, वह तो दुःख के पन्थ में था। आहा...हा....! ये सब सेठ, इन्द्र, राजा दुःख के पन्थ में हैं। आ...हा...हा...! राग और द्वेष के पन्थ में है, वह तो दुःख के पन्थ में है, क्योंकि राग और द्वेष यह तो दुःख है। आहा...हा...!

मुमुक्षु – पैसेवालों को मन्दराग है।

पूज्य गुरुदेवश्री – मन्दराग धूल में भी नहीं है। पैसेवाले मूढ़ होकर 'पैसे मेरे हैं' ऐसा मानकर अन्दर पड़े हैं। आहा...हा...!

मुमुक्षु – उसे कमाने जाने की चिन्ता नहीं है और गरीब को सब चिन्ता है।

पूज्य गुरुदेवश्री – वह सब बात ही झूठ है। आहा...हा...! (आज कोई कहता

था) 'मोरबी' में ढाई अरब का नुकसान हुआ है, भाई! ढाई अरब का 'मोरबी' में नुकसान हुआ है! नुकसान तो किसे कहें?

अपना भगवान... ढाई अरब तो क्या, जिसके गुणों की संख्या का पार नहीं है — ऐसा गुण ...और रागसहित मैं हूँ — ऐसा मानना यही नुकसान है!! बाहर का नुकसान क्या (गिनना) ? आहा...हा... !

शास्त्र में तो पाठ है कि मुनि हैं न? मुनि जब प्रमाददशा में होते हैं, है ज्ञानी, समकिती, अनुभवी परन्तु प्रमाददशा में हो उस समय कोई देव — विरोधी देव उठा ले जाये (और) समुद्र में डाल दें! लवण समुद्र! समुद्र में फेंकने के साथ ही अन्दर विकल्प तोड़कर निर्विकल्प (हो जाते हैं)!! अन्दर निर्विकल्प ध्यान होकर समुद्र में डूबते-डूबते केवलज्ञान पाते हैं!! अन्दर में डूब गये, बाहर में डूबे नहीं। आ...हा...हा... ! लवण समुद्र — दो लाख योजन का समुद्र! एक-एक बिन्दु से अनन्त-अनन्त (जीव) मोक्ष में गये हैं!! भाई! आहा...हा... ! क्योंकि वहाँ अनन्त सिद्ध हैं। पैंतालीस लाख योजन में अनन्त (सिद्ध) हैं। ये अनन्त हैं तो वे जाये कहाँ से? (पैंतालीस लाख योजन में से) लवण समुद्र के ऊपर जो (सिद्ध शिला है) वहाँ भी अनन्त सिद्ध हैं तो वे गये कहाँ से? वहाँ से (गये)। आ...हा...हा... ! भगवान अनन्त सिद्धों का समूह वहाँ है। पैंतालीस लाख योजन में कोई एक क्षेत्र का अंश खाली नहीं है। वे सब सीधे जाते हैं। सीधे जाते हैं तो लवण समुद्र के ऊपर जो सिद्ध हैं, वे वहाँ से गये हैं? आ...हा...हा... ! ऐसी बातें हैं! शत्रु ने जैसे ही पानी में फेंका... आ...हा...हा... ! प्रमत्त (दशा में थे) इसलिए डाला, अप्रमत्त (दशा में) हों तो उठा नहीं सकते। विकल्प में पड़े थे, उतने में उठा लिया।

'मोरबी' में (बाढ़ आयी) उसमें सरकार क्या करे? ढाई अरब का नुकसान! आदमी, कुटुम्ब के कुटुम्ब मर गये। आहा...हा... ! (एक मुमुक्षु) तो कहते थे कि हमारे घर में तो सीढी थी (तो हम ऊपर चढ़ गये)। एक मिनिट में एक फुट (पानी), आठ मिनिट में आठ फुट! ऊपर चढ़ गये। सामने एक घर था, उसकी सीढ़ी बाहर थी। पानी एकदम आया, वहाँ से बाहर निकल (नहीं पाये) पानी का जोर (इतना था)। पूरा घर समाप्त! (एक मुमुक्षु) कहते थे। आहा...हा... !

यहाँ तो कहते थे कि जो समुद्र में डूबे, धर्मात्मा को डुबाया... आहा...हा... ! वहाँ केवलज्ञान पाया, प्रभु ! अन्दर वस्तु है न ! आहा...हा... ! जिसे पानी का स्पर्श हुआ नहीं, जिसे राग ने स्पर्श किया नहीं। आहा...हा... ! ऐसी बातें, बापू ! यह तो वीतराग.... वीतराग... वीतराग मार्ग ! आत्मा वीतरागस्वरूप है, प्रभु ! आत्मा वीतरागमूर्ति है ! वीतरागीपर्याय आश्रय ले उसे वीतरागीपना ख्याल में आये। वीतरागीपर्याय द्वारा वीतरागपने का ख्याल आये। समकित है, वह भले चौथे गुणस्थान में है परन्तु वह समकित वीतरागीपर्याय है। आ...हा...हा... ! समझ में आया ? सूक्ष्म बात, भाई ! यहाँ कहते हैं कि मुनि को समुद्र में डाला तो मुनि केवलज्ञान को प्राप्त हुए ! आहा...हा... ! विकल्प से लक्ष्य छोड़ दिया। आहा...हा... ! दृष्टि तो द्रव्य पर थी ही परन्तु अस्थिरता में जो लक्ष्य था, वह छूट गया। अन्दर पूर्णानन्द के नाथ में डूबकी लगाई ! आ...हा...हा... ! भाई ! ऐसी बात है।

पर्याय का पिता तो द्रव्य है। चेतन पर्याय से पिता भगवान आत्मा उस प्रजा को जन्म देता है और वह प्रजा उस पिता की है। आहा...हा... ! समझ में आया ?

यहाँ यह कहते हैं कि लिंग — जिनके द्वारा द्रव्य अर्थात् वस्तु लिंगित अर्थात् प्राप्त होता है अर्थात् **पहचाना जा सकता है, ऐसे लिंग गुण हैं। वे (गुण), 'जो द्रव्य हैं वे गुण नहीं हैं,.....** अब क्या कहते हैं ? कि जो त्रिकाली द्रव्य है, वह गुण नहीं। (दोनों के बीच) अतद्भाव है। क्योंकि गुण और द्रव्य (जैसे) नामभेद हुआ, संज्ञाभेद है और उसका प्रयोजनभेद है। (इसलिए) द्रव्य है, वह गुण नहीं और गुण है, वह द्रव्य नहीं — ऐसा अतद्भाव दोनों के बीच है। समझ में आया ?

जो द्रव्य हैं वे गुण नहीं.... गुण से लिंगित द्रव्य पहचानने में आता है परन्तु द्रव्य है, वह गुण नहीं और गुण है, वह द्रव्य नहीं; दोनों के बीच अतद्भाव है। अपने एक बार आ गया है, भाई ! इसमें आ गया है न ? भाई ! पहले अतद्भाव आ गया है। आहा...हा... ! अपने में द्रव्य और गुण दोनों के बीच अतद्भाव (है)। गुण है, वह द्रव्य नहीं और द्रव्य है, वह गुण नहीं क्योंकि गुण द्वारा या पर्याय द्वारा जानने में आता है तो (जानने में आयी) वह चीज तो दूसरी हुई और (जिसमें) जानने में आता है, ये पर्याय और गुण तो दूसरी चीज हुई। अरे.... ! ऐसी बातें... ! वीतराग... वीतरागमार्ग, बापू.... ! आ...हा...हा... !

'जो द्रव्य हैं, वे गुण नहीं हैं, जो गुण हैं वे द्रव्य नहीं हैं' — इस अपेक्षा से द्रव्य से अतद्भाव के द्वारा.... वस्तु जो आत्मा और परमाणु आदि द्रव्य हैं, वे अतद्भाव के द्वारा है ? (मूल ग्रन्थ में नीचे फुटनोट दी है) 'अतद्भाव = (कथंचित्) उस रूप नहीं होना वह।' अतद्भाव अर्थात् उसरूप नहीं होना। द्रव्य गुणरूप नहीं होता (और) गुण द्रव्यरूप नहीं होते। आहा...हा.. .!

शक्कर है, वह मीठासरूपी गुण में नहीं आती और मीठास है, वह शक्कर नहीं। इतना दो के बीच में अतद्भाव है। पर्याय और द्रव्य के बीच भी अतद्भाव है। आहा...हा...! पर्याय है, वह द्रव्य में नहीं और द्रव्य है, वह पर्याय में नहीं। आहा...हा...! पर (पदार्थ) तो (आत्मा में) नहीं, आत्मा में अन्दर शरीर, कर्म (आदि) तो नहीं परन्तु उसके जो निर्मल गुण और पर्याय हैं, उसमें भी गुण है, वह द्रव्य नहीं और द्रव्य है, वह गुण नहीं, प्रभु! आहा...हा...! वरना गुण द्वारा पहचानने में आता है, (वास्तविकपने) भले पर्याय द्वारा (पहचानने में आता है), तो पहचानने में आता है, वह चीज तो भिन्न हो गई। पर्याय से द्रव्य भिन्न हो गया। (अर्थात्) उसरूप नहीं (है)। पर्याय तो एक समय की दशारूप है (और) द्रव्य तो त्रिकाल ध्रुवरूप (है)। आ...हा...हा...! जहाँ दृष्टि लगानी है, वह दृष्टि और द्रव्य (दोनों के बीच) अतद्भाव है — ऐसा कहते हैं। आ...हा...हा...हा...! अरे... ऐसी बातें...! उपवास करो, व्रत करो (यह सब आसान था तो) मर जाओ कर-करके, जाओ भटको चार गति में! ऐसा है। बापू! वह कोई तत्त्व नहीं है, वस्तु नहीं है। ऐसे राग के क्रियाकाण्ड तो अनन्त बार किये परन्तु भगवान चैतन्यमूर्ति आनन्द का नाथ! उसे आनन्द के लक्षण से, चेतना लक्षण से चेतन का अनुभव करना, यह चीज उसने अनन्त काल में कभी की नहीं और इससे उसके भव का अन्त आया नहीं। आहा...हा...!

बाहर में जवान शरीर हो, पाँच-पच्चीस लाख रुपये हो, पुत्र-पुत्री कुछ ठीक हो (तो) प्याला फट जाये...! यह शरीर — यह तो माँस और हड्डी है। वह अन्दर से ठीक जमे हुए सुन्दर हो तो... आ...हा...हा...! हम तो सुन्दर हैं! बापू! तेरा रूप अलग और ये रूप अलग। तू सुन्दर है, वह ज्ञान और आनन्द के कारण सुन्दर है। आहा...हा...! और तेरा लक्ष्मी के कारण तू लक्ष्मीवाला है। यह पैसे की लक्ष्मी तेरी है नहीं। आहा...हा...!

यहाँ यह कहते हैं कि **अतद्भाव के द्वारा विशिष्ट (भिन्न) वर्तते हुए,....** क्या कहते हैं ? कि जो चेतना-परिणति द्वारा... (उसे) लक्षण कहो, गुण का लक्षण है, वह पर्याय द्वारा जानने में आता है न ? तो पर्याय द्वारा - ज्ञान-परिणति द्वारा पर्यायवान — लिंगी द्रव्य जानने में आया तो लिंगी द्रव्य और पर्याय दो के बीच में अतद्भाव है। द्रव्य है, वह पर्याय नहीं और पर्याय है, वह द्रव्य नहीं, दो के बीच अतद्भाव है। आहा...हा... ! गजब बात है ! शरीर, वाणी, मन, कर्म वह तो बिलकुल भिन्न चीज है। आ...हा...हा... ! यह (बात) वीतराग के अलावा कहीं है नहीं, बापू ! और वर्तमान में तो सम्प्रदाय में है, उन्हें भी कहाँ मालूम है ? ओ...हो...हो...हो... !

मुमुक्षु - शास्त्र में आता है (कि) शरीर धर्म का साधन है।

पूज्य गुरुदेवश्री - वह आता है 'शरीराद्यम खलु धर्म साधनम्' मालूम है, 'पुरुषार्थसिद्धियुपाय' में आता है। वह तो निमित्त का कथन है। 'पुरुषार्थसिद्धियुपाय' में शुरुआत में है। मालूम है। बापू ! शरीर से धर्म होता नहीं। शरीर को (आत्मा) छूता ही नहीं, फिर प्रश्न कहाँ (है) ? शरीर की जो वर्ण, गन्ध, रस की पर्याय है, उससे तो परमाणु जानने में आता है। उसके गुण से — लिंग से परमाणु जानने में आता है। उस लिंग से आत्मा जानने में आता है — (ऐसा) नहीं। अपना लिंग तो जानन-देखन लिंग से आत्मा जानने में आता है। अरे... प्रभु ! क्या हो ?

भाषा समझनी हो, तब (निमित्त से कथन करते हैं)। सचेतन शरीर कहा। एकेन्द्रिय आदि जीव को सचेतन शरीर है — ऐसा कहा। चेतन साथ में है, इस अपेक्षा से उसे सचेतन (कहा)। वह तो घी का घड़ा जैसे कहने में आता है, वैसे यह सचेतन शरीर कहने में आता है। समझना हो तब संक्षेप में कैसे कहना ? सचेतन शरीर (कहा तो) चेतन शरीर है ? परन्तु चेतन का सम्बन्ध है, इस कारण से सचेतन शरीर (कहने में आया)। शरीर छूट गया, तब अचेतन शरीर कहने में आया। सचेतनपने को पहचानने के लिये, उसमें आत्मा है — इस अपेक्षा से सचेतन शरीर कहा, लो ! एकेन्द्रिय जीव, ये नीम के पत्ते है ? उस जीव को सचेतन शरीर कहते हैं। पत्ते दिखते हैं, हरा रंग दिखता है, वह तो जड़ है; वह जीव नहीं। उसमें रहा जो जीव है, उसे सचेतन कहने में आता है। क्योंकि जड़ में है न ? अजीव

में जीव है न? इतना सम्बन्ध देखकर उसे सचेतन कहा। वह तो घी के घड़े की भाँति (कहा है)। (घड़ा) घी का घड़ा नहीं है। आहा...हा...!

(यहाँ कहते हैं) **अतद्भाव के द्वारा विशिष्ट (भिन्न) वर्तते हुए, लिंग और लिंगी के रूप में प्रसिद्धि (ख्याति) के समय द्रव्य के लिंगत्व को प्राप्त होते हैं।** आहा...हा...! जब उस पर्याय द्वारा द्रव्य जानने में आया तो लिंग द्वारा लिंगी जानने में आया। उस **समय द्रव्य के लिंगत्व को प्राप्त होते हैं।** (अर्थात्) पदार्थ लिंगपने को प्राप्त होता है। लिंग से जानने में आया न? (इसलिए)। आहा...हा...!

अब, वे द्रव्य में 'यह जीव है, यह अजीव है' ऐसा विशेष (भेद) उत्पन्न करते हैं,.... लिंग द्वारा – गुण द्वारा जीव और अजीव की भिन्नता बतलाते हैं। लिंग द्वारा जीव और अजीव की स्थिति है। आहा...हा...! (पाठ में) ? **द्रव्य में 'यह जीव है, यह अजीव है' ऐसा विशेष (भेद) उत्पन्न करते हैं,....** कौन? गुण। ज्ञानगुण से आत्मा जानने में आता है, वर्ण, गन्ध की पर्याय से परमाणु जानने में आता है। ऐसे भिन्न-भिन्न द्रव्य अपने गुण से जानने में आता है तो इस प्रकार से भेद होता है। प्रत्येक द्रव्य की भिन्नता इस प्रकार होती है। आहा...हा...! बनिये को फुरसत मिले नहीं, निवृत्ति मिले नहीं और ऐसी बातें करनी! क्या कहा?

द्रव्य में 'यह जीव है, यह अजीव है' ऐसा विशेष (भेद).... लिंग **उत्पन्न करते हैं,....** (लिंग अर्थात्) गुण। आहा...हा...! यह तो शान्ति का मार्ग है, प्रभु! आहा...हा...! चेतन की पर्याय द्वारा लिंगी (द्रव्य) जानने में आता है और वर्ण, गन्ध की पर्याय द्वारा परमाणु जानने में आता है। ऐसे लिंग द्वारा द्रव्य की भिन्नता भासती है। गुण द्वारा द्रव्य की भिन्नता भासती है। आहा...हा...! द्रव्य तो सामान्यरूप से दो ही हैं – जीव और अजीव। अजीव के पाँच (द्रव्य) हैं परन्तु दोनों की भिन्नता उनके गुण द्वारा भासती है। आ...हा...हा...! है?

क्योंकि स्वयं भी तद्भाव के द्वारा विशिष्ट होने से.... आ....हा...! प्रत्येक पदार्थ उस गुण के तद्भाव के द्वारा (विशिष्ट है)। उसरूप — उसपना है न? गुण तो उसरूपपना है — इस अपेक्षा से तद्भाव कहा और भेद की अपेक्षा से अतद्भाव कहा।

आहा...हा... ! वस्तु है, वह ज्ञान और आनन्दमय ही है। इस अपेक्षा से तद्भाव कहा परन्तु आनन्द और आत्मा के बीच संख्या, लक्षणभेद से भेद है तो दोनों के बीच अतद्भाव कहा।

अरे...रे... ! सन्तों ने कितनी करुणा से (तत्त्व प्रकाशित किया है) ! 'जयधवल' में तो ऐसा आता है कि भगवान को करुणा है, करुणा ! केवली को, हाँ ! आ...हा... ! वह करुणा कौन सी ? अकषाय करुणा ! आहा...हा... ! 'करुणा हम पावत है तुमकी, वह बात रही सुगुरु गम की' 'श्रीमद्' में आता है। हे नाथ ! तेरी करुणा अर्थात् तेरी ज्ञान की पर्याय में मेरा ज्ञान और आत्मा आया है (कि) इस समय इसने समकित पाया, इस समय अनुभव हुआ — ऐसा आप के ज्ञान में आया, यह आप की करुणा है ! आ...हा...हा... !

एक बार तो ऐसा कहा था, प्रभु ने मुझे यहाँ भेजा है ! ऐसा कहा था। क्योंकि उनके ज्ञान में आया था कि वहाँ जानेवाले हैं। आ...हा...हा... ! इस अपेक्षा से (कहा था)। प्रभु ने मुझे महाविदेह से यहाँ भेजा है ! क्योंकि उनके ज्ञान में, ये (यहाँ) जानेवाला है, ऐसा ज्ञान आया है। आ...हा...हा... ! अभी तो लोगों को शंका होती है। (चम्पा बहिन की) जातिस्मरण की बात बाहर रखी है (तो लोग कहते हैं कि) मान के लिए बात उठायी है ! अरे.... प्रभु ! तू सुन तो सही ! 'जातिस्मरण वर्तमान होता नहीं, जातिस्मरण के बहाने मान प्राप्ति के लिये (कहते हैं)।' अरे... प्रभु ! क्या करता है ? भाई ! *बहिन का जातिस्मरण तो असंख्य अरबों वर्ष का, नव भव का प्रत्यक्ष है !!* आहा...हा... ! उनके सब लक्षण निर्णय करके हमने निर्णय किया है। आहा...हा... ! समझ में आया ? आहा...हा... ! भाई ! उन लोगों ने विरोध किया है। अभी 'करुणादीप' (पत्रिका) आयी है, उसमें विरोध किया है (कि) 'चम्पा' बहिन को जातिस्मरण है ऐसा कहकर अपनी (बात) उठानी है, प्रसिद्धि में आना है।' अरे...प्रभु ! आहा...हा... ! क्या हो ? अन्तर की चीज को जाने नहीं और मात्र बाहर से प्रवृत्ति में धर्म मान ले, उसे यह बात नहीं बैठती। आहा...हा... ! प्रवृत्ति में धर्म नहीं, दया, दान, व्रत में (धर्म नहीं) यह कहना, सुनना उसे मुश्किल पड़ता है। आहा...हा... !

(यहाँ कहते हैं) **द्रव्य में 'यह जीव है, यह अजीव है' ऐसा विशेष (भेद) उत्पन्न करते हैं, क्योंकि स्वयं भी तद्भाव के द्वारा विशिष्ट होने से....** (आत्मा) खास ज्ञान द्वारा तद्भावरूप है। (विशिष्ट अर्थात्) विशेषतावाला है, खास है, भिन्न है।

तद्भाव के द्वारा विशिष्ट होने से विशेष को प्राप्त हैं। आहा...हा... ! भगवान आत्मा ज्ञान की पर्याय द्वारा जानने में आता है तो ज्ञान की पर्याय को आत्मा में तद्भाव भी कहने में आता है। आहा...हा... ! और भिन्न-भिन्न की अपेक्षा से अतद्भाव कहने में आता है। ऐसा मार्ग है। शरीर के साथ कोई सम्बन्ध नहीं। वह तो मिट्टी (है), उसके कारण से पर्याय परिणमन कर रही है। आहा...हा... !

क्योंकि स्वयं भी तद्भाव के द्वारा.... उसरूप होने से खास विशेष को — परद्रव्य से विशेष को प्राप्त होता है। क्या कहा ? कि आत्मा और ज्ञान, ये अतद्भाव है। फिर भी वह खास ज्ञान द्वारा भिन्न जानने में आया है तो इस अपेक्षा से विशेष को प्राप्त हुआ। पर से भिन्न हो गया। समझ में आया ? ज्ञान यह आत्मा, ऐसा भान हुआ तो विशेष को प्राप्त हुआ। पर से भिन्न अपनी परिणति से प्राप्त हुआ। आ...हा...हा...हा... ! ऐसी बात... ! **विशेष को प्राप्त हैं।** अपनी चीज लिंग से जानने में आयी, इस अपेक्षा से विशेष को प्राप्त है, पर से भिन्न प्राप्त है।

जिस-जिस द्रव्य का जो-जो स्वभाव हो.... जो-जो द्रव्य जिस-जिस स्वभाववाला... आहा...हा... ! **उस-उस का उस-उस के द्वारा विशिष्टत्व होने से...** उसके द्वारा वह खास जानने में आता होने से **उनमें विशेष (भेद) हैं, ...** इस अपेक्षा से भेद है। बाकी तद्भाव — उसका भाव है, उस भाव से जानने में आया, इस अपेक्षा से तद्भाव है। आहा...हा... ! उसके स्वभाव द्वारा विशिष्टत्व होने से उसमें विशेष है।

स्वभाव द्वारा - ज्ञानस्वभाव भगवान ! जानना स्वभाव द्वारा जानने में आया तो इस अपेक्षा से पर से भिन्न हो गया। इस अपेक्षा से 'ज्ञान यह आत्मा' (ऐसा) तद्भाव इस अपेक्षा से कहने में आया। आहा...हा... ! इस तद्भाव और अतद्भाव का कभी सुना भी न हो, भाई ! 'ज्ञान यह आत्मा' इस अपेक्षा से पर से भिन्न हुआ इसलिए ज्ञानस्वरूप से कथंचित् तद्भाव है और नाम, संज्ञा (भेद से) अतद्भाव है। आहा...हा... ! क्यों ? (क्योंकि) ज्ञान की पर्याय द्वारा भगवान प्राप्त हुआ। परद्रव्य से भिन्न प्राप्त हुआ तो ज्ञान और आत्मा तद्रूप है — इस अपेक्षा से उससे एकत्व है (ऐसा) मानने में आया। आ...हा...हा... ! तद्भाव और अतद्भाव। कथंचित् अतद्भाव और कथंचित् तद्भाव।

(भाई) ! ' अमेरिका ' में ऐसा कुछ मिलनेवाला नहीं है। वहाँ तो भटकने का है। आहा...हा... !

मुमुक्षु – पैसा मिलता है।

पूज्य गुरुदेवश्री – पैसा भी किसे मिलता है ? कहाँ मिलता है ? पैसा तो उसके चिह्न से उसमें रहा हुआ है। उसके पास कहाँ आया है ? उसके पास तो राग आया। राग आया कि यह मेरा है — ऐसा राग और मिथ्यात्व आया। आहा...हा... ! गजब बात है, भाई ! आहा...हा... !

' मोरबी ' में ढाई अरब का नुकसान हुआ ! ढाई अरब ! अढाई सौ लाख ! अढाई सौ लाख हुआ न ? अढाई सौ करोड़ ! अढाई सौ करोड़ ! आहा...हा... ! किसे नुकसान ? प्रभु ! आ...हा... ! उसे डूबते (समय) राग मेरा, मुझे जीना है — ऐसी दृष्टि है, वह अन्दर में बड़ा नुकसान हुआ। आहा...हा... ! पानी की बाढ़ आयी, ऊपर से नीचे तक (पानी) ! एक आदमी कहता था कि मन्दिर की मात्र ध्वजा दिखती है। वह झूठ बात है। (दूसरे भाई ने कहा) मूर्ति ऊपर पानी है, बस ! बाकी ऊपर में कुछ नहीं है। एक आदमी ऐसा कहता था कि इतना पानी है कि मात्र ध्वजा दिखती है। लोग भी ऐसा कहकर विस्मयता बताते हैं। एक आदमी वहाँ से आया था (वह कहता था) मात्रा ध्वजा दिखती है, इतना पानी है ! अरे... ! लेकिन इतना सारा पानी (कहाँ है) ? (दूसरे) भाई ने तो कहा कि मूर्ति के दो फुट ऊपर पानी आया है। अभी तो साफ करके स्वच्छ कर दिया। आदमी को अतिशय विशेषता बतलाकर मानो कि कुछ विस्मयता बतानी है ! जैसा है, वैसा नहीं कहकर उससे अधिक (कहता है) मानो कि स्वयं ने देखा हो ! आहा...हा... !

यहाँ कहते हैं कि भगवान आत्मा ! उसके **द्वारा विशिष्टत्व होने से....** गुण के द्वारा खास भिन्न होने से और वह खास उससे विशिष्टत्व अर्थात् तद्रूप होने से। आहा...हा... ! गुण द्वारा भिन्न होने से और गुण द्वारा तद्रूप होने से। विशिष्ट कहा न ? (अर्थात्) तद्रूप। **उनमें विशेष (भेद) हैं;....** आ...हा...हा... ! तद्रूप होने से, परन्तु गुण और गुणी में इस प्रकार से भेद है। आहा...हा... ! अरे... ! ऐसी बातें... ! दया पालो, व्रत करो, उपवास करो, दान करो (ये सब करने को कहे तो) बात समझ में भी आये। क्या समझा ? करो... करो... (इसमें) तो जड़ का करना, जड़ की क्रिया का करना, यह तो

मिथ्यात्व है। आहा...हा...! और अन्दर राग को करना, यह राग मेरा कर्तव्य है, वह भी मिथ्यात्व है। आहा...हा....!

यहाँ तो ज्ञान की पर्याय द्वारा विशिष्ट खास तद्‌रूप होने पर भी, उसके द्वारा जानने में आता है, इस अपेक्षा से अतद्‌भाव है, भिन्न है। आहा...हा...! उस रूप होने पर भी — ज्ञानरूप आत्मा होने पर भी, ज्ञान द्वारा जानने में आता है — इस अपेक्षा से भेद भी कहने में आता है। आ...हा...हा...! लोगों को फुरसत नहीं मिलती। जिस सम्प्रदाय में जन्म लिया उसकी (जो) रूढी बताये उसे, जय नारायण! (करके मान लेते हैं)। हो .....! जाओ! स्थानकवासी में जन्म हुआ हो तो स्थानकवासी की बातें करें, श्वेताम्बर में जन्म हुआ हो तो श्वेताम्बर की बातें करे, दिगम्बर में जन्म हुआ हो तो दिगम्बर की बाहर की व्यवहार की बातें करे। (सामान्य) आदमी को (ऐसा सुनकर) आ...हा...हा...! (हो जाता है)। अरे... भाई! दिगम्बर कोई पक्ष नहीं है, कोई अलग पन्थ नहीं है। यह तो जीव का, द्रव्य का स्वरूप है — ऐसा जानना, उसका नाम दिगम्बर है। आहा...हा...! समझ में आता है?

और इसीलिए मूर्त तथा अमूर्त द्रव्यों का मूर्तत्व-अमूर्तत्वरूप तद्‌भाव के द्वारा विशिष्टत्व होने से.... उस भाव द्वारा जुदा होने से **उनमें इस प्रकार के भेद निश्चित करना चाहिए....** ज्ञान से आत्मा जानने में आता है। वर्ण, गन्ध की पर्याय से परमाणु जानने में आता है। ऐसे ऐसे गुण से भिन्न (द्रव्य) है — ऐसा निश्चय करना चाहिए।

यह मूर्त गुण है... परमाणु का मूर्त गुण है और आत्मा का **अमूर्तगुण है।** दूसरे द्रव्य में भी है। आहा...हा...! 'जयधवल' में तो ऐसा लिया है कि कर्म के निमित्त के सम्बन्ध से जीव को मूर्त भी कहते हैं। उसमें आया है। वह तो नैगमनय के सम्बन्ध का एक कथन है। आ...हा...हा...! नैगमनय संकल्प से अनेक बातें करता है। आहा...हा...!

...निश्चित करना चाहिए कि प्रत्येक गुण से वह द्रव्य जानने में आता है, इसलिए उस गुण से — लिंग से वह द्रव्य जानने में आता है और दूसरे के गुण से उसका द्रव्य जानने में आता है — ऐसा उसे निश्चय करना चाहिए। ज्ञान द्वारा आत्मा जानने में आये लेकिन ज्ञान द्वारा पुद्‌गल जानने में आये, (— ऐसा नहीं है)। ज्ञान में जानने में आये,

वह दूसरी बात है। ज्ञान में जानने में आये, वह दूसरी बात है परन्तु ज्ञान द्वारा जड़ जानने में आये (— ऐसा नहीं है)। अर...र...र... ! ज्ञान द्वारा जड़ न जानने में आये ? उसके वर्ण, गन्ध, रस की पर्याय द्वारा जड़ जानने में आये। तब इसने जाना कि उसके वर्ण, गन्ध, रस द्वारा वह पुद्गल है। मेरे जानने में आया, इसलिए वह मेरे गुण द्वारा जानने में आया (— ऐसा नहीं)। पुद्गल मेरे जानने में आया, इसलिए मेरे गुण द्वारा जानने में आया, ऐसा नहीं। मेरे गुण में भले जानने में आया परन्तु उसके गुण जो वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श हैं, उसके द्वारा वह जानने में आया — ऐसा मेरे ज्ञान ने जाना। ऐसी बातें! समझ में आया ?

ज्ञान में जानने में आये वह दूसरी चीज है और वह चीज उसके गुण द्वारा जानने में आये, वह दूसरी चीज है। उस गुण से उसका ख्याल आया कि यह पुद्गल मूर्त है। समझ में आया ? ख्याल आया भले ज्ञान में, परन्तु ख्याल क्या आया ? कि यह मूर्त वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श है, वह परमाणु है — ऐसा परमाणु की पर्याय से परमाणु का ख्याल आया। समझ में आया ? आहा....हा... ! अपनी ज्ञान की पर्याय से परमाणु ख्याल में आया — ऐसा नहीं। ज्ञान की पर्याय में परमाणु का जानपना हुआ। अरे... ! परन्तु उस परमाणु का जानना जिस ज्ञान में आया, वह पुद्गल इससे भिन्न है; वर्ण, गन्ध, रस की पर्याय से पुदगल है — ऐसा ज्ञान में आया। आ...हा...हा... ! ऐसी बातें... !

बनिये को निवृत्ति / फुरसत नहीं मिलती। आ...हा... ! एकाध घण्टा मन्दिर में जाये, भगवान के दर्शन करे... हो गया धर्म! जाओ! मरो! अरे.... भाई! भगवान! तेरी चीज अलग है, प्रभु! वह कोई क्रियाकाण्ड के राग से जानने में आये, ऐसी वह चीज नहीं है, क्योंकि राग उसका वास्तविक लक्षण — चिह्न नहीं है।

'पंचास्तिकाय' में तो ऐसा लिया है, भाई! कहा न ? कि उसका जो राग आदि उत्पाद-व्यय है, वह उसका लक्षण है। वह तो पर से भिन्न करने को (कहा है)। 'पंचास्तिकाय' में! समझ में आया ? राग है, वह आत्मा का है — ऐसा उसे जानने में आता है, ऐसा कहते हैं। अरे...अरे... ! कितने कथन! यह राग इसका है, ऐसा जानने के लिए वहाँ राग का लिंग — चिह्न कहा है। उत्पाद-व्यय-ध्रुव को लक्षण कहा है। उत्पाद-व्यय (कहा तो) रागादि का उत्पाद है, रागादि का व्यय है, उसे भी लक्षण कहकर जानने में आये। आहा...हा... !

यहाँ कहते हैं कि ऐसे नहीं। आत्मा, राग से जानने में आये — ऐसा नहीं परन्तु ज्ञान की पर्याय द्वारा जानने में आये, तब राग होता हो, उसे जाना। आहा...हा...! समझ में आया? थोड़े फर्क में कितना (बड़ा) फर्क है। यह बात बहुत सूक्ष्म है। आ...हा...! भगवान यह फर्क क्यों करते हैं? यह बात सूक्ष्म है। शरीर को जानना है तो कहते हैं कि उसकी जो यह वर्ण, गन्ध, रस की पर्याय है, उसके द्वारा शरीर जानने में आये। जाननेवाला उसे भले जाने परन्तु वह चीज उसके वर्ण, गन्ध के लिए द्वारा लिंगित है, उस चिह्न से वह पदार्थ है, ऐसा जानने में आता है। मेरे से वह पदार्थ है, ऐसा नहीं। समझ में आता है? आहा...हा...!

यह परमाणु ऐसे चले, वह क्रियावती का लक्षण उसका है। इस क्रियावती लक्षण द्वारा पुद्गल जानने में आये। उसके क्रियावती लक्षण द्वारा आत्मा जानने में आये — ऐसे नहीं। वैसे आत्मा में उसकी क्रियावतीशक्ति द्वारा यह (परमाणु) ऐसा है — ऐसा जानने में आये। वह आत्मा में इस प्रकार से जानने में आता है, वह इस प्रकार कि उसकी जो क्रियावतीशक्ति है, उसके द्वारा यह परमाणु (ऐसा) है, ऐसा ज्ञान ने जाना परन्तु ज्ञान ऐसा माने कि मेरे कारण वहाँ हिलना-डुलना हुआ (तो वह) मिथ्या भ्रम है। आ...हा...हा...! हिलने-डुलने की क्रिया द्वारा क्रियावान जो पुद्गल (है), वह जानने में आता है, और आत्मा भी (जानने में आता है) क्योंकि आत्मा में भी क्रिया शक्ति है न? वह आ गया न?

पहले में द्रव्यसामान्य की व्याख्या आयी। बाद में लोक-अलोक के दो भाग की बात आयी। फिर तीसरे में क्रिया और भाववतीशक्ति का वर्णन आया और इस में उसके गुण और लिंग का (कथन आया)। आहा...हा...! समझ में आता है? ●

गाथा - १३१

अथ मूर्तामूर्तगुणानां लक्षणसंबन्धमाख्याति -

मुत्ता इंदियगेज्झा पोग्गलदव्वप्पगा अणेगविधा।
दव्वाणममुत्ताणं गुणा अमुत्ता मुणेदव्वा।।१३१।।

मूर्ता इन्द्रियग्राह्याः पुद्गलद्रव्यात्मका अनेकविधाः।
द्रव्याणाममूर्तानां गुणा अमूर्ता ज्ञातव्याः।।१३१।।

मूर्तानां गुणानामिन्द्रियग्राह्यत्वं लक्षणम्। अमूर्तानां तदेव विपर्यस्तम्। ते च मूर्ताः पुद्गलद्रव्यस्य, तस्यैवैकस्य मूर्तत्वात्। अमूर्ताः शेषद्रव्याणां, पुद्गलादन्येषां सर्वेषामप्य-मूर्तत्वात्। ।१३१।।

अथ मूर्तामूर्तगुणानां लक्षणं संबन्धं च निरूपयति - **मुत्ता इंदियगेज्झा** मूर्ता गुणा इन्द्रियग्राह्या भवन्ति, अमूर्ताः पुनरिन्द्रियविषया न भवन्ति इति मूर्तामूर्तगुणानामिन्द्रियानिन्द्रयविषयत्वं लक्षणमुक्तम्। इदानीं मूर्तगुणाः कस्य संबन्धिनो भवन्तीति संबन्धं कथयति। **पोग्गलदव्वप्पगा अणेगविधा** मूर्तगुणाः पुद्गलद्रव्यात्मका अनेकविधा भवन्ति; पुद्गलद्रव्यसंबन्धिनो भवन्तीत्यर्थः। अमूर्तगुणानां संबन्धं प्रतिपादयति। **दव्वाणममुत्ताणं** विशुद्धज्ञानदर्शनस्वभावं यत्परमात्मद्रव्यं तत्प्रभृतीनाममूर्तद्रव्याणां संबन्धिनो भवन्ति। ते के। **गुणा अमुत्ता** अमूर्ताः गुणाः, केवलज्ञानादय इत्यर्थः। इति मूर्तामूर्तगुणानां लक्षणसंबन्धौ ज्ञातव्यौ।।१३१।।

अब, मूर्त और अमूर्त गुणों के लक्षण तथा सम्बन्ध (अर्थात् उनका किन द्रव्यों के साथ सम्बन्ध है यह) कहते हैं —

गुण मूर्त इन्द्रियग्राह्य रु पुद्गलमयी बहुविध हैं।
अमूर्त द्रव्यों के सभी गुण, अमूर्तिक ही जानिए॥

अन्वयार्थ - [**इन्द्रियग्राह्याः मूर्ताः**] इन्द्रियग्राह्य ऐसे मूर्तगुण [**पुद्गल-द्रव्यात्मकाः**] पुद्गलद्रव्यात्मक [**अनेक विधाः**] अनेक प्रकार के हैं; [**अमूर्तानां**

द्रव्याणां] अमूर्त द्रव्यों के **[गुणाः]** गुण **[अमूर्ताः ज्ञातव्याः]** अमूर्त जानना चाहिए।

टीका – मूर्त गुणों का लक्षण इन्द्रियग्राह्यत्व है; और अमूर्तगुणों का उससे विपरीत है; (अर्थात् अमूर्त गुण इन्द्रियों से ज्ञात नहीं होते।) और मूर्त गुण पुद्गलद्रव्य के हैं, क्योंकि वही (पुद्गल ही) एक मूर्त है; और अमूर्त गुण शेष द्रव्यों के हैं, क्योंकि पुद्गल के अतिरिक्त शेष सभी द्रव्य अमूर्त हैं॥ १३१॥

प्रवचन नं. १४७ का शेष श्रावण कृष्ण १४ सोमवार, २१ अगस्त १९७९

अब, मूर्त और अमूर्त गुणों के लक्षण तथा सम्बन्ध (अर्थात् उनका किन द्रव्यों के साथ सम्बन्ध है यह) कहते हैं — मूर्त गुण और अमूर्त गुण, उसका लक्षण और सम्बन्ध किन द्रव्यों के साथ है — यह कहते हैं। १३१ (गाथा)।

मुत्ता इंदियगेज्झा पोग्गलदव्वप्पगा अणेगविधा।
दव्वाणममुत्ताणं गुणा अमुत्ता मुणेदव्वा।। १३१।।

गुण मूर्त इन्द्रियग्राह्य रु पुद्गलमयी बहुविध हैं।
अमूर्त द्रव्यों के सभी गुण, अमूर्तिक ही जानिए॥

आ...हा...हा...! आचार्यों (को).... आहा...हा...! तीन कषाय के अभाव की वीतरागदशा में रमणता करते हुए विकल्प आया और यह टीका हो गई है! वे टीका के भी कर्ता नहीं हैं और विकल्प के भी कर्ता नहीं हैं। आहा...हा...! वस्तु का स्वरूप ऐसा है, हाँ! हमने टीका नहीं की है — ऐसा जो कहा, वह निर्मानता से कहा, ऐसा नहीं। उस टीका की पर्याय आत्मा से हुई ही नहीं है, परमाणु की पर्याय से हुई है। अरे...रे...! आ...हा...हा...!

टीका – मूर्त गुणों का लक्षण इन्द्रियग्राह्यत्व है;.... लो! मूर्त गुण का लक्षण, मूर्त गुण हैं, वे मूर्त द्रव्य के हैं परन्तु उसे पकड़ने का लक्षण इन्द्रियग्राह्य के (अर्थात्) इन्द्रिय से पकड़ में आये कि यह जड़ है। **और अमूर्तगुणों का उससे विपरीत है; (अर्थात् अमूर्त गुण इन्द्रियों से ज्ञात नहीं होते)।** आ...हा...हा...! अमूर्तपना इन्द्रिय से

जानने में नहीं आता। वह मन द्वारा अतीन्द्रिय (ज्ञान से) जानने में आता है। आहा...हा...! समझ में आया?

(अमूर्त गुण, इन्द्रियों से ज्ञात नहीं होते)। और मूर्त गुण, पुद्‌गलद्रव्य के हैं, क्योंकि वही (पुद्‌गल ही) एक मूर्त है;.... देखो! **और अमूर्त गुण शेष द्रव्यों के हैं,....** (अर्थात्) पाँचों द्रव्य के (हैं) **क्योंकि पुद्‌गल के अतिरिक्त शेष सभी द्रव्य अमूर्त हैं।** पाँचों (द्रव्य) — आत्मा, धर्मास्ति, अधर्मास्ति, आकाश और काल, ये अमूर्त हैं। पुद्‌गल एक मूर्त है। मूर्त गुण से मूर्त (द्रव्य) ख्याल में आता है और अमूर्त गुण इन्द्रियग्राह्य नहीं (होते)। मूर्त (गुण) इन्द्रियग्राह्य (होने से इन्द्रिय से) ख्याल में आते हैं और अमूर्त (गुण) इन्द्रिय बिना अतीन्द्रिय ज्ञान से ख्याल में आता है।

विशेष आयेगा..... ●

अतीन्द्रिय आनन्द ही मुनिराज का भोजन

देखो, सम्यग्दृष्टि भी अन्तर परिणति में चैतन्य का अवलोकन करता है परन्तु निर्विकल्पदशा विशेष नहीं है और मुनिराज को स्वरूपस्थिरता विशेष बढ़ गयी होने से बारम्बार निर्विकल्पदशा आती है। मुनिराज, अतीन्द्रिय आनन्दस्वरूप स्वादिष्ट अमृत भोजन करते हैं। भगवान ज्ञायक आत्मा में अन्दर अतीन्द्रिय आनन्द के स्वादिष्ट भोजन के थाल भरे हैं, उसका स्वाद लेते हुए कितना ही काल व्यतीत हो तो भी वह अमृत कभी कम नहीं होता। आत्मा का सहज ज्ञानादिरूप स्वरूप नहीं जाने, तब तक दर्शनसिद्धि नहीं हो सकती। भाई! चारित्रदशा की तो क्या बात! वह तो गजब दशा है, चारित्रवन्त तो परमेष्ठी हैं। *- पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी*

गाथा - १३२

अथ मूर्तस्य पुद्गलद्रव्यस्य गुणान् गृणाति -

वण्णरसगंधफासा विज्जंते पोग्गलस्स सुहुमादो।
पुढवापरियंतस्स य सद्दो सो पोग्गलो चित्तो।।१३२।।

वर्णरसगंधस्पर्शा विद्यन्ते पुद्गलस्य सूक्ष्मात्।
पृथिवीपर्यन्तस्य च शब्दः स पुद्गलश्चित्रः।।१३२।।

इन्द्रियग्राह्याः किल स्पर्शरसगन्धवर्णास्तद्विषयत्वात्। ते चेन्द्रियग्राह्यत्वव्यक्तिशक्तिवशात् गृह्यमाणा अगृह्यमाणाश्च आ-एकद्रव्यात्मकसूक्ष्मपर्यायात्परमाणोः आ-अनेकद्रव्यात्मकस्थूलपर्याया-त्पृथिवीस्कन्धाच्च सकलस्यापि पुद्गलस्याविशेषेण विशेषगुणत्वेन विद्यन्ते। ते च मूर्तत्वादेव शेषद्रव्याणामसंभवन्तः पुद्गलमधिगमयन्ति। शब्दस्यापीन्द्रियग्राह्यत्वाद्गुणत्वं न खल्वाशङ्कनीयं, तस्य वैचित्र्यप्रपञ्चितवैश्वरूपस्याप्यनेकद्रव्यात्मकपुद्गलपर्यायत्वेनाभ्युपगम्यमानत्वात्। गुणत्वे वा, न तावदमूर्तद्रव्यगुणः शब्दः, गुणगुणिनोरविभक्तप्रदेशत्वेनैकवेदनवेद्यत्वादमूर्तद्रव्यस्यापि श्रवणेन्द्रियविषयत्वापत्तेः। पर्यायलक्षणेनोत्खातगुणलक्षणत्वान्मूर्तद्रव्यगुणोऽपि न भवति। पर्यायलक्षणं हि कादाचित्कत्वं गुणलक्षणं तु नित्यत्वम्। ततः कादाचित्कत्वोत्खातनित्यत्वस्य न शब्दस्यास्ति गुणत्वम्। यत्तु तत्र नित्यत्वं तत्तदारम्भकपुद्गलानां तद्गुणानां च स्पर्शादीनामेव, न शब्दपर्यायस्येति दृढतरं ग्राह्यम्। न च पुद्गलपर्यायत्वे शब्दस्य पृथिवीस्कन्धस्येव स्पर्शनादीन्द्रियविषयत्वम्; अपां घ्राणेन्द्रियाविषयत्वात्, ज्योतिणो घ्राणरसनेन्द्रिया-विषयत्वात्, मरुतो घ्राणरसनचक्षुरिन्द्रियाविषयत्वाच्च। न चागन्धागन्धरसागन्धरसवर्णाः एवमप्ज्योतिर्मारुतः, सर्वपुद्गलानां स्पर्शादिचतुष्कोपेतत्वाभ्युपगमात्; व्यक्तस्पर्शादिचतुष्कानां च चन्द्रकान्ता-रणियवानामारम्भकैरेव पुद्गलैरव्यक्तगन्धाव्यक्तगन्धरसाव्यक्त-गन्धरसवर्णानामप्ज्योतिरुद-रमरुतामारम्भदर्शनात्। न च क्वचित्कस्यचित् गुणस्य व्यक्ताव्यक्तत्वं कादाचित्क-परिणामवैचित्र्यप्रत्ययं नित्यद्रव्यस्वभावप्रतिघाताय। ततोऽस्तु शब्दः पुद्गलपर्याय एवेति।।।।१३२।।

एवं ज्ञानादिविशेषगुणभेदेन द्रव्यभेदो भवतीति कथनरूपेण द्वितीयस्थले गाथाद्वयं गतम्।

अथ मूर्तपुद्गलद्रव्यस्य गुणानावेदयति - **वण्णरसगंधफासा विज्जंते पोग्गलस्स** वर्णरसगन्धस्पर्शा विद्यन्ते। कस्य। पुद्गलस्य। कथंभूतस्य। **सुहुमादो पुढवीपरियंतस्स य** 'पुढवी जलं च छाया चउरिंदियविसयकम्मपरमाणू। छव्विहभेयं भणियं पोग्गलदव्वं जिणवरेहिं'। इति गाथाकथितक्रमेण परमाणुलक्षणसूक्ष्मस्वरूपादेः पृथ्वीस्कन्धलक्षणस्थूलस्वरूपपर्यन्तस्य च। तथाहि - यथानन्तज्ञानादि-चतुष्टयं विशेषलक्षणभूतं यथासंभवं सर्वजीवेषु साधारणं तथा वर्णादिचतुष्टयं विशेषलक्षणभूतं यथासंभवं सर्वपुद्गलेषु साधारणम्। यथैव चानन्तज्ञानादिचतुष्टयं मुक्तजीवेऽतीन्द्रियज्ञानगम्यमागमगम्यं च। यथा वानन्तचतुष्टयस्य संसारिजीवे रागादिस्नेहनिमित्तेन कर्मबन्धवशादशुद्धत्वं भवति तथा वर्णादिचतुष्टस्यापि स्निग्धरूक्षगुणनिमित्तेन द्वि-अणुकादिबन्धावस्थायामशुद्धत्वम्। यथा वानन्तज्ञानादिचतुष्टयस्य रागादिस्नेहरहितशुद्धात्मध्यानेन शुद्धत्वं भवति तथा वर्णादिचतुष्टय-स्यापि स्निग्धगुणाभावे बन्धनेऽसति परमाणुपुद्गलावस्थायां शुद्धत्वमिति। **सद्दो सो पोग्गलो** यस्तु शब्दः स पौदगलः। यथा जीवस्य नरनारकादिविभावपर्यायाः तथायं शब्दः पुद्गलस्य विभावपर्यायो, न च गुणः। कस्मात्। गुणस्याविनश्वरत्वात्, अयं च विनश्वरो। नैयायिकमतानुसारी कश्चिद्वदत्याकाशगुणोऽयं शब्दः। परिहारमाह-आकाशगुणत्वे सत्यमूर्तो भवति। अमूर्तश्च श्रवणेन्द्रियविषयो न भवति, दृश्यते च श्रवणेन्द्रियविषयत्वम्। शेषेन्द्रियविषयः कस्मान्न भवतीति चेत् - अन्येन्द्रियविषयोऽन्येन्द्रियस्य न भवति वस्तुस्वभावादेव, रसादिविषयवत्। पुनरपि कतंभूतः। **चित्तो** चित्रः भाषात्मकाभाषात्मकरूपेण प्रायोगिकवैस्रसिकरूपेण च नानाप्रकारः। तच्च 'सद्दो खंधप्पभवो' इत्यादिगाथायां **पञ्चास्तिकाये** व्याख्यातं तिष्ठत्यत्रालं प्रसङ्गेन।।१३२।।

अब, मूर्त पुद्गलद्रव्य के गुण कहते हैं —

स्पर्श-रस अरु गन्ध-वर्ण, ये गुण हैं पुद्गलद्रव्य के।
अति सूक्ष्म से पृथ्वी तलक, अरु शब्द सब पौद्गलिक ये॥

अन्वयार्थ - [**वर्णरसगंधस्पर्शाः**] वर्ण, रस, गन्ध, और स्पर्श (गुण) [**सूक्ष्मात्**] सूक्ष्म से लेकर [**पृथिवीपर्यन्तस्य च**] पृथ्वी पर्यन्त के [**पुद्गलस्य**] (सर्व) पुद्गल के [**विद्यन्ते**] होते हैं; [**चित्रः शब्दः**] जो विविध प्रकार का शब्द है [**सः**] वह [**पुद्गल**] पुद्गल अर्थात् पौद्गलिक पर्याय है।

टीका - स्पर्श, रस, गन्ध और वर्ण इन्द्रियग्राह्य हैं, क्योंकि वे इन्द्रियों के विषय हैं। वे इन्द्रियग्राह्यता की व्यक्ति[१] और शक्ति के वश से भले ही इन्द्रियों के द्वारा ग्रहण किये

१. परमाणु, कार्मणवर्गणा इत्यादि में इन्द्रियग्राह्यता व्यक्त नहीं है, तथापि शक्तिरूप से अवश्य होती है; इसीलिए बहुत से परमाणु स्कन्धरूप होकर स्थूलता धारण करके इन्द्रियों से ज्ञात होते हैं।

जाते हों या न किये जाते हों, तथापि वे एकद्रव्यात्मक सूक्ष्मपर्यायरूप परमाणु से लेकर अनेकद्रव्यात्मक स्थूलपर्यायरूप पृथ्वी-स्कन्ध तक के समस्त पुद्‌गल के, अविशेषतया विशेष गुणों के रूप में होते हैं और उनके मूर्त होने के कारण ही, (पुद्‌गल के अतिरिक्त) शेष द्रव्यों के न होने से वे पुद्‌गल को बतलाते हैं।

ऐसी शंका नहीं करनी चाहिए कि शब्द भी इन्द्रियग्राह्य होने से गुण होगा; क्योंकि वह (शब्द) विचित्रता[१] के द्वारा विश्वरूपपना (अनेकानेकप्रकारपना) दर्शाता होने पर भी उसे अनेकद्रव्यात्मक पुद्‌गलपर्याय के रूप में स्वीकार किया जाता है।

यदि शब्द को (पर्याय न मानकर) गुण माना जाय तो वह क्यों योग्य नहीं है, उसका समाधान —

प्रथम तो शब्द अमूर्त द्रव्य का गुण नहीं है क्योंकि गुण-गुणी में अभिन्न प्रदेशपना होने से वे (गुण-गुणी) एक वेदन से वेद्य[२] होने से अमूर्त द्रव्य के भी श्रवणेन्द्रिय की विषय-भूतपना आ जाएगा।

(दूसरे, शब्द में) पर्याय के लक्षण द्वारा गुण का लक्षण उत्थापित होने से शब्द मूर्त द्रव्य का गुण भी नहीं है। पर्याय का लक्षण कादाचित्कपना (अनित्यपना) है, और गुण का लक्षण नित्यपना है; इसलिए (शब्द में) अनित्यपने से नित्यपने के उत्थापित होने से (अर्थात् शब्द कभी-कभी ही होता है, और नित्य नहीं है, इसलिए) शब्द वह गुण नहीं है। जो वहाँ नित्यपना है वह उसे (शब्द को) उत्पन्न करनेवाले पुद्‌गलों का और उनके स्पर्शादिक गुणों का ही है, शब्दपर्याय का नहीं - इस प्रकार अति दृढ़तापूर्वक ग्रहण करना चाहिए।

और 'यदि शब्द पुद्‌गल की पर्याय हो तो वह पृथ्वीस्कन्ध की भाँति स्पर्शनादिक इन्द्रियों का विषय होना चाहिए, अर्थात् जैसे पृथ्वीस्कन्धरूप पुद्‌गलपर्याय सर्व इन्द्रियों से ज्ञात होती है उसी प्रकार शब्दरूप पुद्‌गलपर्याय भी सभी इन्द्रियों से ज्ञात होनी चाहिए' (ऐसा तर्क किया जाए तो) ऐसा भी नहीं है; क्योंकि पानी (पुद्‌गल की पर्याय होने पर भी)

१. विचित्रता = विविधता (शब्द भाषात्मक, अभाषात्मक, प्रायोगिक, वैश्रसिक - ऐसे अनेक प्रकार के हैं।)

२. एक वेदन से वेद्य = एक ज्ञान से ज्ञात होने योग्य (नैयायिक शब्द को आकाश का गुण मानते हैं किन्तु यह मान्यता अप्रमाण है। गुण-गुणी के प्रदेश अभिन्न होते हैं, इसलिए जिस इन्द्रिय से गुण ज्ञात होता है उसी से गुणी-भी ज्ञात होना चाहिए। शब्द कर्णेन्द्रिय से जाना जाता है, इसलिए आकाश भी कर्णेन्द्रिय से ज्ञात होना चाहिए। किन्तु वह तो किसी भी इन्द्रिय से ज्ञात होता नहीं है। इसलिए शब्द, आकाशादि अमूर्तिक द्रव्यों का गुण नहीं है।)

घ्राणेन्द्रिय का विषय नहीं है; अग्नि (पुद्गल की पर्याय होने पर भी) घ्राणेन्द्रिय तथा रसनेन्द्रिय का विषय नहीं है और वायु (पुद्गल की पर्याय होने पर भी) घ्राण, रसना, तथा चक्षुइन्द्रिय का विषय नहीं है और ऐसा भी नहीं है कि पानी गन्ध रहित है (इसलिए नाक से अग्राह्य है), अग्नि गन्ध तथा रस रहित है (इसलिए नाक तथा जीभ से अग्राह्य है) और वायु गन्ध, रस तथा वर्ण रहित है (इसलिए नाक, जीभ तथा आँखों से अग्राह्य है); क्योंकि सभी पुद्गल स्पर्शादि चतुष्कयुक्त[१] स्वीकार किये गये हैं क्योंकि जिनके स्पर्शादि चतुष्क व्यक्त हैं ऐसे (१) चन्द्रकान्तमणि को, (२) अरणि को और (३) जौ को जो पुद्गल उत्पन्न करते हैं, उन्हीं के द्वारा (१) जिसकी गन्ध अव्यक्त है ऐसे पानी की, (२) जिसकी गन्ध तथा रस अव्यक्त है ऐसी अग्नि की और (३) जिसकी गन्ध, रस तथा वर्ण अव्यक्त है ऐसी उदरवायु की उत्पत्ति होती देखी जाती है।

और कहीं (किसी पर्याय में) किसी गुण की कादात्विक परिणाम की विचित्रता के कारण होनेवाला अव्यक्तपना या अव्यक्तपना नित्य द्रव्यस्वभाव का प्रतिघात नहीं करता। (अर्थात् अनित्य परिणाम के कारण होनेवाली गुण की प्रगटता और अप्रगटता नित्य द्रव्य-स्वभाव के साथ कहीं विरोध को प्राप्त नहीं होती।)

इसलिए शब्द पुद्गल की पर्याय ही हो॥ १३२॥

प्रवचन नं. १४८ ज्येष्ठ शुक्ल १४ रविवार, २२ जून १९७५

(प्रवचनसार १३२ गाथा) शब्द की पर्याय में **जो वहाँ नित्यपना है....** अर्थात् साथ, पर्याय स्वयं अनित्य है, तब यहाँ जो नित्यपना है **वह उसे (शब्द को) उत्पन्न करनेवाले....** शब्द को उत्पन्न करनेवाला अमुक एक गुण नहीं लिया... **वह उसे (शब्द**

१. चतुष्क = चतुष्टय, चार का समूह। [समस्त पुद्गलों में - पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु इन सब ही में - स्पर्शादि चारों गुण होते हैं। मात्र अन्तर इतना ही है कि पृथ्वी में चारों गुण व्यक्त हैं, पानी में गन्ध अव्यक्त है, अग्नि में गन्ध तथा रस अव्यक्त है, और वायु में गन्ध, रस तथा वर्ण अव्यक्त हैं। इस बात की सिद्धि के लिए युक्ति इस प्रकार है - चन्द्रकान्तमणिरूप पृथ्वी में से पानी झरता है; अरणि की-लकड़ी में से अग्नि प्रगट होती है और जौ खाने से पेट में वायु उत्पन्न होती है; इसलिए (१) चन्द्रकान्तमणि में, (२) अरणि-लकड़ी में और (३) जौ में रहनेवाले चारों गुण (१) पानी में, (२) अग्नि में और (३) वायु में होने चाहिए। मात्र अन्तर इतना ही है कि उन गुणों में से कुछ अप्रगटरूप से परिणमित हुए हैं। और फिर, पानी में से मोतीरूप पृथ्वीकाय अथवा अग्नि में से काजलरूप पृथ्वीकाय के उत्पन्न होने पर चारों गुण प्रगट होते हुए देखे जाते हैं।]

को) उत्पन्न करनेवाले पुद्गलों का और उनके स्पर्शादिक गुणों का ही है,.... शब्द पर्याय है, वह कोई एक गुण की पर्याय नहीं ली... समझ में आया? जैसे, काली, लाल पर्याय है तो वह रंगगुण की (पर्याय) है। शीत, उष्ण अवस्था है, वह स्पर्शगुण की है। आत्मा में मतिज्ञानादिक हैं, वह ज्ञानगुण की (पर्याय) है। क्षयोपशम सम्क्यत्व आदि की पर्याय है, वह श्रद्धागुण की है। ऐसे शब्द पर्याय में कोई एक गुण नहीं लिया। समझ में आया? **उनके स्पर्शादिक गुणों का ही है, शब्दपर्याय का नहीं - इस प्रकार अति दृढ़तापूर्वक ग्रहण करना चाहिए।** कल इतना बाकी रहा था।

अब (कहते हैं) **और 'यदि शब्द पुद्गल की पर्याय हो तो वह पृथ्वीस्कन्ध की भाँति स्पर्शनादिक इन्द्रियों का विषय होना चाहिए,....** तर्क से बात (की) है। सिद्धान्त की बात नहीं, यह तर्क से बात है। **'यदि शब्द, पुद्गल की पर्याय हो तो वह पृथ्वीस्कन्ध की भाँति स्पर्शनादिक इन्द्रियों का विषय होना चाहिए,....** तर्क का प्रश्न है। **जैसे पृथ्वीस्कन्धरूप पुद्गलपर्याय सर्व इन्द्रियों से ज्ञात होती है, उसी प्रकार शब्दरूप पुद्गलपर्याय भी सभी इन्द्रियों से ज्ञात होनी चाहिए'...** शिष्य का प्रश्न है। **(ऐसा तर्क किया जाए तो) ऐसा भी नहीं है;....**

क्योंकि पानी (पुद्गल की पर्याय होने पर भी).... पानी है न पानी? वह पुद्गल पर्याय होने पर भी, **घ्राणेन्द्रिय का विषय नहीं है;....** उसका गन्धपना प्रगट नहीं है। घ्राण से ऐसे ज्ञात हो जाए — ऐसा नहीं है... जयसेनाचार्यदेव ने अन्दर दृष्टान्त दिया है न? **'अनन्तज्ञानादिचतुष्टयं विशेषलक्षणभूतं यथासंभवं सर्वजीवेषु साधारणं'** समस्त जीवों में.... जैसे समस्त पुद्गलों में वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श है; ऐसे ही समस्त जीवों में अनन्त चतुष्टय है। अनन्त ज्ञान, अनन्त आनन्द, अनन्त दर्शन, अनन्त वीर्य... समस्त पुद्गलों में, परमाणु हो या स्कन्ध हो, सब में गुणरूप से तो वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श है। वैसे ही समस्त जीवों में अनन्त ज्ञान, दर्शन, आनन्द, वीर्य विशेष गुण — खास (गुण) समस्त जीवों में है। आहा...हा...! इसमें तो अभव्य भी आ गया।

मुमुक्षु - द्रव्य है तब (गुण) है न! द्रव्य में गुण न हो तो (क्या होगा)?

पूज्य गुरुदेवश्री - वस्तु है न? वस्तु है। प्रगट होना, न होना, वह अलग बात है।

यह कहा न ? पानी में (गन्ध) है परन्तु गन्ध प्रगटरूप से घ्राणेन्द्रिय से ज्ञात हो, इस प्रकार उसमें गन्ध नहीं है। वैसे ही अनन्त चतुष्टयस्वरूप भगवान आत्मा! समस्त आत्माएँ अनन्त चतुष्टय के गुणरूप से विराजमान हैं। प्रगटता किसी को — सिद्ध आदि को, सिद्ध केवली को होती है और दूसरे साधारण जीव को प्रगट पर्याय में नहीं है। पर्याय में प्रगट नहीं है, इसलिए साधारण गुण अन्दर नहीं है — ऐसा नहीं है। आहा...हा...! लो, यह द्रव्य-गुण-पर्याय की व्याख्या चलती है।

शब्द को उत्पन्न करनेवाले पुद्‌गल हैं और उनके गुण हैं। एक गुण है — ऐसा नहीं लिया। केवलज्ञान को उत्पन्न करनेवाला एक गुण है — ज्ञान। सम्यक्त्व को उत्पन्न करनेवाला एक गुण है — त्रिकाल श्रद्धा। पर्याय में आनन्द को उत्पन्न करनेवाला आनन्दगुण है। वीर्य को उत्पन्न करनेवाला वीर्यगुण है। इस प्रकार शब्द को उत्पन्न करनेवाला कोई एक वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श है — ऐसा नहीं लिया। समझ में आया ? आहा...हा...!

देखो! शब्द को उत्पन्न करनेवाले पुद्‌गलों को उनके गुणों का नित्यपना है। शब्द स्वयं पर्याय है, वह तो अनित्य ही है। आहा...हा...! ऐसे भगवान आत्मा! अनन्त ज्ञान, दर्शन, आनन्द और वीर्य के स्वभाव से भरपूर शक्तिवाला तत्त्व है। प्रगटरूप से पर्याय में आवे, वह वीतरागभाव के साधन से प्रगटरूप अतीन्द्रियज्ञानगम्य अनन्त चतुष्टय (प्रगटते हैं)। उसमें जयसेनाचार्यदेव की संस्कृत टीका में लिया है। तीन बोल लिये हैं। जयसेनाचार्यदेव की टीका है। **अनन्तज्ञानादिचतुष्टय मुक्तजीवेऽतीन्द्रियज्ञानगम्य-मागमगम्यं** — टीका में तीन लिये हैं। आहा...हा...! यह विषय (शब्द का) चलता है, उसमें वह डाला! भगवान आत्मा में, अनन्त आत्मा में अनन्त चतुष्टय विराजमान है। साधारण उसमें विशेष शक्ति से है। ऐसे प्रत्येक पुद्‌गल में वर्ण, रस, गन्ध, स्पर्श चतुष्टय से अस्ति धराता है।

अब, यहाँ दृष्टान्त (देते हैं कि) जैसे पानी में गन्ध प्रगट नहीं है; वैसे किसी को अनन्त चतुष्टय जो है, पर्याय में प्रगट नहीं है; सिद्ध को है। आहा...हा...! और उस पर्याय के प्रगटपने का कारण वह प्रगट पर्याय है। जैसे शब्द पर्याय को उत्पन्न करनेवाले पुद्‌गल और स्पर्शादि गुण हैं। वहाँ तो पूरे सब गुण लिये हैं। यहाँ केवलज्ञानादि को उत्पन्न

करनेवाले आत्मद्रव्य और उसके गुण हैं। एक-एक भिन्न-भिन्न गुण, उसे (पर्याय को) उत्पन्न करनेवाला है। आ...हा...! समझ में आया?

प्रश्न – वीर्य साथ में है?

समाधान – लिया न! वीर्य कहा न? ज्ञान, दर्शन, आनन्द और वीर्य — चार कहे न? कहा न? चार बोला, दो बार बोला... अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त आनन्द और अनन्त वीर्य। भगवान को शक्ति में भी है और प्रगट में भी है। यह बात हो गयी। तुम्हारे ख्याल से बाहर में रह गयी।

मुमुक्षु – मैं दूसरा कहता हूँ, केवलज्ञान और केवल.....

पूज्य गुरुदेवश्री – केवलज्ञान भिन्न और वीर्य भिन्न। यह तो कहा नहीं? कि केवलज्ञान की पर्याय का कारण ज्ञानगुण है; वीर्य को प्रगट करनेवाला वीर्यगुण है। ऐसे इसमें शब्द की पर्याय को प्रगट करनेवाला एक गुण — ऐसा नहीं लिया। यह बात तो पहले हो गयी है। समझ में आया?

मुमुक्षु – इनको यह कहना है कि एक केवलज्ञान की पर्याय, दो गुण के साथ एक पर्याय है।

पूज्य गुरुदेवश्री – नहीं, नहीं; एक गुण की (पर्याय है)। पहले बात की थी कि केवलज्ञान की पर्याय का कारण उसका द्रव्य और उसका ज्ञानगुण; आननद की पर्याय का कारण उसका कारण जीवद्रव्य और आनन्दगुण; वीर्य की पर्याय का कारण जीवद्रव्य और वीर्यगुण तथा अनन्त दर्शन! उस दर्शन की पर्याय का कारण जीवद्रव्य और दर्शनगुण। समझ में आया? यह किस प्रकार बात करते हैं, देखो! बात चलती है शब्द की — पुद्‌गल की पर्याय की; उसमें अन्दर यह डाला। जयसेनाचार्य की शैली.... आहा...हा...!

इसका अर्थ यह कि वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श है, वे सभी गुण, शब्द की पर्याय को उत्पन्न करनेवाले हैं — ऐसा लिया है और आत्मा में सिद्ध को.... कहा न अन्दर? लिखा है न? 'मुक्तजीवे' है अन्दर? **'अनन्तज्ञानादिचतुष्टयं.....'** चौथी लाईन है। **'मुक्तजीवेऽतीन्द्रियज्ञानगम्य'** अतीन्द्रिय ज्ञान का विषय है। मुक्त जीव में अनन्त चतुष्टय

प्रगट होता है। २६१ पृष्ठ पर जयसेनाचार्यदेव की (टीका की) चौथी लाईन। जयसेनाचार्य की! आहा...हा...! '**मुक्तजीवेऽतीन्द्रियज्ञानगम्यमागमगम्यं**' है उसमें टीका? आहा...हा...! गुजराती में है।

यहाँ तो यह कहना है कि जो शब्द की पर्याय है, वह पर्याय कैसे है? कि वह अनित्य है — एक बात; और जो गुण तथा द्रव्य है, वह नित्य है, वह नित्य द्रव्य और गुण, पर्याय को उत्पन्न करनेवाले हैं — ऐसा सिद्ध करना है। कोई एक गुण अलग — ऐसा नहीं लिया। जैसे भगवान आत्मा, केवलज्ञान की पर्याय को उत्पन्न करे, उसका कारण जीवद्रव्य है और ज्ञानगुण है। अनन्त चतुष्टय केवलज्ञान की पर्याय का कारण है — ऐसा नहीं। यहाँ तो शब्द की पर्याय का कारण एक साथ सब गुण लिये हैं। यह देखा?

इसी प्रकार आनन्द की पर्याय.... आहा...हा...! सम्यक्त्व कैसे पहचानना? कि प्रतीति के लक्षण से पहचानना, परन्तु उसके साथ अनुभूति के आनन्द से जानना। अनुभूति अविनाभावी लक्षण लिया है न? पंचाध्यायी में! (वरना) अनुभूति है, वह आनन्द की पर्याय है और समकित की — श्रद्धा की पर्याय है। दोनों भिन्न हैं परन्तु प्रतीति को अनुभूति के साथ आनन्द आता है, उसके द्वारा उसकी पहचान बतलायी है। आहा...हा...!

सम्यग्दर्शन को कैसे जानना? वह तो प्रतीति से ज्ञात होता है। मूल उसका तादात्म्य लक्षण तो वह है, परन्तु अनुभूति-आनन्द का वेदन साथ आता है, अतीन्द्रिय आनन्द का स्वाद आता है... आहा...हा...! उससे समकित को पहचानना। लो! समकित है, वह स्वयं अपने को नहीं जानता; ज्ञान की पर्याय उस समकित को जानती है। ऐसे आनन्द की पर्याय, आनन्द की पर्याय को नहीं जानती; आनन्द की पर्याय तो ज्ञान की पर्याय जानती है। ज्ञान की पर्याय की प्रसिद्धि से दूसरे गुणों की प्रसिद्धि वहाँ साथ में होती है। आहा...हा...! इस प्रकार द्रव्य की-गुण की और पर्याय की इस प्रकार स्वतन्त्रता है — ऐसा सिद्ध करना है। समझ में आया?

जैसे शब्द को उत्पन्न करनेवाले गुण और द्रव्य कहा, वैसे यहाँ केवलज्ञान को उत्पन्न करनेवाला उसका द्रव्य और गुण कहे, चतुष्टय नहीं कहा, यह बात है। इसलिए कहा कि अनन्त चतुष्टय जो गुण है, उसका प्रगटपना जो अतीन्द्रिय ज्ञान, अतीन्द्रिय

आनन्द, अतीन्द्रिय दर्शन और अतीन्द्रिय वीर्य — वह अतीन्द्रिय ज्ञान का विषय है या अनुमानगम्य का विषय है, और या आगमगम्य है (ऐसे) तीन लिये हैं। समझ में आया ?

आचार्यों ने पुद्गल की व्याख्या करते हुए भगवान को उसमें मिलाया। आहा...हा... ! बात तो यह है कि इस जड़ का या दूसरे का ज्ञान करना वह 'यह मैं नहीं' इसलिए करने का है। 'यह मैं नहीं' इसके लिए उसका ज्ञान करना है और इसका ज्ञान वह 'यह मैं हूँ' उसके लिये ज्ञान करना है। अर्थात् छह द्रव्य-पर का जानपना करना, वह छह द्रव्यों में रहने के लिये नहीं परन्तु इन छह द्रव्यों में मैं नहीं हूँ (इसके लिये करना है) आहा...हा... ! उसका ज्ञान इसलिए करना कि उनमें मैं नहीं। आहा...हा... ! समझ में आया ? यह भी आया न ? वीतरागता प्रयोजन है। उसमें यह कहा है कि चारों अनुयोगों का प्रयोजन वीतरागता है। उसका अर्थ क्या हुआ ? कि चारों अनुयोग में भले छह द्रव्य का वर्णन हो परन्तु उसका प्रयोजन वीतरागता है, उसका अर्थ कि स्व का आश्रय लेना, यह (प्रयोजन है)। आहा...हा... ! समझ में आया ?

दूसरे प्रकार से कहें तो आत्मा अबद्धस्पृष्ट है — ऐसा जो जाना, वह जैन शासन है। यह वीतराग पर्याय, वह जैनशासन है; इसलिए पर को जानने के काल में भी, उसमें से हटकर स्व के जानने में आना। वह अबद्धस्पृष्ट स्वयं है — ऐसा जो पर्याय में जानने में आना, वह पर्याय वीतराग प्रयोजनवाली है। जिसमें वीतरागता उत्पन्न हुई है। आहा...हा... ! जिसमें जैनशासन कहा जाता है। भाषा तो देखो। समझ में आया ?

यहाँ जैनशासन, अबद्धस्पृष्ट की पर्याय को कहा है। छह द्रव्य को जाननेवाली पर्याय को नहीं। आहा...हा ! **जो पस्सदि अप्पाणं** (समयसार १४ वीं गाथा)। जिस भाव में आत्मा सामान्य जो अबद्ध है; अस्ति से मुक्त, नास्ति से अबद्ध है। नास्ति से अबद्ध लिया, अस्ति से मुक्तस्वरूप है। उस मुक्तस्वरूप का जो ज्ञान, उसका जो उपयोग, वह जैनशासन है अर्थात् उसमें यह सब पुद्गल की और छह द्रव्य की बातें कहेंगे, उन्हें जानकर उसमें से हट जाना। आहा...हा... ! और आत्मा है — अनन्त चतुष्टय सम्पन्न भगवान (है)। आहा...हा... ! इसका अस्तित्व वह मेरा अस्तित्व है। उसका अस्तित्व, वह मेरा अस्तित्व है - ऐसा नहीं। दूसरे के अस्तित्व को जानकर, वह है (ऐसा जानना)

आहा...हा... ! (और) जाननेवाले के अस्तित्व में इसे आना; ज्ञात होते हैं ऐसे अस्तित्व से हटकर... आहा...हा... ! भाई ! आहा... ! मार्ग तो देखो।

पंचास्तिकाय में कहा है कि चारों अनुयोगों का तात्पर्य वीतरागता है। अब कोई ऐसा कहे कि चरणानुयोग में इस प्रकार है और अमुक अनुयोग में इस प्रकार है। यह बात इसमें बदल डाली। चरणानुयोग का, कारणानुयोग का, द्रव्यानुयोग का ज्ञान करके... आहा...हा... ! यह अपने द्रव्य-गुण-पर्याय का तीन का ज्ञान करके भी (स्व) द्रव्य में आना — ऐसा है। पर का ज्ञान करके (स्व में) झुकना। आहा...हा... ! उसके द्रव्य-गुण -पर्याय के भेद को जानकर.... आहा...हा... ! क्या शैली ! देखो तो सही ! अभेद में आना और जिस उपयोग में अभेद (को) जाना, वह उपयोग वीतरागभाव है, वह जैनशासन है और सब कहने का प्रयोजन यह है। आहा...हा... ! समझ में आया ? भाई ! आहाहा... !

(यहाँ कहते हैं) '**वर्णादिचतुष्टयस्यापि स्निग्धगुणाभावे**' यह पुद्गल में लिया। वर्ण, रस, गंध, स्पर्श — मूल चार। पाठ है न ? '**वर्णरसगंधस्पर्शा विद्यन्ते पुद्गलस्य सूक्ष्मात्**' 'वर्णादिचतुष्टय-स्यापि स्निग्धगुणाभावे' स्निग्धता के अभाव में। आहा...हा... ! जैसे अनन्त चतुष्टयवाले जीव को रागादि के अभाव में शुद्धात्मध्यान से शुद्धत्वपना प्रगट होता है 'वर्णादिचतुष्टय-स्यापि स्निग्धगुणाभावे बन्धनेऽसति' बन्धन नहीं होने से। 'परमाणुपुद्गलावस्थायां शुद्धत्वमिति।' लो ! आहा...हा... !

अब क्या कहते हैं ? 'जीवस्य नरनारकादिविभावपर्याया:' (अर्थात्) यह शरीर नहीं, हाँ ! (जीव की) अरूपी विभाव पर्याय। नर, नारकी, मनुष्य अर्थात् यह (शरीर) नहीं। वह तो विभाविक जड़ की पर्याय है। मनुष्यपने की योग्यता की जो गति अन्दर है, वह उसकी विभाविक व्यंजनपर्याय है। आहा...हा... ! 'तथायं शब्दः पुद्गलस्य विभावपर्यायो,....' लो ! यह फिर पर्याय सिद्ध की। वैसे ही शब्द भी पुद्गल की विभावपर्याय है। आहा... ! गुण नहीं और स्वाभाविक पर्याय नहीं — ऐसा (कहना है) शब्द है, वह गुण नहीं और स्वाभाविक पर्याय नहीं। आहा...हा... ! पुद्गल की विभावपर्याय है, लो !

यह यहाँ कहते हैं, भाई ! देखो ! ऐसा तर्क किया जाता है कि यदि शब्द, पुद्गल की

पर्याय हो तो पृथ्वी स्कन्ध की तरह समस्त इन्द्रियों से ज्ञात हो। **स्पर्शनादिक इन्द्रियों का विषय होना चाहिए,....** ऐसा कहते हैं। उसका उत्तर देते हैं कि पानी घ्राणेन्द्रिय का विषय नहीं है। आहा...हा...! प्रगटरूप से, हाँ! अन्दर पानी के परमाणु में तो सब है, परन्तु घ्राणेन्द्रिय से सूँघ कर पानी को जाना जा सके ऐसा नहीं है। आहाहा....! वरना उसे गन्ध की पर्याय है परन्तु स्थूल उपयोग से गन्ध से ही पानी ज्ञात हो — ऐसा नहीं है।

अग्नि (पुद्गल की पर्याय होने पर भी) घ्राणेन्द्रिय तथा रसनेन्द्रिय का विषय नहीं है..... पहले पानी का (दृष्टान्त) लिया था। (अब कहते हैं) अग्नि पुद्गल पर्याय होने पर भी नाक से ज्ञात नहीं होती, रस का विषय नहीं है। आहा...हा...! **और वायु (पुद्गल की पर्याय होने पर भी) घ्राणेन्द्रिय....** अर्थात् नाक, **रसना इन्द्रिय तथा चक्षुइन्द्रिय का विषय नहीं है....** आहा...हा...! **और ऐसा भी नहीं है कि पानी गन्धरहित है.....** लो! गन्ध-घ्राणेन्द्रिय का विषय उसमें नहीं है, इसलिए पानी गन्धरहित है — ऐसा नहीं है। आहा...हा...! **ऐसा नहीं है कि पानी गन्ध रहित है (इसलिए नाक से अग्राह्य है), अग्नि गन्ध तथा रस रहित है (इसलिए नाक तथा जीभ से अग्राह्य है).....** ऐसा नहीं है। कहाँ की कहाँ बात डाली! आहा...हा...! **वायु...** वायु... वायु...! **गन्ध, रस तथा वर्ण रहित है (इसलिए नाक, जीभ तथा आँखों से अग्राह्य है);.....** ऐसा नहीं है। **क्योंकि सभी पुद्गल स्पर्शादि....** लो! सभी पुद्गल **स्पर्शादि चतुष्क स्वीकार किये गये हैं क्योंकि जिनके स्पर्शादि चतुष्क....** (अर्थात्) वर्ण, गन्ध, रस, और स्पर्श (आदि) **चतुष्कयुक्त स्वीकार किये गये हैं....** (मूल ग्रन्थ में नीचे फुटनोट है) ***चतुष्क = चतुष्टय, चार का समूह।[समस्त पुद्गलों में - पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु इन सब ही में - स्पर्शादि चारों गुण होते हैं। मात्र अन्तर इतना ही है कि पृथ्वी में चारों गुण व्यक्त हैं, पानी में गन्ध अव्यक्त है,....*** यह उपयोग की अपेक्षा से (बात है), वरना गन्धगुण है, वह पर्याय में है। पानी में गन्ध की पर्याय तो है न परन्तु वह इस प्रकार परिणमी है कि वह नाक से ज्ञात नहीं हो सकती — ऐसी। गन्ध तो उस पर्याय में भी है क्योंकि गन्धगुण है, उसकी पर्याय है या नहीं ? परन्तु नाक से ज्ञात हो, इस प्रकार उसमें व्यक्त-प्रगट नहीं है। आहा...हा...! ज्ञान के न्याय से, अनुमान और आगमगम्य से उसमें गन्ध की पर्याय है, गन्धगुण है (तो पर्याय भी है)।

द्रव्यानुयोग का ज्ञान सूक्ष्म है। वीतराग की ऐसी वाणी कहीं नहीं है। सर्वज्ञ के अतिरिक्त सबमें गप्प मारी है। समझ में आया? क्योंकि जिसके सम्प्रदाय में सर्वज्ञ नहीं है, उसे सर्वज्ञस्वभावी जीव का पता नहीं है। जिसके सम्प्रदाय में सर्वज्ञ — पर्याय में सर्वज्ञ, तीन काल-तीन लोक जाने — ऐसा उसने देखा और कहा, वह यथार्थ है। अतः जिसे ऐसी सर्वज्ञ पर्याय नहीं है, और कल्पना से कहा है तो उसका सर्वज्ञस्वभाव — जीव का है, वह भी उसके मत में नहीं है। समझ में आया? आहा...हा...! आहा....!

धर्म का मूल सर्वज्ञ है — ऐसा कहा है न? कार्तिकेयानुप्रेक्षा में धर्मानुप्रेक्षा ली है न? उसमें यह लिया कि धर्म का मूल सर्वज्ञ है। उसका कारण कि यह सभी अन्तरभेद, भंग और यह सब सर्वज्ञ के अतिरिक्त (दूसरा कोई) प्रत्यक्ष नहीं जानता। वह सर्वज्ञशक्ति ही न माने... जीव का स्वभाव ही ज्ञ है। ज्ञस्वभाव वह स्वभाववान — ज्ञस्वभाव स्वभाववान का है। इसलिए ज्ञेय में अपूर्णता और विपरीतता नहीं होती इसलिए वह ज्ञस्वभाव सर्वज्ञ स्वभाव है। समझ में आया?

(लोग) आत्मा.... आत्मा की बातें तो बहुत (करते हैं)। आज आया है, वह यहाँ है? नहीं। रजनीश की आयी है, पुस्तक भेंट आयी है, कोटा से! ऐसे देखता है, मानो ऊपर कहीं भगवान होगा! उन सिद्ध भगवान को (नहीं देखते), हाँ! हाथ ऊपर करके.... एक हाथ में घड़ी थी, उस समय फोटो खींच ली होगी, उसका कोरा ज्ञान दिखाया कि आत्मा का क्षेत्र कितने में है, इसकी उसे खबर नहीं! और आत्मा के क्षेत्र में, उसके क्षेत्र में कितने गुण हैं। इसकी उसे खबर नहीं, इस कारण ऐसे बाहर क्षेत्र में गिनाता है अर्थात् उसके गुण भी बाहर क्षेत्र में गिनता है। आहा...हा...! ए...ई! इसलिए अलिंगग्रहण में कहा है न? अमेहनाकार! **पाखण्डियों के प्रसिद्ध साधनरूप आकारवाला-लोक व्याप्तिवाला नहीं...** आहा...हा...! आचार्यों ने भी क्या (स्पष्टीकरण किया है!!) बाहर (लोगों को) ऐसा लगता है — सर्व व्यापक है... ओ...हो...! उसके गुणों का क्षेत्र ऐसा लम्बा है, वह गुण और क्षेत्र ऐसे भेद को ही कहाँ मानते हैं? आहा...हा...!

यहाँ कहते हैं कि जैसे चन्द्रकान्तमणि पत्थर-पृथ्वी है, तथापि पानी उत्पन्न होता है, और उस पानी में से फिर मोती उत्पन्न होता है। पर्याय बदलती है न? आहा...हा...!

अथवा अग्नि में से काजलरूप पृथ्वीकाय उत्पन्न होने पर... लो ठीक! अग्नि में से काजलरूप पृथ्वीकाय निकलने पर... लो ठीक! अग्नि में से यह काजल निकलता है न? वह पृथ्वी है, तवे में काजल (नहीं निकलता)? चारों गुण प्रगट होते देखे जाते हैं। लो!

यहाँ यह कहते हैं, **चन्द्रकान्तमणि को, (२) अरणि को और (३) जौ को जो पुद्गल उत्पन्न करते हैं, उन्हीं के द्वारा (१) जिसकी गन्ध अव्यक्त है — ऐसे पानी की,....** उत्पत्ति होती है। देखा? क्या कहा यह? कि चन्द्रकान्त में सब गुण हैं परन्तु उनसे उत्पन्न हुआ (ऐसे) पानी में गन्ध अव्यक्त है। आहा...हा...! जिसे गन्ध अव्यक्त है — ऐसी अग्नि की उत्पत्ति अरणि में से होती है, अरणि तो वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्शवाली है — चारों (गुणवाली) है, तथापि **(२) जिसकी गन्ध तथा रस अव्यक्त है ऐसी अग्नि की....** उत्पत्ति होती है। समझ में आया इसमें? इसमें ध्यान देने जैसा यह है। आहा...हा...! **(३) जिसकी गन्ध, रस तथा वर्ण अव्यक्त है ऐसी उदरवायु की उत्पत्ति....** देखो! जौ में से **होती देखी जाती है।** जौ में से वायु उत्पन्न होती है न? तो पृथ्वी में से हुआ न? आहा...हा...!

और कहीं (किसी पर्याय में) किसी गुण की कादाचित्क परिणाम की विचित्रता के कारण होनेवाला अव्यक्तपना या अव्यक्तपना नित्य द्रव्यस्वभाव का प्रतिघात नहीं करता।.... अर्थात् कि किसी समय प्रगट दिखाई दे या न दिखाई दे, इससे उसके गुण की नित्यता का विरोध नहीं होता। आहा...हा...! समझ में आया? यह व्यापारी लोगों को जरा कठिन पड़ेगा, वकील जैसों को फिर ठीक लगेगा। कहते हैं कि जैसे **कहीं (किसी पर्याय में) किसी गुण की कादाचित्क परिणाम की विचित्रता के कारण.....** पर्याय में **व्यक्तपना या अव्यक्तपना....** हो, वह **नित्य द्रव्यस्वभाव का प्रतिघात नहीं करता।....** अर्थात् व्यक्त न हो, इसलिए वहाँ नित्य गुण नहीं है (अर्थात्) व्यक्त पर्याय नहीं होती, इसलिए वहाँ नित्य गुण नहीं है — ऐसा नहीं है। नित्य गुण को वह प्रतिघात नहीं करता। आहा...हा...! न्याय का विषय रखा है। आहा...हा...!

यह क्या कहा? **कहीं (किसी पर्याय में)....** अर्थात् जैसे इस पानी में गन्ध नहीं दिखती ऐसे। **किसी गुण की कादाचित्क परिणाम की विचित्रता के कारण.....**

परिणमन की विविधता के कारण **व्यक्तपना या अव्यक्तपना....** व्यक्त हो या अव्यक्त हो, उससे **नित्य द्रव्यस्वभाव का प्रतिघात नहीं करता।....** उसके गुण में नित्यता नहीं — ऐसा नहीं है। उसकी पर्याय कहीं व्यक्त या अव्यक्त हो; व्यक्त (पर्याय) नहीं वहाँ गुण नहीं — ऐसा भी नहीं है और व्यक्त हो वहाँ गुण है — ऐसा भी नहीं है। गुण तो नित्य ही है पर्याय प्रगट हो या पर्याय प्रगट न हो; पानी में बाह्य से प्रगट गन्ध आदि दिखायी नहीं देती, तथापि अन्दर गन्धगुण नित्य गुण जो है, उसे विरोध नहीं करता। आहा...हा... ! भाई ! यह तो प्रवचनसार है ! १२६ (गाथा) तक द्रव्य सामान्य का वर्णन हो गया। १२७ से यह द्रव्य विशेष का वर्णन है। आहा...हा... !

(अर्थात् अनित्य परिणाम के कारण होनेवाली गुण की प्रगटता और अप्रगटता नित्य द्रव्य-स्वभाव के साथ कहीं विरोध को प्राप्त नहीं होती।) आहा...हा... ! भाई ! कहो ऐसी बात अन्यत्र कहीं है ? आहा...हा... ! एक शब्दपर्याय को सिद्ध करने के लिये कितने न्याय दिये ! कि चन्द्रकान्तमणि पत्थर है, तथापि उसमें से पानी उत्पन्न होता है। उत्पन्न हुआ (इसलिए) पत्थर में से पत्थर ही उत्पन्न हो — ऐसा कुछ नहीं है। आहा...हा... ! ऐसे आत्मा में या पुद्गल में शब्द-पर्याय उत्पन्न करने का कोई गुण नहीं है (अर्थात्) कोई एक गुण नहीं है, तथापि पूरे पुद्गल के सभी गुण शब्द उत्पन्न होने में कारण हैं। यह प्रश्न होता है न ? भाई ! बहुत बार होता है कि अन्दर शब्द की पर्याय का गुण कौन ? (क्योंकि) गुण के बिना पर्याय नहीं होती — ऐसा बहुत-सौ को प्रश्न होता है, यह एक गुण नहीं, समुच्चय सब गुण इकट्ठे हैं।

प्रश्न – दूसरी पर्याय का ऐसा दृष्टान्त है ?

समाधान – यही दृष्टान्त है।

प्रश्न – भव्य-अभव्य में।

समाधान – भव्य-अभव्य वह अलग, उसके साथ लागू नहीं (होता)।

प्रश्न – शब्दपर्याय व्यंजनपर्याय कहलायेगी ?

समाधान – व्यंजनपर्याय ! आया न अन्दर ? संस्कृत में आया। 'तथायं शब्दः

पुद्‌गलस्य विभावपर्यायो,....' वह विभाव है, विभाव। ऊपर आया वह बताया था, पहले कहा था। इस ओर २६२ (पृष्ठ पर है) '**यथा जीवस्य नरनारकादिविभावपर्यायाः तथायं शब्दः पुद्‌गलस्य विभावपर्यायो,**' द्रव्य-गुण और पर्याय के यथार्थ भान बिना सब गड़बड़ उठी है, उससे यह होता है और उससे यह होता है, और उससे होता है....

इसलिए शब्द, पुद्‌गल की.... देखो! सारांश यह लेना है न? **इसलिए शब्द, पुद्‌गल की पर्याय ही हो।** आहा...हा...! जीव में अनन्त आनन्द, पर्याय प्रगट न हो इससे उसका आनन्दगुण नहीं है — ऐसा नहीं है। आनन्द की पर्याय बाह्य (में) प्रगट नहीं, उसके स्थान पर यहाँ संसार का दुःख है। वह आनन्द की पर्याय बाह्य (प्रगट) नहीं है, इसलिए आनन्दगुण का निषेध करती है कि आनन्दगुण नहीं है — ऐसा नहीं है।

जैसे दो-तीन परमाणु इकट्ठे होकर अशुद्धता उत्पन्न होती है, वैसे आनन्द का अशुद्धपना दुःख का उत्पन्न हुआ है। आनन्द का अशुद्धपना दुःख का उत्पन्न हुआ है (वह है) और वह दुःख उत्पन्न होने से उस दुःख की पर्याय कादात्त्विक होती है, कायम नहीं, तथापि उसका जो आनन्दगुण है, उसका विरोध पड़ता है — ऐसा नहीं है। आहा...हा...! यह १३२ (गाथा पूरी) हुई। इसमें पचास मिनिट हो गये। यहाँ तो वापिस सारांश यह ले जाना है कि जीव में अनन्त चतुष्टय गुण तो त्रिकाल है, उस गुण की पर्याय किसी को प्रगट हो या न हो, उसके साथ उसके नित्य गुण को प्रतिषेध होता है — विरोध होता है — ऐसा नहीं है। आहा...हा...! दुःख की पर्याय के काल में भी आनन्द के गुण की सिद्धि होती है — ऐसा कहते हैं। दुःख की पर्याय जिस काल में होती है, उस काल में भी आनन्दगुण की सिद्धि होती है क्योंकि वह पर्याय है, पलटती है, अशुद्ध है; वह अशुद्धपना गुण को सिद्ध करता है कि इसका मूल कारण, यह खान-गुण है। निमित्त के आधीन होकर अशुद्ध परिणमित हुआ परन्तु उसकी उत्पत्ति का स्थान-विधान गुण है। आहा...हा...! समझ में आया?

अब इसमें एकेन्द्रिया, दोइन्द्रिया.... करके मिच्छामी दुक्कणं (करना सरल था) लो! उसमें क्या था? सामायिक कर लो। कहाँ से हुआ? बापू! तुझे पता नहीं है भाई! यह भाषा बोली जाती है — शब्द की पर्याय (होती है), वह पुद्‌गल के कारण हुई है... आहा...हा...! और उसके गुण को वह सिद्ध करती है। भले उसका एक गुण न हो परन्तु

सभी गुणों को सिद्ध करती है। तो वह जड़ को सिद्ध करती है। भाषा की पर्याय उसके द्रव्य-गुण को सिद्ध करती है; भाषा की पर्याय, वहाँ आत्मा है, इसलिए भाषा की पर्याय हुई; इस कारण भाषा की पर्याय वहाँ आत्मा को सिद्ध करती है (— ऐसा नहीं है।) आहा...हा...! आहा...!

अनन्त ज्ञान का गुण है, उसकी अल्पज्ञ पर्याय ऐसा सिद्ध नहीं करती कि अनन्त (स्वभाववाला) ज्ञानगुण नहीं है। आहा...हा...! अल्पज्ञता उसके नित्य गुण को विघ्न करती है, नित्य गुण नहीं है, ऐसा सिद्ध नहीं करती है। आहा...हा...! समझ में आया? आहा...! इसी प्रकार मिथ्यात्व की पर्याय उसके श्रद्धागुण का निषेध करती है — ऐसा नहीं है। आहा...! मिथ्यात्व की पर्याय है, उस समय सम्यक्त्व की पर्याय नहीं है, इसलिए सम्यक् श्रद्धा-गुण उसमें नहीं है — ऐसा नहीं है। भाई! ऐसा बहुत सूक्ष्म है। सर्वज्ञ परमेश्वर आत्मा! सर्वज्ञ परमेश्वर आत्मा की यह सब लीला है! समझ में आया? भले पर्याय में सर्वज्ञता न आयी हो, इससे उसके सर्वज्ञगुण का विरोध आता है — ऐसा नहीं है। आहा...हा...! भाई! ऐसी बातें हैं? आहा...!

राग की पर्याय विकारी है, इसलिए वहाँ अविकारी चारित्रगुण नहीं है — ऐसा सिद्ध नहीं करती। आहाहा...! समझ में आया? अर्थात् कि सम्यग्दर्शन की पर्याय होवे तो ही श्रद्धागुण है, यह सिद्ध हो — ऐसा नहीं है। भगवान के गुण तो नित्य-कायम हैं। भले पर्याय में अल्पज्ञता हो, विपरीतता हो, इससे गुण की शक्ति का एकरूप खण्डित है — ऐसा नहीं है। आहा...हा...! दिगम्बर सन्तों की गजब शैली! ऐसी बात कहीं नहीं मिलती।

आहाहा....! अनन्त ज्ञान (आदि) चतुष्टय (स्वरूप) भगवान आत्मा! रागादिरहित **'शुद्धात्मध्यानेन शुद्धत्वं भवति', 'रागादिस्नेहरहितशुद्धात्मध्यानेन शुद्धत्वं भवति तथा वर्णादिचतुष्टयस्यापि'** (अर्थात्) स्निग्धगुण के अभाव में बन्धन के अभाव से परमाणु पुद्गल **'शुद्धत्वमिति'**। ओहो...! बात चाहे ऐसी साधारण चलती हो परन्तु जयसेनाचार्यदेव की (शैली) आत्मा में ले जाती है।

अब, शेष अमूर्त द्रव्यों के गुण कहते हैं — अपने इसमें आ गया है कि अमूर्त द्रव्य के अमूर्त गुण और मूर्त द्रव्य के मूर्त गुण (होते हैं)। अत: आत्मा में रागादि हुए और

उन्हें कहीं उपचार से मूर्त कहा है। इस कारण उनमें अमूर्तपना नहीं है — ऐसा नहीं है। वे अमूर्त ही हैं। आहा...हा...!

मुमुक्षु – वह तो सिद्ध तब अमूर्त कहलाये।

पूज्य गुरुदेवश्री – यहाँ अभी (अमूर्त है)। सिद्ध की बात (नहीं है) आहा...हा...! समझ में आया? यह बहुत विवाद करते हैं न? अभी (एक व्यक्ति ने) एक पुस्तक नहीं छपायी? उसमें आया था। जीव को मूर्त कहा है। फिर तो भ्रष्ट होकर (वह) चला गया, निकल गया। क्षुल्लक हुआ था... अरे... भगवान! बापू! यह मार्ग कैसा? आहा...हा...! यह तो जिसकी योग्यता हो, उसे पचे ऐसा है।

यह यहाँ नहीं कहा? जीव का अमूर्तत्त्व सिद्ध किया न। समझ में आया? आहाहा...! (अब) समस्त गुणों में अमूर्त क्या है — वह सिद्ध करेंगे। ●

उसका जीवन भी प्रशंसनीय है

संसार में परिभ्रमण करते हुए अनन्त बार मनुष्य देह पाकर भी आत्मा के भान बिना मरण किया परन्तु आत्मा क्या है? – उसकी बात का परिज्ञान नहीं किया; इसलिए यहाँ उसकी महिमा बतलाते हुए कहते हैं कि बाहर की चिन्ता मिटाकर जो आत्मस्वरूप में स्थिर हैं, उन्होंने तो करने योग्य कार्य कर लिया है, उनकी तो क्या बात! परन्तु जिन्हें जगत् की चिन्ता छोड़कर, आत्मा की चिन्ता की पकड़ भी हुई है कि अहो! मैंने अपने आत्मा को अनन्त काल से पहचाना नहीं, अनन्त काल में कभी आत्मा का ध्यान नहीं किया; आत्मा को भूलकर बाह्य पदार्थों की चिन्ता में ही परिभ्रमण किया है; अब, सत्समागम से आत्मा को जानकर उसी का ध्यान करनेयोग्य है – ऐसी आत्मा की चिन्ता का परिग्रह करे, पकड़ करे, उसका जीवन भी प्रशंसनीय है।

- पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी

गाथा - १३३-१३४

अथामूर्तानां शेषद्रव्याणां गुणान् गृणाति -

आगासस्सवगाहो धम्मद्दव्वस्स गमणहेदुत्तं।
धम्मेदरदव्वस्स दु गुणो पुणो ठाणकारणदा।। १३३ ।।
कालस्स वट्टणा से गुणोवओगो त्ति अप्पणो भणिदो।
णेया संखेवादो गुणा हि मुत्तिप्पहीणाणं।।१३४।। जुगलं।

आकाशस्यावगाहो धर्मद्रव्यस्य गमनहेतुत्वम्।
धर्मेतरद्रव्यस्य तु गुणः पुनः स्थानकारणता।। १३३ ।।
कालस्य वर्तना स्यात् गुण उपयोग इत आत्मनो भणितः।
ज्ञेयाः संक्षेपाद्गुणा हि मूर्तिप्रहीणानाम्।।१३४।। युगलम्।।

विशेषगुणो हि युगपत्सर्वद्रव्याणां साधारणावगाहहेतुत्वमाकाशस्य, सकृत्सर्वेषां गमनपरिणामिनां जीवपुद्गलानां गमनहेतुत्वं धर्मस्य, सकृत्सर्वेषां स्थानपरिणामिनां जीवपुद्गलानां स्थानहेतुत्वधर्मस्य, अशेषशेषद्रव्याणां प्रतिपर्यायं समयवृत्तिहेतुत्वं कालस्य, चैतन्यपरिणामो जीवस्य। एवममूर्तानां विशेषगुणसंक्षेपाधिगमे लिङ्गम्। तत्रैककालमेव सकलद्रव्यसाधारणा-वगाहसंपादनमसर्वगतत्वादेव शेषद्रव्याणामसंभवदाकाशमधिगमयति। तथैकवारमेव गतिपरिणत-समस्तजीवपुद्गलानामालोकाद्गमन-हेतुत्वमप्रदेशत्वात्कालापुद्गलयोः, समुद्घातादन्यत्र लोका-संख्येयभागमात्रत्वाज्जीवस्य, लोकालोकसीम्नोऽचलितत्वादाकाशस्य, विरुद्धकार्यहेतुत्वादधर्मस्या-संभवद्धर्ममधिगमयति। तथैकवारमेव स्थितिपरिणतसमस्तजीवपुद्गलानामालोकात्स्थानहेतुत्वम-प्रदेशत्वात्कालापुद्गलयोः, समुद्घातादन्यत्र लोकासंख्येयभागमात्रत्वाज्जीवस्य, लोकालोकसीम्नो-ऽचलितत्वादाकाशस्य, विरुद्धकार्यहेतुत्वाद्धर्मस्य चासंभवदधर्ममधिगमयति। तथा अशेषशेषद्रव्याणां प्रतिपर्यायं समयवृत्तिहेतुत्वं कारणान्तरसाध्यत्वात्समय-विशिष्टाया वृत्तेः स्वतस्तेषामसंभवत्काल-मधिगमयति। तथा चैतन्यपरिणामश्चेतनत्वादेव शेषद्रव्याणामसंभवन् जीवमधिगमयति। एवं गुणविशेषाद्द्रव्यविशेषोऽधिगन्तव्यः।।१३३।।१३४।।

अथाकाशाद्यमूर्तद्रव्याणां विशेषगुणान्प्रतिपादयति - **आगासस्सवगाहो** आकाशस्यावगाहहेतुत्वं, **धम्मद्दव्वस्स गमणाहेदुत्तं** धर्मद्रव्यस्य गमनहेतुत्वं, **धम्मेदरदव्वस्स दु गुणो पुणो ठाणकारणदा** धर्मेतरद्रव्यस्य तु पुनः स्थानकारणतागुणो भवतीति प्रथमगाथा गता। **कालस्स वट्टणा से** कालस्य वर्तना स्याद्गुणः, **गुणोवओगो त्ति अप्पणो भणिदो** ज्ञानदर्शनोपयोगद्वयमित्यात्मनो गुणो भणितः। **णेया संखेवादो गुणा हि मुत्तिप्पहीणाणं** एवं संक्षेपादमूर्तद्रव्याणां गुणा ज्ञेया इति। तथाहि - सर्वद्रव्याणां साधारणमवगाहहेतुत्वं विशेषगुणत्वादेवान्यद्रव्याणामसंभव्सदाकाशं निश्चिनोति। गतिपरिणतसमस्तजीवपुद्गलानामेकसमये साधारणं गमनहेतुत्वं विशेषगुणत्वादेवान्यद्रव्याणामसंभवत्सद्धर्मद्रव्यं निश्चिनोति। तथैव च स्थितिपरिणतसमस्तजीवपुद्गलानामेकसमये साधारणं स्थितिहेतुत्वं विशेषगुणत्वादेवान्यद्रव्याणामसंभवत्सदधर्मद्रव्यं निश्चिनोति। सर्वद्रव्याणां युगपत्पर्यायपरिणतिहेतुत्वं विशेषगुणत्वादेवान्यद्रव्याणामसंभत्सत्कालद्रव्यं निश्चिनोति। सर्वजीवसाधारणं सकलविमलकेवलज्ञानदर्शनद्वयं विशेषगुणत्वादेवान्याचेतनपञ्चद्रव्याणामसंभवत्सच्छुद्धबुद्धैकस्वभावं परमात्मद्रव्यं निश्चिनोति। अयमत्रार्थ :- यद्यपि पञ्चद्रव्याणि जीवस्योपकारं कुर्वन्ति तथापि तानि दुःखकारणान्येवेति ज्ञात्वाक्षयानन्तसुखादिकारणं विशुद्धज्ञानदर्शनोपयोगस्वभावं परमात्मद्रव्यं तदेव मनसा ध्येयं वचसा वक्तव्यं कायेन तत्साधकमनुष्ठानं च कर्तव्यमिति।।१३३-१३४।।

अब, शेष अमूर्त द्रव्यों के गुण कहते हैं —

अवगाहगुण आकाश का, गतिहेतुता गुण धर्म का।
अरु स्थानकारणता का गुण, जानो द्रव्य अधर्म का॥

है काल का गुण वर्तना, उपयोग गुण है जीव का।
- ये गुण अमूर्तिक द्रव्य के, संक्षेप में जिनवर कहा॥ जुगलं॥

अन्वयार्थ - [**आकाशस्यावगाहः**] आकाश का अवगाह, [**धर्मद्रव्यस्य गमनहेतुत्वं**] धर्मद्रव्य का गमनहेतुत्व [**तु पुनः**] और [**धर्मेतरद्रव्यस्य गुणः**] अधर्म द्रव्य का गुण [**स्थानकारणता**] स्थानकारणता है। [**कालस्य**] काल का गुण [**वर्तना स्यात्**] वर्तना है, [**आत्मनः गुणः**] आत्मा का गुण [**उपयोगः इति भणितः**] उपयोग कहा है। [**मूर्तिप्रहीणानां गुणाः हि**] इस प्रकार अमूर्त द्रव्यों के गुण [**संक्षेपात्**] संक्षेप से [**ज्ञेयाः**] जानना चाहिए।

टीका - युगपत् सर्व द्रव्यों के साधारण अवगाह का हेतुपना आकाश का विशेष गुण है। एक ही साथ सर्व गमनपरिणामी (गतिरूप परिणमित) जीव-पुद्गलों के गमन

का हेतुपना धर्म का विशेष गुण है। एक ही साथ सर्व स्थानपरिणामी (स्थितिरूप परिणमित) जीव-पुद्गलों के स्थिर होने का हेतुत्व स्थिति का अर्थात् स्थिर होने का निमित्तपना अधर्म का विशेष गुण है। (काल के अतिरिक्त) शेष समस्त द्रव्यों की प्रति-पर्याय में समयवृत्ति का हेतुपना (समय-समय की परिणति का निमित्त) काल का विशेष गुण है। चैतन्य परिणाम जीव का विशेष गुण है। इस प्रकार अमूर्त द्रव्यों के विशेष गुणों का संक्षिप्त ज्ञान होने पर अमूर्त द्रव्यों को जानने के लिंग (चिह्न, लक्षण, साधन) प्राप्त होते हैं; अर्थात् उन-उन विशेष गुणों के द्वारा उन-उन अमूर्त द्रव्यों का अस्तित्व ज्ञात होता है — सिद्ध होता है। (इसी को स्पष्टतापूर्वक समझाते हैं —)

वहाँ एक ही काल में समस्त द्रव्यों को साधारण अवगाह[१] का सम्पादन (हेतुपनेरूप लिंग) आकाश को बतलाता है; क्योंकि शेष द्रव्यों के सर्वगत (सर्व व्यापक) न होने से उनके वह सम्भव नहीं है।

इसी प्रकार एक ही काल में गतिपरिणत (गतिरूप से परिणमित हुए) समस्त जीव-पुद्गलों को लोक तक गमन का हेतुपना धर्म को बतलाता है; क्योंकि काल और पुद्गल अप्रदेशी हैं, इसलिए उनके वह सम्भव नहीं है; जीव समुद्घात को छोड़कर अन्यत्र लोक के असंख्यातवें भाग मात्र है, इसलिए उसके वह सम्भव नहीं है, लोक-अलोक की सीमा अचलित होने से आकाश को वह सम्भव नहीं है और विरुद्ध कार्य का हेतु होने से अधर्म को वह सम्भव नहीं है। (काल और पुद्गल एक प्रदेशी हैं, इसलिए वे लोक तक गमन में निमित्त नहीं हो सकते; जीव, समुद्घात को छोड़कर अन्य काल में लोक के असंख्यातवें भाग में ही रहता है, इसलिए वह भी लोक तक गमन में निमित्त नहीं हो सकता; यदि आकाश, गति में निमित्त हो तो जीव और पुद्गलों की गति अलोक में भी होने लगे, जिससे लोकालोक की मर्यादा ही न रहेगी; इसलिए गतिहेतुत्व आकाश का भी गुण नहीं है; अधर्म द्रव्य तो गति से विरुद्ध स्थितिकार्य में निमित्तभूत है, इसलिए वह भी गति में निमित्त नहीं हो सकता। इस प्रकार गतिहेतुत्वगुण, धर्म नामक द्रव्य का अस्तित्व बतलाता है।)

---

१. **अवगाह = लीन होना; मज्जित होना, अवकाश प्राप्त करना। (एक ही काल में सर्व द्रव्यों को सामान्य अवकाश की प्राप्ति में आकाश द्रव्य निमित्तभूत है।)**

इसी प्रकार एक ही काल में स्थितिपरिणत समस्त जीव-पुद्गलों को लोक तक स्थिति का हेतुपना अधर्म को बतलाता है; क्योंकि काल और पुद्गल अप्रदेशी होने से उनके वह सम्भव नहीं है; जीव, समुद्घात को छोड़कर अन्यत्र लोक के असंख्यातवें भाग मात्र है, इसलिए उसके वह सम्भव नहीं है; लोक और अलोक की सीमा अचलित होने से आकाश के वह सम्भव नहीं है, औरा विरुद्ध कार्य का हेतु होने से धर्म के वह सम्भव नहीं है।

इसी प्रकार (काल के अतिरिक्त) शेष समस्त द्रव्यों के प्रत्येक पर्याय में समयवृत्ति का हेतुपना काल को बतलाता है, क्योंकि उनके समयविशिष्ट[१] वृत्ति कारणान्तर से सधती होने से (अर्थात् उनके समय से विशिष्ट ऐसी परिणति अन्य कारण से होती है, इसलिए) स्वत: उनके वह (समयवृत्तिहेतुपना) सम्भवित नहीं है।

इसी प्रकार चैतन्य परिणाम, जीव को बतलाता है, क्योंकि वह चेतन होने से शेष द्रव्यों के सम्भव नहीं है।

इस प्रकार गुण विशेष से द्रव्य विशेष जानना चाहिए।

भावार्थ - जैसा कि पहले बताया गया है — स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण से पुद्गल द्रव्यों का अस्तित्व ज्ञात होता है। यहाँ अमूर्त द्रव्यों का अस्तित्व उनके विशेष लक्षणों से प्रगट किया गया है।

चैतन्यपरिणामरूप लक्षण अनुभव में आता है, इसलिए अनन्त जीवद्रव्यों का अस्तित्व ज्ञात होता है। जीवादि समस्त द्रव्य जिसके निमित्त से अवगाह (अवकाश) को प्राप्त करते हैं — ऐसा कोई द्रव्य होना चाहिए; वह द्रव्य लोकालोकव्यापी आकाश है। जीव और पुद्गल, गति करते हुए मालूम होते हैं, इसलिए जैसे मछली को गति करने में निमित्तभूत जल है; उसी प्रकार जीव और पुद्गलों को गति करने में निमित्तभूत कोई द्रव्य होना चाहिए; वह द्रव्य लोकव्यापी धर्मद्रव्य है। जैसे, मनुष्य को स्थिति में निमित्तभूत पृथ्वी है,उसी प्रकार जीव और पुद्गलों की स्थिति में निमित्तभूत कोई द्रव्य होना चाहिए। वह

१. काल के अतिरिक्त द्रव्यों की परिणति 'एक समय में यह परिणति हुई है' इस प्रकार समय से विशिष्ट है अर्थात् व्यवहार से उसमें समय की अपेक्षा आती है, इसलिए उसमें कोई द्रव्य - कालद्रव्य - निमित्त होना चाहिए।

द्रव्य लोकव्यापी अधर्मद्रव्य है। जैसे, कुम्हार के चक्र के चलने में कील निमित्तभूत है उसी प्रकार (काल के अतिरिक्त) सर्व द्रव्यों के परिणमन में निमित्तभूत कोई द्रव्य होना चाहिए; वह द्रव्य असंख्यात कालाणु हैं, जिनकी पर्यायें समय, घड़ी, दिन, वर्ष इत्यादिरूप से व्यक्त होती हैं।

इस प्रकार गुणभेद से द्रव्यभेद निश्चित हुआ॥ १३३-१३४॥

प्रवचन नं. १४९ ज्येष्ठ कृष्ण १ मंगलवार, २४ जून १९७५

प्रवचनसार गाथा १३३-१३४।

आगासस्सवगाहो धम्मद्दव्वस्स गमणहेदुत्तं।
धम्मेदरदव्वस्स दु गुणो पुणो ठाणकारणदा।। १३३ ।।
कालस्स वट्टणा से गुणोवओगो त्ति अप्पणो भणिदो।
णेया संखेवादो गुणा हि मुत्तिप्पहीणाणं।।१३४।। जुगलं।

धर्म का मूल सर्वज्ञ है और सर्वज्ञ ने जो छह द्रव्य देखे उनके लक्षण, उनके गुण क्या हैं? अथवा उनके परिणाम द्वारा वह वस्तु ज्ञात हो, वे परिणाम क्या हैं? उसका वर्णन है। सर्वज्ञ परमेश्वर ने छह द्रव्य देखे हैं और ऐसा है।

प्रश्न - सात क्यों नहीं देखे?

समाधान - हैं नहीं तो कहाँ से देखे? होवे उतने देखे न? हैं उतने देखे। छह हैं, छह हैं। आहा...हा...! 'है' के साथ 'छह' का मेल होता है, ऐ...ई! वस्तु इतनी ही है। आहा...हा...! और वह भी आत्मा के ज्ञानपरिणाम में एक समय में छह द्रव्य, उसके गुण और परिणाम आदि जानते हैं — ऐसी एक समय की परिणाम की ताकत है! उस ताकत का माप यहाँ से बतलाते हैं कि ऐसे द्रव्य हैं, उसके गुण हैं, उसकी पर्याय है, और जिसने पर्याय में जाना, उसने कहा, वाणी द्वारा निकला — ऐसी अनन्त पर्याय का धारक... आहा...हा...!

पहले (१३१ गाथा में) कहा न? **मुत्ता इंदियगेज्झा** (अर्थात्) मूर्त, वह इन्द्रियग्राह्य है। क्या इन्द्रियग्राह्य है? उसकी पर्याय। पर्याय द्वारा गुण-द्रव्य का ख्याल आता है न? क्या

कहा यह ? मूर्त, वह इन्द्रियग्राह्य है। वह क्या चीज इन्द्रियग्राह्य है ? द्रव्य-गुण। पूरी चीज ? वह पर्याय जो मूर्त है, वह इन्द्रियग्राह्य है, उसके द्वारा फिर द्रव्य और गुण है — ऐसा निश्चय होता है। आहा...हा...!

(यहाँ) **अब, शेष अमूर्त द्रव्यों के गुण कहते हैं** — नीचे हरिगीत हैं न!

अवगाहगुण आकाश का, गतिहेतुता गुण धर्म का।
अरु स्थानकारणता का गुण, जानो द्रव्य अधर्म का॥
है काल का गुण वर्तना, उपयोग गुण है जीव का।
- ये गुण अमूर्तिक द्रव्य के, संक्षेप में जिनवर कहा॥ जुगलं॥

टीका - युगपत् सर्व द्रव्यों के साधारण अवगाह का हेतुपना.... प्रत्येक द्रव्य को एक समय में.... आहा...हा...! जिसका गुण अर्थात् जिसकी पर्याय का सामर्थ्य एक समय में सबको अवगाहन देने की ताकत (रखता है)! एक समय के परिणाम में, हाँ! उसे गुण कहते हैं। **युगपत् सर्व द्रव्यों के साधारण.....** अर्थात् सबको रहने के लिये एक ही ऐसा, **अवगाह का हेतुपना आकाश का विशेष गुण है।** इस गुण शब्द से आकाश का गुण जो अवगाहन है, उसके वर्तमान परिणाम। आहा...हा...! सर्व द्रव्यों को रहने के लिये अवकाश है। आहा...हा...!

सर्वज्ञ का द्रव्य का स्वरूप तो कोई अलौकिक! दूसरे द्रव्य जानना — ऐसा आता है न ? शास्त्र में तो आता है कि प्रयत्न करके जानना, परन्तु उसका हेतु (क्या) ? यह जो द्रव्य-गुण-पर्याय है, उसे एक समय की पर्याय जानने की ताकत रखती है, उसके माप के लिये इस पर्याय का ज्ञान करना, उसका ज्ञान पर्याय के ज्ञान के लिये (करना)। आहा...हा...! और उस पर्याय में इतना ज्ञात हो तो सम्पूर्ण द्रव्य में तो ऐसी अनन्त पर्याय की ताकत है!

सर्व द्रव्यों को साधारण.... अर्थात् सबको एक देनेवाला — ऐसा अवगाहन का निमित्तरूप आकाश का गुण है, आकाश के अवगाहनगुण के परिणाम वह गुण है।

हमारे सम्प्रदाय में प्रश्न होता था (कि) धर्मास्ति के कितने गुण ? एक अरूपी और

गति — दो। मूलचन्दजी थे न ? वैरिस्टर कहलाते थे, बहुत बोलते थे न ? धर्म के वैरिस्टर! धर्मास्ति के गुण दो — अरूपी और गति। कहो, आहा...हा...! परन्तु एक द्रव्य, उसके परिणाम अनन्त द्रव्य की नास्तिरूप है, इतनी तो एक पर्याय की शक्ति है। ये अनन्त गुण हुए, अनन्त गुण! पर्याय की ताकत (इतनी)! आहाहा....! समझ में आया ?

एक ही साथ सर्व गमनपरिणामी.... हेतु कहा है, हाँ! अवगाहनत्व लेनेवाले स्वयं अपने से लेते हैं, उसमें वह निमित्त कहलाता है — अवगाहन के गुण का परिणाम निमित्त कहलाता है। समझ में आया ? ऐसा **एक ही साथ सर्व गमनपरिणामी....** गमन करानेवाला नहीं परन्तु गमनपरिणामी जिस समय में है — **एक ही साथ सर्व गमनपरिणामी (गतिरूप परिणमित).....** वर्तमान (परिणमित) ऐसे **जीव-पुद्गलों के.....** जीव-पुद्गल ऐसे गतिरूप परिणमित हैं। समझ में आया ? भाई! यह व्याख्या ऐसी सूक्ष्म है।

अवगाहन लेनेवाले, अवगाहनरूप लेने की योग्यतावाले जीव को अवगाहनगुण का परिणाम निमित्त है। ऐसे जीव और पुद्गल वर्तमान गमनपरिणामी, वर्तमान गमनपरिणामवाले, भाववाले-गमनपरिणामवाले (अर्थात्) भाववाले... वर्तमान, हाँ! उन्हें **गमन का हेतुपना....** उन्हें उनके परिणाम में.... आहा...हा...! **हेतुपना धर्म का विशेष गुण है।** धर्म का (धर्मद्रव्य का) गतिगुण है, उसके परिणाम। गति हेतुत्व! परन्तु गति गुण का परिणाम। यहाँ कहा गतिगुण! (परन्तु) गतिगुण ध्रुव कहीं निमित्त नहीं होता। समझ में आया ? पहले परिणाम आया न ? गति धर्म, स्थिरता धर्म.... पर्याय, पर्याय को निमित्त होती है न ? गुण को क्या है ? केवलज्ञान की पर्याय में लोकालोक निमित्त है। ज्ञानगुण को निमित्त है ? आहा...हा...! समझ में आया ?

(यहाँ) एक साथ (लिया)। पहले में (आकाश में) युगपद रहनेवाले लिया था न। युगपद्! **यहाँ एक ही साथ सर्व गमनपरिणामी (गतिरूप परिणमित) जीव-पुद्गलों....** गति (रूप से) परिणमित हैं। परिणमित की अस्ति है, उन्हें **गमन का हेतुपना....** (अर्थात्) उसके परिणमन को हेतुपना-निमित्तपना, धर्म का गतिगुण का परिणाम है। विशेष गुण भी कहा (परन्तु) यहाँ परिणाम की ही बात है। यह तो अधिक स्पष्ट करना हो तो... (आगे) चैतन्य का परिणमन लेंगे। उपयोग लिया है

न ? परिणमन। पर्याय, पर्याय को निमित्त होती है न ? द्रव्य, गुण को क्या है ? वह तो समझाने की शैली है। आहा...हा... !

नैमित्तिक पर्याय को निमित्त, पर्याय होती है। समझ में आया ? गति (रूप से) परिणमित (ऐसा कहा है) अर्थात् धर्मास्ति का परिणाम निमित्त है परन्तु निमित्त के काल में वे परिणमित हैं, तब उसे उनके परिणाम का निमित्त कहा जाता है। आहा...हा... ! कितनी स्वतन्त्रता ! दूसरे द्रव्यों के परिणाम निमित्त कब कहलाते हैं ? यहाँ गति (रूप से) परिणमित जीव स्वयं (गतिरूप) परिणमित होवें उन्हें। परिणमायेगा तब निमित्त (कहलायेगा) — ऐसा नहीं है। परिणमित को तो वह धर्मास्तिकाय का गतिगुण अर्थात् उस प्रकार का परिणाम का गुण उन्हें निमित्त है। आहा...हा... !

क्या यह सुना था ? नहीं ? आहा...हा... ! यह तो सर्वज्ञ द्वारा कथित ! आहा...हा... ! दूसरे द्रव्य की बात करते हैं, उसमें भी कितनी गम्भीरता है ! उसका गुण (कहा तो) गुण का अर्थ ध्रुव नहीं। उसके गुण को भी बतलानेवाली तो पर्याय है न ? धर्मास्ति के गतिरूप परिणाम उस गुण को बतलाते हैं कि इस परिणाम का गुण त्रिकाल है, उसका धारक द्रव्य त्रिकाल है, समझ में आया ? दो (द्रव्यों की बात की) विशेष क्यों कहा ? (क्योंकि) उसमें ही वह है, ऐसा। ऐसे गुण का परिणाम दूसरे में नहीं है।

एक ही साथ सर्व स्थानपरिणामी.... आहा...हा... ! टीका भी कैसी ! देखो ! **एक ही साथ सर्व स्थानपरिणामी....** स्थिरपरिणाम को प्राप्त, स्थिरतापरिणाम को प्राप्त। **स्थानपरिणामी....** स्थिरता अर्थात् गति छूटकर स्थिर हुए, (स्थिरता) प्राप्त-वर्तमान स्थिरता को प्राप्त.... आहा...हा... ! ऐसे **जीव-पुद्गलों के स्थिर होने का हेतुत्व स्थिति का अर्थात् स्थिर होने का निमित्तपना अधर्म का विशेष गुण है।** अधर्मास्तिकाय का विशेष गुण अर्थात् उसका जो स्थिरता का गुण है, उसका परिणाम - स्थिरतापरिणामी, जीव-पुद्गलों को निमित्त है। समझ में आया ?

मुमुक्षु - निमित्त के बिना सभी काम नहीं होते।

पूज्य गुरुदेवश्री - इसलिए तो कहा न ! इसीलिए तो कहा कि स्थिति (रूप) परिणाम को प्राप्त को, प्राप्त को निमित्त (होता है)। इसलिए उससे कहाँ हुआ ? (स्थिति)

परिणाम प्राप्त जीव पुद्गल को, अर्थात् उसमें उससे हुआ यह कहाँ आया? वर्तमान गतिरूप परिणमित को निमित्त (होता है)। स्थिरतारूप वर्तमान परिणाम को निमित्त इसका (अधर्मास्तिकाय का) परिणाम। ओहो...हो...! समझ में आया?

अधर्म का विशेष गुण है... अर्थात् कि अधर्मास्तिकाय का, उसका जो खास — कायमी गुण स्थिरता का है, उसका वर्तमान परिणाम स्थान प्राप्त — स्थिरता प्राप्त ऐसे जीव-पुद्गलों को निमित्त है। आहा...हा...! ऐसी व्याख्या सर्वज्ञ के अतिरिक्त (कहीं नहीं है)। देखो! वस्तु की स्थिति! ओ...हो...हो...! इसके बिना कल्पना से आत्मा की बातें (करे कि) ऐसे प्राप्त होता है, धर्म होता है... जिनके सम्प्रदाय में सर्वज्ञ नहीं, उनके सम्प्रदाय में सर्वज्ञस्वभावी जीव (है ऐसा माननेवाले) नहीं हैं। आहा...हा...!

इसकी पर्याय में छह द्रव्य.... यह तो इस स्तुति सप्तम में भी गिना है, छह द्रव्य, दूसरे अनन्त आत्माएँ धर्मास्ति (आदि), इन सबका यहाँ एक समय में परिणमन ज्ञान अपना है, यह काल में कहेंगे, इसे वह काल निमित्त है — काल का परिणाम (निमित्त है)। आहा...हा...! समझ में आया? इसके परिणाम, उसके परिणाम! ओहो...हो...!

(काल के अतिरिक्त) शेष समस्त द्रव्यों की.... यहाँ तो काल (द्रव्य) स्वयं निमित्तरूप सिद्ध करना है, उसका वर्तनागुण (सिद्ध करना है) **(काल के अतिरिक्त) शेष समस्त द्रव्यों की प्रति-पर्याय में....** भाषा देखो! आहा...हा...! प्रत्येक पर्याय तो उसकी-द्रव्य की है। **प्रति-पर्याय में समयवृत्ति का हेतुपना....** उनके परिणाम एक समयवर्ती रहे हैं। किसके? चार द्रव्यों के। आहा...हा...! **(काल के अतिरिक्त)....** काल को यहाँ तो निमित्तरूप सिद्ध करना है न? तो वहाँ उपादान परिणाम किसके हैं? ऐसा (कहते हैं)। **शेष समस्त द्रव्यों की....** (अर्थात्) जीव की, पुद्गल की.... आहा...हा...! धर्मास्ति, अधर्मास्ति और आकाश। परन्तु जीव और पुद्गल की प्रत्येक पर्याय.... आहा...हा...! समयवर्ती पर्याय वह एक समय है और उसे बतलानेवाला काल का परिणाम निमित्त है।

समयवृत्ति का हेतुपना (समय-समय की परिणति का निमित्त).... परिणति तो स्वयं से परिणति है। ऐसा कहा न? **समयवृत्ति का....** (अर्थात्) समय के परिणमन का **हेतुपना....** परिणमन तो उसका — जीव और पुद्गल का है। प्रत्येक जीव और प्रत्येक

परमाणु (उसका अपना परिणमन है)। **काल का विशेष गुण है।....** वर्तनागुण जो उसका कायम त्रिकाली है, उसका वर्तमान परिणाम (अन्य द्रव्य के) वर्तमान परिणाम को निमित्त है। आहा...हा...! काल के अतिरिक्त प्रत्येक द्रव्य-पाँचों द्रव्यों के उस-उस समय के परिणामरूप परिणमति पर्याय का काल एक समय है — ऐसी अवधि बतलानेवाला काल का वर्तनागुण का परिणाम है। भाई! यह सूक्ष्म है (पहला सरल था) सामायिक करो, प्रौषध करो... अरे...! परन्तु सुन तो सही प्रभु! आहा...हा...!

जो अनन्त गुण से कायम रहकर उस-उस समय का, उस-उस परिणमन का समयवर्तीपना, परिणमन का समयपने का वर्तन, उसे कालद्रव्य का वर्तनागुण का परिणाम निमित्त है। आहा...हा...! सिद्धान्त कहीं टूटना नहीं चाहिए — ऐसा चाहिए न?

उसमें नहीं आया? घटपटादि परिणाम को आत्मा — द्रव्य यदि निमित्त हो तो सदा रहे (समयसार) १०० वीं गाथा! ऐसा हो ही सकता नहीं। परिणाम को द्रव्य निमित्त नहीं होता — दूसरे के परिणाम को द्रव्य निमित्त नहीं होता। समझ में आया? भाई! द्रव्य का जो योग और उपयोग परिणाम है, वह द्रव्य का नहीं है। इस कारण वह द्रव्य का नहीं है — ऐसा माननेवाला योग और उपयोग मेरा है — ऐसा माननेवाले के परिणाम जड़-आदि के परिणाम के काल में निमित्तकर्ता कहे जाते हैं। आहा...हा...! उसके-दूसरे द्रव्य के परिणाम का काल तो उसके काल में ही हुआ है। यहाँ निमित्त आया और हुआ, यह प्रश्न नहीं है, मात्र उस समय निमित्त-निमित्तकर्ता किसे कहना? कि जो वस्तु के स्वभाव में योग और राग नहीं है, उसे जो (ऐसा) मानता है कि योग और उपयोग मेरे हैं — ऐसे उसके परिणाम। अज्ञानी के परिणाम (निमित्तकर्ता कहलाते हैं) क्योंकि वस्तु में कम्पन और राग है नहीं, तथापि वह कम्पन और राग मेरा है — ऐसा अज्ञानी मानता है; इसलिए जड़ के परिणाम के काल में या दूसरे आत्मा के परिणाम के काल में उसे निमित्तकर्ता कहा जाता है। आहा...हा...! क्या शैली! क्या सत् को सिद्ध करने की रीति! गजब बात है! दिगम्बर सन्त साधारण बात करे तो उसमें भी परम सत्य किस प्रकार खड़ा करते हैं!! आहा...हा...!

योग और उपयोग अपना नहीं — ऐसा ही द्रव्य का स्वभाव है — ऐसा जिसने जाना है, उसे तो परद्रव्य के परिणाम में निमित्तकर्तापना ही आरोपित नहीं होता। आहा...हा...!

हाँ, जिसने योग और राग अपना नहीं जाना परन्तु जानने का ज्ञानस्वभाव वह मेरा है — ऐसा जिसने जाना है, उसे उस समय के योग और राग तथा बाहर के परिणाम होते हैं, वह इस ज्ञान को निमित्त होते हैं। आहा...हा...! क्या शैली! सत् की सिद्धि!

ऐसा यहाँ कहते हैं — प्रत्येक द्रव्य का समयवर्ती परिणाम तो परिणमता ही है — ऐसा कहते हैं। देखा? **प्रति-पर्याय में समयवृत्ति....** पना (अर्थात्) उस-उस काल का परिणमनपना। आहा...हा...! उसका अपना वह काल है न? आहा...हा...! समझ में आया? **समयवृत्ति का हेतुपना....** ऐसा कहा न? समय-समय की परिणति का,... वृत्ति का अर्थ परिणति। आहा...हा...! यह तो प्रवचनसार है! भगवान द्वारा कथित आगमों का सार यह है! आहा...हा...!

समय-समय की परिणति का अर्थात् काल के अतिरिक्त पाँचों द्रव्यों का समय -समय का परिणमन... समय-समय का (परिणमन) तो उनका अपना है। उसमें काल का विशिष्ट वर्तना गुण उसमें है, उसके परिणाम उन्हें निमित्त कहे जाते हैं। भाई! आहा...हा...! **चैतन्यपरिणाम जीव का विशेष गुण है।** यहाँ भाषा देखो यहाँ स्पष्ट की। **चैतन्य परिणाम जीव का विशेष गुण है।** क्योंकि उस परिणाम द्वारा ज्ञात होता है। आत्मा गुण द्वारा ज्ञात नहीं होता। चैतन्य के ज्ञातापरिणाम, दृष्टापरिणाम द्वारा वह गुण त्रिकाल और द्रव्य त्रिकाल (है ऐसा ज्ञात होता है)। समझ में आया? अरे! यह बाहर की धमाधम करने की अपेक्षा अन्दर ज्ञानतत्त्व क्या है? — उसे थोड़ा विचार में ले, काल व्यतीत करे तो कितना लाभ हो! यह बाहर की प्रवृत्ति करे, त्याग किया और यह किया उसकी इसे महिमा (आती है) अन्दर में मिथ्यात्व का त्याग कैसे हो? सम्यग्दर्शन का ग्रहण कैसे हो? — उसमें थोड़ा काल दे तो इसे तीन काल का परिभ्रमण मिट जाये।

चैतन्यपरिणाम जीव का विशेष गुण है। देखी भाषा? कहा परिणाम परन्तु उस गुण को ही परिणाम कहा है। परिणाम को ही गुण कहा है, परिणाम को ही गुण कहा है। समझ में आया? ऐसे उन सबमें ले लेना — धर्मास्ति, अधर्मास्ति, आकाश (काल सब में ले लेना) **चैतन्यपरिणाम जीव का विशेष गुण है।**

इस प्रकार अमूर्त द्रव्यों के विशेष गुणों का संक्षिप्त ज्ञान होने पर.... आहा...हा... ! **इस प्रकार अमूर्त द्रव्यों के....** पुद्गल-मूर्त (द्रव्य की) बात तो हुई। यह तो अमूर्त की बात है। (विशेष गुण का) **संक्षिप्त ज्ञान होने पर अमूर्त द्रव्यों को जानने के लिंग....** अमूर्त द्रव्यों को जानने के लिंग। अमूर्त जानने के लिंग (कहा) वह पर्याय की बात है, गुण नहीं। जानने के चिह्न, जानने के लक्षण, जानने के साधन। आहा...हा.. ! प्रत्येक द्रव्य के परिणाम वह चिह्न है, वह उसका लिंग है, वह उसका साधन है।

अर्थात् उन-उन विशेष गुणों के द्वारा.... उन-उन गुणों के उन-उन परिणाम विशेष द्वारा **उन-उन अमूर्त द्रव्यों का अस्तित्व ज्ञात होता है....** आहा...हा... ! उन-उन अमूर्त पदार्थों का अस्तित्व ज्ञात होता है। उन-उन अमूर्त द्रव्यों का अस्तित्व **सिद्ध होता है। (इसी को स्पष्टतापूर्वक समझाते हैं —)** उसमें कहते हैं ईश्वर कर्ता है, ईश्वर की भक्ति करो, हो गया.... ! ईश्वर कैसा ? उसका इसे पता नहीं है। ईश्वर भोगवाला, विवाहित.... इसने जिसे बड़ा माना, उसका दास भी उस भोग का ही कामी होता है; भोगवाले को बड़ा माना, उसकी श्रद्धा में भोगवाले की ही भावना की विशेषता होती है। आहा...हा... ! यह तो जिसे एक समय में स्वरूप (ज्ञात हुआ) उसे परमेश्वर कहते हैं (कि) जिसे एक समय के परिणाम में लोकालोक की अस्ति है, इसलिए लोकालोक पर्याय में ज्ञात हुआ — ऐसा नहीं; पर्याय की सत्ता की सामर्थ्य इतनी है कि वह लोकालोक की अस्ति उसके कारण वहाँ रही परन्तु उसे और स्व को जानने की जो पर्याय, उसका सामर्थ्य ही इतना स्वयं का स्वयं से है। समझ में आया ? लोकालोक है, इसलिए पर्याय में लोकालोक जानने की ज्ञान सामर्थ्य पर्याय में आयी — ऐसा नहीं है। आहा...हा... ! ऐसे छह द्रव्य, उनके अनन्त गुण, अनन्त द्रव्य, उनके अनन्त गुण, उनकी अनन्त पर्यायें, उनकी अस्ति है। उसे जानने के परिणाम का लक्षण है परन्तु जाननेवाला जो है, उसे उस परचीज में प्रवेश किये बिना और पर की अस्ति है, इसलिए उसका ज्ञान होता है — ऐसा नहीं है। ऐसा जीव की पर्याय का इतना स्वभाव, वह जिसमें नहीं, वह आत्मा की बातें करे, वह आत्मा नहीं है। आहा...हा... ! समझ में आया ? आहा...हा... !

एक गुण के एक समय में परिणाम; ऐसे अनन्त परिणामों से पहिचाने जानेवाले

द्रव्य, उसे इस अपने परिणाम में जानना, यह नहीं परन्तु उसे जानने की अपनी सामर्थ्य है — ऐसा जिसने जाना — ऐसे जानने के परिणाम द्वारा आत्मा को पहिचानना। जीव का चैतन्य परिणाम कहा न ? समझ में आया ? इतनी तो बात की। अब उसे फिर विशेष स्पष्ट करते हैं। आहा...हा... !

वहाँ एक ही काल में.... देखा ? एक समय में। **समस्त द्रव्यों को साधारण....** अर्थात् एक स्वयं ही (और) दूसरा नहीं। **अवगाह का सम्पादन (हेतुपनेरूप लिंग)....** (मूल ग्रन्थ में फुटनोट में अवगाह का अर्थ किया है) ***अवगाह = लीन होना; मज्जित होना, अवकाश प्राप्त करना। (एक ही काल में सर्व द्रव्यों को सामान्य अवकाश की प्राप्ति में....)*** रहने की प्राप्ति में आकाशद्रव्य के परिणाम (निमित्तभूत है)। आहा...हा... ! एक आकाशद्रव्य के एक गुण का एक परिणाम। लोक पूरा है, वह यहाँ आवे तो एक परिणाम में उसे अवगाहन देने की ताकत निमित्त है। आहा...हा... ! अवगाह लेनेवाले की शक्ति तो उसकी (अपनी है) उसकी। अवगाह लेनेवाले की शक्ति तो उसकी है परन्तु उसमें निमित्तपना अवगाहन गुण के एक समय के परिणाम का है। एक गुण का एक परिणाम, भाई ! ऐसे तो अनन्त गुण हैं। आहा...हा... !

आकाश नामक पदार्थ.... भगवान ! यह तो सर्वज्ञ के पंथ की यह रीति है। आहा... ! आकाश नाम का द्रव्य है, उसमें अनन्त गुण हैं। कितने (गुण हैं) ? (कि) वे तो आकाश के प्रदेश से भी अनन्त गुने ! आया या नहीं ? एक आकाश के गुण... गुण ! एक आकाश के गुण, आकाश के जो प्रदेश हैं, एक आकाश — लोकालोक के प्रदेश हैं, उससे अनन्त गुने गुण हैं ! उनमें का एक अवगाह नाम का गुण। आहा...हा... !

मुमुक्षु : आकाश के दूसरे किसी गुण का नाम नहीं आता।

पूज्य गुरुदेवश्री : अनन्त गुण हैं — सामान्य और विशेष अनन्त हैं। अस्तित्व आदि सामान्य (गुण हैं) परमात्मप्रकाश में (तो ऐसा कहा है कि) प्रत्येक द्रव्य के अनन्त सामान्य और अनन्त विशेष (गुण हैं) परमात्मप्रकाश है.... है। वस्तु है। इतना (भी) कहे कहाँ से ? जितना ख्याल में आवे, उतना कहा नहीं जा सकता। (इसलिए) समुच्चय कहा। प्रत्येक द्रव्य में अनन्त सामान्य (गुण हैं) एक परमाणु में ! एक परमाणु में अनन्त सामान्य

गुण और अनन्त विशेष गुण हैं। उतने ही सामान्य और विशेष गुण एक आकाश में हैं। आहा...हा...! वह तो ठीक परन्तु उसका एक अवगाहन नाम का गुण, उसके एक समय का परिणाम, पूरे जितने द्रव्य अवकाश प्राप्त करने के लिए है, एक परिणाम में निमित्त होने की ताकत है। आहा...हा...! देखो तो वस्तु का स्वभाव! ऐसा ही भगवान का स्वभाव! यह कहेंगे।

समस्त द्रव्यों को साधारण अवगाह का.... मज्जित होना अर्थात् क्या? मग्न, समा जाना, मज्जित होना। जैसे, पानी में डुबकी मारते हैं, वैसे यहाँ सब आ जाते हैं। आहा...हा...! आकाशद्रव्य निमित्त है, उसका अर्थ यह, हाँ! आकाशद्रव्य के अवगाहन गुण का परिणाम निमित्त है (ऐसा चिह्न) **आकाश को बतलाता है;...** क्या कहते हैं? अवगाहन प्राप्त करने की योग्यतावाले सभी द्रव्य एक समय में हों तो उन्हें (अवकाश दे ऐसी) अवगाहन की पर्याय आकाश की है (ऐसा) आकाश को बतलाता है। वह पर्याय आकाश की है — ऐसे आकाश को बतलाता है। आहा...हा...! आकाश के अवगाहन गुण की एक समय की पर्याय, अनन्त (द्रव्य) वहाँ आवें (वे) स्वयं के कारण वहाँ हों, उन्हें अवगाहनगुण का एक समय का परिणाम हेतु - निमित्त है। ओहो...हो...! समझ में आया?

क्योंकि शेष द्रव्यों.... (आकाशद्रव्य सिद्ध करते हैं) **सर्वगत (सर्व व्यापक) न होने से....** (जो) सर्व व्यापक हो, वह सबको अवगाहन में निमित्त होता है। एक-एक प्रदेश आदि हों, वह निमित्त कैसे होगा? यह कहेंगे। **क्योंकि शेष द्रव्यों के सर्वगत....** आहा...हा...! **(सर्व व्यापक) न होने से...** अस्ति-नास्ति की है। **उनके वह....** अवगाहन में निमित्त होना — ऐसी दूसरे में ताकत नहीं है। अवगाहनगुण में ही, उस परिणाम (में ही) सबको रहने में निमित्तपने की ताकत (होती) है, क्योंकि सर्व व्यापक है, सर्वत्र रहा हुआ है। जितने द्रव्य हैं, वे सर्वत्र रहा हुआ आकाश है, उसके परिणाम उन्हें निमित्त होते हैं। सबमें रहा हुआ नहीं — ऐसी चीज सबको एक समय में रहने का निमित्त हो — ऐसा नहीं हो सकता; इसलिए सिद्ध किया की अवगाहनगुण इसका ही है। समझ में आया?

इसी प्रकार एक ही काल में.... भाषा देखी? आहा...हा...! पहले एक ही काल में सर्व (द्रव्यों को) अवगाहन में (निमित्त कहा था)। (यहाँ कहते हैं) **एक ही काल**

में गतिपरिणत.... (पहले पैराग्राफ में) गमनपरिणामी — ऐसा शब्द था। आहा...हा...! **गतिपरिणत....** जीव और पुद्गल को एक समय में सभी जीवों का गति परिणमन हो, समय की गति की पर्याय का परिणमन उनका अपना हो। ऐसे **समस्त जीव-पुद्गलों को लोक तक गमन का हेतुपना धर्म को बतलाता है;....** उसमें धर्मास्तिकाय सिद्ध होता है, कहते हैं। उसके परिणाम लोकप्रमाण हैं, और लोकप्रमाण के जीव-पुद्गल के परिणति के समस्त काल में वे धर्मास्ति के परिणाम निमित्त हैं। धर्मास्ति लोकप्रमाण है। आहा...हा...!

क्योंकि काल और पुद्गल अप्रदेशी हैं इसलिए.... है न! काल बहु प्रदेशी नहीं, वह तो एक प्रदेशी है। पुद्गल का स्कन्ध (या) असंख्य प्रदेशी जीव (होवे) उसे एक प्रदेशी निमित्त कैसे होगा? गति में निमित्त, हाँ! **काल और पुद्गल अप्रदेशी हैं, इसलिए उनके वह सम्भव नहीं है;....** वैसा सिद्ध किया। अब जीव लेंगे। समझ में आया इसमें? काल और पुद्गल एक प्रदेशी है, वे बहु प्रदेशी को एक प्रदेशी, वर्तमान निमित्त कैसे होगा? ऐसा कहते हैं। समझ में आता है या नहीं इसमें? अधिक प्रदेशी इतनी बड़ी वस्तु (होवे) और इतना (छोटा) भाग (होवे) वह इतने सबको निमित्त किस प्रकार होगा? इसलिए काल को और पुद्गल को गति परिणमन का निमित्त है नहीं। ऐसा सिद्ध करना है। सम्पूर्ण लोक में जो व्यापक है, वह सबके गति परिणमन को निमित्त होने की ताकत उसी की है। आहा...हा...! पर्याय प्रगट हो, तब निमित्त कोई तो है न? आहा...! कहते हैं कि वह गति, धर्म (द्रव्य को) बतलाती है।

समस्त जीव और पुद्गलों को, अधिक जीवों को, अधिक पुद्गलों को गति परिणतवालों को लोकप्रमाण व्यापक हो, वह निमित्त होता है। काल और पुद्गल लोकप्रमाण नहीं हैं, इसलिए लोकप्रमाण में रहनेवाले गति परिणमन में जीव-पुद्गलों को वे निमित्त नहीं हो सकते हैं। काल और पुद्गल निमित्त नहीं हो सकते क्योंकि वे अप्रदेशी हैं और अन्य द्रव्य (जीव-पुद्गल) बहु (प्रदेशी हैं)। इसलिए बहुत को बहुत में (प्रदेशों में) रहनेवाला, बहुत जीव-पुद्गल के परिणमन को, बहुत में (प्रदेशों में) रहनेवाला द्रव्य निमित्तरूप कहा जाता है। आहा...हा...! समझ में आया?

अब जीव को लेते हैं कि जीव है, वह जीव और पुद्गलों के गति परिणमन में निमित्त कहो तो? गति परिणमन! (तो कहते हैं कि) **जीव समुद्घात को छोड़कर अन्यत्र लोक के असंख्यातवें भाग मात्र है, इसलिए....** अभी तो यहाँ असंख्यातवें भाग जीव है, वह पूरे लोक में जीव और पुद्गल की गति में निमित्त कैसे होगा? जो असंख्य भाग में रहता है — ऐसा यह एक जीव पूरे लोक में रहनेवाले जीव और पुद्गल के परिणमन में निमित्त कैसे होगा? इसलिए वह भी (निमित्त) नहीं है। धर्मास्ति ही एक निमित्त है — ऐसा सिद्ध करना है। न्याय-लॉजिक से, हाँ! आहा...हा...!

जीव समुद्घात को छोड़कर.... समुद्घात में हो तब लोक में होता है परन्तु वह तो तब (लोक प्रमाण) होता है। सदा तो नहीं होता। सदा नहीं होता तो वे गति परिणत जीव और पुद्गल तो सदा होते हैं, तब उन्हें सदा निमित्त कौन? (इसलिए) जीव नहीं हो सकता। आहा...हा...!

अब आकाश (के विषय में कहते हैं)। काल और पुद्गल से इनकार किया क्योंकि सर्व व्यापक नहीं है इसलिए। जीव से इनकार किया (क्योंकि) जीव सर्व व्यापक नहीं है इसलिए। अब आकाश का निषेध करते हैं क्योंकि **लोक-अलोक की सीमा....** मर्यादा **अचलित होने से आकाश को वह सम्भव नहीं है....** आकाश तो लोक और अलोक में दोनों में व्यापक है। समझ में आया? और यह धर्मास्ति तो लोक में है, उसे ही निमित्त होता है।

और विरुद्ध कार्य का हेतु होने से.... अधर्म.... अधर्म (द्रव्य की बात करते हैं), वह तो स्थिति में निमित्त है। **विरुद्ध कार्य का हेतु होने से....** अर्थात् गतिपरिणतस्थित -स्थिरता वह विरुद्ध कार्य है, उसे (ऐसी विरुद्धता होने से) **अधर्म को वह सम्भव नहीं है।....**

(काल और पुद्गल एक प्रदेशी हैं, इसलिए वे लोक तक गमन में निमित्त नहीं हो सकते;....) ठीक है? **(जीव समुद्घात को छोड़कर अन्य काल में लोक के असंख्यातवें भाग में ही रहता है, इसलिए वह भी लोक तक गमन में निमित्त नहीं हो सकता; यदि आकाश गति में निमित्त हो तो जीव और पुद्गलों की गति**

अलोक में भी होने लगे,.....) क्योंकि (यदि आकाश) गति में निमित्त होवे तो अलोक में जीव और पुद्गल होवें — ऐसा तो है नहीं। लोक-अलोक की मर्यादा है, सीमा है, हद है। आहा...हा... ! **(यदि आकाश गति में निमित्त हो तो जीव और पुद्गलों की गति अलोक में भी होने लगे, जिससे लोकालोक की मर्यादा ही न रहेगी;.....)।**

यह तो मस्तिष्क को फैलाने की (बातें हैं) अन्य तो कहते हैं (क्रिया करो तो) हो गया, जाओ! परन्तु यह तो द्रव्य की एक समय की पर्याय की सामर्थ्य है, उसके भिन्न -भिन्न विशेष गुणों की सामर्थ्य है, ऐसा बतलाना है। भिन्नता बतलानी है और उसकी एक -एक समय की पर्याय की सामर्थ्यता किसे कितने में होती है ? — यह भी बतलाना है। आहा...हा... !

आकाश (गति में निमित्त) नहीं होता (अलोक) आकाश में कहाँ पुद्गल और जीव (गति करते हैं) ? जितने में जीव और पुद्गल हैं, उतने में जो द्रव्य हों, वे उसे निमित्त होते हैं। एक बात आयेगी। लोक-अलोक आकाश है, उसे काल का निमित्त लोक में ही है परन्तु उसे (अलोक में भी निमित्त) कहा जाता है, इतनी बात है। काल (के) वर्तना परिणाम, आकाश के वर्तमान परिणमन में निमित्त हैं तो काल तो लोक-प्रमाण ही है और आकाश तो लोक-अलोक प्रमाण है तो लोकालोक आकाश को काल का निमित्त (किस प्रकार है) ? इतने भाग में निमित्त आया, निमित्त कहना है न ? इन सबको निमित्त कहा जाता है, यह बात है।

यह तो वीतरागदर्शन, बापू ! आहा...हा... ! बहुत गम्भीर... बहुत गम्भीर... ! इसकी ज्ञान की पर्याय की गम्भीरता, इसकी श्रद्धा की पर्याय... आहा...हा... ! आता है न ? जैसे अग्नि में पाचक गुण है, वैसे आत्मा में एक सम्यग्दर्शन / श्रद्धा की पर्याय का पाचक गुण है कि जैसे अग्नि अनाज को पकावे, वैसे सम्यग्दर्शन की पर्याय, एक समय की पर्याय में लोकालोक जाने — ऐसी जो (ज्ञान की) पर्याय, ऐसी अनन्त पर्याय का एक गुण, ऐसे अनन्त गुण का (एक रूप) द्रव्य, उसे श्रद्धा की पर्याय पाचन कर सकती है, भाई ! आहा...हा... ! समझ में आया ?

जैसे अग्नि में पाचक गुण है तो अनाज को पचा देती है, चाहे जैसा (अनाज) होवे (उसे) पचा देती है, वैसे भगवान आत्मा में एक श्रद्धागुण की पर्याय है। पर्याय, हाँ! आहा...हा...! एक समय में लोकालोक को जाने — ऐसी एक (ज्ञान) गुण की एक पर्याय, ऐसी अनन्त पर्यायों का (पिण्ड ज्ञान) गुण, ऐसी-ऐसी अनन्त गुण की पर्याय में श्रद्धा-गुण की जो पर्याय है, उस पर्याय में, अनन्त पर्यायों का पिण्ड गुण, श्रद्धा की अनन्त पर्यायों का पिण्ड श्रद्धा गुण, चारित्र की अनन्त पर्यायों का गुण चारित्र; आनन्द की अनन्त पर्यायों का गुण आनन्द — ऐसी अनन्त-अनन्त पर्यायों के (धारक) अनन्त गुण — ऐसे अनन्त गुण का एकरूप (द्रव्य), उसे श्रद्धा-गुण पाचन करता है। आहा...हा...! निःशंकरूप से उसे प्रतीति में लाता है, पाचन करता है। पाचन करता है! है न? जयसेनाचार्य में।

(जैसे) अग्नि प्रकाशित करती है, वैसे ज्ञान में प्रकाशित करने का गुण है, वह प्रकाशित करता है। वह किसे प्रकाशित करता है? प्रकाशित करता है, बस! आहा...हा...! चारित्रगुण — जैसे अग्नि लकड़ी को जलाती है, वैसे रमणता की चारित्रपर्याय, पर्याय हाँ! वह अनन्त विकारी परिणाम को जला डालती है, अस्थिरता को जला डालती है! ऐसी एक चारित्र की पर्याय, ऐसी अनन्त चारित्र की पर्याय का गुण, ऐसे-ऐसे अनन्त गुण का रूप एक.... आहा...हा...! बड़ा समुद्र है!

(यहाँ कहते हैं कि यदि आकाश गति में निमित्त हो तो जीव-पुद्गलों की गति) **अलोक में भी होने लगे जिससे लोकालोक की मर्यादा ही न रहेगी, इसलिए गतिहेतुत्व आकाश का गुण भी नहीं है.....** ऐसा सिद्ध किया। **(अधर्मद्रव्य तो गति से विरुद्ध कार्य, स्थिति कार्य में निमित्तभूत है,)** वह तो स्थिति में निमित्त है। **(इसलिए वह भी गति में निमित्त नहीं हो सकता; इस प्रकार गतिहेतुत्वगुण धर्म नामक द्रव्य का अस्तित्व बतलाता है...)** आहा...हा...! इस प्रकार गतिहेतुत्वगुण की पर्याय, पर्याय है न? वह अधर्मास्ति को बतलाती है। वह द्रव्य का अस्तित्व बतलाती है। आहा...हा...! जीव-पुद्गल की गति तो स्वयं से होती है परन्तु उसका माप, जैसे काल समयवृत्ति पर्याय है परन्तु उसका माप काल-वर्तमान एक समय से होता है, वैसे यहाँ गति और स्थिति तो स्वयं से होती है परन्तु उसमें निमित्तपना दूसरी चीज है, उस गतिहेतुत्व की

पर्याय से धर्मास्ति की सिद्धि होती है, धर्मास्तिकाय ज्ञात होता है। यह धर्मास्ति की सिद्धि की। ऐसा गुण दूसरे में नहीं। (वह) क्यों नहीं, यह भी सिद्ध किया। आहा...हा... !

अन्यमत का व्यक्ति हो तो उसे ऐसा लगे कि ऐसा सब क्या होगा ? बापू ! केवलज्ञान के भण्डार की बातें हैं यह। आहा...हा... ! धर्मास्ति और अधर्मास्ति सर्वज्ञ के अतिरिक्त कहाँ हैं, किस जगह ? वस्तु का स्वभाव जिसने जाना है, उसे यह स्वभाव जानने में आया है, जिसने वस्तु का स्वभाव ही नहीं जाना (और) कल्पना से बातें करे, उसमें इतनी सत्य बात नहीं आती। कल्पना, सब कल्पना है। आहा...हा... ! तत्त्वार्थसूत्र का अन्तिम सूत्र आता है न ? तत्त्वार्थसूत्र ! ऐसा कि अज्ञानी कदाचित् कोई सत्य बात करे तो उस सत्य का निर्धार उसे नहीं है, पागल की तरह बात करता है। तत्त्वार्थसूत्र में पीछे है। यह गति की बात की, स्थिति की बात अब विशेष लेंगे।

प्रवचन नं. १५० ज्येष्ठ कृष्ण २ बुधवार, २५ जून १९७५

(प्रवचनसार) १३३-१३४ (गाथा)। २७६ पृष्ठ है। **इसी प्रकार एक ही काल में.....** गतिपरिणाम की बात हो गयी। **इसी प्रकार एक ही काल में स्थितिपरिणत समस्त जीव-पुद्गलों को....** सभी जीव तथा समस्त पुद्गल एक ही काल में स्थितिपरिणत हों, स्थिरता के परिणाम को प्राप्त करें (उसमें) **स्थिति का हेतुपना अधर्म को बतलाता है;....** द्रव्य भिन्न किया, बाकी तो अधर्म (द्रव्य का) स्थिरता का जो गुण है, उसे निमित्त कहलाता है, वह अधर्म को बताता है ऐसा। वह अधर्म (द्रव्य के) परिणाम स्थिरता प्राप्त जीव पुद्गलों को हेतुरूप अधर्म के परिणाम हैं। उसे अधर्मद्रव्य कहा है। समझ में आया ?

क्योंकि काल और पुद्गल अप्रदेशी होने से.... सम्पूर्ण लोक में रहनेवाले जीव पुद्गलों को स्थिरता के परिणाम में लोकाकाश प्रमाण पदार्थ हो, वह निमित्त होता है परन्तु यह **काल और पुद्गल अप्रदेशी होने से उनके वह सम्भव नहीं है;....** लोकाकाश प्रमाण (काल) और पुद्गल नहीं है, इसलिए जीव-पुद्गल की स्थितिपरिणति को (काल) और पुद्गल निमित्त नहीं है। समझ में आया ? **जीव समुद्घात को छोड़कर अन्यत्र लोक के असंख्यातवें भाग मात्र है, इसलिए....** पहले काल निमित्त नहीं होने

से (ऐसा कहा था) अब (कहते हैं) **जीव समुद्घात को छोड़कर अन्यत्र लोक के असंख्यातवें भाग मात्र है, इसलिए उसके....** लोक में सर्व जीव-पुद्गल स्थिति को पावें, उसमें उसे निमित्तपना सम्भव नहीं है (उसे अर्थात्) किसे ? जीव को।

लोक और अलोक की सीमा अचलित होने से आकाश के वह सम्भव नहीं है,.... क्योंकि लोक और अलोक में सम्पूर्ण आकाश व्यापक है और लोक में रहनेवाले जीव तथा पुद्गल की स्थिति में आकाश सम्भव नहीं है। यह पहले धर्मास्तिकाय में आ गया न ? उसे अधर्मास्तिकाय के साथ मिला लेना।

विरुद्ध कार्य का हेतु होने से.... धर्मास्ति का अधर्मास्ति से विरुद्ध कार्य है। इसलिए **धर्म के वह सम्भव नहीं है।** धर्मास्ति पदार्थ के सम्भव नहीं है अर्थात् उसके गुण के परिणाम को वह सम्भव नहीं है। आहा...हा...!

इसी प्रकार (काल के अतिरिक्त) शेष समस्त द्रव्यों के प्रत्येक पर्याय में समयवृत्ति का हेतुपना काल को बतलाता है,.... काल के अतिरिक्त प्रत्येक द्रव्य को **प्रत्येक पर्याय में समयवृत्ति का....** प्रत्येक पर्याय न ? समयवृत्ति (अर्थात्) यह समय मात्र स्थिति है — ऐसा **हेतुपना काल को बतलाता है,....** काल में एक समय का माप वह काल को बतलाता है। आहा...! **क्योंकि उनके समयविशिष्ट वृत्ति कारणान्तर से सधती होने से...** क्योंकि प्रत्येक पदार्थ को समयविशिष्ट परिणति **कारणान्तर से सधती होने से...** (अर्थात्) वह एक समयमात्र है, वह काल के कारण से ज्ञात होती है। कारणान्तर है न ? आहा...हा...! (अर्थात्) उससे पृथक्।

काल के अतिरिक्त प्रत्येक द्रव्य की पर्याय परिणमित होती है, उसे कारणान्तर से सधती होने से (अर्थात्) वह एक समयमात्र है। वह अपने सिवा दूसरे काल के माप से वह ज्ञात होती है। यह छह द्रव्य को जानने की बात है। (मूलग्रन्थ में नीचे फुटनोट में समय विशिष्ट की व्याख्या है) ***काल के अतिरिक्त द्रव्यों की परिणति....*** पर्याय की बात है न ? ***'एक समय में यह परिणति हुई है'....*** एक समय सूक्ष्म काल में वह दशा हुई है। ***इस प्रकार समय से विशिष्ट है अर्थात् व्यवहार से उसमें समय की अपेक्षा आती है, काल की; इसलिए उसमें कोई द्रव्य — कालद्रव्य - निमित्त***

होना चाहिए। कालद्रव्य अर्थात् उसकी परिणति। दूसरे द्रव्य से भिन्न करके उसे कालद्रव्य कहा है।

कोष्ठक में है न? **(उनके समय से विशिष्ट ऐसी परिणति अन्य कारण से...)** (अर्थात्) काल के कारण से। **(होती है, इसलिए) स्वतः उनके वह (समयवृत्तिहेतुपना) सम्भवित नहीं है।** समय का-काल का माप, वह काल के अतिरिक्त पाँच द्रव्य की परिणति का एक समय का माप उसके स्वयं से नहीं है, वह समय का माप काल से है। इसमें जरा मस्तिष्क को फैलाना पड़े ऐसा है। ऐसे साधारण रीति से जाना यह जीव, यह पुद्‌गल (ऐसा नहीं)। एक-दूसरे की चीज का निमित्तपना किसमें है? और वह-वह परिणति की पर्याय स्थानरूप परिणमे या गतिरूप परिणमे या पर्यायरूप परिणमे उसमें निमित्त कौन है? उस द्रव्य को बतलाता हैं अथवा उसके गुण के परिणाम को बतलाता है।

इसी प्रकार चैतन्यपरिणाम जीव को बतलाता है,.... आहा...! पूरा आकाश इस लोक-अलोक में है अर्थात् लोक में रहनेवाले जीव-अजीव को सर्व व्यापक आकाश निमित्त नहीं हो सकता — ऐसा कहते हैं। उतने में हो वह निमित्त हो सकता है, यह गतिपरिणति और स्थानपरिणति की बात है न? और परिणति की पर्याय की अपेक्षा से (बात है)। यह लोक और अलोक एक साथ पूरा आकाश है, वह गति परिणत को (निमित्त नहीं होता) क्योंकि गति परिणत (पदार्थ) तो लोक में ही है। लोक में जितने (द्रव्य) हैं, उसे जो लोक का द्रव्य हो, वह निमित्त हो सकता है, परन्तु यह तो लोकालोक है; इसलिए वह निमित्त नहीं हो सकता। समझ में आया या नहीं? लो, यह सब सूक्ष्म पड़ता है।

अब यहाँ तो चैतन्य के परिणाम जाननेयोग्य के हैं। है न? **जीव को बतलाता है,....** जानना-देखना कार्य, जीव को बतलाता है। ज्ञानगुण की प्रधानता से वर्णन है न? जैसे, एक-एक द्रव्य के एक-एक गुण के परिणाम से कथन है — ऐसा यहाँ जीव के ज्ञानगुण का जानना है। वह जानना, जानना है, वह उसे बतलाता है। आहा...हा...! जानने-देखने के परिणाम-कार्य वह जीव को बतलाता है। जानने-देखने का कार्य, पर को बतलाता है — ऐसा नहीं।

इसी प्रकार चैतन्यपरिणाम.... ज्ञान-दर्शन के परिणाम जीव को बतलाते हैं। वे परिणाम जीव के हैं और उससे जीव ज्ञात होता है। उनसे दूसरे पाँच द्रव्य ज्ञात होते हैं — ऐसा नहीं। वह जाननेवाला भले पाँच द्रव्य को जाने परन्तु वह जानने के परिणाम दूसरे हैं, उन्हें बतलाते हैं — ऐसा नहीं। उसे (स्वयं को-जीव को) बतलाते हैं। आहा...हा...! समझ में आया? जानने के परिणाम भले वे पर को जानने के परिणाम हैं (परन्तु) इन पर को जानने के परिणाम का सामर्थ्य तो अपना ही है, पर के कारण नहीं। पर को जानना कहना वह तो असद्भूत व्यवहार है परन्तु जानने के परिणाम, दूसरे द्रव्य या स्वयं उसके चैतन्य के परिणाम जीवद्रव्य को बतलाते हैं। वे परिणाम जगत् के लोक की अस्ति है; इसलिए जानने के परिणाम, उसे बतलाते हैं — ऐसा नहीं है। आहा...हा...! समझ में आया?

स्वयं और पर को जानने का भाव तो अपना है और वह जानने का भाव जीव को बतलाता है। जानने के भाव ने पर को जाना और स्व को जाना; इसलिए जानने का भाव पर को बतलाता है — ऐसा नहीं है। भाई! इसमें समझ में आता है या नहीं?

इसी प्रकार चैतन्यपरिणाम.... भगवान! आहा...हा...! इसके जो जानने के भाव हैं, वह जानने का परिणाम **जीव को बतलाता है,....** उसमें भले लोकालोक को जानने का परिणाम हो या साधक का अमुक को जानने का परिणाम हो; वह परिणाम जीव को बतलाता है। आहा...हा...! उस परिणाम में जीव को जानने का और पर को जानने का आया, वह उसका जानना जीव को बतलाता है। समझ में आया?

क्योंकि वह चेतन होने से.... वह जाननेवाला होने से **शेष द्रव्यों के सम्भव नहीं है।** दूसरे द्रव्यों में वे जानने के परिणाम सम्भव नहीं हैं। ओहो...हो...! बात बहुत संक्षिप्त परन्तु भेदज्ञान की करते हैं! समझ में आया?

मुमुक्षु : ज्ञाता ने जाना।

पूज्य गुरुदेवश्री : जाना अर्थात् वह कार्य आत्मा का है। वह पर को और स्व को जानना (हुआ), इसलिए उसका कार्य पर के कारण है (— ऐसा नहीं है)। समझ में आया? यह तो वीतराग सर्वज्ञ (का) मार्ग है, प्रभु! आहा...हा...! उसकी द्रव्य की

व्याख्या, उसकी गुण की व्याख्या.... देखो न कहाँ से लिया ? (पहले) द्रव्य विशेष जीव और अजीव की सामान्य बात हो गयी; फिर क्षेत्र में लोक और अलोक भाग किये; फिर क्रिया-विशेष — भाववर्ती और क्रियावर्ती; फिर मूर्त-अमूर्त गुण विशेष (कहे)। आहा...हा... ! प्रत्येक के लिंग-गुण (हैं)। उस लिंग से लिंगी ज्ञात होता है — ऐसा भेद बतलाया। यहाँ प्रत्येक गुण की परिणति, किस गुण की परिणति किस द्रव्य की परिणति को निमित्त है ? इतना यहाँ बतलाते हैं। उसका गुण बतलाये या उसकी परिणति बतलाये (— ऐसा कहते हैं)। आहा...हा... !

भावार्थ - जैसा कि पहले बताया गया है - स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण से पुद्गल द्रव्यों का अस्तित्व ज्ञात होता है।.... आहा...हा... ! रंग, गन्ध, रस और स्पर्श से पुद्गल का अस्तित्व ज्ञात होता है। जाना जीव ने। उसके-पुद्गल का वर्ण, गन्ध, रसपने का अस्तित्व, पुद्गल ने नहीं जाना परन्तु जाननेवाले ने वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श के अस्तित्व से पुद्गल का अस्तित्व है — ऐसा ज्ञात होता है। आहा...हा... ! जाननेवाले को वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श के अस्तित्व से पुद्गल का अस्तित्व ज्ञात होता है। समझ में आया ? इसमें एकाग्र होवे तो पकड़ में आये ऐसा है। **यहाँ अमूर्त द्रव्यों का अस्तित्व उनके विशेष लक्षणों से....** यहाँ बतलाया है न ? अमूर्त गुणों के पदार्थ की बात चलती है न ? **विशेष लक्षणों से प्रगट किया गया है।**

चैतन्य परिणामरूप लक्षण अनुभव में आता है, इसलिए अनन्त जीवद्रव्यों का अस्तित्व ज्ञात होता है।.... यह तो जीवद्रव्य का अस्तित्व बतलाता है। आहा...हा... ! चैतन्य के परिणामरूप लक्षण, हाँ ! पर्याय की बात है। **अनुभव में आता है, इसलिए.... चैतन्यपरिणामरूप लक्षण अनुभव में आता है, इसलिए अनन्त जीवद्रव्यों का अस्तित्व ज्ञात होता है।**

जीवादि समस्त द्रव्य जिसके निमित्त से अवगाह (अवकाश) को प्राप्त करते हैं — ऐसा कोई द्रव्य होना चाहिए; वह द्रव्य लोकालोकव्यापी आकाश है।.... है तो उसके अवगाहनगुण का परिणाम। समझ में आया ? परन्तु उसे द्रव्यरूप से दूसरे से भिन्न करना है न ? इसीलिए (द्रव्य कहा है)। **वह द्रव्य लोकालोकव्यापी**

आकाश है।.... निमित्त पाये उसकी बात है न? निमित्त होता है। निमित्त होता है आकाश के अवगाहनगुण का परिणाम, परन्तु उसे द्रव्यरूप से कहकर आकाशद्रव्य उसे निमित्त कहा गया है। यह बात सर्वज्ञ के अतिरिक्त — केवलज्ञानी परमात्मा के अतिरिक्त (कहीं नहीं है)। उनके जानने में द्रव्य आये, उन्होंने कहे। दूसरे सब भले आत्मा की बातें करें, पुद्गल की करें परन्तु वह काल्पनिक बात है। यह तो वस्तु की स्थिति का वर्णन है। आहा...हा...!

उसकी — वस्तु की स्थिति ऐसी है कि जो गमनरूप परिणाम को अथवा अवगाहरूप परिणाम को... यहाँ अवगाहन करते हैं न? आकाश नामक द्रव्य का परिणाम निमित्त है; इसलिए वह आकाश द्रव्य निमित्त है — ऐसा कहा गया है। आहा...हा...!

जीव और पुद्गल गति करते हुए मालूम होते हैं,.... जीव और पुद्गल गति करते हुए ज्ञात होते हैं। **इसलिए जैसे मछली को गति करने में निमित्तभूत जल है....** मछली गति तो स्वयं से करती है, (उसे) बाह्य में निमित्तभूत जल है। **उसी प्रकार जीव और पुद्गलों को गति करने में निमित्तभूत कोई द्रव्य होना चाहिए; वह द्रव्य लोकव्यापी धर्मद्रव्य है।....** उसके गुण के परिणाम हैं न? दूसरे गुण के परिणाम इन्हें निमित्त नहीं हैं; इसलिए द्रव्य को ही (निमित्त) कह दिया। द्रव्य ही निमित्त है। है परिणाम, (परन्तु) द्रव्य को निमित्त कहा।

प्रश्न : वह परिणाम पूरा लेना या कैसा?

समाधान : जितने में (गति) करे, उतने में उसके परिणाम निमित्त हैं। सभी आवे तो उन्हें निमित्त होता है — ऐसा कहना है परन्तु अभी जितने परिणमे, उसमें जो परिणाम है, वह निमित्त होता है। बाकी परिणाम की ताकत (तो इतनी है कि) पूरे (द्रव्य) जो उस समय गतिरूप परिणमते हों, उन्हें निमित्त (होवे) वह धर्मद्रव्य है।

जैसे, मनुष्य को स्थिति में निमित्तभूत पृथ्वी है,.... बाहर का दृष्टान्त दिया। स्थिरता तो मनुष्य करता है परन्तु उसकी स्थिरता में पृथ्वी निमित्त है। **उसी प्रकार जीव और पुद्गलों की स्थिति में निमित्तभूत कोई द्रव्य होना चाहिए। वह द्रव्य लोकव्यापी अधर्मद्रव्य है।....** आहा...हा...! जब उपादान का कार्य है, तब एक दूसरी चीज है, यह बात। यहाँ सर्वज्ञ में ही है, तथापि उस निमित्त से होता नहीं है। आहा...हा...!

मुमुक्षु : निमित्त को इतना अधिक सिद्ध करते हैं, निमित्त को स्थापित करना है।

पूज्य गुरुदेवश्री : वस्तु सिद्ध की है। वस्तु है। है ऐसा बतलाते हैं परन्तु है इसलिए उससे यहाँ (कार्य) होता है (— ऐसा नहीं है)। इसलिए तो गति परिणत कहा। गति परिणत को धर्मास्ति के परिणाम निमित्त हैं। परिणाम उसे गति (रूप) परिणमाते हैं (ऐसा नहीं है)। बस, हो निमित्त, दूसरी चीज हो।

ज्ञान का स्व-परप्रकाशक स्वभाव है। दूसरी परचीज हो परन्तु उसे प्रकाशित करता है (तो) वह उसकी सामर्थ्य से यहाँ प्रकाशित करता है — ऐसा नहीं है। अपने स्वभाव से ही — स्व-परप्रकाशक सामर्थ्य से ही प्रकाशित करता है। आहा...हा...!

प्रश्न : उसके बिना नहीं होता — ऐसा नहीं ?

समाधान : उसके बिना नहीं होता — ऐसा नहीं है। गति कब नहीं थी ? यह तो निमित्त को सिद्ध करने को ऐसा बोलते हैं। निमित्त कब नहीं ? कब उपादान में कार्य नहीं ? और कब उसे निमित्त नहीं ? आहा...हा...!

जैसे, कुम्हार के चक्र के चलने में कील निमित्तभूत है.... व्यवहार लिया है न व्यवहार ? जैसे, उस मछली को पानी; स्थिर रहने में पृथ्वी (निमित्त) है, वैसे कुम्हार के चक्र को घुमने में कीली निमित्त है। कीली उसे घुमाती नहीं है, घूमता है स्वयं से; कीली निमित्त कही जाती है। आहा...! **उसी प्रकार (काल के अतिरिक्त) सर्व द्रव्यों के परिणमन में निमित्तभूत कोई द्रव्य होना चाहिए;....** अर्थात् वैसे परिणामवाला द्रव्य होना चाहिए। ऐसा (कहते हैं) उसे निमित्त हो वैसा। **वह द्रव्य असंख्यात कालाणु हैं, जिनकी पर्यायें समय, घड़ी, दिन, वर्ष इत्यादिरूप से व्यक्त होती हैं।** एक समय, घड़ी, दिन, वर्ष (आदि का) उससे माप गिना जाता है।

इस प्रकार गुणभेद से द्रव्यभेद निश्चित हुआ। लो ! इस प्रकार प्रत्येक द्रव्य के गुण के परिणमन से प्रत्येक द्रव्य की भिन्नता सिद्ध हुई। आहा...हा...! देखो ! कैसा क्रम लिया, देखो न ! अब प्रदेश-अप्रदेश की व्याख्या कहते हैं। द्रव्य तो है परन्तु सब प्रदेशी है या सब अप्रदेशी है — ऐसा नहीं। आहा...हा...! ●

गाथा - १३५

अथ द्रव्याणां प्रदेशवत्त्वाप्रदेशवत्त्वविशेषं प्रज्ञापयति -

जीवा पोग्गलकाया धम्माधम्मा पुणो य आगासं।
सपदेसेहिं असंखा णत्थि पदेस त्ति कालस्स।।१३५।।

जीवाः पुद्‌गलकाया धर्माधर्मौ पुनश्चाकाशम्।
स्वप्रदेशैरसंख्याता न सन्ति प्रदेशा इति कालस्य।।१३५।।

प्रदेशवन्ति हि जीवपुद्‌गलधर्माधर्माकाशानि अनेकप्रदेशवत्त्वात्। अप्रदेशः कालाणुः प्रदेशमात्रत्वात्। अस्ति च संवर्तविस्तारयोरपि लोकाकाशतुल्यासंख्येयप्रदेशापरित्यागाज्जीवस्य, द्रव्येण प्रदेशमात्रत्वादप्रदेशत्वेऽपि द्विप्रदेशादिसंख्येयासंख्येयानन्तप्रदेशपर्यायेणानवधारितप्रदेशत्वा-त्पुद्‌गलस्य, सकललोकव्याप्यसंख्येयप्रदेशप्रस्ताररूपत्वात् धर्मस्य, सकललोकव्याप्यसंख्येयप्रदेश-प्रस्ताररूपत्वादधर्मस्य, सर्वव्याप्यनन्तप्रदेशप्रस्ताररूपत्वादाकाशस्य च प्रदेशवत्त्वम्। कालाणोरस्तु द्रव्येण प्रदेशमात्रत्वात्पर्यायेण तु परस्परसंपर्कासंभवादप्रदेशत्वमेवास्ति। ततः कालद्रव्यमप्रदेशं शेषद्रव्याणि प्रदेशवन्ति।।१३५।।

एवं कस्य द्रव्यस्य के विशेषगुणा भवन्तीति कथनरूपेण तृतीयस्थले गाथात्रयं गतम्। अथ कालद्रव्यं विहाय जीवादिपञ्चद्रव्याणामस्तिकायत्वं व्याख्याति - **जीवा पोग्गलकाया धम्मा-धम्मा पुणो य आगासं** जीवाः पुद्‌गलकायाः धर्माधर्मौ पुनश्चाकाशम्। एते पञ्चास्तिकायाः किंविशिष्टाः। **सपदेसेहिं असंखा** स्वप्रदेशैरसंख्येयाः। अत्रासंख्येयप्रदेशशब्देन प्रदेशबहुत्वं ग्राह्यम्। तच्च यथासंभवं योजनीयम्। जीवस्य तावत्संसारावस्थायां विस्तारोपसंहारयोरपि प्रदीप-वत्प्रदेशानां हानिवृद्ध्योरभावाद्व्यवहारेण देहमात्रेऽपि निश्चयेन लोकाकाशप्रमितासंख्येयप्रदेशत्वम्।धर्माधर्मयोः पुनरवस्थितरूपेण लोकाकाशप्रमितासंख्येयप्रदेशत्वम्। स्कन्धाकारपरिणतपुद्‌गलानां तु संख्येयासंख्येयानन्तप्रदेशत्वम्। किंतु पुद्‌गलव्याख्याने प्रदेशशब्देन परमाणवो ग्राह्या, न च क्षेत्रप्रदेशाः। कस्मात्। पुद्‌गलानामनन्तप्रदेशक्षेत्रेऽवस्थानाभावादिति। परमाणोर्व्यक्तिरूपैकप्रदेशत्वं शक्तिरूपेणोपचारेण बहुप्रदेशत्वं च। आकाशस्यानन्ता इति। **णत्थि पदेस त्ति कालस्स** न सन्ति प्रदेशा इति कालस्य।

कस्मात्। द्रव्यरूपेणैकप्रदेशत्वात्, परस्परबन्धाभावात्पर्यायरूपेणा-पीति।।१३५।।

अब, द्रव्य का प्रदेशवत्व[1] और अप्रदेशवत्वरूप विशेष (भेद) बतलाते हैं —

जीव पुद्‌गलकाय धर्म, अधर्म अरु आकाश के।
हैं स्वप्रदेश अनेक अरु, नहीं हैं प्रदेश बहु काल के॥

अन्वयार्थ - [**जीवाः**] जीव [**पुद्‌गलकायाः**] पुद्‌गलकाय, [**धर्माधर्मौ**] धर्म, अधर्म [**पुनः च**] और [**आकाशं**] आकाश [**स्वप्रदेशैः**] स्व प्रदेशों की अपेक्षा से [**असंख्याताः**] असंख्यात अर्थात् अनेक हैं; [**कालस्य**] काल के [**प्रदेशाः इति**] प्रदेश [**न सन्ति**] नहीं हैं।

टीका - जीव, पुद्‌गल, धर्म, अधर्म और आकाश अनेक प्रदेशवाले होने से प्रदेशवान् हैं। कालाणु प्रदेशमात्र (एक प्रदेशी) होने से अप्रदेशी है।

[उपरोक्त बात को स्पष्ट करते हैं -] संकोच-विस्तार के होने पर भी जीव लोकाकाश तुल्य असंख्य प्रदेशों को नहीं छोड़ता, इसलिए वह प्रदेशवान् है; पुद्‌गल, यद्यपि द्रव्य अपेक्षा से प्रदेशमात्र (एक प्रदेशी) होने से अप्रदेशी है तथापि, दो प्रदेशों से लेकर संख्यात, असंख्यात और अनन्त प्रदेशोंवाली पर्यायों की अपेक्षा से अनिश्चित प्रदेशवाला होने से प्रदेशवान् है; सकल लोकव्यापी असंख्य प्रदेशों के प्रस्ताररूप[2] होने से धर्म प्रदेशवान् है; सकललोकव्यापी असंख्यप्रदेशों के प्रस्ताररूप होने से अधर्म प्रदेशवान् है; और सर्व व्यापी अनन्त प्रदेशों के प्रस्ताररूप होने से आकाश प्रदेशवान् है। कालाणु तो द्रव्य से प्रदेशमात्र होने से और पर्याय से परस्पर सम्पर्क न होने से अप्रदेशी ही है।

इसलिए कालद्रव्य अप्रदेशी है और शेष द्रव्य प्रदेशवान् हैं॥ १३५॥

प्रवचन नं. १५० का शेष ज्येष्ठ कृष्ण २ बुधवार, २५ जून १९७५

द्रव्य का प्रदेशवत्व.... अर्थात् प्रदेशवालापना **और अप्रदेशवत्वरूप....** प्रदेशरहित अर्थात् एक प्रदेशी — ऐसा **(भेद) बतलाते हैं —**

१. प्रदेशवत्व = प्रदेशवानपना। २. प्रस्तार = फैलाव; विस्तार।

जीवा पोग्गलकाया धम्माधम्मा पुणो य आगासं।
सपदेसेहिं असंखा णत्थि पदेस त्ति कालस्स।।१३५।।

जीव पुद्‌गलकाय धर्म, अधर्म अरु आकाश के।
हैं स्वप्रदेश अनेक अरु, नहीं हैं प्रदेश बहु काल के॥

प्रश्न : जो जीव पूर्ण पद को प्राप्त करता है, उसे ऐसा ज्ञान होता है ?

समाधान : हो न हो, उसका कहाँ प्रश्न है ? होवे तो ऐसा होता है।

मुमुक्षु : न होवे तो आत्मा का तो होता नहीं।

पूज्य गुरुदेवश्री : होवे तो ऐसा होता है। यह तो आत्मा को जाने वहाँ सब जानने में आ जाता है, वे मुझमें नहीं। किस प्रकार के नहीं ? सामान्यरूप से उसमें आ गया। आहा...हा... !

मुमुक्षु : जिसे जरूरत नहीं — ऐसे मनुष्य को इतना सब सिखना....

पूज्य गुरुदेवश्री : इसे बहुत उल्टे (लाकड़ा / मिथ्या मान्यताएँ) आ गयी हैं। मनुष्य को बहुत विपरीतता आ गयी है। इसलिए इसे जितनी अपनी विपरीतता निकालना है, उतने प्रमाण में (अन्दर) जाना क्योंकि अभी इतने अधिक मत (चलते हैं)। वेदान्त, वैशेषिक, सांख्य, और यह श्वेताम्बर, स्थानकवासी और दिगम्बर.... इनका करो समन्वय ! किसका समन्वय अर्थात् इनके जैसे वस्तु की स्थिति है, भगवान ने कही है, वैसी इसे जानना चाहिए; इसलिए इसमें नहीं कहा ? योगसार ! योगसार में ! बुद्धिपूर्वक इसे कितना हो ? वह जानना चाहिए। दूसरा सब जानने में रुकता है, उसकी अपेक्षा इसमें रुके तो ! ऐसा। तो उसे दूसरे की अपेक्षा वीतरागमार्ग की भिन्नता क्या है, वह इसके ख्याल में आये, जिससे इसे कहीं समन्वय करने का मन नहीं हो (कि) यह भी सच्चा और यह भी सच्चा। आहा...हा... !

मुमुक्षु : सब मोक्ष की बात करते हैं, मोक्ष जाने की पद्धति में फर्क है।

पूज्य गुरुदेवश्री : मोक्ष की बातें करते ही नहीं, यह कहते हैं। अभी लेख यह आते हैं। इच्छा तो सबको मोक्ष की है, उसके राह में (मार्ग में) फर्क है। अरे... ! सब फर्क है,

सुन न! सत्य के अतिरिक्त एक भी बात ही सच्ची नहीं है। दिगम्बर सत्य धर्म सर्वज्ञ द्वारा कथित, इसके अतिरिक्त अन्यत्र कहीं सत्य का अंश नहीं है। भाई! इसके पिता को यह था कि देव, गुरु, धर्म पर? वे तो शुद्ध हैं (तो फिर पर किस प्रकार?) फिर बाद में जरा ढीला पड़ा था, बाद में। यह मार्ग, बापू! दुनिया के स्तर में कहीं (नहीं है), यह बात भगवान विराजते हैं, वहाँ तो होती ही है, उसमें क्या है? अभी इस हिन्दुस्तान में बहुत ही बदलाव हो गया है, पूरी चीज बदल गयी।

तिर्यंच को आनन्द का भान हो गया तो यह आनन्दस्वरूप, वह मैं; और अन्दर दुःख लगता है, दुःख अर्थात् इसके साथ मेल नहीं, यह आस्रव आदि मैं नहीं और जितनी अजीव चीज है, भले अजीव नाम न आवे परन्तु जीव के अस्तित्व का भान हुआ, उसमें इस दूसरी चीज का अस्तित्व यहाँ नहीं है — ऐसा ज्ञान हुआ, उसमें सब ज्ञान आ गया। यहाँ तो जिसे विशेष समझने की शक्ति है और जिसे विशेषरूप से विपरीतताएँ हैं, उसे सब प्रकार जानना चाहिए।

प्रश्न : तिर्यंच को (यह सब) जानना नहीं तो हमें किसलिए जानना चाहिए?

समाधान : धन्धे का-पाप का जानने का कैसा (करता है)? (और यह बात आवे तब कहता है) यह नहीं... इसके जानने में तो शुभविकल्प है और जानना यदि अन्दर से — स्वलक्ष्य से करता है, उसमें तो अपना ज्ञान होता है। आहा...हा...!

१३५ (गाथा की) टीका। **जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म और आकाश अनेक प्रदेशवाले होने से....** वहाँ पाठ में है न? **असंखा** असंख्य का अर्थ असंख्य — ऐसा नहीं अनेक। कोई एक प्रदेशी है, कोई अनेक प्रदेशी है। अनेक को असंख्य शब्द से बात करते हैं। अनन्त (प्रदेशी) परन्तु असंख्य में-अनेक में आ जाता है। **अनेक प्रदेशवाले....** यहाँ **अनेक...** शब्द प्रयोग किया है। देखा! (मूल पाठ में) है न? '**धम्माधम्मा पुणो य आगासं। सपदेसेहिं असंखा...**' है न तीसरा पद? उसकी व्याख्या **अनेक** कर दी। असंख्यात ऐसा नहीं, अनेक। दो से अनेक, अनन्त तक में अनेक आता है। आहा...हा...! **जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म और आकाश अनेक प्रदेशवाले होने से प्रदेशवान् हैं। कालाणु प्रदेशमात्र (एक प्रदेशी) होने से अप्रदेशी है।** पुद्गल

को भी उपचार से बहु (प्रदेशी) गिना है। सब इकट्ठे होने की योग्यता है न? स्कन्धरूप, व्यवहार से, व्यवहार से!

[उपरोक्त बात को स्पष्ट करते हैं —] संकोच-विस्तार के होने पर भी जीव लोकाकाश तुल्य असंख्य प्रदेशों को नहीं छोड़ता, इसलिए.... लो! कहते हैं भले निगोद के शरीर में जाये, (तब) प्रदेश संकोच हो जाये। क्षेत्र से ऐसा संकोच (हो जाये)। असंख्य प्रदेश में संकोच नहीं, ... प्रदेश जितना चौड़ा है, उसका भी संकोच नहीं। समझ में आया? निगोद के एक शरीर में अनन्त जीव हैं और एक जीव के असंख्य प्रदेश हैं तो उसमें संकोच हो गया है। संकोच का अर्थ उस प्रदेश की जितनी चौड़ाई है, वह संकोच नहीं (पाती) परन्तु उसके जो ऐसे बिछे हुए असंख्य (प्रदेश हैं), वे ऐसे संकुचित हैं। समझ में आया? प्रदेश की चौड़ाई है, उतनी चौड़ाई तो वहाँ कायम रही है। आहा...हा...! भाई! परन्तु अनेक प्रदेश जो ऐसे चौड़े थे, वे ऐसे हो गये। एक-एक प्रदेश में बहुत प्रदेश ऐसे साथ आ गये।

संकोच-विस्तार के होने पर भी जीव लोकाकाश तुल्य असंख्य प्रदेशों को नहीं छोड़ता, इसलिए.... आहा...हा...! ऐसी बात कहाँ है? जीव असंख्यात प्रदेशी (है ऐसी बात) है कहीं? बातें सब करते हैं, यह सब रजनीश और.... सब चला है न उनका मूर्खों का।

मुमुक्षु : सबको मिलकर रहे न?

पूज्य गुरुदेवश्री : मिले क्या? जैन के लोग-स्थानकवासी, मन्दिरवासी (जाते हैं)। अधिक स्थानकवासी; मन्दिरवासी (कम)। उनका ठिकाना नहीं होता और उसे मिल जाये। कहाँ था कहीं? क्या हो? श्वेताम्बर, स्थानकवासी में यह बात नहीं है। अत्यन्त विपरीत है। उन्होंने तो काल को भी नहीं माना है। वास्तव में तो जिसकी काल की परिणति नहीं बदलती, उसे काल होता है, यह मान्यता हो ही नहीं सकती। आहा...हा...! (ऐसी) वस्तुस्थिति है। स्वकाल का परिणमन बदला नहीं, उसे काल (द्रव्य) है या नहीं, उसका पता नहीं। बदला नहीं, इसलिए उसे काल नहीं।

मुमुक्षु : निमित्त नहीं मानते, उन्हें उपादान भी नहीं है।

पूज्य गुरुदेवश्री : वस्तु दो है। उपादान न माना उसकी परिणति शुद्ध नहीं हुई। फिर काल निमित्त है, वह (उसे) नहीं, ऐसा है भाई! आहा...हा...! वीतराग सर्वज्ञ का (मार्ग) वह कोई वाड़ा नहीं, वह तो वस्तु का स्वरूप है।

प्रश्न : वाड़ा क्या कहलाता है ?

समाधान : वाड़ा तो यह बाँधकर बैठे कि हम यह मानते हैं, हम यह मानते हैं — ऐसा है — जीव का स्वरूप ऐसा है। गुण का स्वरूप, पर्याय का स्वरूप, उसकी जो वस्तु कही, वह वाड़ा नहीं वह तो वस्तु का स्वरूप है।

पुद्गल, यद्यपि द्रव्य अपेक्षा से प्रदेशमात्र (एक प्रदेशी) होने से अप्रदेशी है.... उसे यहाँ प्रदेश में डाला न ? **तथापि, दो प्रदेशों से लेकर संख्यात, असंख्यात और अनन्त प्रदेशोंवाली पर्यायों की अपेक्षा से....** व्यवहार की अपेक्षा से। **अनिश्चित प्रदेशवाला होने से प्रदेशवान्....** कहा जाता है। एक ही परमाणु नहीं रहता, वह तो दो, तीन, चार, अनन्त संयोग भी आता है — ऐसे उपचारनय से उसे प्रदेशवाला कहा गया है। ऐसा उपचार कालाणु को लागू नहीं पड़ता, क्योंकि स्निग्धता, रूक्षता नहीं है कि दो (कालाणु) एकत्रित हों, व्यवहार से एकत्रित हों — ऐसा भी नहीं है। यह (पुद्गल तो) व्यवहार से दो इकट्ठे होते हैं, अनन्त स्कन्ध होते हैं। वास्तव में तो परमाणु पृथक् ही है, स्वचतुष्टय में ही है परन्तु स्निग्धता, रूक्षता की समानता के कारण एकरूप पिण्ड ऐसा इकट्ठा होता है, इसलिए पर्याय की अपेक्षा से एकरूपता नहीं रहती, भिन्न-भिन्न प्रदेशों में व्यवहार से जुड़ जाता है, इसलिए प्रदेशवान कहा गया है।

सकल लोकव्यापी असंख्य प्रदेशों के प्रस्ताररूप.... अर्थात् फैलाव, विस्ताररूप **होने से धर्म....** धर्म! **प्रदेशवान् है;....** धर्मास्तिकाय प्रदेशवान् है। असंख्यात प्रदेश! ओहो...हो...! **सकललोकव्यापी असंख्यप्रदेशों के प्रस्ताररूप होने से अधर्म प्रदेशवान् है;....** अधर्मास्ति! पहले धर्मास्ति के प्रदेशों को सिद्ध किया, पुद्गल को प्रदेशवान् सिद्ध किया, (सबसे) पहले जीव को सिद्ध किया। **सकललोकव्यापी असंख्यप्रदेशों के प्रस्ताररूप होने से अधर्म प्रदेशवान् है।**

और सर्व व्यापी अनन्त प्रदेशों के प्रस्ताररूप होने से.... लो! पहले लोकव्यापी

विस्तार (कहा) था। यह सर्वव्यापी (कहा)। ऐसा **आकाश प्रदेशवान् है।** आहा...हा...! **कालाणु तो द्रव्य से प्रदेशमात्र होने से और पर्याय से परस्पर सम्पर्क न होने से....** देखा? पर्याय से भी दो कालाणु एकत्रित हों — ऐसी उनमें योग्यता नहीं है। वह **अप्रदेशी ही है।** आहा...हा...! दूसरे लोग भी काल की बात करते हैं, आकाश की बात करते हैं, धर्मास्ति की नहीं परन्तु वह आकाश कितना और कितने प्रदेशी? काल कितना? कितना प्रदेशी, एक प्रदेशी? ऐसी बात कहीं नहीं है।

मुमुक्षु : कालाणु में एक-एक अणु ...

समाधान : भिन्न है। कालाणु एक-एक द्रव्य भिन्न है।

मुमुक्षु : श्वेताम्बर भी नहीं मानते तो दूसरे तो कहाँ से माने।

पूज्य गुरुदेवश्री : कोई ऐसा कहता है कि काल को और आकाश को कहीं-कहीं ऊपर-ऊपर से मानते हैं।

इसलिए कालद्रव्य अप्रदेशी है और शेष द्रव्य प्रदेशवान् हैं। आहा...हा...! ऐसा जिसे परद्रव्य का भी पृथक्पना और प्रदेशवाला — अप्रदेशवाला या सक्रिय या अक्रिय — ऐसा यदि ध्यान हो तो दूसरे के भाव के साथ उसे मिला नहीं सकेगा। इस मार्ग के अतिरिक्त दूसरा मार्ग कहीं है नहीं। भले (दूसरे) आत्मा की बात करते हों कि आत्मा ऐसा काय विकल्प शून्य हो तो ऐसा हो विकल्पशून्य हो परन्तु अस्ति क्या? और विकल्प हो उसका निमित्तपना कौन? विकल्प स्वलक्ष्यी होता है या परलक्ष्यी होता है? परलक्ष्यी होता है तो परलक्ष्यी चीज क्या? और वह चीज प्रदेशवान् है या अप्रदेशवान् है? आहा...हा...! समझ में आया? ऐसा न्याय आना चाहिए न? ऐसे का ऐसे ऊपर से माने वह तो अज्ञान है। ●

गाथा - १३६

अथ क्वामी प्रदेशिनोऽप्रदेशाश्चावस्थिता इति प्रज्ञापयति -

लोगालोगेसु णभो धम्माधम्मेहिं आददो लोगो।
सेसे पडुच्च कालो जीवा पुण पोग्गला सेसा।। १३६।।

लोकालोकयोर्नभो धर्माधर्माभ्यामाततो लोकः।
शेषौ प्रतीत्य कालो जीवाः पुनः पुद्गलाः शेषौ।। १३६।।

आकाशं हि तावत् लोकालोकयोरपि, षड्द्रव्यसमवायासमवाययोरविभागेन वृत्तत्वात्। धर्माधर्मौ सर्वत्र लोके, तन्निमित्तगमनस्थानानां जीवपुद्गलानां लोकाद्बहिस्तदेकदेशे च गमन-स्थानासंभवात्। कालोऽपि लोके, जीवपुद्गलपरिणामव्यज्यमानसमयादिपर्यायत्वात्, स तु लोकैकप्रदेश एवाप्रदेशत्वात्। जीवपुद्गलौ तु युक्तित एव लोक, षड्द्रव्यसमवायात्मकत्वा-ल्लोकस्य। किंतु जीवस्य प्रदेशसंवर्तविस्तारधर्मत्वात्, पुद्गलस्य बन्धहेतुभूतस्निग्धरूक्षगुण-धर्मत्वाच्च तदेकदेशसर्वलोकनियमो नास्ति। कालजीवपुद्गलानामित्येकद्रव्यापेक्षया एकदेश अनेकद्रव्यापेक्षया पुनरञ्जनचूर्णपूर्णसमुद्गकन्यायेन सर्वलोक एवेति।।१३६।।

अथ तमेवार्थं द्रढयति -

एदाणि पंचदव्वाणि उज्झियकालं तु अत्थिकाय त्ति।
भण्णंते काया पुण बहुप्पदेसाण पचयत्तं।। ११।।

एदाणि पंचदव्वाणि एतानि पूर्वसूत्रोक्तानि जीवादिषड्द्रव्याण्येव **उज्झिय कालं तु** कालद्रव्यं विहाय **अत्थिकाय त्ति भण्णंते** अस्तिकायाः पञ्चास्तिकाया इति भण्यन्ते। **काया पुण** कायाः कायशब्देन पुनः। किं भण्यते। **बहुप्पदेसाण पचयत्तं** बहुप्रदेशानां संबन्धि प्रचयत्वं समूह इति। अत्र पञ्चास्तिकायमध्ये जीवास्तिकाय उपादेयस्तत्रापि पञ्चपरमेष्ठिपर्यायावस्था, तस्यामप्यर्हत्सिद्धावस्था, तत्रापि सिद्धावस्था। वस्तुवस्तु रागादिसमस्तविकल्पजालपरिहारकाले सिद्धजीवसदृशा स्वकीयशुद्धात्मावस्थेति भावार्थः।।११।। एवं पञ्चास्तिकायसंक्षेपसूचनरूपेण चतुर्थस्थले गाथाद्वयं गतम्। अथ द्रव्याणां लोकाकाशेऽवस्थानमाख्याति - **लोगालोगेसु णभो** लोकालोकयोरधिकरणभूतोर्णभ

आकाशं तिष्ठति। **धम्माधम्मेहिं आददो लोगो** धर्माधर्मास्तिकाया-भ्यामाततो व्याप्तो भूतो लोकः। किं कृत्वा। **सेसे पडुच्च** शेषौ जीवपुद्गलौ प्रतीत्याश्रित्य। अयमत्रार्थ :- जीवपुद्गलौ तावल्लोके तिष्ठतस्तयोर्गतिस्थित्योः कारणभूतौ धर्माधर्मावपि लोके। **कालो** कालोऽपि शेषौ जीवपुद्गलौ प्रतीत्य लोके। कस्मादिति चेत्। जीवपुद्गलाभ्यां नवजीर्ण-परिणत्या व्यज्यमानसमयघटिकादिपर्यायत्वात्। शेषशब्देन किं भण्यते। **जीवा पुण पोग्गला सेसा** जीवाः पुद्गलाश्च पुनः शेषा भण्यन्त इति। अयमत्र भावः - यथा सिद्धा भगवन्तो यद्यपि निश्चयेन लोकाकाशप्रमितशुद्धासंख्येयप्रदेशे केवलज्ञानादिगुणाधारभूते स्वकीयस्वकीयभावे तिष्ठन्ति तथापि व्यवहारेण मोक्षशिलायां तिष्ठन्तीति भण्यन्ते। तथा सर्वे पदार्था यद्यपि निश्चयेन स्वकीयस्वकीयस्वरूपे तिष्ठन्ति तथापि व्यवहारेण लोकाकाशे तिष्ठन्तीति। अत्र यद्यप्यनन्त-जीवद्रव्येभ्योऽनन्तगुणपुद्गलास्तिष्ठन्ति तथाप्येकदीपप्रकाशे बहुदीपप्रकाशबद्विशिष्टावगाहशक्तियोगेना-संख्येयप्रदेशेऽपि लोकेऽवस्थानां न विरुध्यते।।१३६।।

अब, यह बतलाते हैं कि प्रदेशी और अप्रदेशी द्रव्य कहाँ रहते हैं –

लोक व्याप्त धर्म-अधर्म से, आकाश लोकालोक में।
शेष द्रव्य आश्रित काल हैं, वे द्रव्य जीव-पुद्गल कहे॥

अन्वयार्थ – [**नभः**] आकाश [**लोकालोकयोः**] लोकालोक में है, [**लोकः**] लोक [**धर्माधर्माभ्याम् आततः**] धर्म और अधर्म से व्याप्त है, [**शेषौ प्रतीत्य**] शेष दो द्रव्यों का आश्रय लेकर [**कालः**] काल है, [**पुनः**] और [**शेषौ**] शेष दो द्रव्य [**जीवाः पुद्गलाः**] जीव और पुद्गल हैं।

टीका – प्रथम तो आकाश लोक तथा अलोक में है, क्योंकि छह द्रव्यों के समवाय और असमवाय में बिना विभाग के रहता है। धर्म और अधर्मद्रव्य सर्वत्र लोक में है, क्योंकि उनके निमित्त से जिनकी गति और स्थिति होती है ऐसे जीव और पुद्गलों की गति या स्थिति लोक से बाहर नहीं होती, और न लोक के एक देश में होती है, (अर्थात् लोक में सर्वत्र होती है)। काल भी लोक में है, क्योंकि जीव और पुद्गलों के परिणामों के द्वारा (काल की) समयादि पर्यायें व्यक्त होती हैं और वह काल, लोक के एक प्रदेश में ही है क्योंकि वह अप्रदेशी है। जीव और पुद्गल तो युक्ति से ही लोक में हैं, क्योंकि लोक छह द्रव्यों का समवायस्वरूप है।

और इसके अतिरिक्त (इतना विशेष जानना चाहिए कि), प्रदेशों का संकोच–

विस्तार होना, वह जीव का धर्म है, और बन्ध के हेतुभूत स्निग्धरूक्ष (चिकन-रूखे) गुण, पुद्गल का धर्म होने से जीव और पुद्गल का समस्त लोक में या उसके एकदेश में रहने का नियम नहीं है। (और) काल, जीव तथा पुद्गल एक द्रव्य की अपेक्षा से लोक के एकदेश में रहते हैं और अनेक द्रव्यों की अपेक्षा से अंजनचूर्ण (काजल) से भरी हुई डिबिया के न्यायानुसार समस्त लोक में ही हैं॥ १३६॥

प्रवचन नं. १५० का शेष ज्येष्ठ कृष्ण २ बुधवार, २५ जून १९७५

१३६ (गाथा) **अब, प्रदेशी और अप्रदेशी द्रव्य कहाँ रहते हैं....** पहले तो प्रदेश-अप्रदेश की बात की (कि) कालाणु अप्रदेशी है, इसके अतिरिक्त दूसरे (द्रव्य) प्रदेशी हैं। परमाणु भले द्रव्य से अप्रदेशी है परन्तु पर्याय से, संयोग-सम्बन्ध से सप्रदेशी कहा जाता है। पर्याय से कहो या व्यवहार से कहो (दोनों एकार्थ हैं)।

लोगालोगेसु णभो धम्माधम्मेहिं आददो लोगो।
सेसे पडुच्च कालो जीवा पुण पोग्गला सेसा।। १३६।।

लोक व्याप्त धर्म-अधर्म से, आकाश लोकालोक में।
शेष द्रव्य आश्रित काल हैं, वे द्रव्य जीव-पुद्गल कहे॥

छह द्रव्यों का अस्तित्व है। इसकी एक समय की पर्याय में उनका ज्ञान हो, इतना तो जिसका-जीव का एक समय है! इतना है, वह न माने तो उसकी एक समय की पर्याय है, उसे इसने नहीं माना। आता है न? कलश-टीका में आता है — द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव — पर्याय को माने तो उसने छह द्रव्यों को माना। पर्याय को न माने तो उसने छह द्रव्यों को नहीं माना। द्रव्य से अस्ति है, पर्याय से नास्ति है। पीछे द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव का (आता) है।

मुमुक्षु : उसमें चौदह बोल है....

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, है न! वे चार बोल अलग आयेंगे। स्वद्रव्य और परद्रव्य। एक ही द्रव्य में भेदपना, वह परद्रव्य। काल — त्रिकाल काल का एक समय का पर्यायभेद व्यवहाररूप; उसमें ऐसा कहा है कि पर्याय को माने तो वह छह द्रव्य को माने

तो पर्याय को मानी कहलाये। वहाँ ऐसा कहा है। द्रव्य को माने परन्तु पर्याय को न माने — ऐसा वहाँ कहा है, है न? उसका अर्थ इतना कि द्रव्य है ऐसा माने परन्तु पर्याय न माने; अर्थात्? — पर्याय में छह द्रव्य जानने की ताकतवाली पर्याय है, (तथापि) द्रव्य माने परन्तु पर्याय को न माने तो (उसने) छह द्रव्य को नहीं माना। आहा...हा...! कैसी शैली ली है! राजमलजी की टीका है न! कलश-टीका!

पर्याय को माने.... ज्ञेयाकार हुई एक समय की पर्याय.... लोकालोक के ज्ञेयाकार हुई एक समय की पर्याय को माने परन्तु उसके अतिरिक्त भिन्न पूरा द्रव्य है, जो ज्ञेयाकाररूप से परिणमित हुई पर्यायरूप नहीं है, उसे न माने तो वह मिथ्यादृष्टि है। आहा...! भाई! यह सब सूक्ष्म है!

(एक) कहे, ईश्वर कर्ता (है), जाओ! (दूसरा) कहे देव-गुरु की भक्ति करो तो कल्याण हो जायेगा। कल ही आया था। देव-गुरु-शास्त्र की भक्ति से कल्याण होगा, लो! आहा...हा...! देव-गुरु-शास्त्र कौन? उनकी भक्ति अर्थात् क्या? और उसके फलरूप से कल्याण अर्थात् क्या? समझ में आया?

लोक व्याप्त धर्म-अधर्म से, आकाश लोकालोक में।
शेष द्रव्य आश्रित काल हैं, वे द्रव्य जीव-पुद्गल कहे॥

इसकी **टीका - प्रथम तो आकाश लोक तथा अलोक में है,....** यह अचलित आकाश लोक और अलोक दोनों में है। भले धर्मास्ति, अधर्मास्ति के कारण लोक और अलोक (दो भाग कहे) परन्तु आकाश में भाग नहीं है। ऐसा कहा जाता है कि यह लोक का आकाश और अलोक का आकाश इतना.... बाकी आकाश तो अखण्ड है परन्तु यह लोकाकाश कहलाता है और वह अलोकाकाश कहलाता है।

प्रथम तो आकाश लोक तथा अलोक में है,.... आकाश सर्वत्र व्यापक है। **क्योंकि छह द्रव्यों के समवाय और असमवाय में बिना विभाग के रहता है।** जहाँ छह द्रव्य है और जहाँ छह द्रव्य नहीं — ऐसे **बिना विभाग के रहता है।** वह सबमें रहता है ऐसा। छह द्रव्य है वहाँ भी है (और) छह द्रव्य नहीं वहाँ भी है। आहा...हा...! वस्तु इस प्रकार है, इसलिए लोगों को जँचता नहीं। (ऐसा प्रश्न होता है कि) ऐसी चीज का कोई कर्ता होता है या नहीं?

कल कहा था — परमागम मन्दिर बनाया? हाँ। (यह) होनेवाले के बिना नहीं हुआ। होनेवाला परमाणु है, उससे हुआ है। ऐ...ई...! (लोग ऐसा कहते हैं प्रमुख ने) ध्यान रखा, इसलिए हुआ। यहाँ तो कहते हैं कि होनेवाले के बिना नहीं हुआ। होनेवाला हो वही होता है या नहीं होनेवाला होता है? आहा...हा...!

करनेवाले के बिना किया नहीं परन्तु करनेवाला परमाणु और उसका कार्य यह। आहा...हा...!

मुमुक्षु : कारीगर के बिना थोड़े ही बना है।

पूज्य गुरुदेवश्री : परमाणु कारीगर है न! उसकी पर्याय का कारीगर वह है। आहा...हा...! अनन्त को अनन्तरूप से माने तो अनन्त, अनन्तरूप से रहकर अनन्त की अवस्था अनन्तरूप हुई है; दूसरे से हुई यह तो उसमें नहीं आया। अनन्त परमाणु हैं, जो कि अनन्तरूप रहकर उनकी अनन्त पर्याय उनसे हुई, वरना तो अनन्त एक हो जाये या असंख्य हो जाये। अनन्तपना कब रहे? अनन्तपने का अस्तित्व तब रहता है कि अनन्तपना कायम रहकर उसकी पर्याय स्वयं से हो। आहा...हा...! वेदान्त में लोकव्यापक एक मान लिया, हो गया, टूकूटच! एक... एक है। क्या धूल एक (है) आहा...हा...! वस्तु की स्थिति ही ऐसी है, वहाँ किसी प्रकार — दूसरे प्रकार से सिद्ध होगी ही नहीं। आहा...!

कहते हैं, **आकाश लोक तथा अलोक में है, क्योंकि छह द्रव्यों के समवाय....** अर्थात् इकट्ठा रहना (और) **असमवाय....** अर्थात् जहाँ छह (द्रव्य) नहीं हैं, उसमें **बिना विभाग के रहता है।** सबमें एक (आकाश) व्यापक है। छह द्रव्य है, वहाँ भी है और नहीं वहाँ भी व्यापक है, वह उसका क्षेत्र है। भगवान आत्मा क्षेत्र-ज्ञ है — ऐसा कहना — परक्षेत्र का (ज्ञाता) कहना, वह व्यवहार है। आहा...हा...!

धर्म और अधर्म द्रव्य सर्वत्र लोक में... धर्मास्तिकाय-अधर्मास्तिकाय पूरे लोक में हैं। **क्योंकि उनके निमित्त से जिनकी गति और स्थिति होती है — ऐसे जीव और पुद्गलों की गति या स्थिति लोक से बाहर नहीं होती,....** इसलिए धर्म-अधर्म का क्षेत्र-स्थिति लोकप्रमाण है।

मुमुक्षु : निमित्त नहीं है, इसलिए लोक के बाहर नहीं जाते।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह बात ही नहीं है। उनके जाने की योग्यता ही इतनी है। लोक का द्रव्य लोकप्रमाण ही रहता है। यह उसका स्वभाव है आगे धर्मास्ति नहीं है इसलिए नहीं जाते (ऐसा जो कथन किया जाता है) वह तो धर्मास्ति अन्यत्र नहीं होता, यह सिद्ध करने लिये (कहते हैं)। उसके कारण जीव वहाँ अटका है — ऐसा नहीं है। उसका स्वभाव ही ऐसा हुआ है। आहा...हा...!

और न लोक के एक देश में होती है,..... धर्म-अधर्म लोक में सर्वत्र है, पूरे लोक में गति-स्थिति होती है; इसलिए वह एकदेश में नहीं (होती)। **(लोक में सर्वत्र होती है)।** इसलिए पूरे लोक प्रमाण धर्मास्ति और अधर्मास्ति है। गति और स्थिति लोक में होती है, लोक के (क्षेत्र में ही होती है); लोक के बाहर नहीं होती।

काल भी लोक में है, क्योंकि जीव और पुद्गलों के परिणामों के द्वारा (काल की) समयादि पर्यायें व्यक्त होती हैं.... व्यवहार से बात की है। **काल भी लोक में है, क्योंकि जीव और पुद्गलों के परिणामों के द्वारा (काल की) समयादि पर्यायें व्यक्त होती हैं....** यह एक समय, दो समय, घड़ी — ऐसा सब माप जीव और पुद्गलों के परिणाम द्वारा व्यक्त होता है। **और वह काल लोक के एक प्रदेश में ही है....** आहा...हा...! एक प्रदेश में एक कालाणु है। **क्योंकि वह अप्रदेशी है।** अधिक (प्रदेश) नहीं। **जीव और पुद्गल तो युक्ति से ही लोक में हैं, क्योंकि लोक छह द्रव्यों का समवायस्वरूप है।** लो! इतने में ही जीव और पुद्गल है, बाहर नहीं।

और इसके अतिरिक्त (इतना विशेष जानना चाहिए कि), प्रदेशों का संकोच-विस्तार होना वह जीव का धर्म है, और बन्ध के हेतुभूत स्निग्धरूक्ष (चिकन-रूखे) गुण पुद्गल का धर्म होने से.... आहा...! पुद्गल ऐसा बन्ध पाता है न? दो गुण, चार गुण (ऐसा)। यह पुद्गलों के बन्ध की बात है, हाँ! जीव का धर्म होने से प्रदेश का संकोच विस्तार होता है। **और बन्ध के हेतुभूत स्निग्धरूक्ष (चिकन-रूखे) गुण पुद्गल का धर्म होने से जीव और पुद्गल का समस्त लोक में या उसके एकदेश में रहने का नियम नहीं है।** समुद्घात हो तो पूरा हो, स्कन्ध हो तो पूरे

में हो। वह स्कन्ध भी पूरे लोक में व्यापे, लोकप्रमाण समुद्घात हो परन्तु ऐसा नियम नहीं है कि पूरे लोक प्रमाण ही जीव हो।

काल, जीव तथा पुद्गल एक द्रव्य की अपेक्षा से लोक के एकदेश में रहते हैं.... लो! काल भी एकदेश में-एक प्रदेश में है न? जीव भी लोक के असंख्यवें भाग में असंख्य प्रदेश में है। समुद्घात के अतिरिक्त एक-एक जीव लोक के असंख्य भाग में आकाश के प्रदेशों में एक जीव है।

मूलचन्दजी के साथ यह बड़ी तकरार हुई थी। (संवत्) १९७३ में! (एक) मास्टर थे, तीसरा रोड था न? राजकोट का रोड था, पचास गाँव के लोग आये थे। संवत् १९७३ की बात है, हाँ! ७३, ७३ की बात है। हीराजी महाराज जीवित थे, १९७४ की बात है। कहा था एक जीव लोक के आकाश प्रदेश जितना है, इसलिए अभी एक जीव आकाश के प्रदेश के असंख्यवें भाग में है। समझ में आया? यह जीव (के) लोकाकाश प्रमाण प्रदेश है तथापि अभी लोक के असंख्यवें भाग में है। फिर ऐसा कहा था कि समस्त लोक प्रमाण होवे तब तो एक-एक प्रदेश में, एक-एक प्रदेश आवे। आधे लोक में होवे तो एक प्रदेश में दो प्रदेश आवे, दशवें भाग में होवे तो एक प्रदेश दसवें भाग में आवे, असंख्यवें भाग में (होवे तो) एक प्रदेश में असंख्य आये।

(विशेष कहेंगे।)

(श्रोता : प्रमाण वचन गुरुदेव!) ●

गाथा - १३७

अथ प्रदेशवत्त्वाप्रदेशवत्त्वसंभवप्रकारमासूत्रयति -

जध ते णभप्पदेसा तधप्पदेसा हवंति सेसाणं।
अपदेसो परमाणू तेण पदेसुब्भवो भणिदो।। १३७।।

यथा ते नभःप्रदेशास्तथा प्रदेशा भवन्ति शेषाणाम्।
अप्रदेशः परमाणुस्तेन प्रदेशोद्भवो भणितः।। १३७।।

सूत्रविष्यते हि स्यमाकाशस्य प्रदेशलक्षणमेकाणुव्याप्यत्वमिति। इह तु यथाकाशस्य प्रदेशास्तथा शेषद्रव्याणामिति प्रदेशलक्षणप्रकारैकत्वमासूत्र्यते। ततो यथैकाणुव्याप्येनांशेन गण्यमानस्याकाशस्यानन्तांशत्वादनन्तप्रदेशत्वं तथेकाणुव्याप्येनांशेन गण्यमानानां धर्माधर्मैकजीवानामसंख्येयांशत्वात् प्रत्येकमसंख्येयप्रदेशत्वम्। यथा चावस्थितप्रमाणयोर्धर्माधर्मयोस्तथा संवर्तविस्ताराभ्यामनवस्थितप्रमाणस्यापि शुष्कार्द्रत्वाभ्यां चर्मण इव जीवस्य स्वांशाल्पबहुत्वाभावादसंख्येयप्रदेशत्वमेव। अमूर्तसंवर्तविस्तारसिद्धिश्च स्थूलकृशशिशुकुमारशरीरव्यापित्वादस्ति स्वसंवेदनसाध्यैव। पुद्गलस्य तु द्रव्येणैकप्रदेशमात्रत्वादप्रदेशत्वे यथोदिते सत्यपि द्विप्रदेशाद्युद्भवहेतुभूततथाविधस्निग्धरूक्षगुणपरिणामशक्तिस्वभावात्प्रदेशोद्भवत्वमस्ति। ततः पर्यायेणानेकप्रदेशत्वस्यापि संभवात् द्व्यादिसंख्येयासंख्येयानन्तप्रदेशत्वमपि न्याय्यं पुद्गलस्य।।१३७।।

अथ यदेवाकाशस्य परमाणुव्याप्तक्षेत्रं प्रदेशः लक्षणमुक्तं शेषद्रव्यप्रदेशानां तदेवेति सूचयति- **जध ते णभप्पदेसा** यथा ते प्रसिद्धाः परमाणुव्याप्तक्षेत्रप्रमाणाकाशप्रदेशाः **तधप्पदेसा हवंति सेसाणं** तेनैवाकाशप्रदेशप्रमाणेन प्रदेशा भवन्ति। केषाम्। शुद्धबुद्धैकस्वभावं यत्परमात्मद्रव्यं तत्प्रभूतिशेषद्रव्याणाम्। **अपदेसो परमाणू** अप्रदेशो द्वितीयादिप्रदेशरहितो योऽसौ पुद्गलपरमाणुः **तेण पदेसुब्भवो भणिदो** तेन परमाणुना प्रदेशस्योद्भव उत्पत्तिर्भणिता। परमाणुव्याप्तक्षेत्रं प्रदेशो भवति। तदग्रे विस्तरेण कथयति इह तु सूचितमेव।।१३७।।

अब, यह कहते हैं कि प्रदेशवत्त्व और अप्रदेशवत्त्व किस प्रकार से सम्भव है —

जैसे प्रदेश आकाश के, वैसे प्रदेश हैं शेष के।
परमाणु अप्रदेश पर, उद्‌भव-प्रदेश उससे बने॥

अन्वयार्थ - **[यथा]** जैसे **[ते नभः प्रदेशाः]** वे आकाशप्रदेश हैं, **[तथा]** उसी प्रकार **[शेषाणां]** शेष द्रव्यों के **[प्रदेशाः भवन्ति]** प्रदेश हैं (अर्थात् जैसे, आकाश के प्रदेश परमाणुरूपी गज से नापे जाते हैं, उसी प्रकार शेष द्रव्यों के प्रदेश भी इसी प्रकार नापे जाते हैं)। **[परमाणुः]** परमाणु **[अप्रदेशः]** अप्रदेशी हैं; **[तेन]** उसके द्वारा **[प्रदेशोद्भवः भणितः]** प्रदेशोद्भव कहा है।

टीका - (भगवत् कुन्दकुन्दाचार्य) स्वयं ही (१४० वें) सूत्र द्वारा कहेंगे कि आकाश के प्रदेश का लक्षण एकाणुव्याप्यत्व है (अर्थात् एक परमाणु से व्याप्त होना, वह प्रदेश का लक्षण है); और यहाँ (इस सूत्र या गाथा में) 'जिस प्रकार आकाश के प्रदेश हैं, उसी प्रकार शेष द्रव्यों के प्रदेश हैं' इस प्रकार प्रदेश के लक्षण की एकप्रकारता कही जाती है।

इसलिए, जैसे एकाणुव्याप्य (एक परमाणु से व्याप्य हो ऐसे) अंश के द्वारा गिने जाने पर आकाश के अनन्त अंश होने से आकाश अनन्तप्रदेशी है, उसी प्रकार एकाणुव्याप्य (एक परमाणु से व्याप्त होनेयोग्य) अंश के द्वारा गिने जाने पर धर्म, अधर्म और एक जीव के असंख्यात अंश होने से वे प्रत्येक असंख्यातप्रदेशी है। और जैसे अवस्थित[१] प्रमाणवाले धर्म तथा अधर्म असंख्यातप्रदेशी हैं, उसी प्रकार संकोचविस्तार के कारण अनवस्थित[२] प्रमाणवाले जीव के — सूखे-गीले चमड़े की भाँति - निज अंशों का अल्पबहुत्व नहीं होता, इसलिए असंख्यातप्रदेशीपना ही है। (यहाँ यह प्रश्न होता है कि अमूर्त ऐसे जीव का संकोच-विस्तार कैसे सम्भव है? उसका समाधान किया जाता है —) अमूर्त के संकोचविस्तार की सिद्धि तो अपने अनुभव से ही साध्य है, क्योंकि (सबको स्वानुभव से स्पष्ट है कि) जीव स्थूल तथा कृश शरीर में, तथा बालक और कुमार के शरीर में व्याप्त होता है।

१. अवस्थित प्रमाण = नियत परिमाण, निश्चित माप; (धर्म तथा अधर्म द्रव्य का माप लोक जितना नियत है।)

२. अनवस्थित = अनियत; अनिश्चित; (सूखे-गीले चर्म की भाँति जीव परक्षेत्र की अपेक्षा से संकोच विस्तार को प्राप्त होने से अनिश्चित मापवाला है। ऐसा होने पर भी, जैसे चमड़े के निज अंश कम-बढ़ नहीं होते, उसी प्रकार जीव के निज-अंश कम-बढ़ नहीं होते; इसलिए वह सदा नियत असंख्यप्रदेशी ही है।)

पुद्गल तो द्रव्यत: एक प्रदेशमात्र होने से यथोक्त (पूर्वकथित) प्रकार से अप्रदेशी है, तथापि दो प्रदेशादि[१] के उद्भव के हेतुभूत तथाविध (उस प्रकार के) स्निग्ध-रूक्षगुणरूप परिणमित होने की शक्तिरूप स्वभाव के कारण उसके प्रदेशों का उद्भव है; इसलिए पर्याय से अनेकप्रदेशीपने का भी सम्भव होने से पुद्गल को द्विप्रदेशीपने से लेकर संख्यात, असंख्यात और अनन्तप्रदेशीपना भी न्याययुक्त है॥ १३७॥

प्रवचन नं. १५१ ज्येष्ठ कृष्ण ३ गुरुवार, २६ जून १९७५

(प्रवचनसार, गाथा १३७) भगवान द्वारा कथित द्रव्य कितने में हैं, कितने हैं, कितने प्रदेशी हैं? वह यहाँ कहते हैं। १३७ (गाथा) **अब, यह कहते हैं कि प्रदेशवत्त्व और अप्रदेशवत्त्व किस प्रकार से सम्भव है?** किसको एक प्रदेश और किसको असंख्य, अनन्त (प्रदेश हैं), यह कहते हैं।

जध ते णभप्पदेसा तधप्पदेसा हवंति सेसाणं।
अपदेसो परमाणू तेण पदेसुब्भवो भणिदो।। १३७।।

जैसे प्रदेश आकाश के, वैसे प्रदेश हैं शेष के।
परमाणु अप्रदेश पर, उद्भव-प्रदेश उससे बने॥

(भगवत् कुन्दकुन्दाचार्य) स्वयं ही (१४० वें) सूत्र द्वारा कहेंगे कि आकाश के प्रदेश का लक्षण..... आकाश के प्रदेश का लक्षण। **एकाणुव्याप्यत्व है (अर्थात् एक परमाणु से व्याप्त होना, वह प्रदेश का लक्षण है);.....** जितने में एक परमाणु रहे, उतना प्रदेश का लक्षण है। **और यहाँ (इस सूत्र या गाथा में) 'जिस प्रकार आकाश के प्रदेश हैं, उसी प्रकार शेष द्रव्यों के प्रदेश हैं;' इस प्रकार प्रदेश के लक्षण की एकप्रकारता कही जाती है।** १४० (गाथा में) जो कहेंगे, वही यहाँ कहते हैं।

इसलिए, जैसे एकाणुव्याप्य (एक परमाणु से व्याप्य हो ऐसे).... एक पॉइन्ट है न? रजकण - अन्तिम भाग! उससे जितने में व्याप्य रहता है, (उतना) **अंश के**

१. द्विप्रदेशी इत्यादि स्कन्धों की उत्पत्ति के कारणभूत जो स्निग्ध-रूक्ष गुण हैं, उनरूप परिणमित होने की शक्ति पुद्गल का स्वभाव है।

द्वारा गिने जाने पर आकाश के अनन्त अंश होने से.... एक परमाणु के व्याप्यपने के अंश द्वारा गिनने पर **आकाश के अनन्त अंश होने से....** ओहोहो! जिसका अन्त नहीं, दशों दिशाओं में कहीं अन्त नहीं! उसके अंश अनन्त हैं – ऐसा जाना। आहाहा!

प्रश्न : किसने जाना?

समाधान : ज्ञानी ने, केवली ने (जाना)। अनन्त अंश! अनन्त अंश अर्थात् कहीं उनका अन्त है? तथापि एक-एक परमाणु जितने में रहे, उतने को प्रदेश कहते हैं। आकाश के ऐसे अनन्त प्रदेश हैं। आहाहा! अनन्त को भी अनन्तपने जान लिया। ज्ञान में ज्ञात हुए बिना नहीं रहा। आहा!

(केवलज्ञानी) सबको जानते हैं न? वे तो सबको जानते हैं न? एक समय में! आकाश के अनन्त प्रदेश, उसमें रहे हुए परमाणु आदि के गुण, उनकी पर्याय-सब एक समय में जानते हैं। एक समय की केवलज्ञान की पर्याय तो बहुत अधिक है। आहाहा! जिसका स्वभाव ज्ञान है, उसका पर्याय का स्वभाव अमाप है। आहा! इतना ऐसा अस्तित्व है — ऐसा श्रद्धा में आवे, उसे तो द्रव्य की श्रद्धा होती है। आहा..हा...! केवलज्ञान की पर्याय कहा न? उस दिन कहा था न? कि केवलज्ञान-सर्वज्ञ जगत् में है — ऐसी एक समय की पर्याय में इतनी ताकत है (कि) तीन काल-तीन लोक को जाने। दूसरे में जानने की कहाँ ताकत है? ऐसी एक समय की पर्याय इतने अस्तित्व को-तीन काल-तीन लोक के अस्तित्व को जाने — ऐसी उसकी सामर्थ्य है! ऐसी सर्वज्ञ की पर्याय जिसे ज्ञान में जमे.... आहा...हा...! उसकी दृष्टि द्रव्य में ढल जाती है, क्योंकि जो ज्ञान की पर्याय इतनी ताकतवाली जहाँ से आती है, उसका जो निधान-खान-ज्ञान और ज्ञान का आधार द्रव्य है.... आहा...हा...! ऐसी जिसे अन्तर निर्विकल्प प्रतीति होती है, तब उसे सम्यग्दर्शन कहा जाता है। उस सम्यग्दर्शन की पर्याय में ताकत कितनी? कि (जो) केवलज्ञान की एक समय की पर्याय में अनन्त... अनन्त... अनन्त... अनन्त... केवली ज्ञात हों! आकाश एक ओर रखो परन्तु जिसे अनन्त केवलियों की पर्याय एक समय में ज्ञात हो, उस पर्याय की कितनी शक्ति!! आहा...हा...! ऐसी जिसे ताकत है, ऐसी ताकत से भरा हुआ गुण और ऐसी ताकत से भरा हुआ द्रव्य!! एक समय में इतनी (ताकत)! ऐसी-ऐसी अनन्त पर्याय

का पिण्ड गुण है। फिर इतना अवश्य की एक समय के जो अविभाग प्रतिच्छेद हैं ऐसे –ऐसे अनन्त काल के अनन्त अविभाग प्रतिच्छेद होते हैं। कितने हैं — ऐसे नहीं? यह बात पहले हो गयी है। एक समय के जितने अविभाग प्रतिच्छेद हैं, उतने ही हैं, बस! दूसरे समय भी उतने ही, तीसरे समय भी उतने ही। सब होकर अधिक होते हैं — ऐसा नहीं। यह बात पहले हो गयी है। (एक मुमुक्षु) के साथ बात होने पर पहले हो गयी है। ऐसा ज्ञान की पर्याय का सामर्थ्य है।

जीव के एक गुण की एक पर्याय, उसकी प्रतीति करने जाये... भले है पर्याय पर की, परन्तु जिसे उसकी प्रतीति करनी है तो उसकी प्रतीति पर के लक्ष्य से नहीं होती। वैसे ही पर्याय के लक्ष्य से भी उसकी प्रतीति, ज्ञान नहीं होता। अनन्त गुण की सत्तावाला पूरा द्रव्य जो है, होनेवाला, उसकी सत्ता के स्वीकार से सम्यग्दर्शन होने पर सर्वज्ञ की पर्याय की सच्ची श्रद्धा तब होती है — ऐसा है। समझ में आया? भाई! यह तो गम्भीर तत्त्व है। वीतराग द्वारा कथित तत्त्व! ओहो...हो...! सर्वज्ञ के सिवाय ऐसी बात कहाँ है?

परमेश्वर वीतराग! तुम्हारे ज्ञान में तो मैं हूँ परन्तु मेरे ज्ञान में आप यहाँ आकर बस जाओ! भक्ति में आता है। आता है? आहाहा! भक्ति में, स्तवन में, कहीं आता है। आपके ज्ञान में मैं हूँ, यह तो आप जानते हो परन्तु आप मेरे ज्ञान में आ जाओ! आहा...हा...! तब इसने आत्मा को स्वीकार किया। आत्मा... आत्मा तो बहुत सब करते हैं। यह रजनीश और अमुक साईं बाबा और.... दूसरे सब कितने ही (करते हैं) कितने ही भगवान.... भगवान नाम धराते हैं। आहा...हा...! बापू! भगवान तो किसे कहते हैं? तुम कहते हो कि वस्तु का स्वभाव वह भगवान है... वह भगवान है परन्तु जिसकी पर्याय में भगवानपना आवे वह भगवानपना भाई! अलौकिक है! यह साधारण मान बैठे ऐसा नहीं है। आहा...हा...!

जैसे एकाणुव्याप्य.... एक परमाणु से व्याप्य (ऐसे) **एक अंश के द्वारा गिने जाने पर....** इतने अंश द्वारा गिनने पर **आकाश के अनन्त अंश....** आहा...हा...! **होने से आकाश अनन्तप्रदेशी है,....** आकाश का अन्त नहीं, तथापि अनन्त प्रदेश है – ऐसा ज्ञान में आ गया। सब अलौकिक बातें हैं! यह तो स्वभाव की बात है। अलोक आकाश का कहीं अन्त नहीं, तथापि उसके प्रदेश संख्या से अनन्त हैं। इतनी संख्या ज्ञान में आ

गयी। आहा...हा... ! समझ में आया ? बापू ! भगवान द्वारा कथित द्रव्य और उनके प्रदेश कितने और द्रव्य कहाँ-कहाँ रहे हैं ? यह वस्तु की स्थिति यथार्थरूप से जानना, वह अमूल्य बात है। समझ में आया ? आहा...हा... ! तब इसे दूसरे अनेक प्रकार से कहनेवाले निकलें, उनकी तुच्छता लगती है। आहा...हा... ! यह चीज ऐसी ! जिसने देखकर कही। देखे बिना कल्पना से कहने लगे, वे सब भ्रम में पड़े हैं।

उसी प्रकार एकाणुव्याप्य (एक परमाणु से व्याप्त होनेयोग्य) अंश के द्वारा गिने जाने पर धर्म, अधर्म और एक जीव के असंख्यात अंश होने से.... आहा...हा... ! जीव और उसके अंश, धर्मास्तिकाय और उसके अंश.... (संवत्) १९७८ में एक प्रश्न हुआ था। 'बरसाण' से जाते हुए रास्ते में रेलपाटा आता है (एक भाई ने कहा) (वस्तु के) यह जो प्रदेश गिनने में आये हैं, वह तो कल्पना है। (ऐसी कल्पना नहीं) वस्तु है। यह प्रदेश गिनने में आये वे प्रदेश कहाँ हैं ? वह तो कल्पना है — ऐसा कहा। पढ़े हुए थे न ? काशी में पढ़ने गये थे। अरे... ! यह क्या पढ़े, बापू !

वस्तु है। है ? **अंश के द्वारा गिने जाने पर....** एक परमाणु की चौड़ाई जितने अंश द्वारा गिनने पर **धर्म, अधर्म और एक जीव के असंख्यात अंश होने से वे प्रत्येक असंख्यातप्रदेशी है।....** धर्मास्ति, अधर्मास्ति आकाश.... आहा...हा... ! **और जैसे अवस्थित प्रमाणवाले धर्म तथा अधर्म.....** एक रूप से रहे हैं। धर्म और अधर्म के प्रदेशों में संकोच-विस्तार नहीं है। धर्मास्ति, अधर्मास्ति के असंख्य प्रदेश जहाँ हैं (वहाँ) ऐसे के ऐसे हैं। (मूल ग्रन्थ में नीचे फुटनोट में अवस्थित प्रमाण का अर्थ दिया है।) *अवस्थित प्रमाण = नियत परिमाण, निश्चित माप; (धर्म तथा अधर्म द्रव्य का माप लोक जितना नियत है।)* वे **धर्म तथा अधर्म असंख्यातप्रदेशी हैं,....** यह दो (द्रव्यों की व्याख्या की)।

अब (कहते हैं) **संकोचविस्तार के कारण....** जीव में धर्मास्ति-अधर्मास्ति की तरह नहीं है। **संकोचविस्तार के कारण अनवस्थित....** (मूल ग्रन्थ में नीचे फुटनोट में अर्थ दिया है) ***अनवस्थित = अनियत; अनिश्चित; (सूखे-गीले चर्म की भाँति जीव परक्षेत्र की अपेक्षा से संकोच विस्तार को प्राप्त होने से....*** अपने प्रदेश तो जितने हैं, उतने ही हैं। आहा...हा... ! संकोच-विस्तार के कारण एकरूप नहीं रहनेवाला, परक्षेत्र की

अपेक्षा से, हाँ! **जीव को सूखे-गीले चमड़े की भाँति....** यह सूखे-गीले का दृष्टान्त वहाँ भी आता है न? (समयसार) सर्वविशुद्ध (अधिकार में)! (गाथा ३३२ से ३४४) आत्मा असंख्य प्रदेशी को तू क्या करेगा? वे (प्रदेश जो हैं) उतने हैं; तू किसी भी प्रकार कर्त्ता न मान तो असंख्य प्रदेश है, उनका करनापना नहीं है; ज्ञायकभाव त्रिकाल है, उसका करनापना नहीं है। आहा...हा...! वहाँ लिया है। विकार की परिणति का कर्त्ता हो तो वह कर्त्ता सिद्ध होता है। कोई कहे कि (आत्मा) कूटस्थ है तो परिणति नहीं रही, (तो) कर्त्ता है, यह बात सिद्ध नहीं होती। आहा...हा...! वहाँ सर्वविशुद्ध अधिकार में दृष्टान्त दिया है।

(यहाँ कहते हैं) **जीव को सूखे-गीले चमड़े की भाँति निज अंशों का अल्प-बाहुल्य नहीं होता, इसलिए....** जीव के जो असंख्य प्रदेश हैं, उनमें घट-बढ़ नहीं होती। है? उनमें **अल्प-बाहुल्य नहीं होता इसलिए....** थोड़े और बहुत ऐसा नहीं होता। संकोच-विस्तार होता है, तथापि प्रदेश तो जितने हैं, उतने रहते हैं। आहा...हा...! एक (आत्मा) हजार योजन मच्छ के शरीर में जाये (तब प्रदेश) चौड़े हुए — विस्तार (हुआ) परन्तु प्रदेश तो असंख्य हैं और एक (आत्मा) निगोद के शरीर में असंख्यवें भाग में जाये तो (प्रदेश का) संकोच हो गया परन्तु प्रदेश तो जितने हैं उतने हैं। वास्तव में तो प्रदेश का भी संकोच नहीं; प्रदेश का संकोच नहीं, प्रदेश (तो) जितना चौड़ा है उतना ही है। वे ज्यादा प्रदेश जो हैं, वे ऐसे से ऐसे होते हैं, इतनी अपेक्षा से (बात है)। आहा...हा...! ऐसा तत्त्व का ज्ञान वीतराग के अतिरिक्त कहीं नहीं होता।

असंख्यातप्रदेशीपना ही है। भले उसे संकोच-विकास होता है परन्तु उसके अंशों में कम-ज्यादापना नहीं है। **(यहाँ यह प्रश्न होता है कि अमूर्त ऐसे जीव का संकोच विस्तार कैसे सम्भव है?....** अमूर्त और संकोच-विकास! हमें तो यह बात नहीं जँचती। आहा...! अरूपी (द्रव्य) उसका संकोच-विकास! अरे... अरे... गजब है! पुद्गल तो ठीक कि ज्यादा (होवे तो) ऐसा हो... ऐसा हो परन्तु अरूपी को? **उसका समाधान किया जाता है —) अमूर्त के संकोचविस्तार की सिद्धि तो अपने अनुभव से ही साध्य है,....** कहते हैं कि यहाँ भी बालक का युवा, वृद्ध हुआ, वह प्रदेश चौड़े हुए या नहीं?

पहले अंगुली छोटी थी, लो! तो इतने में ही प्रदेश थे। यह तो प्रत्यक्ष है, कहते हैं। सम्पूर्ण शरीर प्रमाण (आत्मा) है, तो पहले शरीर छोटा था, (तब) उतने प्रमाण में था; चौड़ा हुआ तो उतने प्रमाण में है। **अमूर्त के संकोचविस्तार की सिद्धि तो अपने अनुभव से ही साध्य है,....** ऐसा कहते हैं। उसमें तो अनुभव से ही सिद्ध हो सकता है, कहते हैं।

प्रश्न : अनुभव क्या?

समाधान : यह संकोच-विकास (होता है) यह नहीं दिखता? यह शरीर चौड़ा हुआ, संकोच हुआ, तब छोटा हुआ। कहा न? अनुभव से ही साध्य है.... उसे देखे तो तुझे उसका भलीभाँति ख्याल आ जाता है कि यही आत्मा इतना ही असंख्य प्रदेशी बालकपने जब इतना शरीर था, तब इतने प्रमाण में था। यह चार हाथ का हुआ, तब इतने प्रमाण में हुआ। यह तुझे पता नहीं?

मुमुक्षु : स्पर्श से अनुभव में आवे।

पूज्य गुरुदेवश्री : स्पर्श से नहीं। यह संकोच-विकास प्राप्त प्रदेश हैं — ऐसा ख्याल में नहीं आता? (ऐसा) कहते हैं। स्पर्श... फर्ष नहीं। एक बालक इतना (छोटा) था, लो! उसमें असंख्य प्रदेश तो इतने ही हैं। अब उसमें से जब बड़ा हुआ तो ऐसे विकास पाता जाता है और क्षय हो तब शरीर का ऐसा संकोच (होवे तब) प्रदेश ऐसे संकोच हो जाते हैं, बड़ा लट्ठ जैसा शरीर हो, लो! परन्तु क्षय (टीबी) हो जाये तो चकला के टैंटा जैसा.... ऐ...सा.... हो जाता है। एक बार देखा था, बढ़वान में! ऐसा शरीर था, एक वर्ष का विवाहित! परन्तु उसमें (रोग) हुआ तो चकले (जैसा हो गया)। दर्शन करने ले गये थे, महाराज! दर्शन देने (आओ) वहाँ गये थे, एक वर्ष का विवाहित, आहा...हा...! टैंटा जैसा! वह तो उस प्रकार प्रदेश संकोचित हो गये। पहले ऐसा लट्ठ जैसा था। फिर ऐसा हो गया। यह मेद है, लो! मेद अधिक है, वहाँ प्रदेश चौड़े हैं या नहीं? वहाँ (चौड़े) होते हैं या नहीं? फिर मेद कम हो जाये, तब उस प्रकार (संकोच हो जाता है)।

क्योंकि (सबको स्वानुभव से स्पष्ट है....) लो, ख्याल में आता है। पहले नाक ऐसी छोटी थी, तो इतने में प्रदेश थे। बड़ी हुई तो इतने में हो गये। आँख, कान,

सर्वत्र (प्रदेश हैं न) ? पहले मुँह की चौड़ाई थोड़ी थी, बाद में चौड़ाई बढ़ी, शरीर यह चौड़ाई कम थी, यह छाती की चौड़ाई बढ़ी, उस अनुसार प्रदेश संकोच-विकास होते हैं। समझ में आया ?

वस्तु की मर्यादा ऐसी है — ऐसा बतलाते हैं। विशेषरूप से स्थिति बतलाकर ऐसा उसका स्वरूप है (यह बतलाते हैं)। सर्वज्ञ के अतिरिक्त अज्ञानी आत्मा जानो और यह करो, और यह करो कहा, वह सब बात कल्पना की है। समझ में आया ? वेदान्त ने जो बात की, वह सब कल्पना की है, उसने वस्तु देखी नहीं है।

जीव स्थूल तथा कृश शरीर में,.... देखा! स्थूल शरीर और पतला शरीर **तथा बालक और कुमार....** लो, आया, देखो! बालकपना और युवा अवस्था। **बालक और कुमार के शरीर में व्याप्त होता है।** आहा...हा...! यह पागल कुत्ता काटे, फिर आवेश शिथिल पड़ जाये फिर कोई पानी नहीं ले सके, आहार नहीं ले सके, शरीर ऐसा संकोचित (हो जाये)। राणपुर में हुआ था न ? (अपने मुमुक्षु के एक) सम्बन्धी थे। कुत्ते ने (काटा) तो न रुचे हवा, न रुचे सोना, न रुचे पानी लेना, कुछ नहीं, बस ऐसे शरीर सूख जाये। इस प्रकार प्रदेशों का संकोच हो गया या नहीं ?

राणपुर में एक महिला थी, वृद्ध थी, उसे पागलपन हुआ। (किसी ने कहा) मांगलिक सुनाओ, महाराज! दूर खड़े रहना, वृद्ध थीं। लो! यह तो बहुत वर्ष (पहले की) बातें हैं (संवत्) १९७२ की! पागलपन हुआ था तो कहा नजदीक नहीं (आकर) दूर रहकर मांगलिक सुनाओ, आहा...हा...! यह स्थिति! तीन लोक का नाथ आनन्द का सागर! उसकी यह स्थिति! वह राग की आड़ में ढ़ँक गया।

मुमुक्षु : तो उसका महानपना क्या ? दूसरे से ढ़ँक जाये उसका महानपना क्या ?

पूज्य गुरुदेवश्री : देखना नहीं आया, राग को देखा, आँख की आड़ में एक तिनका आवे तो पूरा पर्वत नहीं दिखता, इससे पर्वत नहीं था ऐसा है ? इसी प्रकार पूरा भगवान पूर्णानन्द का नाथ, (राग की आड़ में ढ़ँक गया।)

मुमुक्षु : इतना महा शक्तिवाला....

पूज्य गुरुदेवश्री : शक्तिवाला परन्तु माना है इसने ? (जिसने शक्तिवाला नहीं

माना) उसे शक्तिवाला है या माना हो उसे (शक्तिवाला है) ? ऐसी शक्तिवाला माना हो उसे या न माने उसे ?

प्रश्न : न माने उसे कहीं मिट जाता है ?

समाधान : मिट जाता है, उसके (लिए) कहाँ (शक्तिवाला) है ? उसे नहीं। वस्तुरूप से है परन्तु (वस्तु) जिसके ज्ञान में नहीं आयी, उसे वस्तु है कहाँ ? आहा...हा... ! उसका माप, उसकी ताकत, जिसके ज्ञान में नहीं आयी, उसे है ही नहीं। आहा...हा... ! यह तो (समयसार की) छठवीं गाथा में नहीं कहा ? कि वह शुद्ध है परन्तु किसे ? भाई ! जिसने उसकी सेवा की उसे। आहा...हा... ! महाराज ! आप शुद्ध कहते हो और शुद्ध का स्वरूप जानना चाहिए... आता है न प्रश्न ? छठवीं गाथा का उपोद्घात ! तो वह शुद्ध है कौन ? कि भाई ! परद्रव्य और उसके (भाव) परद्रव्य के भाव, हाँ ! यह राग और वह नहीं। परद्रव्य और उसके जो भाव, उसका लक्ष्य छोड़कर जो इस आत्मा की उपासना करे, वह उपासना अर्थात् द्रव्य की सेवा करे, द्रव्य में एकाग्र हो, उसे वह शुद्ध है। आहा...हा... !

मुमुक्षु : उसे पर्यायरूप से शुद्ध है ?

पूज्य गुरुदेवश्री : नहीं; उसे द्रव्यरूप से शुद्ध है। पर्याय में शुद्धपना ज्ञात हुआ, उसे द्रव्यरूप से शुद्ध है। वहाँ द्रव्यरूप की शुद्धता की बात है न ? भाई ! वस्तु शुद्ध है, वह किसे ? वह तो शुद्ध है परन्तु शुद्ध है, उस सत्ता का, जिसे पर्याय में उसके सन्मुख होकर सेवा की अर्थात् एकाग्र हुआ — ऐसे जीव को वह शुद्ध है। आहा...हा... !

बालक के पास पाँच करोड़ (रुपये) हों परन्तु उसके ननिहालवाले काम करते हों तो उसके पास कहाँ हैं, वह तो मानता है कि मुझे महीने में सौ-दौ देते हैं इतने हैं, क्योंकि उसकी सत्ता उसमें (उन रुपयों में) नहीं आयी। यह पाँच करोड़ है, उसकी सत्ता पर वह नहीं आया। ऐसे भगवान आत्मा अनन्त आनन्द और ज्ञान की अनन्तता के स्वभाववाला शुद्ध पवित्र स्वरूप है। द्रव्य, हाँ ! वह पवित्रता और शुद्धता की सत्ता — अस्ति जिसे पर्याय में नहीं आयी, उसे क्या है ? उसे तो मैं पामर हूँ (— ऐसा लगता है)।

(यहाँ कहते हैं) **स्थूल तथा कृश....** लो, कैसी भाषा आयी है ! स्थूल-मोटा शरीर और पतला (शरीर) वह ऊपर से नहीं दिखता ? कहते हैं। **तथा बालक और कुमार....**

बालक इतना हो और (फिर) मोटा लट्ठ जैसा शरीर (हो जाये) आहा...हा...! इन (भाई की) बहु का कैसा शरीर था? देखो न! हथिनी जैसा था! आहा...हा...! सत्रह दिन में सूख गया! उड़ गया! समाप्त! ऐसा लट्ठ जैसा शरीर था परन्तु वह तो जड़ है। संकुचित होने लगा तो प्रदेश भी संकुचित हुए, आहा...! और सूजन होती है लो न! वहाँ भी इतने प्रदेश चौड़े होते हैं न? आहा...हा...! यह तो प्रत्यक्ष वस्तु की स्थिति साध्य है, कहते हैं — अनुभव साध्य है — ऐसा कहते हैं। आहा...हा...!

इस प्रकार आत्मा... आत्मा... करे परन्तु आत्मा कितने प्रदेशी? कितने गुणवाला? और संकोच-विस्तार होने पर भी संकोच-विस्तारपना कायम रहे, तथापि उसकी संख्या में कम-ज्यादा न हो — ऐसा इसका स्वरूप है। आहा...हा...! प्रत्यक्ष उसके कार्य भी ऐसे हैं - ऐसा दिखता है। संकोच-विकास वह का वही प्रकार का कार्य है। आहा...हा...! यह जीव की बात की। जीव भी असंख्यात प्रदेशी अनियत-परक्षेत्र की अपेक्षा से अव्यवस्थित होने पर भी, अपने क्षेत्र के प्रदेश तो असंख्य ही हैं। आहा...हा...!

साँकल का दृष्टान्त दिया न? साँकल? हजार मकोड़े की साँकल हो, छोटे लड़के के गले में डालो तो अधिक घड़ी करना पड़े, बड़े में डालो तो थोड़े घड़ी (करना पड़े)। यह क्षेत्र में फर्क हुआ, परन्तु जो रजकण की संख्या है और जो सोना है, वह कहाँ कम-ज्यादा हुआ है? उसके हजार मकोड़े में कहाँ कम-ज्यादा फेरफार हुआ है? आहा...हा...! जगत् की, दुनिया की चतुराई करता है परन्तु वह (करने की अपेक्षा) तू यह तो देख! तू कितना कहाँ कैसे है — उसे देख न, भाई! (यह) भगवान की आज्ञा है। आहा...हा...!

पुद्गल तो द्रव्यतः एक प्रदेशमात्र होने से.... परमाणु (एक प्रदेशमात्र होने से)। इस (शरीर में) तो बहुत (परमाणु) इकट्ठे हैं, यह कहाँ एक है? **एक प्रदेशमात्र होने से यथोक्त (पूर्वकथित) प्रकार से अप्रदेशी है....** एक परमाणु तो अप्रदेशी है, उसे कहीं दो प्रदेश नहीं हैं। **तथापि....** (ऐसा कहकर) अब व्यवहार डालते हैं। **दो प्रदेशादि के उद्भव के हेतुभूत....** (मूल ग्रन्थ में नीचे दो प्रदेशों का अर्थ फुटनोट में दिया है)। *द्विप्रदेशी इत्यादि स्कन्धों की उत्पत्ति के कारणभूत जो स्निग्ध-रूक्ष गुण हैं, उनरूप*

परिणमित होने की शक्ति पुद्गल का स्वभाव है; इसलिए दो, तीन, चार अनन्त परमाणु (रूप) **परिणमित होने की शक्तिरूप स्वभाव के कारण उसके प्रदेशों का उद्भव है;....** बहुत प्रदेश व्यवहार से — पर्यायनय से कहे गये हैं। आहा...हा...!

यह शरीर, पाँच इन्द्रियाँ, इनके परमाणु बहुत इकट्ठे दिखते हैं न? यह भी देखो न चिकने-रूखे (दिखते हैं परन्तु) है वह परमाणु, परमाणु। परमाणु का द्रव्य क्षेत्र, काल, भाव उनमें है परन्तु चिकने-रूखे की एकता-समानता की अपेक्षा से स्कन्धरूप दिखते हैं; अतः पर्यायनय से बहुत प्रदेशी इस अपेक्षा से कहे जाते हैं। आहा...हा...! दूसरी सिरपच्ची में रूकता है, उसकी अपेक्षा इसमें रूके तो इसे पता पड़े।

मुमुक्षु : बाहर में पैसे मिलते हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : धूल के पैसे! पैसे मिले उसमें पुण्य जल जाता है। पाप का लोन लिया जाता है। भाई! पैसे में (है) क्या? पूर्व की पुण्य का लोन है वह तो जल जाता है, तब यह पैसा दिखता है। इसके पास तो आता नहीं; इसके पास तो ममता आती है। यह मेरे — ऐसी ममता आयी। आहा...हा...! मिथ्याभ्रम है। पैसा मेरा, लक्ष्मी मेरी, मैंने आमदनी की और मैंने इकट्ठे किये, सब मिथ्याभ्रम है।

प्रश्न : पूरी दुनिया में मिथ्याभ्रम है।

समाधान : भ्रम में ही पड़ी है पूरी दुनिया। भ्रम के ही गाँव भरे हैं! भाई! आहा...हा...! बापू! तेरा कैसा? भाई! तेरा हो वह अलग होगा? अलग (हो) वह तेरा होगा? आहा...हा...! शरीर की रजकण-रजकण भिन्न हैं, तेरे कहाँ से आये? तेरा जड़? क्या तू जड़ है? भगवान! तू तो चैतन्य है न! चैतन्य के साथ अबिनाभावी गुण रहे हैं, वे तेरे, परन्तु उससे पृथक् रहनेवाले शरीर के रजकण तेरे कहाँ से आये? आहा...हा...! यह क्या कहा?

ज्ञानस्वरूपी भगवान, यह ज्ञान के साथ अबिनाभावीरूप रहनेवाले, ज्ञान है वहाँ अनन्त गुण है, और अनन्त गुण है वहाँ ज्ञान है, यह तो तू अवश्य! परन्तु यह सब जो रजकण जो बाहर लोटन्ती-बाहर फिरते हैं, वह तेरे कहाँ से आये? घर में-मकान में लोहे के सरिया हों, बाहर में लोग घूमें, ऐसे जायें, आवे-जावें.... तेरे कहाँ से हो गये? आहा...हा...!

भगवान तो जानने-देखनेवाला है, उसे इस शरीर के रजकण आवे या जायें (उसमें) उसके कहाँ से हो गये? आहा...हा...!

प्रश्न : उसके पास आये हैं न?

समाधान : इसके पास आये नहीं, उसके पास रहे हैं। जड़, जड़रूप रहा है, इसके पास आया ही नहीं।

प्रश्न : नजर से दिखता है वह मिथ्या।

समाधान : क्या नजर.... नजरबन्दी हो गयी है इसे! नजर तो मिथ्यात्व के साथ बाँध दी है। आहा...हा...! अहो! सन्तों ने यह बात-टीका करके, जंगल में रहनेवाले आत्मध्यान में मस्तीवाले! जिन्हें विकल्प उठे, वह भी रुचता नहीं, तथापि (विकल्प) आया और यह शास्त्र की टीका (हो गयी)। ओ...हो...! भाई! तू कहाँ हो? और तू कहाँ नहीं? पर में नहीं; अपने ज्ञान-आनन्दगुण में है। आहा...हा...! वह भी असंख्य प्रदेश में -क्षेत्र में है। आहा...हा...! ऐसी बात है कहीं! आत्मा असंख्यप्रदेशी, उसका क्षेत्र इतना! ओ...हो...हो...! और वह परक्षेत्र की अपेक्षा से संकोच-विस्तार होता है, स्व की अपेक्षा से इतना ही रहता है। आहा...हा...!

यों भी ऐसे हाथ में देखो न यह! ऐसा करते हैं वहाँ खड्डा पड़ता है या नहीं? यह इसके स्वयं के कारण पड़ा है, ऊंगली के कारण नहीं पड़ा। इतने प्रदेश वहाँ ऐसे खड्डे में हो गये, फिर वे प्रदेश भी ऐसे हो गये। आहा...हा...! ऐसी पृथक्ता का भान जिसे होता है, उसका संसार पार हो जाता है। आहा...हा...! है?

दो प्रदेशादि के उद्भव के हेतुभूत तथाविध (उस प्रकार के) स्निग्ध-रूक्षगुणरूप.... स्निग्ध-रूक्ष उस प्रकार का होता है न? यहाँ दो हो और अन्यत्र चार हो। (यहाँ) तीन हो, अन्यत्र पाँच हो — ऐसी **परिणमित होने की शक्तिरूप स्वभाव के कारण उसके प्रदेशों का उद्भव है;....** दो प्रदेशी, संख्य प्रदेशी, असंख्य प्रदेशी, अनन्त प्रदेशीपने (का उद्भव है।) **इसलिए पर्याय से अनेकप्रदेशीपने का भी सम्भव होने से....** पर्याय से अनेक प्रदेशीपने का 'भी' ऐसा। द्रव्य से तो वस्तु एक ही प्रदेशी है परन्तु संयोग सम्बन्ध की स्निग्धता-रूक्षता की समानता के कारण स्कन्धरूप होने पर उसे

द्विप्रदेशीपने से लेकर संख्यात, असंख्यात और अनन्तप्रदेशीपना भी न्याययुक्त है। समझ में आया ?

मुमुक्षु : लॉजिक से सब सिद्ध करते हो।

पूज्य गुरुदेवश्री : लॉजिक से सिद्ध होता है न ? लॉजिक-न्याय ! न्याय की बात से वस्तु सिद्ध (होती है)। ऐसे का ऐसे मानना, ऐसा कहाँ है ? तेरे भाव में तर्क से भाव-भाषन हो (उस प्रकार कहते हैं)। यह प्रवचनसार में आता है न ! पीछे आता है — चरणानुयोग में ! तर्क से-स्पष्ट तर्कणा से भगवान द्वारा कथित तत्त्व सिद्ध होते हैं। २३२ गाथा से चलता है न ? सम्यग्दर्शन की व्याख्या ! चरणानुयोग में ! आहा...हा... ! आचार्य ने तो बहुत उपकार... बहुत उपकार (किया है)।

श्रुत से स्पष्ट तर्कणा से भगवान द्वारा कथित चीजें सिद्ध होती है। ऐसा का ऐसा मानना, ऐसा नहीं है — ऐसा कहते हैं। आहा...हा... ! है न ? २३२ (गाथा) फिर कहीं समकित का है। स्पष्ट तर्कणा से (ऐसा आता है) (श्रोता : ४३७ पृष्ठ, गाथा २३५) बस ! यही आया ! यही आया, लो ! **प्रथम तो, आगम द्वारा सभी द्रव्य प्रमेय (ज्ञेय) होते हैं,...** है ? **क्योंकि सर्व द्रव्य विस्पष्ट तर्कणा से अविरुद्ध हैं,....** देखो ! **सर्व द्रव्य विस्पष्ट तर्कणा से....** (अर्थात्) विशेष स्पष्ट तर्क से **अविरुद्ध हैं, (— सर्व द्रव्य आगमानुसार जो विशेष स्पष्ट तर्क उसके साथ मेलवाले हैं, अर्थात् वे आगमानुसार विस्पष्ट विचार से ज्ञात हों ऐसे हैं)।** आहा...हा... ! २३४ गाथा में **आगमचक्खु** साधु को कहा है न ? **आगमचक्खु** (अर्थात्) आगम जिसकी आँखें हैं। भगवान द्वारा कथित भाव, उसके भाव में स्पष्ट तर्कणा से सिद्ध होते हैं। आहा...हा... ! लो ! १३७ (गाथा पूरी हुई)। वह २३७ आयी न ? २३५ ! ●

गाथा - १३८

अथ कालाणोरप्रदेशत्वमेवेति नियमयति -

समओ दु अप्पदेसो पदेसमेत्तस्स दव्वजादस्स।
वदिवददो सो वट्टदि पदेसमागासदव्वस्स।।१३८।।

समयस्त्वप्रदेशः प्रदेशमात्रस्य द्रव्यजातस्य।
व्यतिपततः स वर्तते प्रदेशमाकाशद्रव्यस्य।।१३८।।

अप्रदेश एव समयो द्रव्येण प्रदेशमात्रत्वात्। न च तस्य पुद्गलस्येव पर्यायेणाप्यनेकप्रदेशत्वं, यतस्तस्य निरन्तरं प्रस्तारविस्तृतप्रदेशमात्रासंख्येयद्रव्यत्वेऽपि परस्परसंपर्कासंभवादेकैकमाकाश-प्रदेशमभिव्याप्य तस्थुषः प्रदेशमात्रस्य परमाणोस्तदभिव्याप्तमेकमाकाशप्रदेशं मन्दगत्या व्यतिपतत एव वृत्तिः।।१३८।।

एवं पञ्चमस्थले स्वतन्त्रगाथाद्वयं गतम्। अथ कालद्रव्यस्य द्वितीयादिप्रदेशरहितत्वेनाप्रदेशत्वं व्यवस्थापयति - **समओ** समयपर्यायस्योपादानकारणत्वात्समयः कालाणुः। **दु पुनः।** स च कथंभूतः। **अप्पदेसो** अप्रदेशो द्वितीयादिप्रदेशरहितो भवति। स च किं करोति। **सो वट्टदि** स पूर्वोक्तकालाणुः परमाणोर्गतिपरिणतेः सहकारित्वेन वर्तते। कस्य संबन्धी योऽसौ परमाणुः। **पदेसमेत्तस्स दव्वजादस्स** प्रदेशमात्रपुद्गलजातिरूपपरमाणुद्रव्यस्य। किं कुर्वतः। **वदिवददो** व्यतिपततो मन्दगत्या गच्छतः। कं प्रति। **पदेसं** कालाणुव्याप्तमेकप्रदेशम्। कस्य संबन्धिनम्। **आगासदव्वस्स** आकाशद्रव्यस्येति। तथाहि - कालाणुरप्रदेशो भवति। कस्मात्। द्रव्येणैकप्रदेशत्वात्। अथवा यथा स्नेहगुणेन पुद्गलानां परस्परबन्धो भवति तथाविधबन्धाभावात्पर्यायेणापि। अयमत्रार्थ :- यस्मात्पुद्गलपरिमाणोरेकप्रदेशगमनपर्यन्तं सहकारित्वं करोति न चाधिकं तस्मादेव ज्ञायते सोऽथेकप्रदेश इति।।१३८।।

अब, 'कालाणु अप्रदेशी ही है' ऐसा नियम करते हैं (अर्थात् दरशाते हैं —)

आकाश द्रव्य-प्रदेश को, प्रदेशमात्र परमाणु जब।
उल्लंघता है मन्दगति से, अप्रदेशी काल निमित्त तब॥

अन्वयार्थ - [**समयः तु**] काल तो [**अप्रदेशः**] अप्रदेशी है, [**प्रदेशमात्रस्य द्रव्य जातस्य**] प्रदेशमात्र पुद्‌गल-परमाणु [**आकाशद्रव्यस्य प्रदेशं**] आकाशद्रव्य के प्रदेश को [**व्यतिपततः**] मन्दगति से उल्लंघन कर रहा हो तब [**सः वर्तते**] वह वर्तता है अर्थात् निमित्तभूततया परिणमित होता है।

टीका - काल, द्रव्य से प्रदेशमात्र होने से, अप्रदेशी ही है। और उसे पुद्‌गल की भाँति पर्याय से भी अनेक प्रदेशीपना नहीं है; क्योंकि परस्पर अन्तर के बिना प्रस्ताररूप[१] विस्तृत प्रदेशमात्र असंख्यात कालद्रव्य होने पर भी परस्पर सम्पर्क न होने से एक-एक आकाशप्रदेश को व्याप्त करके रहनेवाले कालद्रव्य की वृत्ति तभी होती है (अर्थात् कालाणु की परिणति तभी निमित्तभूत होती है) कि जब प्रदेशमात्र[२] परमाणु उस (कालाणु) से व्याप्त एक आकाशप्रदेश को मन्दगति से उल्लंघन करता हो।

भावार्थ - लोकाकाश के असंख्याप्रदेश हैं। एक-एक प्रदेश में एक-एक कालाणु रहा हुआ है। वे कालाणु स्निग्ध-रूक्षगुण के अभाव के कारण रत्नों की राशि की भाँति पृथक्-पृथक् ही रहते हैं; पुद्‌गल-परमाणुओं की भाँति परस्पर मिलते नहीं हैं।

जब पुद्‌गलपरमाणु, आकाश के एक प्रदेश को मन्दगति से उल्लंघन करता है (अर्थात् एक प्रदेश से दूसरे अनन्तर-निकटतम प्रदेश पर मन्दगति से जाता है), तब उस (उल्लंघित किये जानेवाले) प्रदेश में रहनेवाला कालाणु उसमें निमित्तभूतरूप से रहता है। इस प्रकार प्रत्येक कालाणु पुद्‌गलपरमाणु के एक प्रदेश तक के गमन पर्यन्त ही सहकारीरूप से रहता है, अधिक नहीं; इससे स्पष्ट होता है कि कालद्रव्य, पर्याय से भी अनेक प्रदेशी नहीं है॥ १३८॥

प्रवचन नं. १५१ का शेष ज्येष्ठ कृष्ण ३ गुरुवार, २६ जून १९७५

अब, 'कालाणु अप्रदेशी ही है' ऐसा नियम करते हैं (अर्थात् दरशाते हैं-)

१. प्रस्तार = विस्तार। (असंख्यात कालद्रव्य समस्त लोकाकाश में फैले हुए हैं। उनके परस्पर अन्तर नहीं है, क्योंकि प्रत्येक आकाशप्रदेश में एक-एक कालद्रव्य रह रहा है।)

२. प्रदेशमात्र = एकप्रदेशी। (जब एक प्रदेशी ऐसा परमाणु किसी एक आकाशप्रदेश को मन्दगति से उल्लंघन कर रहा हो तभी उस आकाशप्रदेश में रहनेवाले कालद्रव्य की परिणति उसमें निमित्तभूतरूप से वर्तती है।)

श्वेताम्बर में तो कालाणु माना ही नहीं है। यह तो सनातन परम्परा है, वीतराग केवलज्ञानी परमात्मा से (चली आयी) धारावाही परम्परा का दिगम्बर शास्त्र है। दिगम्बर धर्म सनातन स्वभाववाला तत्त्व लेना पड़ता है, क्या हो परन्तु इसकी दरकार किसे है? जहाँ पड़े वे पड़े! तेईस घण्टे (पाप में जाते हैं) छह-सात घण्टे सोता है, आठ-दस घण्टे धन्धा (करता है)... दो घण्टे सुनने में जाता है। सिर पर बैठा (जो) कहे वह सुने (और) जय नारायण! क्या सत्य है और क्या असत्य है? कहाँ मेल खाता है और कहाँ मेल नहीं (खाता) इसकी कहाँ दरकार है? मूली लेने जाये, वहाँ देखे कि मूली सड़ी है या नहीं? सिंगु लेने जाये, यह उसे क्या कहते हैं? भिण्डी की! यह सिंगु एक-एक देखे.... सड़ी हुई है या नहीं? यहाँ एक भी वस्तु की खोज नहीं। आहा...हा...! धूल भी नहीं, वहाँ तो, मर जायेगा! आहा...हा...! अमुक होशियार हो, वह सिंगु लेने जाये, वहाँ ढूँढ-ढूँढ कर सब लेता है! अन्तिम बाकी रहे तब एक बनिये को बुलाता है कि देखो भाई! अभी यह चार आना सेर दिया है, यह दो आने सेर दिया है, जरा कसैला है कसैला! अन्तिम ले जाये वहाँ सब कसैला! एक सब्जी का टुकड़ा भी नहीं निकलता! लोभी ऐसे (ठगाता है)। आहा...हा...!

इसी प्रकार धर्म को सस्ते लेने जाये.... वहाँ पहले जैसा निकले, कहा नहीं? हमारे हीराजी महाराज! दृष्टान्त देते थे, अन्धा लड़का और उसकी माँ – ये दो ही व्यक्ति बेचारे! बाप मर गया। एक टूटा-फूटा जहाज था। उसमें बड़ा मेला (आया) तो लड़का कहने लगा — माँ इस जहाज को कागज-बागज लगाकर अच्छा करके बैठाऊँगा, यद्यपि मैं तो मरूँगा परन्तु तुझे यह दो हजार रुपये (मिलेंगे)। उस समय की बात है। (तब तो) दो हजार भी बहुत (कहलाते थे) अभी तुम्हारे लाख (गिने जाते हैं)। तू खा-पीकर (लहर करेगी) इस प्रकार बराबर चश्मा लगाया लड़का युवा! जहाज को रंगे हुए कागज लगाये और नर्मदा के इस किनारे से उस किनारे (जाने का) फिर दूसरे दो अच्छे जहाजवाले थे, वे कहते पाँच रुपये! यह कहे डेढ़ रुपया, (लोग) बैठे जहाज पूरा भर गया, जहाँ आगे चला वहाँ कागज फटने लगे, अरे! यह क्या? भाई! तुझे पता नहीं, मैं तो अन्धा हूँ। देखो! यह रहा। परन्तु तुम अन्धे! दूसरे के पाँच रुपये और यह डेढ़ रुपया! हर वर्ष मेला भरता है, तब ऐसा भरता है। है...! यह तुझे सस्ता ऐसे पड़ेगा। आहा...हा...! इस प्रकार अन्धा

हो, वह बता दे कि यह करो, दया पालो, व्रत करो, इसमें से तुम्हारा कल्याण (हो जायेगा)। वह अन्धा हो। कागजवाले जहाज में बैठा दिया है। आहा...हा...!

समओ दु अप्पदेसो पदेसमेत्तस्स दव्वजादस्स।

कुन्दकुन्दाचार्यदेव काल को सिद्ध करते हैं। लो! (श्वेताम्बर में) इस काल को उड़ाया। आहा...हा...! काल वस्तु है। बाद में हेमचन्द्राचार्य ने थोड़ा डाला है। उनके योग में फिर पीछे से थोड़ा डाला है परन्तु यह इसका लेकर; उसमें (मूल में) कहाँ है?

समओ दु अप्पदेसो पदेसमेत्तस्स दव्वजादस्स।
वदिवददो सो वट्टदि पदेसमागासदव्वस्स।।१३८।।

आकाश द्रव्य-प्रदेश को, प्रदेशमात्र परमाणु जब।
उल्लंघता है मन्दगति से, अप्रदेशी काल निमित्त तब॥

टीका - काल, द्रव्य से प्रदेशमात्र होने से,.... काल तो एक प्रदेशमात्र है। आहा...हा...! परन्तु जितने अनन्त गुण आकाश में हैं, उतने ही गुण एक (कालाणु के) प्रदेश में हैं। क्षेत्र भले ही इतना, परन्तु गुण की-भाव शक्ति (अनन्त)! आहा...हा...! क्षेत्र से बड़ा (होवे), उसका यहाँ माप निकले (— ऐसा नहीं है।) क्षेत्र भले इतना — एक प्रदेशी (होवे) परन्तु शक्तियाँ — गुण तो अनन्त... अनन्त...! स्वभाव है न! स्वभाव को बड़े क्षेत्र की आवश्यकता नहीं है। उसकी शक्ति के सामर्थ्य की उसे जरूरत है। आहा...हा...!

(काल द्रव्य से) **प्रदेशमात्र होने से, अप्रदेशी ही है। और उसे पुद्गल की भाँति....** पुद्गल में कहा था न? पर्याय दो प्रदेशी, अनन्त प्रदेशी होती है (उसकी तरह) **अनेक प्रदेशीपना नहीं है;....**

प्रश्न : दो मिलते नहीं हैं?

समाधान : उसमें स्निग्धता-रूक्षता कहाँ है?

क्योंकि परस्पर अन्तर के बिना प्रस्ताररूप विस्तृत प्रदेशमात्र असंख्यात कालद्रव्य होने पर भी.... (मूल ग्रन्थ में नीचे फुटनोट में प्रस्तार का अर्थ दिया है।) **प्रस्तार = विस्तार। *(असंख्यात कालद्रव्य समस्त लोकाकाश में फैले हुए हैं।***

क्योंकि प्रत्येक आकाशप्रदेश में एक-एक कालद्रव्य रह रहा है।) आहा...हा...! ***(उनके परस्पर अन्तर नहीं है)....*** अन्तर नहीं है। यहाँ... यहाँ... यहाँ... सर्वत्र धारावाही भरे हैं, क्योंकि प्रत्येक आकाश प्रदेश में एक-एक कालद्रव्य रह रहा है। किसमें अन्तर नहीं है? यहाँ एक कालाणु है, फिर प्रदेश खाली है — ऐसा नहीं है। आकाश के ऐसे असंख्य प्रदेश पड़े — फैले हुए हैं — ऐसे प्रत्येक प्रदेश में कालाणु पड़ा — फैला हुआ है। आहा...हा...! बनियों को बहुत परीक्षा करने की शक्ति नहीं होती, उसमें ऐसा सुने (उसे ऐसा लगता है कि) ऐसा यह क्या होगा? आहा...हा...! तत्त्व की स्थिति....

मुमुक्षु : बनिया बहुत होशियार होता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : बनिया ही ठगा गया है...! परखे बिना पड़ गया है, परीक्षा बिना बाड़ा में पड़ा... न! आहा...हा...! (एक साधु) कहता है बस! त्याग-पत्र देकर मुझे तो महावीर का सन्देश देने बाहर जाना है परन्तु.... आहा...हा...! और एक (दूसरा साधु) आचार्य है परन्तु युवक! समाचार पत्र में व्याख्यान आता था, मुनिपना छोड़ दिया। आचार्य भी था, लो! दिगम्बर! कल आया था। आहा...हा...! क्या कारण होगा? यह तो बाहर आवे तब सही! आचार्य पद और मुनिपना छोड़ दिया। मुनि हुआ था, युवा साधु! और उसे आचार्य पद दिया था। कल समाचार पत्र में आया था कि मुनिपना छोड़ दिया.... यह तो जादूगर के खेल जैसा है!

बापू! वीतरागमार्ग कोई अलौकिक है! जिसकी दृष्टि का विषय क्या और दृष्टि में ताकत कितनी? उस दृष्टि में पाचन-शक्ति कितनी? एक समय की सम्यक् पर्याय में पाचन शक्ति (कितनी)? ऐसा पूर्ण अखण्डानन्द! ऐसी अनन्त पर्याय से भरपूर श्रद्धागुण है, ऐसी-ऐसी अनन्त पर्याय से भरपूर ज्ञानगुण है; ऐसे अनन्त गुण का स्वभाव, उसे पाचन करे, उसकी शक्ति कितनी! भाई! उसकी कीमत नहीं आती और यह बाहर का त्याग किया, उसकी कीमत (माहात्म्य)! आहा...हा...!

मुमुक्षु : जन कल्याण का काम करते हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : कौन कल्याण करता था? धूल! (अभी) अपना ठिकाना नहीं। वह आया नहीं? बन्ध अधिकार में! दूसरे को मोक्ष करूँ, उसे वीतरागभाव

हो जाएगा, तू क्या कर लेगा ? उसे बन्ध कर दूँ, वह राग करेगा तो बन्ध करेगा, तू उसे बन्ध कर देगा ?

मुमुक्षु – उपदेश दे न ?

पूज्य गुरुदेवश्री : कौन उपदेश दे ? यह तो वाणी की-जड़ की क्रिया है। आहा...हा... ! आत्मा वाणी को छूता भी नहीं, स्पर्श भी नहीं करता। आहा...हा... ! ऐसा तत्त्व है ! यह तो निहाल होने का मार्ग है। भाई ! धन्धा खोट में जाता है.... स्वामी नारायण को लोग निहालकरण... निहालकरण कहते, क्योंकि वे काठी लोग जाते हैं न ? और शराब बन्द करावे, माँस बन्द करावे, उसकी छाप (ऐसी)। पक्का ब्रह्मचारी व्यक्ति था, पक्का ब्रह्मचारी ! उसे फिर ऐसा हो गया था कि मैं बहुत शक्तिवाला हूँ।

मुमुक्षु : मैं भगवान !

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, ऐसा हो गया था। ब्रह्मचारी पक्का, हाँ ! कोई आरोप डाले ऐसा नहीं। बराबर ! एक बार कोई विवाह करता होगा तो कहे कि किसका विवाह है ? मेरा विवाह करो न ! भद्रिक मनुष्य, ऐसा भोला ! विवाह करने का कहा, वहाँ तीन दिन... उल्टी हुई ! ऐसा ब्रह्मचर्य बाहर की क्रिया (पाले) उसमें फिर लोगों को (विशेषता लगती है)। काठी में जाये, कोली में जाये, उसकी छाप पड़े, पुण्यवन्तपने की ! घोड़ी भी ऐसी रखता ऐसे.... आहा...हा... ! माँस और शराब छुड़ावे, हजार लोगों को, हाँ ! फिर आवे तो लोग कहें निहालकरण... निहालकरण.... निहालकरण। यह निहालकरण आये हैं ! यहाँ तो तीन लोक के नाथ हैं, वे निहालकरण हैं ! आहा...हा... ! सर्वज्ञ परमेश्वर ! यह सब सुना हुआ है, हाँ ! ऐ...ई... भाई ! गढडा में ऐसी सब बातें सुनी थीं।

(यहाँ) कहते हैं **पुद्गल की भाँति** पर्याय से भी **अनेक प्रदेशीपना नहीं है;.....** आहा...हा.. ! **क्योंकि परस्पर अन्तर के बिना प्रस्ताररूप....** विस्तार है। आकाश के इतने में असंख्य प्रदेश हैं, उनमें एक-एक प्रदेशी, एक-एक कालाणु (रह रहा है)। इतने में असंख्य कालाणु पड़े हैं। इतने भाग में आकाश के असंख्य प्रदेश और एक-एक प्रदेश में एक-एक कालाणु — इतने भाग में-अंगुल के असंख्य भाग में असंख्य कालाणु हैं। कहीं अन्त ही नहीं है, कहते हैं। पूरा लोक ऐसा आया था न ? अंजनचूर्ण की भाँति नहीं

आया था? अंजनचूर्ण का (दृष्टान्त) आया था न? **अनेक द्रव्यों की अपेक्षा से अंजनचूर्ण से (अंजन के बारीक चूर्ण से) भरी हुई डिब्बी के न्याय से पूरे लोक में ही है।** आहा...हा...! तीनों आया था देखो! **काल, जीव और पुद्गल....** इसमें तीनों आया था (१३६ गाथा) **काल, जीव और पुद्गल एक द्रव्य की अपेक्षा से लोक के एकदेश में रहते हैं और अनेक द्रव्यों की अपेक्षा से अंजनचूर्ण से (अंजन के बारीक चूर्ण से) भरी हुई डिब्बी के न्याय से पूरे लोक में ही है।** आहा...हा...! यहाँ इतने में असंख्य कालाणु हैं, क्योंकि आकाश के प्रदेश असंख्य हैं। कितने? आहा...हा...! असंख्यात चौबीसी के समय हों उतने तो यहाँ आकाश के प्रदेश हैं। एक-एक प्रदेश में एक-एक कालाणु (रहता है तो) इतने में असंख्यात चौबीसी के समय (जितने) कालाणु हैं! आहा....हा...!

परस्पर सम्पर्क न होने से.... कहते हैं, भले ऐसे एक साथ जत्था पड़ा है परन्तु एक-दूसरे को सम्पर्क/सम्बन्ध है नहीं। **एक-एक आकाशप्रदेश को व्याप्त करके रहनेवाले....** देखा? **कालद्रव्य की वृत्ति तभी होती है (अर्थात् कालाणु की परिणति तभी निमित्तभूत होती है) कि जब प्रदेशमात्र परमाणु उस (कालाणु) से व्याप्त एक आकाशप्रदेश को मन्दगति से उल्लंघन करता हो।** एक परमाणु मन्दगति से उल्लंघन करे इतने में वह कालद्रव्य है। उसमें से उस समय का माप आया, यह समय का धारक द्रव्य, माप देनेवाला वह द्रव्य वहाँ है, इतने में कालाणु है। (विशेष कहेंगे!)

प्रवचन नं. १५२ ज्येष्ठ कृष्ण ४ शुक्रवार, २७ जून १९७५

(प्रवचनसार) १३८ (गाथा का) भावार्थ, ज्ञेयतत्त्व प्रज्ञापन का कथन है न? ज्ञेय का? छह द्रव्य ज्ञेय हैं, उनका क्या स्वरूप है, उसका वर्णन (चलता है)। उसमें अभी कालाणु का वर्णन चलता है।

भावार्थ - लोकाकाश के असंख्याप्रदेश हैं।.... लोक है, उसमें आकाश के असंख्य प्रदेश हैं। **एक-एक प्रदेश में एक-एक कालाणु रहा हुआ है।....** देखो! यह कुन्दकुन्दाचार्यदेव कालाणु द्रव्य की सिद्धि करते हैं। श्वेताम्बर यह नहीं मानते, अन्यत्र तो

(यह बात) नहीं परन्तु वे भी नहीं मानते। यह सिद्धि कुन्दकुन्दाचार्यदेव कहते हैं। **वे कालाणु स्निग्ध-रूक्षगुण के अभाव के कारण रत्नों की राशि की भाँति....** असंख्य (कालाणु) **पृथक्-पृथक् ही रहते हैं;....** रत्न का ढेर भले एक साथ हो परन्तु रत्न पृथक्-पृथक् है। इसी प्रकार एक-एक आकाश के (प्रदेश में) एक-एक कालाणु, असंख्य प्रदेश में असंख्य कालाणु रत्नराशि की तरह भिन्न-भिन्न है। **पुद्गल-परमाणुओं की भाँति परस्पर मिलते नहीं हैं।** पुद्गल परमाणु में स्निग्ध-रूक्षत्व के कारण दो, तीन अनन्त आदि स्कन्ध होते हैं। इसमें वह नहीं है।

अब उसका माप बताते हैं। **जब पुद्गलपरमाणु आकाश के एक प्रदेश को मन्दगति से उल्लंघन करता है....** मन्दगति से (उल्लंघन करे तो), उग्रगति से तो एक समय में चौदह ब्रह्माण्ड चला जाता है परन्तु मन्दगति से उल्लंघन करे **(अर्थात् एक प्रदेश से दूसरे अनन्तर-निकटतम प्रदेश पर....)** एक प्रदेश से दूसरे अनन्तर (अर्थात्) अन्तर बिना का दूसरा प्रदेश। **(मन्दगति से जाता है) तब उस (उल्लंघित किये जानेवाले) प्रदेश में रहनेवाला कालाणु उसमें निमित्तभूतरूप से रहता है।....** परमाणु एक आकाश के प्रदेश से दूसरे प्रदेश में जाये, उसमें उस जगह रहनेवाला कालाणु उसे निमित्तभूत वर्तता है।

इस प्रकार प्रत्येक कालाणु पुद्गलपरमाणु के एक प्रदेश तक के गमन पर्यन्त ही सहकारीरूप से रहता है,.... प्रत्येक कालाणु-असंख्य, पुद्गल परमाणु को एक प्रदेश से दूसरे प्रदेश पर्यन्त गमन (करने में) निमित्तरूप सहकारी वर्तता है। **अधिक नहीं; इससे स्पष्ट होता है कि कालद्रव्य पर्याय से भी अनेक प्रदेशी नहीं है।** जैसे परमाणु पर्याय से अनेक प्रदेशी होता है, वैसे यह नहीं (होता)। कालाणु पदार्थ है। अनन्त गुण है, एक-एक कालाणु में अनन्त गुण है। ●

गाथा - १३९

अथ कालपदार्थस्य द्रव्यपर्यायौ प्रज्ञापयति -

वदिवददो तं देसं तस्सम समओ तदो परो पुव्वो।
जो अत्थो सो कालो समओ उप्पण्णपद्धंसी।।१३९।।

व्यतिपततस्तं देशं तत्समयः समयस्ततः परः पूर्वः।
योऽर्थः स कालः समय उत्पन्नप्रध्वंसी।।१३९।।

यो हि येन प्रदेशमात्रेण कालपदार्थेनाकाशस्य प्रदेशोऽभिव्याप्तस्तं प्रदेशं मन्दगत्यातिक्रमतः परमाणोस्तत्प्रदेशमात्रातिक्रमणपरिमाणेन तेन समो यः कालपदार्थसूक्ष्मवृत्तिरूपसमयः स तस्य कालपदार्थस्य पर्यायस्ततः एवंविधात्पर्यायात्पूर्वोत्तरवृत्तिवृत्तत्वेनव्यञ्जितनित्यत्वे योऽर्थः तत्तु द्रव्यम्। एवमनुत्पन्नाविध्वस्तो द्रव्यसमयः, उत्पन्नप्रध्वंसी पर्यायसमयः। अनंशः समयोऽय-माकाशप्रदेशस्यानंशत्वान्यथानुपपत्तेः। न चैकसमयेन परमाणोरालोकान्तगमनेऽपि समयस्य सांशत्वं, विशिष्टगतिपरिणामाद्विशिष्टावगाहपरिणामवत्। तथाहि - यथा विशिष्टावगाहपरिणामा-देकपरमाणुऽनन्तपरमाणुस्कन्धः परमाणोरनंशत्वात् पुनरप्यनन्तांशत्वं न साधयति, तथा विशिष्टगतिपरिणामादेककालाणुव्याप्तैकाकाशप्रदेशातिक्रमणपरिमाणावच्छिनेनैकसमयेनैकस्माल्लो-कान्ताद्द्वितीयं लोकान्तमाक्रामतः परमाणोरसंख्येयाः कालाणवः समयस्यानंशत्वादसंख्येयांशत्वं न साधयन्ति।।१३९।।

अथ पूर्वोक्तकालपदार्थस्य पर्यायस्वरूपं द्रव्यस्वरूपं च प्रतिपादयति - **वदिवददो** तस्य पूर्वसूत्रोदितपुद्गलपरमाणोर्व्यतिपततो मन्दगत्या गच्छतः। कं कर्मतापन्नम्। **तं देसं** तं पूर्वगाथो-दितं कालाणुव्याप्तमाकाशप्रदेशम्। **तस्सम** तेन कालाणुव्याप्तैकप्रदेशपुद्गलपरमाणुमन्दगतिगमनेन समः समानः सदृशस्तत्समः **समओ** कालाणुद्रव्यस्य सूक्ष्मपर्यायभूतः समयो व्यवहारकालो भवतीति पर्यायव्याख्यानं गतम्। **तदो परो पुव्वो** तस्मात्पूर्वोक्तसमयरूपकालपर्यायात्परो भाविकाले पूर्वमतीतकाले च **जो अत्थो** यः पूर्वापरपर्यायेष्वन्वयरूपेण वृत्तपदार्थो द्रव्यं **सो कालो** स कालः कालपदार्थो भवतीति द्रव्यव्याख्यानम्। **समओ उप्पण्णपद्धंसी** स पूर्वोक्तसमयपर्यायो यद्यपि पूर्वापरसमयसन्तानापेक्षया

संख्येयासंख्येयानन्तसमयो भवति, तथापि वर्तमानसमयं प्रत्युत्पन्नप्रध्वंसी। यस्तु पूर्वोक्तद्रव्यकालः स त्रिकालस्थायित्वेन नित्य इति। एवं कालस्य पर्यायस्वरूपं द्रव्यस्वरूपं च ज्ञातव्यम्। अथवानेन गाथाद्वयेन समयरूपव्यवहारकालव्याख्यानं क्रियते। निश्चयकालव्याख्यानं तु 'उप्पादो पद्धंसो' इत्यादि गाथात्रयेणाग्रे करोति। तद्यथा - **समओ** परमार्थकालस्य पर्यायभूतसमयः। **अवप्पदेसो** अपगतप्रदेशो द्वितीयादिप्रदेशरहितो निरंश इत्यर्थः। कथं निरंश इति चेत्। **पदेसमेत्तस्स दवियजादस्स** प्रदेशमात्रपुद्गलद्रव्यस्य संबन्धी योऽसौ परमाणुः **वदिवादादो वट्टदि** व्यतिपातात् मन्दगतिगमनात्सकाशात्स परमाणुस्तावद्गमनरूपेण वर्तते। कं प्रति। **पदेसमागासदवियस्स** विवक्षितैकाकाशप्रदेशं प्रति। इति प्रथमगाथाव्याख्यानम्। **वदिवददो तं देसं** स परमाणुस्तमाकाशप्रदेशं यदा व्यतिपतितोऽतिक्रान्तो भवति **तस्सम समओ** तेन पुद्गलपरमाणुमन्दगतिगमनेन समः समानः समयो भवतीति निरंशत्वमिति वर्तमानसमयो व्याख्यातः। इदानीं पूर्वापरसमयौ कथयति - **तदो परो पुव्वो** तस्मात्पूर्वोक्तवर्तमानसमयात्परो भावी कोऽपि समयो भविष्यति पूर्वमपि कोऽपि गतः **अत्थो जो** एवं यः समयत्रयरूपोर्थः **सो कालो** सोऽतीतानागतवर्तमानरूपेण त्रिविधव्यवहारकालो भण्यते। **समओ उप्पण्णपद्धंसी** तेषु त्रिषु मध्ये योऽसौ वर्तमानः स उत्पन्नप्रध्वंसी अतीतानागतौ तु संख्येयासंख्येयानन्त-समयावित्यर्थः। एवमुक्तलक्षणे काले विद्यमानेऽपि परमात्मतत्त्वमलभमानोऽतीतानन्तकाले संसारसागरे भ्रमितोऽयं जीवो यतस्ततः कारणातदेव निजपरमात्मतत्त्वं सर्वप्रकारोपादेयरूपेण श्रद्धेय, स्वसंवेदनज्ञानरूपेण ज्ञातव्यमाहारभयमैथुनपरिग्रहसंज्ञास्वरूपप्रभृतिसमस्तरागादिविभावत्यागेन ध्येयमिति तात्पर्यम्।।१३९।।

अब, काल पदार्थ के द्रव्य और पर्याय को बतलाते हैं —

उल्लंघता नभ-प्रदेश को, तत्सम समय वह है 'समय'।
ध्रुवता धरे वह कालद्रव्य, उत्पन्न-ध्वंसी है समय॥

अन्वयार्थ - **[तं देशं व्यतिपततः]** परमाणु एक आकाश प्रदेश का (मन्दगति से) उल्लंघन करता है तब **[तत्समः]** उसके बराबर जो काल (लगता है) वह **[समयः]** 'समय' है; **[ततः पूर्वः परः]** उस (समय) से पूर्व तथा पश्चात् ऐसा (नित्य) **[यः अर्थः]** जो पदार्थ है **[सः कालः]** वह कालद्रव्य है; **[समयः उत्पन्नप्रध्वंसी]** 'समय' उत्पन्नध्वंसी है।

टीका - किसी प्रदेशमात्र कालपदार्थ के द्वारा आकाश का जो प्रदेश व्याप्त हो, उस प्रदेश को जब परमाणु मन्दगति से अतिक्रम (उल्लंघन) करता है, तब उस प्रदेशमात्र

---

१. अतिक्रमण = उल्लंघन करना। २. परिमाण = माप।

अतिक्रमण[१] के परिमाण[२] के बराबर जो कालपदार्थ की सूक्ष्मवृत्तिरूप 'समय' है वह, उस कालपदार्थ की पर्याय है; और ऐसी उस पर्याय से पूर्व की तथा बाद की वृत्तिरूप[३] से प्रवर्तमान होने से जिसका नित्यत्व प्रगट होता है, ऐसा पदार्थ वह द्रव्य है। इस प्रकार द्रव्य -समय (कालद्रव्य) अनुत्पन्न-अविनष्ट है और पर्यायसमय उत्पन्नध्वंसी है (अर्थात् 'समय' पर्याय उत्पत्ति-विनाशवाली है।) यह 'समय' निरंश है, क्योंकि यदि ऐसा न हो तो आकाश के प्रदेश का निरंशत्व न बने।

और एक समय में परमाणु लोक के अन्त तक जाता है फिर भी 'समय' के अंश नहीं होते; क्योंकि जैसे (परमाणु के) विशिष्ट (खास प्रकार का) अवगाहपरिणाम होता है, उसी प्रकार (परमाणु के) विशिष्ट गतिपरिणाम होता है। इसे समझाते हैं — जैसे विशिष्ट अवगाहपरिणाम के कारण एक परमाणु के परिमाण के बराबर अनन्त परमाणुओं का स्कन्ध बनता है, तथापि वह स्कन्ध, परमाणु के अनन्त अंशों को सिद्ध नहीं करता, क्योंकि परमाणु निरंश है; उसी प्रकार जैसे एक कालाणु से व्याप्त एक आकाश-प्रदेश के अतिक्रमण के माप के बराबर एक 'समय' में परमाणु विशिष्ट गति परिणाम के कारण लोक के एक छोर से दूसरे छोर तक जाता है, तब (उस परमाणु के द्वारा उल्लंघित होनेवाले) असंख्य कालाणु 'समय' के असंख्य अंशों को सिद्ध नहीं करते, क्योंकि 'समय' निरंश है।

भावार्थ – परमाणु को एक आकाशप्रदेश से दूसरे अनन्तर (अन्तररहित) आकाश -प्रदेश पर मन्दगति से जाने में जितना काल लगता है, उसे 'समय' कहते हैं। वह समय, कालद्रव्य की सूक्ष्मातिसूक्ष्म पर्याय है। कालद्रव्य नित्य है; 'समय' उत्पन्न होता है और नष्ट होता है। जैसे, आकाशप्रदेश, आकाशद्रव्य का छोटे से छोटा अंश है, उसके भाग नहीं होते, उसी प्रकार 'समय' कालद्रव्य की छोटी से छोटी निरंश पर्याय है, उसके भाग नहीं होते। यदि 'समय' के भाग हों तो परमाणु के द्वारा एक 'समय' में उल्लंघन किये जानेवाले आकाश-प्रदेश के भी उतने ही भाग होने चाहिए; किन्तु आकाशप्रदेश तो निरंश हैं; इसलिए 'समय' भी निरंश ही है।

---

३. **वृत्ति = वर्तना से परिणति है (कालपदार्थ वर्तमान समय से पूर्व की परिणतिरूप तथा उसके बाद की परिणतिरूप से परिणमित होता है, इसलिए उसका नित्यत्व प्रगट है।)**

यहाँ प्रश्न होता है कि ''जब पुद्‌गल-परमाणु शीघ्र गति के द्वारा एक 'समय' में लोक के एक छोर से दूसरे छोर तक पहुँच जाता है, तब वह चौदह राजू तक आकाश-प्रदेशों में श्रेणिबद्ध जितने कालाणु हैं, उन सबको स्पर्श करता है; इसलिए असंख्य कालाणुओं को स्पर्श करने से 'समय' के असंख्य अंश होना चाहिए।'' इसका समाधान यह है —

जैसे अनन्त परमाणुओं का कोई स्कन्ध, आकाश के एक प्रदेश में समाकर परिमाण में (कद में) एक परमाणु जितना ही होता है, सो वह परमाणुओं के विशेष (खास) प्रकार के अवगाहपरिणाम के कारण ही है; (परमाणुओं में ऐसी ही कोई विशिष्ट प्रकार की अवगाहपरिणाम[१] की शक्ति है, जिसके कारण ऐसा होता है) इससे कहीं परमाणु के अनन्त अंश नहीं होते; इसी प्रकार कोई परमाणु एक समय में असंख्य कालाणुओं को उल्लंघन करके लोक के एक छोर से दूसरे छोर तक पहुँच जाता है, सो वह परमाणु के विशेष प्रकार के गतिपरिणाम के कारण ही है; (परमाणु में ऐसी ही कोई विशिष्ट प्रकार के गतिपरिणाम की शक्ति है, जिसके कारण ऐसा होता है) इससे कहीं 'समय' के असंख्य अंश नहीं होते॥ १३९॥

प्रवचन नं. १५२ का शेष — ज्येष्ठ कृष्ण ४ — शुक्रवार, २७ जून १९७५

अब, काल पदार्थ के द्रव्य और पर्याय को बतलाते हैं.... १३९ गाथा।

वदिवददो तं देसं तस्सम समओ तदो परो पुव्वो।
जो अत्थो सो कालो समओ उप्पण्णपद्धंसी।।१३९।।

उल्लंघता नभ-प्रदेश को, तत्सम समय वह है 'समय'।
ध्रुवता धरे वह कालद्रव्य, उत्पन्न-ध्वंसी है समय॥

ओ...हो...! आचार्यों ने द्रव्य को समझाने की शैली में कितनी सरलता से समझाया है? **टीका - किसी प्रदेशमात्र काल पदार्थ के द्वारा आकाश का जो प्रदेश व्याप्त हो, उस प्रदेश को जब परमाणु मन्द गति से अतिक्रम (उल्लंघन) करता है, तब**

१. आकाश में भी अवगाहहेतुत्वगुण के कारण ऐसी शक्ति है कि उसका एक प्रदेश भी अनन्त परमाणुओं को अवकाश देने में समर्थ है।

उस प्रदेशमात्र अतिक्रमण के परिमाण के बराबर जो काल पदार्थ की सूक्ष्मवृत्तिरूप 'समय' है.... सूक्ष्म परिणतिरूप पर्याय **वह, उस काल पदार्थ की पर्याय है;....** एक परमाणु एक प्रदेश से दूसरे में जाये, उसमें काल द्रव्य की एक समय की पर्याय उसे निमित्त है। द्रव्य, वह द्रव्य है। कालद्रव्य की एक समय की पर्याय उसे निमित्तभूत है। आहा... ! वह समय है। यह पर्याय को सिद्ध किया। **वह, उस कालपदार्थ की पर्याय है;....**

पहले द्रव्य को सिद्ध करते हैं। **और ऐसी उस पर्याय से पूर्व की तथा बाद की वृत्तिरूप से....** अर्थात् पर्याय (रूप से) **प्रवर्तमान होने से....** पहले और बाद की पर्याय में द्रव्य वर्तता होने से। **जिसका नित्यत्व प्रगट होता है, ऐसा पदार्थ वह द्रव्य है।....** कहते हैं कि पहले समय की पर्याय व्यय होती है, फिर उत्पन्न होती है, परन्तु उसमें कायम / स्थायी टिकनेवाला द्रव्य है, वह नित्य है। यह पर्याय जिसकी है, वह नित्य है। आहा...हा... !

सम्प्रदाय निकलने के बाद यह तो बनाया है। कुन्दकुन्दाचार्य के समय में श्वेताम्बर सम्प्रदाय निकल चुका था। पहले निकल चुका था, तथापि इस बात को स्पष्ट सिद्ध करते हैं।

इस प्रकार द्रव्य समय (कालद्रव्य) अनुत्पन्न-अविनष्ट है.... वह पर्याय जो है, (जो) परमाणु को गति में निमित्त (होती है), वह पर्याय तो उत्पन्न-ध्वंसी है परन्तु उस पर्याय का कायम-टिकनेवाला तत्त्व, वह नित्य है। आहा...हा... ! ऐसा अब कहाँ समझे ? सूक्ष्म... सूक्ष्म... !

एक न्याय तो ऐसा सूक्ष्म है कि एक समय में अनन्त गुणवाला द्रव्य, जीव जानता है। अनन्त गुणवाला द्रव्य एक समय में जानता है, तथापि कहते हैं कि समय का भंग — पर्याय के अनन्त भंग नहीं पड़ते। पर्याय के (भंग), हाँ ! क्या कहा ? वस्तु है, वह अनन्त गुण सम्पन्न है, स्वयं भगवान ! उसकी एक समय की पर्याय, अनन्त गुण का एकरूप, उसे जानती है — तो एक समय में अनन्त गुण जाने या अनन्त गुण का एकरूप जाने, परन्तु उसमें भेद ज्ञात हो गया है। इस कारण एक समय की पर्याय के कोई अनन्त भाग नहीं पड़ते। समझ में आया ? इसके अविभाग प्रतिच्छेद पड़ें, परन्तु वह पर्याय अनन्त नहीं होती। आहा...हा... ! समझ में आया ?

केवलज्ञान की पर्याय में अपने अनन्त... अनन्त... अनन्त... गुण और यह लोकालोक ज्ञात हो, तथापि एक पर्याय है, वह अनन्त पर्याय नहीं है तो भी पर्याय के अविभाग प्रतिच्छेद अनन्त हैं। आहा...हा...! भाई! यह पर्याय की शक्ति है। इन अनन्त अविभाग प्रतिच्छेदों से पर्याय अनन्त (हो जाती है) — ऐसा नहीं है। आहा...हा...! उसका स्वभाव... आहा...हा...!

इस प्रकार द्रव्यसमय (कालद्रव्य) अनुत्पन्न-अविनष्ट है और पर्यायसमय उत्पन्नध्वंसी है (अर्थात् 'समय' पर्याय उत्पत्ति-विनाशवाली है।) यह 'समय' निरंश है, क्योंकि यदि ऐसा न हो तो आकाश के प्रदेश का निरंशत्व न बने।'.... (परमाणु) एक ही प्रदेश में से दूसरे प्रदेश में जाता है, वह प्रदेश भी निरंश है और समय में वर्तता वह कालद्रव्य-उत्पन्नध्वंसी पर्याय, वह भी एक समय की है और उसका धारक त्रिकाली द्रव्य वह भी वहाँ है। आहा...हा...! समझ में आया?

और एक समय में परमाणु लोक के अन्त तक जाता है.... अब विशेष (स्पष्ट) करते हैं। (परमाणु) मन्दगति से तो आकाश के एक (प्रदेश से) दूसरे (प्रदेश) जाता है, तो एक समय का माप वहाँ आ गया, परन्तु वह परमाणु एक समय में **लोक के अन्त तक जाता है, फिर भी 'समय' के अंश नहीं होते;....** समय असंख्य नहीं हो जाते। एक समय के असंख्य भाग नहीं पड़ते। परमाणु एक समय में लोकान्त (तक जाये)। आहा...हा...! अरे! जीव और कार्माण के शरीर तथा तैजस के शरीर एक समय में नीचे - अधोलोक में हो तो ऊपर चला जाये। आहा...हा...! एक समय में जाये और ऐसे असंख्य प्रदेश उल्लंघन करे, इसलिए एक समय का असंख्यातवाँ भाग वहाँ होता है — ऐसा नहीं है। समय का अंश नहीं-भाग नहीं है, उसके बिना बाहर में ऐसा का ऐसा अनन्त काल गँवाया है। आहा...हा...! समझ में आया? यह है कहीं?

मुमुक्षु : अगुरुलघु (गुण में) बारह भेद किये।

पूज्य गुरुदेवश्री : वह तो सूक्ष्म बात है, वह तो आगमगम्य-केवलज्ञानगम्य बात है। यह तो श्रुतज्ञानगम्य हो ऐसी बात है। एक समय में लोकालोक जाने, यह तो श्रुतज्ञानगम्य पर्याय है (जो लोकालोक जानती है) वह पर्याय अनन्त पर्याय नहीं होती। वह कोई

अगुरुलघु नहीं। अगुरुलघु तो एक समय की पर्याय में अनन्त अविभागी प्रतिच्छेद है, वह भी श्रुतगम्य है, वह भावश्रुतगम्य है परन्तु उसमें भी एक समय में षट्गुण हानि-वृद्धि होती है, वह आगमगम्य है। समझ में आया? ऐसी बात है।

एक समय में परमाणु, लोक के अन्त तक चला जाता है; नीचे हो वह सिद्ध हैं, वहाँ तक चला जाता है। समय एक! असंख्य आकाश प्रदेश उल्लंघन करे! तो भी **'समय' के अंश नहीं होते;....** एक समय में असंख्य प्रदेश गया, इसलिए एक समय के असंख्य भाग पड़ गये — ऐसा नहीं है। आहा...हा...! समय की पर्याय में अनन्त अविभाग प्रतिच्छेद हों, वह अलग बात है। भाई! काल की एक समय की पर्याय में अनन्त अविभाग प्रतिच्छेद हों, वह अलग बात है, परन्तु (एक) समय में ऐसे गया, इसलिए समय का असंख्यातवाँ भाग हो गया, उस पर्याय का असंख्यवाँ भाग हुआ — ऐसा नहीं है। आहा...हा...! देखो न स्वभाव... स्वभाव...! वहाँ कहा है, हाँ!

एवमुक्तलक्षणे काले विद्यमानेऽपि परमात्मतत्त्वमलभमानोऽतीतानन्तकाले संसारसागरे भ्रमितोऽयं जीवो — २७६ पृष्ठ संस्कृत में (जयसेनाचार्यदेव की टीका में) है। ओहो...हो...! ऐसे अनन्त काल, (व्यतीत हुए)। परमात्मतत्त्व आनन्द का नाथ प्रभु! ज्ञायकभाव से भरपूर! इसके अलभ्य में-इसकी प्राप्ति बिना अनन्त... अनन्त काल में इसने परिभ्रमण किया। है न अन्दर? संस्कृत में है। **काले विद्यमानेऽपि** आहा...हा...! **परमात्मतत्त्वमलभमानोऽतीतानन्तकाल** आहा...हा...! **संसारसागरे भ्रमितोऽयं जीवो यतस्ततः कारणात्तदेव निजपरमात्मतत्त्वं सर्वप्रकारोपादेयरूपेण श्रद्धेयं,...** इसका सारांश लिया। आहा...हा...! निज परमात्मतत्त्व, जिसमें अनन्त गुण! परन्तु समझने के लिए उसे एक समय बस है। आहा...हा...! समझ में आया? द्रव्य ज्ञात हुआ, उसमें द्रव्य के जितने गुण हैं, वे सब ज्ञात हो गये हैं या नहीं? ओहो...हो...! निर्विकल्प प्रतीति बिना इस पर्याय में अनन्त गुणवाला एक (द्रव्य) भंग पड़े बिना की पर्याय में ज्ञात हो, वह निर्विकल्प प्रतीति होती है। आहा...हा...!

निज परमात्मतत्त्व को... कहा है न? **सर्वप्रकारोपादेयरूपेण श्रद्धेयं,** आहा...हा...! भगवान आत्मा! इन समस्त पदार्थों का ज्ञान, स्व का ज्ञान हो, उसका पर का सच्चा ज्ञान

होता है। स्वरूपग्राही ज्ञान के बिना पर का वास्तविक यथार्थ ज्ञान नहीं हो सकता। आहा...हा...! ऐसा निज परमात्मतत्त्व सर्व प्रकार से **उपादेय श्रद्धेयं,** आहा...हा...! भगवान द्रव्यस्वभाव अनन्त गुणरूप द्रव्यस्वभाव ही उपादेय है — ऐसी श्रद्धा करो। आहा...हा...! उसकी पर्याय की बात नहीं, यह तो ऐसा द्रव्य पूरा है। आहा...हा...! भूतार्थ / सत्यार्थ, वही निश्चय है। यह सब बतलाकर सारांश तो यह है।

(परमाणु के) विशिष्ट (खास प्रकार का) अवगाहपरिणाम होता है, उसी प्रकार (परमाणु के) विशिष्ट गतिपरिणाम होता है।..... क्या कहा? जैसे परमाणु में विशिष्ट अवगाह परिणाम होता है... परमाणु को, हाँ! आकाश को (होवे वह) तो ठीक। परमाणु में अवगाह शक्ति है कि जिस जगह रहे, वह अनन्त परमाणु आवे तो भी अवगाहन दे। साधारण अवगाहन तो आकाश का है परन्तु प्रत्येक पदार्थ का, दूसरा एक पदार्थ वहाँ आवे तो उसका अवगाहन करने का गुण है।

प्रत्येक पदार्थ को अवगाह देने का साधारण गुण आकाश का है। उसकी पर्याय (का है) परन्तु परमाणु जहाँ है, उस जगह अनन्त परमाणु आवे तो उस परमाणु का भी अवगाहगुण है। एक जीव है, वहाँ दूसरे जीव आवें तो उस जीव का अवगाहन गुण है। आहा...हा...! यह असाधारण अवगाहन है। इसलिए एक-एक का अवगाहन है। सबको अवगाहन देने की अवगाहनगुण की पर्याय की ताकत है। आहा...हा...! जैनदर्शन की वस्तु... अकेला स्वभाव... स्वभाव... स्वभाव... इस स्वभाव का पता लिये बिना, निर्मल दृष्टि नहीं होती और जन्म-मरण नहीं मिटते।

जैसे विशिष्ट अवगाहपरिणाम के कारण एक परमाणु के परिमाण के बराबर अनन्त परमाणुओं का स्कन्ध बनता है, तथापि वह स्कन्ध परमाणु के अनन्त अंशों को सिद्ध नहीं करता,.... क्या कहा? एक परमाणु है, उतने कदवाला अनन्त परमाणु का स्कन्ध बने। एक परमाणु का जो कद है, उतने ही कदवाला अनन्त परमाणुओं का स्कन्ध बने, इससे कहीं परमाणु का अनन्तवें भाग हो गया है — ऐसा नहीं है। आहा...हा...!

जैसे विशिष्ट अवगाहपरिणाम के कारण एक परमाणु के परिमाण के बराबर अनन्त परमाणुओं का स्कन्ध बनता है.... एक परमाणु जितने में रहे, उतने में

अनन्त परमाणुओं का स्कन्ध रहता है। **तथापि वह स्कन्ध, परमाणु के अनन्त अंशों को सिद्ध नहीं करता,....** अनन्त (परमाणु) होकर एक परमाणु जितना कद हुआ, परमाणु का अनन्तवें भाग का कद रहा और वे सब मिलकर एक परमाणु जितना कद हुआ — ऐसा नहीं है। परमाणु का कद तो उतना का उतना ही है।

अनन्त परमाणु का स्कन्ध हुआ और एक परमाणु जहाँ है, उतने कद में वह रहा। कौन? अनन्त परमाणुओं का स्कन्ध। इससे एक परमाणु का अनन्तवाँ भाग हो गया — ऐसा नहीं है। परमाणु तो अखण्ड द्रव्य है, वह है। कैसी युक्ति से सिद्ध करते हैं, देखो!

अरे...! इतना उत्तराधिकार जो छोड़ गये, उसे समझने की दरकार नहीं होती! यह तो उत्तराधिकार की बात है। आहा...हा...! सन्त उत्तराधिकार छोड़ गये हैं। तेरे ज्ञान की बहुलता कितनी है और कितना उसमें समाता है! उसकी यह बात है। आहा...हा...!

ज्ञान की पर्याय में अनन्त द्रव्य-गुण-पर्याय ज्ञात हो, इससे एक पर्याय कहीं अनन्त पर्यायरूप नहीं हुई; वैसे ही एक परमाणु के कद जितना अनन्त रजकण का स्कन्ध हो, एक परमाणु के कद जितना! इससे एक परमाणु अनन्तवें भाग हो गया — ऐसा नहीं है। परमाणु का भी समान कद है (और) अनन्त (परमाणु में) सबका — एक-एक का समान कद है। आहा...हा...! यह तो अवगाह विशेषता के कारण वह है। परमाणु में ऐसी अवगाह देने की शक्ति है। आहा...हा...! **क्योंकि परमाणु निरंश है;....** एक परमाणु के कद जितना अनन्त परमाणुओं का स्कन्ध होने पर भी, उस परमाणु में अंश नहीं है; परमाणु तो निरंश ही है, परमाणु में भाग नहीं पड़ते। समझ में आया?

उसी प्रकार जैसे एक कालाणु से व्याप्त एक आकाश-प्रदेश के अतिक्रमण के माप के बराबर एक 'समय' में परमाणु विशिष्ट गति परिणाम के कारण.... परमाणु की गति विशिष्टता के कारण **लोक के एक छोर से दूसरे छोर तक जाता है, तब (उस परमाणु के द्वारा उल्लंघित होनेवाले) असंख्य कालाणु 'समय' के असंख्य अंशों को सिद्ध नहीं करते,....** एक समय में असंख्य कालाणु और असंख्य प्रदेश को उल्लंघ कर परमाणु गमन करता है, इसलिए एक समय के असंख्य भाग पड़ गये - ऐसा नहीं है। आहा...हा...! समय तो उतना ही अखण्ड रहा है। आहा...हा...!

एक परमाणु के कद जितना स्कन्ध हुआ तो वह परमाणु तो परमाणु अखण्ड रहा ही है। आहा...हा...! (परमाणु) एक समय में असंख्य प्रदेश उल्लंघन किया, इसलिए वहाँ एक समय का असंख्यातवाँ भाग हुआ — ऐसा नहीं है। वह तो परमाणु की विशिष्ट गति के कारण असंख्य प्रदेश उल्लंघन किया है। आहा...हा...! सिद्ध भगवान यहाँ से सिद्ध हुए और एक समय में (सिद्धालय पहुँचे)! आहा...हा...! जिस समय यहाँ सिद्ध हुए, उसी समय वहाँ गये; इसलिए एक समय के भाग नहीं पड़े कि यहाँ (सिद्ध हुए) बीच में रहे और वहाँ रहे।

इसमें ऐसा है, यह तो दूसरी बात है कि एक समय में यहाँ सिद्ध हुए (बीच में) रास्ता और (वहाँ) रहे — ऐसे तीन भाग नहीं पड़े। पहली (बात तो) अलग रखो। एक समय में असंख्य आकाश के (प्रदेशों को) उल्लंघन किया और असंख्य कालाणु को उल्लंघन किया, इसलिए कहीं एक समय का असंख्यातवाँ भाग पड़ता है, यह तो (बात नहीं है), समझ में आया? एक समय में सिद्ध यहाँ हुए, वे और उसी समय का रास्ता और उसी समय में सिद्ध वहाँ (पहुँचे) — ऐसे एक समय के तीन प्रकार दिखते हैं (परन्तु) कोई तीन भाग नहीं हैं। आहा...हा...! देखो, यह सर्वज्ञस्वरूपी भगवान का यह सिद्धान्त और उनका यह तत्त्व! ऐसा तत्त्व है।

मुमुक्षु : उत्पाद-व्यय नहीं।

पूज्य गुरुदेवश्री : किसमें नहीं?

मुमुक्षु : सिद्ध भगवान में।

पूज्य गुरुदेवश्री : सिद्ध भगवान में अनन्त उत्पाद-व्यय हैं। लो, ठीक! ऐसा सीखे? सिद्ध भगवान में एक समय में अनन्त उत्पाद-व्यय है। अनन्त गुण हैं तो एक-एक गुण के उत्पाद-व्यय (होते हैं)। ऐसे अनन्त गुण के अनन्त उत्पाद-व्यय हैं। आहा...हा...! यहाँ सिद्ध हुए, उनकी यह पर्याय हुई, और पूर्व (पर्याय का) व्यय हुआ, एक समय में यहाँ (पर्याय हुई) और फिर दूसरे समय में दूसरी हुई। आहा...हा...! अरे! इसने तत्त्व का ज्ञान (नहीं किया) और वह पर्याय अनन्त को जानती है! वह जैसा-जैसा है, वैसा जानती है, वह भी स्वरूप को जानते हुए उसे जानती है। आहा...हा...!

देखो न यह सब विवाद! रात्रि में बात करते थे, ककलाट! देश में खलबलाहट हो गया! अहमदाबाद और वहाँ से बसों पर पत्थर फेंके! तूफान चलेगा, आहा...हा...! यहाँ तो तूफान मिटाने की बात है।

यह तो शान्त... शान्त... रस! आहा...हा...! एक समय में शान्तरस! जिस रस में अनन्त गुण का शान्तरस! आहा...हा...! तथापि वह शान्तरस का समय, उस समय का अनन्तवाँ भाग नहीं पड़ता, उसके सामर्थ्य का पड़ता है।

मुमुक्षु : सामर्थ्य तो अनन्त है।

पूज्य गुरुदेवश्री : अनन्त है।

आहा...हा...! भगवान! तेरा एक ज्ञानगुण, उसकी एक समय की पर्याय, जिसका अन्त नहीं है — ऐसे आकाश को जानती है। जिसके इससे अनन्त गुणे गुण! आकाश के प्रदेश अनन्त हैं, उनका अन्त नहीं है। ऐसा अन्त नहीं उसके अनन्त (गुण); इस कारण यहाँ अनन्त गुण हैं! आहा...हा...! भाई, जिसके स्वभाव का क्या कहना! आहा...हा...! ऐसे अनन्त का अन्त नहीं इतने अनन्त गुण! उन्हें एक समय में जाने। आहा...हा...! क्या कहा यह?

आकाश के प्रदेशों का कहीं अन्त है? स्वभाव तो देखो! नास्तिक को भी एक बार मानना पड़े कि बापू! ऐसा... ऐसा... ऐसा... (जाओ) फिर छोर क्या? एक बार कहा था। दो व्यक्ति आये थे, दामनगर से घुमाल... घुमाल... है न, डेढ़-दो मील दूर है। कहा — तुम कुछ न मानो (भले ही परन्तु) इतना कहो कि यह वस्तु — क्षेत्र है ऐसे करते... करते... करते... इस क्षेत्र का (कहीं अन्त है)? कहाँ क्षेत्र नहीं है? कहाँ नहीं है? यह बात देखो तो सही! परन्तु कहीं तो क्षेत्र नहीं — ऐसा तो होगा या नहीं? (यदि ऐसा होवे) तो फिर क्या? जिसके क्षेत्र का ऐसा स्वभाव! आहा...हा...! उसके जाननेवाले के स्वभाव की क्या बात करना!! नास्तिक चाहे जैसा करने जाये, परन्तु तर्क से (उसे मानना पड़ता है कि) यह क्षेत्र (है इसके) बाद... बाद... बाद... बाद... (क्या?) भले ही ऐसा भरा हुआ माने या खाली माने, क्या है!

देखो न, भगवान! जहाँ क्षेत्र की अमापता, अनन्तता... अनन्तता... अनन्तता...

अनन्तता... अनन्त को अनन्त वर्ग, अर्थात् ? एक अनन्त को एक अनन्त से गुणा करो और फिर दूसरे अनन्त को गुणा करो, अनन्त को अनन्त वर्ग से गुणा करो तो भी इसका अन्त आवे ऐसा नहीं है — ऐसा आकाश है !! आहा...हा... ! उसमें यह लोक तो अन्दर एक तिलमात्र है-बिन्दुमात्र है ! और यह लोक तथा अलोक ज्ञान की पर्याय में एक बिन्दुमात्र है !! भगवान ! तेरा ऐसा स्वभाव है, इसलिए यह सब स्वभाव की बात चलती है। दूसरों के स्वभाव की गम्भीरता (इतनी है) तो तेरे स्वभाव की भी गम्भीरता (कितनी) ! इस गम्भीरता को जाननेवाला तो ज्ञान है न ? उसे पता है ? एक प्रदेश से यहाँ गया और अमुक हुआ और अमुक हुआ... काल का सहवर्तीपना, परमाणु को एक प्रदेश कितने में ही है, इसलिए एक पर्याय इतनी ही है और वह उत्पन्नध्वंसी है तथा टिकनेवाला यह है। इसे कुछ पता है ? आहा...हा... ! जिसे पता है, उसे यह कहा जाता है। जिसके अन्दर खबर पड़ी है, उसे यह खबर (की जाती है)। नहीं कहा था ? कि यह हम किसी जड़ को नहीं कहते तथा राग को यह बात नहीं कहते। आहा...हा... ! जाननेवाला भगवान अन्दर चैतन्यस्वरूप है, उसे हम यह ज्ञात कराते हैं, जाननेवाले को ज्ञात कराते हैं। आहा...हा... !

पानी का दृष्टान्त नहीं दिया था ? प्यास लगी हो तो (पानी लाने का) किसी घोड़े को कहते हैं ? दो हजार का घोड़ा हो (उसे कहते हैं) ? आठ वर्ष की बालिका हो तो कहते हैं बेटा ! पानी लाओ, आहा...हा... ! वह समझेगी, जो कहना चाहता हूँ वह समझेगी। आहा...हा... ! उसी प्रकार यहाँ आचार्य कहते हैं कि हम जो कहना चाहते हैं, वह समझनेवाले को समझाते हैं, वह समझेगा, वह समझ सकेगा। ना मत कर ! नहीं समझ में आता — ऐसा न मत कर। समझनेवाले को न समझ में आवे तब किसे समझ में आयेगा ?

(एक) **'समय' में परमाणु विशिष्ट गति परिणाम के कारण लोक के एक छोर से दूसरे छोर तक जाता है, तब (उस परमाणु के द्वारा उल्लंघित होनेवाले) असंख्य कालाणु 'समय' के असंख्य अंशों को सिद्ध नहीं करते,....** एक समय के असंख्य भाग सिद्ध नहीं करते। भले ही असंख्य कालाणु — ऐसे (उल्लंघ कर) जाये। एक परमाणु ऐसे असंख्य कालाणु स्पर्शे परन्तु इससे एक समय का असंख्यातवाँ भाग हुआ (ऐसा नहीं है)। एक इस समय का असंख्य भाग, दूसरे समय का असंख्य भाग —

ऐसा सिद्ध नहीं (करता)। आहा...हा...! सूक्ष्म भाव है, स्वभाव है, यह स्वभाव है। स्वभाव का अस्तित्व ऐसा और इतना है। **क्योंकि 'समय' निरंश है।** एक समय के दो भाग नहीं पड़ते हैं। एक समय में भले ही ऐसे असंख्य कालाणु उल्लंघन किये और आकाश के असंख्य प्रदेश उल्लंघन किये, इससे एक प्रदेश में प्रदेश का असंख्यातवाँ भाग पड़ता है? आहा...!

भावार्थ - परमाणु को एक आकाशप्रदेश से दूसरे अनन्तर (अन्तररहित) आकाश-प्रदेश पर.... अनन्तर अर्थात् अन्तर बिना, दूसरा प्रदेश, ऐसा। **मन्दगति से जाने में जितना काल लगता है....** (जो) काल (लगता है) उसे **'समय' कहते हैं। वह समय कालद्रव्य की सूक्ष्मातिसूक्ष्म पर्याय है।....** यहाँ तो द्रव्य सिद्ध करना है और तब पहले पर्याय सिद्ध करते हैं। जितने में वह पर्याय है, उतने में वह द्रव्य है। आहा...हा...! आकाश के एक प्रदेश से दूसरे प्रदेश में परमाणु जाये, इतने समय को एक समय कहते हैं। तो इस समय की पर्याय की सिद्धि इतने में हुई और इतने में इस पर्याय की सिद्धि हुई तो पर्याय का धारक द्रव्य भी इतने में ही है (— ऐसा सिद्ध होता है)। आहा...हा...! ऐसी बातें हैं! जिनेश्वरदेव सर्वज्ञ परमात्मा! उनके भी दिगम्बर मुनि! यह तो काल को सिद्ध करते हैं!

श्वेताम्बर (मतवाले) काल (द्रव्य) नहीं मानते, पाँच द्रव्य मानते हैं। पाँच द्रव्य की पर्याय को काल कहते हैं। (परन्तु) ऐसा नहीं है, ऐसा है नहीं, बापू! उनका अर्थ ही — तुम्हारा व्यवहारधर्म उपचार धर्म है। आहा...! ऐसा है, हाँ! यह जो शब्द निकलते हैं, ऐसा ही है, तुम्हारा सच्चा धर्म नहीं। आहा...हा...!

ओ...हो...! अमृतचन्द्राचार्य, कुन्दकुन्दाचार्य काल को सिद्ध करते हैं! उसकी पर्याय को सिद्ध करके द्रव्य को सिद्ध करते हैं, एक परमाणु एक प्रदेश से दूसरे (प्रदेश में) जाये उसमें काल का एक समय का माप आता है तो वह समय पर्याय है — काल की पर्याय है। वह काल की पर्याय (जितने में है), उतने में वह द्रव्य है, वह पर्याय द्रव्य को सिद्ध करती है। आहा...हा...!

मुमुक्षु : जितने में पर्याय होवे...

पूज्य गुरुदेवश्री : .....उतने में द्रव्य होता है अर्थात् एक समय में जब पर्याय इतने में है तो इतने में काल का एक अणु है। दो अणु, तीन अणु, एकत्रित होकर पर्याय है — ऐसा है नहीं, यह सिद्ध करना है। आहा...हा... ! न समझ में आये परन्तु सुनने तो दो, सुनो तो सही ! आहा...हा... ! भगवान के मार्ग में... आहा...हा... ! दिगम्बर सन्तों ने स्वभाव का भण्डार खोल दिया है ! ! आहा...हा... ! समझ में आया ? आहा...हा... !

परमाणु को एक आकाशप्रदेश से दूसरे अनन्तर (अन्तररहित) आकाश-प्रदेश पर मन्दगति से जाने में जितना काल लगता है उसे 'समय' कहते हैं। वह समय काल द्रव्य की सूक्ष्मातिसूक्ष्म पर्याय है।.... सूक्ष्म (पर्याय) है। **कालद्रव्य नित्य है;....** इतने में जो कायम टिकनेवाला है, वह द्रव्य नित्य है। **'समय' उत्पन्न होता है और नष्ट होता है।....** एक समय की पर्याय उत्पन्न होती है, नष्ट होती है।

जैसे, आकाशप्रदेश आकाश द्रव्य का छोटे से छोटा अंश है, उसके भाग नहीं होते,.... उसके भाग होते हैं ? आकाश के एक प्रदेश में अनन्त परमाणु आवें, लो ! उससे आकाश का एक परमाणु जितना प्रदेश (है उसमें) अनन्त (परमाणु) आवें, इसलिए एक प्रदेश का अनन्तवाँ भाग हो गया ? किसका ? आकाश का।

आकाश के एक प्रदेश में एक परमाणु जितना चौड़ा (प्रदेश होता है), उसमें अनन्त परमाणु आवें तो आकाश के एक प्रदेश का अनन्तवाँ भाग हो गया ? आहा...हा... ! साधारण लोगों को समझ में आय उतना समझना। भाई ! यहाँ तो जो अधिकार आया हो, उसका वर्णन चलता है न ? आहा...हा... ! यहाँ तो दुनिया को भूल जाने की बात है ! इसका स्वभाव क्या है ? इसे याद करने का समय है ! अपना स्वभाव, हाँ ! आहाहा !

जैसे, आकाशप्रदेश आकाशद्रव्य का छोटे से छोटा अंश है, उसके भाग नहीं होते,.... अनन्त रजकणों का स्कन्ध एक प्रदेश में आवे, इससे प्रदेश का अनन्तवाँ भाग होता है ? प्रदेश तो धारावाही अखण्ड पूर्ण है। **उसके भाग नहीं होते, उसी प्रकार 'समय' कालद्रव्य की छोटी से छोटी निरंश पर्याय है,....** एक परमाणु दूसरे प्रदेश में जाये, इतने में उसका — काल का माप आ जाता है। यह काल का माप, वह पर्याय है, वह सूक्ष्म पर्याय का अंश है। उस पर्याय का अंश जितने में है, उतने में टिकता द्रव्य है,

क्योंकि पर्याय तो उत्पन्नध्वंसी है। उत्पन्नध्वंसी किसके आधार से? वस्तु है उसके (आधार से) आहा...हा...!

यदि 'समय' के भाग हों तो परमाणु के द्वारा एक 'समय' में उल्लंघन किये जानेवाले आकाश प्रदेश के भी उतने ही भाग होने चाहिए;.... यदि समय के भाग पड़ें तो आकाश के प्रदेश एक समय में बहुत उल्लंघे जाते हैं तो उन प्रदेशों के भाग पड़ने चाहिए (परन्तु) ऐसा नहीं है। **किन्तु आकाशप्रदेश तो निरंश हैं;....** उसका अंश तो निरंश है, यह समय जैसे निरंश है। **इसलिए 'समय' भी निरंश ही है।** इतनी बात की है।

यहाँ प्रश्न होता है कि ''जब पुद्गल-परमाणु शीघ्र गति के द्वारा एक 'समय' में लोक के एक छोर से दूसरे छोर तक पहुँच जाता है, तब वह चौदह राजू तक आकाश-प्रदेशों में श्रेणिबद्ध जितने कालाणु हैं उन सबको स्पर्श करता है;.... सबको स्पर्शता है या नहीं? असंख्य कालाणुओं को स्पर्शता है। आहा...हा...! असंख्य चौबीसी के समय जितने आकाश के प्रदेश हैं, उतने कालाणु को स्पर्शे! असंख्य चौबीसी के समय जितने (आकाश के) प्रदेश, उतने कालाणु हैं। वे (परमाणु) ऐसे जायें तो इतने को स्पर्शे (तो क्या) भाग पड़े? काल की पर्याय का अंश ही इतना है, उस अंश के फिर भाग नहीं होते। आहा...हा...! **इसलिए असंख्य कालाणुओं को स्पर्श करने से 'समय' के असंख्य अंश होना चाहिए।''**

इसका समाधान यह है - जैसे अनन्त परमाणुओं का कोई स्कन्ध आकाश के एक प्रदेश में समाकर परिमाण में (कद में) एक परमाणु जितना ही होता है, सो वह परमाणुओं के विशेष (खास) प्रकार के अवगाहपरिणाम के कारण ही है;.... एक परमाणु की चौड़ाई जितने (प्रदेश में) अनन्त परमाणुओं का स्कन्ध आवे, (उतने में) परमाणु के प्रदेश समा जाते हैं। वह अवगाह परिणाम की विशेषता है। इस कारण उस प्रदेश के भाग पड़ गये (— ऐसा नहीं है)। आकाश के एक प्रदेश में अनन्त परमाणु आये, इसलिए इस प्रदेश के भाग पड़ गये — ऐसा नहीं है। आहा...हा...! यह तो उसकी अवगाहन शक्ति की ताकत है।

परमाणुओं में ऐसी ही कोई विशिष्ट प्रकार की अवगाहपरिणाम की शक्ति है,.... देखो! आकाश में तो अवगाहन शक्ति है परन्तु परमाणु में भी ऐसी अवगाहन शक्ति है! एक रजकण जितना आकाश का प्रदेश (है वह) उतना चौड़ा है। एक परमाणु (रहे) फिर वहाँ कोई खाली जगह नहीं है, तथापि वहाँ अनन्त परमाणु आवें। आहा...हा...! अनन्त सब (परमाणु) स्थूल होकर सूक्ष्म हो जायें तो वहाँ समा जाते हैं। जिसके गुण की पर्याय की स्वभावता की हद क्या हो?! आहा...हा...! गुण को तो एक ओर रखो परन्तु इस अवगाहन की एक समय की जो पर्याय है, उसकी बात है न? परमाणु में अवगाहन गुण की एक पर्याय है, उसमें अनन्त परमाणु उसके कद प्रमाण आवें, तथापि उस परमाणु का अनन्तवाँ भाग हो गया — ऐसा नहीं है। आहा...हा...! स्वभाव की बातें ऐसी हैं। आहा...हा...! ऐसी अलौकिक बातें हैं। बापू! जिसका स्वभाव — परमाणु का अवगाहन स्वभाव! उसमें अनन्त (परमाणुओं का स्कन्ध) आवे, वह किस प्रकार? वह जितने में है, उतने में ही सब आ जाते हैं।

प्रश्न : कद बढ़ता है?

समाधान : कद नहीं बढ़ता। आहा...हा...!

उसमें चौदह पूर्वधारी का आता है न? भद्रबाहुस्वामी! खेलते थे। भद्रबाहुस्वामी का जीव गृहस्थाश्रम में था और तब खेल में चौदह गोलियाँ थीं, तब एक मुनि निकले (और कहा) यह चौदह पूर्वधारी होगा — ऐसा लगता है। गोली पर गोली (चढ़ाई)। गोली तो गोल-समान होती है। (ऐसी) चौदह (गोलियाँ) चढ़ाकर बालक खेल रहे थे (इतने में वहाँ से) मुनि निकले, भद्रबाहु के गुरु! ओ...हो...! इस बालक की शक्ति बहुत! चौदह पूर्व का धारक होगा! इसके बाद चौदह पूर्व के धारक हुए। आता है न? गमक गुरु (बोधपाहुड़)! अन्तिम लाईन, (बोधपाहुड) की अन्तिम लाईन में आता है। आहा...हा...!

(परमाणुओं में ऐसी ही कोई विशिष्ट....) विशिष्ट अर्थात् खास। **(प्रकार की अवगाहपरिणाम की शक्ति है, जिसके कारण ऐसा होता है) इससे कहीं परमाणु के अनन्त अंश नहीं होते; इसी प्रकार कोई परमाणु एक समय में**

असंख्य कालाणुओं को उल्लंघन करके लोक के एक छोर से दूसरे छोर तक पहुँच जाता है, सो वह परमाणु के विशेष प्रकार के गति परिणाम के कारण ही है;.... वह तो परमाणु के गति परिणाम के कारण है। इसलिए वहाँ समय के भाग हो जाते हैं (—ऐसा नहीं है)। **(परमाणु में ऐसी ही कोई विशिष्ट प्रकार के गति परिणाम की शक्ति है, जिसके कारण ऐसा होता है)....** देखा? **इससे कहीं 'समय' के असंख्य अंश नहीं होते।**

आहा...हा...! क्या स्वभाव का वर्णन! काल के एक समय का वर्णन, आकाश के एक प्रदेश का वर्णन, परमाणु में एक कद में अनन्त परमाणु रहें, उनका वर्णन!! आहा...हा...! ऐसे ज्ञान की पर्याय का एक समय अनन्त... अनन्त... गुणों को जाने, उससे एक समय की पर्याय के, समय के दो भाग हैं? उसी प्रकार वह पर्याय द्रव्य, गुण को स्पर्श नहीं करती और वह पर्याय लोकालोक को स्पर्श नहीं करती! आहा...हा...! उसके स्वभाव की क्या बातें! स्वयं की इतनी सामर्थ्य है! इस कारण एक समय की पर्याय के अनन्त पर्याय रचे — ऐसा नहीं है। अनन्त अविभागी प्रतिच्छेद होवें, वह अलग बात है।

एक समय की केवलज्ञान पर्याय अनन्त सिद्ध को जानती है, लो! अनन्त केवलज्ञानी जो वहाँ हैं — ऐसे अनन्त केवली यहाँ (ज्ञान की पर्याय में) जानती है, इसलिए एक समय की पर्याय दो तथा तीन हो गयीं? आहा...हा...! ऐसा स्वभाव का भण्डार भगवान आत्मा! उसे छोड़कर दूसरे में रमना, वह अज्ञानरूप से भटकने की रीति है। आ...हा...!

ऐसे परमाणु के, काल के, आकाश के स्वभाव की अनन्तता की बेहदता है, यह जाननेवाला तो ज्ञान है! उसके स्वभाव का जानना, उसे है? काल का समय को है? कालाणु को है? परमाणु को है? आकाश को है? आहा...हा...! जाननेवाला तो यह है। इसमें ऐसा है और वैसा है, ऐसा हुआ और वैसा हुआ (यह कहाँ है)? आहा...हा...! ऐसा भगवान जाननेवाला! उसके अधिकपने को छोड़कर दूसरे को अधिकपना सौंपना, (वह) आत्मा का खून है! आहा...हा...! राग को अधिकपना मानना, पर को अधिकपने मानना (वह निजस्वभाव का खून है)। **णाणसहावाधियं मुणदि आदं।** आज ही नहीं आया? (समयसार) ३१ गाथा — **णाणसहावाधियं मुणदि आदं।** ऐसा ज्ञानस्वभाव वह (सर्व

से) अधिक अर्थात् भिन्न, पृथक् और पूर्ण है; उससे कोई अधिक उसके साथ मिले ऐसी चीज नहीं है। आहा...हा...! अनन्त सिद्ध भगवन्त भी पर्याय में ज्ञात हों, उस पर्याय से भी जाननेवाला अधिक-भिन्न है। आहा...हा...! समझ में आया?

श्रुतज्ञान की पर्याय में अनन्त सिद्ध ज्ञात हों, उससे अनन्तगुणे निगोदिया ज्ञात हों — उससे अनन्तगुणा काल ज्ञात हो, उससे अनन्तगुणे प्रदेश ज्ञात हों, उससे अनन्तगुणे गुण ज्ञात हों... आहा...हा...! तथापि एक समय की पर्याय ऐसे अनन्त... अनन्त... गुणों की अस्ति को स्पर्श किये बिना जानती है, छुए बिना जानती है! अरे... यह तो कैसी ताकत! भाई! समझ में आया? यह १३९ (गाथा पूरी) हुई।

(मूल ग्रन्थ में नीचे फुटनोट में लिखा है) ***आकाश में भी अवगाहहेतुत्वगुण के कारण ऐसी शक्ति है कि उसका एक प्रदेश भी अनन्त परमाणुओं को अवकाश देने में समर्थ है।*** आहा...हा...! अवगाहन गुण की एक पर्याय में अनन्त जीव को, परमाणु को अवगाह देने की ताकत है। धर्मास्तिकाय के एक गुण की एक पर्याय (में) अनन्त जीव, अजीव को गति करने में निमित्तरूप होने की ताकत है। अधर्मास्तिकाय की एक गुण की पर्याय (में) गति प्राप्त (पदार्थ) उनके कारण स्थिर हों, उन्हें निमित्त होने की ताकत है। आहा...हा...! काल का एक समय, (उसमें) अनन्त जीव और पुद्गल (परिणमे), केवली केवलज्ञानरूप परिणमे — ऐसे अनन्त केवली केवलज्ञानरूप परिणमे, (उसमें) एक काल का एक समय निमित्त है। एक परमाणु एक समय में अनन्त गुण का परिणमन करे और असंख्य आकाश को उल्लंघन करे, उस एक समय की पर्याय की इतनी ताकत है। आहा...हा...!

इसी प्रकार जीव की एक समय की पर्याय... यह बात अन्दर बैठना चाहिए, भाई! यह बात तो (ऐसी है) आहा...हा...! ऐसे सबको जाने, फिर भी एक समय की पर्याय में अनन्त भाग नहीं पड़ते, तथापि वह पर्याय अनन्त को जानने पर भी अनन्त में नहीं जाती। आहा...हा...! अनन्त को जानने से अनन्त में नहीं जाती और अनन्त को जानने पर एक समय की पर्याय के अनन्त भाग नहीं होते — पर्यायरूप से भाग नहीं होते। आहा...हा...! ऐसा स्वभाव का भण्डार भगवान स्वयं परमात्मा है। आहा...हा...!

यह सब वर्णन भले ही आकाश का, पर्याय का, समय की पर्याय का, मन्दगति के परमाणु का (किया) या परमाणु के स्कन्ध का वर्णन किया (परन्तु) यह जाननेवाला कौन? ऐसा इस प्रकार है और ऐसा इस प्रकार है.... (सबको) जाननेवाली तो ज्ञान की पर्याय है। आहा...हा...! उसका माहात्म्य है या अन्य (पदार्थ का) माहात्म्य है? गजब बात है।

मुमुक्षु : 'प्रत्यक्ष सद्‌गुरु सम नहीं, परोक्ष जिन उपकार; ऐसा लक्ष्य हुए बिना, उगे न आत्मविचार।'

पूज्य गुरुदेवश्री : बात सत्य... निमित्त से कथन है। समझता है स्वयं से... आहा...हा...! दोपहर में नहीं आया? मूढ़ आत्मा बिना कहे नहीं समझता, तो कहे किस प्रकार समझेगा? समाधिशतक! आहा...हा...! दिगम्बर सन्तों की एक-एक कड़ी, एक-एक पद (ऐसे हैं)। तो शास्त्र की तो क्या बात करना! आहा...हा...! ऐसी शक्ति का वर्णन कहीं **भूतो न भविष्यति —** अन्यत्र ऐसी बात है नहीं परन्तु जो लोग इसमें पड़े हैं, उन्हें भी पता नहीं! आहा...हा...! ऊपर-ऊपर देखकर माने, वह कुछ नहीं चलता। उसके भाव की गम्भीरता, उसके जाननेवाले के भाव की गम्भीरता! उसे जाने बिना यथार्थ जानने में नहीं आता। आहा...हा...! बहुत अच्छी बात आ गयी! आहा...हा...! यह तो अन्दर की पुकार है! आहा...हा...! ऐसी चीज है यह...!

मुमुक्षु : १३९ वीं गाथा फिर से लें।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह सब आ गया है। पहले आया ऐसा फिर से नहीं आता।

मुमुक्षु : जयसेनाचार्यदेव की टीका में आहार संज्ञा, भय संज्ञा...

पूज्य गुरुदेवश्री : वह आता है। वह छोड़कर ऐसा (कहना है) **स्वसंवेदन-ज्ञानरूपेण ज्ञातव्यमाहारभयमैथुनपरिग्रहसंज्ञा...** यह तो अस्ति-नास्ति करके बात की है। आहा...हा...! कल बात तो आयी थी।

मुमुक्षु : उसका तात्पर्य....

पूज्य गुरुदेवश्री : उसका रहस्य। (यह समझकर) करके करना क्या? यह!

समझाने की जो शैली है, वह तो यह है। यह तो कल भी बात की थी। आकाश का अवगाहन एक गुण, ऐसे तो अनन्त गुण! उनकी एक समय की पर्याय, अनन्त परमाणुओं को, जीव को अवगाह देने की ताकत रखती है!

प्रवचन नं. १५३ ज्येष्ठ कृष्ण ५ शनिवार, २८ जून १९७५

(प्रवचनसार) ज्ञेयतत्त्व (प्रज्ञापन की) १३९ वीं (गाथा)। **टीका - किसी प्रदेशमात्र कालपदार्थ के द्वारा आकाश का जो प्रदेश....** अन्त में ऐसा आयेगा कि, **तो आकाश के प्रदेश का निरंशत्व न बने।** (इस पैराग्राफ की) अन्तिम लाईन है न? वह इसे (इस बात को) बतलाती है। १३९ शुरु होती है न? इसका पैराग्राफ की अन्तिम लाईन के साथ मेल है। **किसी प्रदेशमात्र कालपदार्थ के द्वारा....** प्रदेश अर्थात् आकाश का (प्रदेश) **जो प्रदेश व्याप्त हो.... प्रदेशमात्र कालपदार्थ के द्वारा आकाश का जो प्रदेश व्याप्त हो....** प्रत्येक व्यक्ति धीरे से सुनना।

उस प्रदेश को जब परमाणु मन्दगति से अतिक्रम (उल्लंघन) करता है.... उस प्रदेश को (अर्थात्) किसे? आकाश का प्रदेश है, उसमें कालाणु व्याप्त है। अब उसे सिद्ध करना है। थोड़ा सूक्ष्म विषय हो (तो भी) सुनना। समझ में नहीं आता — ऐसा नहीं मानना। **मन्दगति से अतिक्रम (उल्लंघन) करता है, तब उस प्रदेशमात्र अतिक्रमण के परिमाण के बराबर....** है न? **जो कालपदार्थ की सूक्ष्मवृत्तिरूप 'समय'....** आकाश के एक प्रदेश (में) जो कालाणु व्याप्त है, उसे अब सिद्ध करते हैं कि एक परमाणु एक प्रदेश से दूसरे प्रदेश में जाये, उसमें एक समय का माप आ जाता है। वह समय है, वह काल (द्रव्य की) पर्याय है। समय, काल है न? उसकी पर्याय है।

वह, उस कालपदार्थ की पर्याय है;.... देखा? भाई! आहा...हा...! **और ऐसी उस पर्याय से पूर्व की तथा बाद की वृत्तिरूप से प्रवर्तमान....** पहले एक समय और फिर दूसरा (समय-) उसमें प्रवर्तमान जो द्रव्य (कि) **जिसका नित्यत्व प्रगट होता है,....** वह काल नित्य है। एक समय में परमाणु, आकाश के (एक) प्रदेश से दूसरे प्रदेश में मन्दगति से जाये उसके एक समय का माप आ जाता है और एक समय की पर्याय

है, उसे पर्याय कहते हैं। वह पूर्व और बाद की पर्याय को सन्धिवाला द्रव्य वह नित्य है।

उत्पन्नध्वंसी पर्याय, वह अवस्था है और अन्दर उतने में उत्पन्नध्वंसरहित तत्त्व है, जितने में समय का माप आया, उतने में वह (काल) द्रव्य है क्योंकि पर्याय जिस क्षेत्र में है, उतने में ही द्रव्य है।

मुमुक्षु : जितना पर्याय का क्षेत्र....

पूज्य गुरुदेवश्री : उतना द्रव्य का क्षेत्र है, भाई!

ऐसा पदार्थ, वह द्रव्य है।.... यह काल को सिद्ध किया। ओ...हो...! जिसे श्वेताम्बर नहीं मानते। सर्वज्ञ परमात्मा केवली के पथानुगामी सन्तों ने काल को मानने की बात सिद्ध की। आहा...हा...! इस प्रकार द्रव्य है। **इस प्रकार द्रव्य समय (कालद्रव्य) अनुत्पन्न-अविनष्ट है....** यह तो पर्याय उत्पन्न और व्यय होती है, द्रव्य तो ध्रुव है। **और पर्याय समय उत्पन्नध्वंसी है....** पर्याय तो एक समय में उत्पन्न और ध्वंसी — नाश (होती है)।

यह 'समय' निरंश है,.... यह समय निरंश है। कौन? पदार्थ — पूरा कालद्रव्य। उसके फिर भाग नहीं हैं। **क्योंकि यदि ऐसा न हो तो आकाश के प्रदेश का निरंशत्व न बने।** आकाश का प्रदेश भी एक ही प्रदेश में है। उसमें भी पूरा एक ही द्रव्य है। इतने में एक ही द्रव्य है, इसलिए यदि यह द्रव्य एक ही रूप और निरंश न हो तो आकाश के प्रदेश का निरंशत्व भी सिद्ध नहीं होता। आहा...हा...! आकाश के प्रदेश का निरंशत्व है। (एक) प्रदेश है, उसमें दूसरा प्रदेश नहीं है। आकाश का एक प्रदेश है, वह दूसरा प्रदेश नहीं है। निरंश सिद्ध हो जाता है। इस प्रदेश का अंश दूसरा है — ऐसा नहीं है। आकाश का एक प्रदेश है, उसका दूसरा अंश है — ऐसा नहीं है। उसमें एक पर्याय का सिद्धपना हुआ तो उतने ही (क्षेत्र में) कालद्रव्य है तो उतने में आकाश का एक ही प्रदेश है। समझ में आया? आहा...हा...! ऐसी बात है!

और एक समय में परमाणु लोक के अन्त तक जाता है.... अब समय का भाग नहीं होता — ऐसा कहना है। (पहले कहा उसने) आकाश के प्रदेश का भाग नहीं पड़ा, एक ही प्रदेश भिन्न है। वैसे यहाँ कालद्रव्य का अंश भिन्न है। इतने में पूरा कालद्रव्य है।

कालद्रव्य भिन्न है, उसके — द्रव्य के दो भाग पड़ते हैं — ऐसा नहीं है। **और एक समय में परमाणु लोक के अन्त तक जाता है फिर भी 'समय' के अंश नहीं होते;....** एक समय में चौदह ब्रह्माण्ड जाये, (उसमें) एक समय का असंख्यातवाँ भाग (होता है अर्थात्) एक प्रदेश से दूसरे प्रदेश (जाने पर) असंख्यातवाँ (भाग) तीसरे (असंख्यातवाँ भाग) ऐसा करके असंख्य प्रदेशी एक समय (होता है) — ऐसा भाग नहीं पड़ता। आहा... ! आहा... ! सर्वज्ञस्वभाव !

इसमें तो यह सिद्ध करना था कि जैसे परमाणु एक समय में ऐसे जाये तो भी उस समय के भाग नहीं — ऐसे एक समय की काल की पर्याय एक परमाणु एक प्रदेश से दूसरे प्रदेश जाने पर वहाँ काल का माप इतने में आ जाता है; इसलिए उतनी पर्याय जितना वहाँ द्रव्य है। एक प्रदेश में ही वह द्रव्य अखण्ड है। वह कालद्रव्य दूसरे प्रदेश में है — ऐसा नहीं है। वैसे आकाश का प्रदेश भी अकेला ही सिद्ध हो जाता है। अकेले अंश में पूरा द्रव्य है, वह निरंश है; वह प्रदेश का अंश नहीं है। वह प्रदेश है, उसका दूसरा भाग नहीं है।

क्योंकि **जैसे (परमाणु के) विशिष्ट (खास प्रकार का) अवगाहपरिणाम होता है,....** एक परमाणु हो, वहाँ अनन्त परमाणु रहे — ऐसा परमाणु में अवगाह गुण है। आकाश का (अवगाह गुण) है, वह अलग बात है। **उसी प्रकार (परमाणु के) विशिष्ट गतिपरिणाम होता है।....** एक **परमाणु के परिमाण के बराबर अनन्त परमाणुओं का स्कन्ध बनता है....** एक परमाणु की चौड़ाई जितना अनन्त (परमाणुओं का बना हुआ) स्कन्ध है, **तथापि वह स्कन्ध परमाणु के अनन्त अंशों को सिद्ध नहीं करता,....** एक परमाणु जितना स्कन्ध (होवे), उसमें अनन्त परमाणु (होवें), वे कहीं परमाणु का अनन्तवाँ भाग सिद्ध करते हैं — ऐसा नहीं है। परमाणु, परमाणुरूप से सिद्ध है। आहा...हा... ! कठिन बात भाई !

यहाँ तो ऐसा आया था कि एक परमाणु (जितने) एक प्रदेश में अनन्त परमाणु स्कन्ध रहे, तथापि उस परमाणु का अनन्तवाँ भाग वहाँ है — ऐसा नहीं होता। परमाणु अखण्ड पूर्ण है। एक परमाणु के परिमाण जितना अनन्त रजकणों का स्कन्ध होने पर भी, उस (स्कन्ध में) अनन्त रजकण हैं; इसलिए अनन्तवाँ भाग (होता है) ऐसा नहीं है। वहाँ

परमाणु अखण्ड है। इसी प्रकार प्रत्येक परमाणु वहाँ अखण्ड है। वैसे ही प्रदेश अखण्ड है, उसमें दूसरा भाग नहीं है, उसमें अनन्त परमाणु आने पर भी।

इसी प्रकार काल की एक समय की पर्याय उतने में अखण्ड है, उसका द्रव्य भी वहाँ अखण्ड है। यह जाननेवाला कौन ? वह तो वहाँ होती है। यह जाननेवाली ज्ञान की पर्याय है। समझ में आया ? यह ऐसा है और वैसा है, यह इसे कहाँ पता है ? आहा...हा... !

मुमुक्षु : आकाश का एक प्रदेश कहा, उसकी सात दिशा....

पूज्य गुरुदेवश्री : छह दिशा हैं, वह अलग बात है। यह पर्यायनय से भेद पड़ा, वस्तु तो एक अखण्ड है।

यहाँ तो (ऐसा) कहना है कि एक परमाणु एक समय में ऐसे जाये तो भी समय के भेद नहीं हैं। आकाश के एक प्रदेश में अनन्त परमाणु आवें, इससे एक अंश का भेद नहीं होता; वहाँ एक परिमाण जितने अनन्त रजकण हों तो उससे परमाणु का भाग नहीं (होता)। आहा...हा... ! समझ में आया ?

यहाँ तो इससे विशेष बात रात्रि में यह ली थी न ? कि ऐसी एक समय की पर्याय है। अनन्त गुण हैं। तीन काल के समय हैं, उनसे अनन्तवें भाग द्रव्य हैं और उन द्रव्यों से अनन्तगुणा काल है, उससे अनन्त गुणा क्षेत्र है, इससे अनन्त गुणा भाव है। भूतकाल की आदि नहीं, इतना काल है — जिसकी शुरुआत नहीं, उतना काल है। उससे अनन्तगुने जीवद्रव्य हैं। तीन काल से अनन्तवें भाग हैं। जिसके काल का अन्त नहीं, उससे भी इस जीव की संख्या अनन्तगुनी है और जीव की अनन्तगुनी संख्या से पुद्गल की संख्या अनन्तगुनी है; उससे अनन्तगुनी काल की संख्या है; उससे अनन्तगुनी क्षेत्र की संख्या; उससे अनन्तगुने इसके गुण की (संख्या है) ? अर्थात् एक समय की इसकी पर्यायें इतनी है कि क्षेत्र के प्रदेश से अनन्तगुनी पर्यायें हैं। एक समय में अनन्तगुणों की पर्यायें हैं — ऐसी-ऐसी तीन काल की पर्यायें गिनें, एक द्रव्य की, हाँ! तो भी काल के समय से अनन्तगुनी हुई, काल के समय जितनी अनन्तगुनी हुई।

जैसे आकाश के प्रदेश से अनन्तगुनी पर्याय और ऐसी ही पर्याय से अनन्तगुनी; इतनी ऐसा नहीं। काल का परिणाम जो है, उतनी अनन्तगुनी हुई। समझ में आया ? और

ऐसा जो आत्मा – ऐसे अनन्त गुण और उनकी अनन्त पर्यायों की प्रतीति करने की विकल्प की ताकत नहीं है। यहाँ तो यह सिद्ध करना है, भाई! क्योंकि विकल्प है, वह अचेतन है। समझ में आये, इतना पकड़ना, वस्तु सत्य है। इसलिए व्यवहार का जो विकल्प है, उससे ऐसे अनन्त गुणरूप द्रव्य (है, उसकी प्रतीति नहीं हो सकती है)। जिसके गुण की संख्या अपार – माप नहीं। काल का माप नहीं। आदि नहीं; भविष्य की (बात) बाद में रखो। जीव का माप नहीं, अनन्त संख्या है, उससे अनन्तगुने परमाणु, फिर काल, फिर क्षेत्र, उससे अनन्तगुणी पर्याय। एक समय की अनन्तगुणी पर्यायें! इसलिए ऐसे अनन्त गुण हैं, उनकी पर्यायें हैं, ओ...हो...! ऐसी तीन काल की पर्यायों का समूह, वह गुण है; ऐसे अनन्त गुण का समूह, वह द्रव्य है। उस द्रव्य की प्रतीति करने के लिए विकल्प काम नहीं करता। उस द्रव्य की प्रतीति करने में उस द्रव्य की जो सामर्थ्यवाली पर्याय है (वही कार्य करती है)। समझ में आया?

इस द्रव्य के गुण और उनकी जो सामर्थ्यवाली पर्याय है, एक समय की पर्याय, हाँ! द्रव्य, गुण को प्रतीति करने की उस पर्याय की ताकत है। आहा...हा...!

मुमुक्षु : विकल्प की ताकत नहीं।

पूज्य गुरुदेवश्री : ताकत नहीं, अचेतन की ताकत (नहीं)। वह तो ज्ञान की पर्याय है, आहा...हा...! भले ही एक समय की हो! आहा...हा...! समझ में आया? ऐसा ही वस्तु का स्वभाव है। उसकी पर्याय है, एक समय की एक पर्याय; अनन्त गुण को और ऐसी अनन्त प्रगट पर्यायें हैं, उसे प्रतीति में ले सकती है। उस पर्याय की इतनी सामर्थ्य है! निर्मल, सम्यक् पर्याय, निर्मल सम्यक्ज्ञान की एक समय की पर्याय की इतनी ताकत है! आहा...हा...! ऐसा वह ईश्वर है!!

ऐसे अनन्त गुण का एकरूप (द्रव्य), इसकी प्रतीति करने के लिए उसके सन्मुख होना पड़ता है; जो विमुख है (उसे सन्मुख होना पड़ता है।) आहा...हा...! समझ में आया? जिसके जो गुण हैं, उसकी पर्याय को उसके सन्मुख (होना पड़ता है)। सन्मुख हुआ, उसका अर्थ (यह कि) स्वीकार किया.... वह है — ऐसा स्वीकार तब होता है। आहा...हा...! समझ में आया? और तब इसे आनन्द का स्वाद भी साथ में आता है, क्योंकि

पर्याय से पकड़ में आता है, विकल्प से नहीं और पर्याय में अनन्त गुणों का एकरूप (द्रव्य) प्रतीति में आया अर्थात् शक्ति के — गुण के जितने अंश हैं, उन सबके अंश इसकी व्यक्त दशा में आ जाते हैं। आहा...हा...! इसलिए सम्यग्दर्शन की पर्याय इतनी ताकतवाली है, उसकी मोहर - छाप आनन्द की है — उसका ट्रेडमार्क आनन्द का है!

अभी भक्ति में बोले थे, नहीं? भाई! क्या कुछ बोले थे? आनन्द विस्तरे... भगवान की भक्ति में (आया था) वहाँ था न? आनन्द विस्तरे... उसे भी पता नहीं होता। यह भगवान की भक्ति और आरती से कहीं आनन्द का विस्तार नहीं होता। उसमें वह शब्द आया था, पता है। व्यवहार भक्ति करनेवाले का लक्ष्य तो द्रव्य के ऊपर है, इसलिए इसे आनन्द का विस्तार होता है। इसमें यह विकल्प है, उसे आरोप देकर ऐसा कहा जाता है क्योंकि आशुभ परिणाम के समय आनन्द का मन्दपना है; शुभ के समय विशेष है और शुद्ध के समय विशेष है। आहा...हा...! समझ में आया? इसका आनन्द गुण है न? और गुण है, उसे प्रतीति में लिया... आहा...हा...! अर्थात् पर्याय में आनन्द का अंश आया परन्तु अशुभभाव है, तब आनन्द का अंश अल्प वेदन में आता है, शुभ के समय उससे थोड़ा विशेष (वेदन में आता है)। शुद्ध के समय विशेष (वेदन में आता है) ऐसा ही उस गुण का और राग की मन्दता-तीव्रता के साथ ऐसा सम्बन्ध है। आहा...हा...!

यहाँ कहते हैं कि जितनी पर्याय एक द्रव्य की, एक गुण की अनन्त हैं, उन पर्यायों के अनन्तवें भाग द्रव्य है। यह क्या कहा? सभी द्रव्य उस पर्यायों के अनन्तवें भाग हैं और द्रव्य से अनन्तगुनी उनकी एक समय की पर्यायें हैं। जितने द्रव्य हैं, उनसे अनन्तगुनी एक द्रव्य की पर्याय है। आहा...हा...! क्या द्रव्य का पेट गहरा! भाई! कभी सुना नहीं होगा। यह करो... यह करो... यह करो... आहा...हा...! यह तो निर्विकल्प होने की विधि है।

स्वभाव... परमाणु का स्वभाव! एक समय में ऐसे जाये तो भी भाग नहीं पड़ते; क्षेत्र के एक प्रदेश में अनन्त परमाणु रहे, तथापि भाग नहीं पड़ते। आहा...हा...! एक परमाणु के प्रमाण जितने में अनन्त परमाणुओं का स्कन्ध होने पर भी उस द्रव्य का भाग नहीं पड़ता। उस प्रदेश का भाग नहीं पड़ता, उस काल का भाग नहीं पड़ता, उस द्रव्य का भाग नहीं पड़ता। आहा...हा...! समझ में आया? इसी प्रकार एक समय की पर्याय में अनन्त...

अनन्त... ज्ञात होने पर भी समय का भाग नहीं पड़ता (अर्थात्) पर्याय में दूसरी पर्याय है – ऐसा नहीं होता। आहा...हा...! समझ में आया? लो, यह दूसरे प्रकार से आया, भाई! आहा...! यह तो आवे, तद्नुसार आवे न!

एक परमाणु जितनी प्रमाण में अनन्त परमाणुओं का अवगाह होने पर भी, परमाणु का अंश अनन्तवाँ हुआ — ऐसा नहीं है। आहा...हा...! एक प्रदेश में अनन्त रजकण समाहित हैं, इसलिए एक प्रदेश का अनन्तवाँ भाग हुआ (अर्थात्) एक परमाणु का एक प्रदेश अंश, दूसरा रहा, इसका अनन्तवाँ भाग, (फिर) तीसरा... ऐसा करके (अनन्तवाँ भाग हुआ — ऐसा नहीं है), वह प्रदेश अखण्ड है, समय अखण्ड है, परमाणु अखण्ड है, इसी प्रकार एक समय की पर्याय... आहा...हा...! अनन्त गुण को स्वीकारे इससे एक पर्याय का अनन्त भाग पड़ जाए — ऐसा नहीं है। थोड़ा-थोड़ा आया है। यह तो रात्रि में आता था, वह कहा। रात्रि में पौन घण्टा चला था। कहो, समझ में आया? आते... आते... आवे वह (कहा जाता है)। आहा...हा...! ऐसा स्वभाव! अरे! किसका इसे मान करना है? और किसके पास से लेना है? जहाँ पड़ा है, वहाँ से लेता नहीं। आहा...हा...! आनन्द की खान, अनन्त गुण की खान, प्रभु! वहाँ जितना एकाग्र हो, उतना वहाँ से मिले वैसा है। यह बाहर में एकाग्र हो, उतना टले ऐसा है। आहा...हा...!

तथापि वह स्कन्ध, परमाणु के अनन्त अंशों को सिद्ध नहीं करता,.... देखा? एक परमाणु के प्रमाण जितने अनन्त रजकण आकर अवगाह पाते हैं, तो इससे कहीं परमाणु का अनन्तवाँ अंश सिद्ध नहीं करता। समझ में आता है इसमें कुछ? परमाणु तो परमाणु अखण्ड ही है, एक परमाणु के प्रमाण जितने अनन्त (रजकण) हो गये। इससे परमाणु-द्रव्य का अनन्तवाँ भाग हो गया — ऐसा नहीं है। आहा...हा...! **क्योंकि परमाणु निरंश है;....**

उसी प्रकार जैसे एक कालाणु से व्याप्त एक आकाश-प्रदेश के अतिक्रमण के माप के बराबर एक 'समय' में परमाणु विशिष्ट गतिपरिणाम के कारण.... परमाणु के विशिष्टगति परिणाम के कारण असंख्य समय उलंघता है, पूरा लोक (उलंघता है) ऐसा। **लोक के एक छोर से दूसरे छोर तक जाता है तब (उस परमाणु के द्वारा**

उल्लंघित होनेवाले) असंख्य कालाणु 'समय' के असंख्य अंशों को सिद्ध नहीं करते,.... एक समय में असंख्य कालाणु (उलंघन करे), इसलिए एक समय में असंख्यातवां भाग हुआ — ऐसा नहीं है। आहा...हा...!

असंख्य कालाणु 'समय' के असंख्य अंशों को.... असंख्य कालाणु को स्पर्श किया, इसलिए एक समय के **असंख्य अंशों को सिद्ध नहीं करते,....** एक समय का अंश परिपूर्ण है। एक समय में चौदह ब्रह्माण्ड गया है। आहा...हा...! कहो समझ में आया? भाई! किसी समय ऐसा सूक्ष्म भी आ जाता है। यह तो भगवान की - ईश्वर की लीला है। आहा...! ज्ञानरूपी ईश्वर की लीला है!

भावार्थ - परमाणु को एक आकाशप्रदेश से दूसरे अनन्तर.... अनन्तर अर्थात् दूसरे अन्तर बिना **आकाश-प्रदेश पर मन्दगति से जाने में जितना काल लगता है, उसे 'समय' कहते हैं। वह समय कालद्रव्य की सूक्ष्मातिसूक्ष्म पर्याय है।** इस समय में यह समय का माप आया, वहीं कालद्रव्य है, उस प्रदेश में ही कालद्रव्य है — ऐसा कहते हैं। आहा...हा...! पर्याय वहाँ पूरी हुई तो जितना पर्याय का क्षेत्र, उतना द्रव्य का क्षेत्र है। आहा...हा...! समझ में आया?

कालद्रव्य नित्य है;.... इस पर्याय का एक समय माप आया — छोटे में छोटा काल का माप आ गया अर्थात् पर्याय का माप आया। जितने क्षेत्र में पर्याय का माप आया, उतने क्षेत्र में द्रव्य है। आ...हा...! पर्याय से बड़ा द्रव्य हो या क्षेत्र से छोटा (हो) — ऐसा नहीं होता है। किस प्रकार सिद्ध किया है! ओ...हो...! ऐसा स्वभाव सर्वज्ञ ने ज्ञान में देखा है। उसमें होता है, जिसमें होता है, उसे उसका पता नहीं। परमाणु एक समय में ऐसे चौदह ब्रह्माण्ड जाये तो उसे पता है? आहा...हा...! परन्तु ऐसे जाता है, एक समय में जाता है, उसमें असंख्य कालाणु उल्लंघता है, इसलिए समय का असंख्य भाग पड़ गया (— ऐसा नहीं है) एक कालाणु यहाँ है, उसे स्पर्श किया, दूसरे को स्पर्श किया, एक समय का असंख्यवाँ भाग, दूसरे समय का असंख्यवाँ भाग ऐसा करके समय है — ऐसा नहीं है। आहा...हा...! ऐसी गम्भीर वस्तु! केवलज्ञान का तत्त्व कैसा होगा! आहा...हा...! **कालद्रव्य नित्य है; 'समय' उत्पन्न होता है और नष्ट होता है। जैसे, आकाशप्रदेश, आकाशद्रव्य**

का छोटे से छोटा अंश है,.... आकाशप्रदेश छोटे में छोटा अंश है। **उसके भाग नहीं होते, उसी प्रकार 'समय' कालद्रव्य की छोटी से छोटी निरंश पर्याय है, उसके भाग नहीं होते।** एक समय में भाग पड़ जाये — ऐसा नहीं है। आहा...! यह तो गति की विशेषता के कारण एक समय है। असंख्य कालाणु को स्पर्श किया, इसलिए असंख्य समय (हो जाये) अथवा एक समय का असंख्यातवाँ भाग पड़ जाये (अर्थात्) एक प्रदेश से दूसरे प्रदेश में जाने पर एक समय का असंख्यातवाँ भाग (पड़ गया) दूसरे प्रदेश में जाने पर असंख्यातवाँ (भाग पड़ गया) ऐसा करके समय के असंख्यात भाग नहीं पड़ते हैं। आहा...हा...!

सर्वज्ञ भगवान का तत्त्व बहुत सूक्ष्म है भाई! जिनेश्वर, परमेश्वर.... आहा...हा...! बाड़ा में पड़े हैं परन्तु उसका पता नहीं होता और हम जैन हैं ऐसा मानते हैं।

यदि 'समय' के भाग हों तो परमाणु के द्वारा एक 'समय' में उल्लंघन किये जानेवाले आकाशप्रदेश.... देखो! है न? **के भी उतने ही भाग होने चाहिए;....** आहा...हा...! एक प्रदेश का भाग नहीं होता, प्रदेश अखण्ड है। **आकाशप्रदेश तो निरंश हैं; इसलिए 'समय' भी निरंश ही है।** एक प्रदेश से दूसरे प्रदेश को उल्लंघने पर प्रदेश के भाग नहीं होते ऐसे ही एक समय में उल्लंघने से समय के भाग नहीं होते हैं।

यहाँ प्रश्न होता है कि ''जब पुद्गल-परमाणु शीघ्र गति के द्वारा एक 'समय' में लोक के एक छोर से दूसरे छोर तक पहुँच जाता है, तब वह चौदह राजू तक आकाश-प्रदेशों में श्रेणिबद्ध जितने कालाणु हैं, उन सबको स्पर्श करता है; इसलिए असंख्य कालाणुओं को स्पर्श करने से 'समय' के असंख्य अंश होना चाहिए।'' आहा...हा...! ऐसा ही उसका स्वभाव है।

एक समय में सिद्ध कहा न? ओ...हो...! सिद्धपना तो यहाँ उत्पन्न हुआ और ऐसे जरा गया और वहाँ (सिद्धालय में) रहा, वह सब एक समय है। आहा...हा...! वहाँ काल के तीन भाग नहीं हुए। यहाँ उत्पन्न हुए एक समय का दूसरा अंश, बीच में गये वह दूसरा अंश (और) वहाँ गये (वह दूसरा अंश ऐसे भाग नहीं होते)। वस्तु तो देखो! उसे जाननेवाला ज्ञान है।

मुमुक्षु : स्वरूपग्राही ज्ञान हो, उसे पता पड़ता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, उसकी बात है। आहा...हा...! जो स्वरूप का ज्ञान हुआ, वह ज्ञान इस समस्त अज्ञान को भलीभाँति जान सकता है। समझ में आया?

अनन्त गुण का धाम...! क्षेत्र के अंश का अन्त नहीं, काल के भाग का अन्त नहीं, गुण की संख्या का अन्त नहीं, ओ...हो...हो...! ऐसे अनन्त गुण का एक रूप है, उसे अन्तर्मुख पकड़ने से पर्याय में अनन्त गुण की सामर्थ्य प्रगट होती है। समकित में, ज्ञान में, चारित्र में (सामर्थ्य प्रगट होती है)। आहा...हा...! अनन्त प्रभुता प्रगट होती है। ऐसे आत्मा का दर्शन सम्यक्, ऐसे आत्मा का ज्ञान सम्यक्-उसकी क्या कीमत! कहते हैं, उसकी क्या माहात्म्य! अलौकिक वस्तु है।

द्रव्य को पकड़नेवाले ज्ञान का माहात्म्य है। द्रव्य का माहात्म्य है, परन्तु जाना किसने? पर्याय ने सिद्ध किया न! मैं अखण्ड अभेद हूँ — यह निर्णय कौन करता है? ध्रुव निर्णय करता है? 'शुद्ध-बुद्ध चैतन्यघन, स्वयं ज्योति सुखधाम' परन्तु उसे जाना किसने? पर्याय जानती है। मैं यह शुद्ध हूँ, मैं यह बुद्ध हूँ, मैं यह अखण्ड हूँ। लो, स्वयं तो पर्याय है! परन्तु उस पर्याय का ध्येय है, वह मैं हूँ। परिणाम, परिणामी को पकड़ता है; इसलिए परिणाम का माहात्म्य है। माहात्म्य तो परिणाम करता है न? द्रव्य माहात्म्य करता है? अलौकिक बातें हैं, बापू! आ...हा...!

(उसका समाधान) **जैसे अनन्त परमाणुओं का कोई स्कन्ध आकाश के एक प्रदेश में समाकर परिमाण में (कद में) एक परमाणु जितना ही होता है, सो वह परमाणुओं के विशेष (खास) प्रकार के अवगाहपरिणाम के कारण ही है;....** परमाणुओं में ऐसी ही विशेष प्रकार की अवगाहपरिणाम की शक्ति है, उसके कारण ऐसा होता है। (मूल ग्रन्थ में नीचे फुटनोट में) है न — ***आकाश में भी अवगाहहेतुत्वगुण के कारण ऐसी शक्ति है कि उसका एक प्रदेश भी अनन्त परमाणुओं को अवकाश देने में समर्थ है।*** आहा...हा...! आकाश का एक प्रदेश, जितने स्कन्ध हैं, वे सूक्ष्म होकर आवे (उन सबको) अवगाह देता है। काल का एक समय अनन्त द्रव्यों को वर्तने में निमित्त होता है, इतनी ताकत है; परमाणु एक समय में चौदह ब्रह्माण्ड में क्षेत्रान्तर होता है

और एक समय में अनन्तगुणी काली, लाल आदि पर्यायरूप परिणमे — ऐसा उसका स्वभाव है। इसी प्रकार भगवान आत्मा का स्वभाव एक समय में तीन काल-तीन लोक के जो अनन्त गुण हैं, जिनकी संख्या नहीं — ऐसे-ऐसे असंख्य द्रव्य और ऐसे-ऐसे अनन्त गुण और ऐसे अनन्त गुण की अनन्त पर्यायें... आहा...हा... ! उन्हें एक समय में जान सकता है ! उन्हें स्पर्श किये बिना, छुए बिना ! ऐसी सम्यक् पर्याय की ताकत है ! समझ में आया ? यह भाषा तो सादी है, कहीं बहुत ऐसा (न समझ में आये ऐसा नहीं है) भाई ! भाषा तो कोई ऐसी बहुत सूक्ष्म नहीं है।

मुमुक्षु : बात सूक्ष्म है।

पूज्य गुरुदेवश्री : बात सूक्ष्म है, भाव सूक्ष्म, भाव तो सूक्ष्म है। आहा...हा... ! एक जीव की अनन्त पर्याय, काल से अनन्त गुणी है। तीन काल के समय से एक द्रव्य की, गुण की अनन्त पर्याय है, वह काल से अनन्तगुणी है और उस पर्याय से अनन्तवें भाग तीन काल है। तब यह प्रश्न होता है कि तीन काल के सिद्ध हैं और वे निगोद के शरीर से अंशमात्र हैं। यह तो वर्तमान की अपेक्षा से कथन है। ए...ई... ! ऐसे तीन काल को गिनो तब तो सिद्ध से काल असंख्यगुना ही है। यह क्या कहा ? जैसे वर्तमान काल तक सिद्ध हुए तो सिद्ध की अपेक्षा काल कितना गया ? असंख्यागुणा क्योंकि छह महीने और आठ समय में ६०८ जीव सिद्ध होते हैं। ६०८ संख्या की अपेक्षा छह महीने के समय की संख्या असंख्यगुनी है। यह क्या कहा ?

काल की संख्या — भूतकाल के समय की संख्या सिद्ध की संख्या की अपेक्षा असंख्यगुनी है। सिद्ध की संख्या की अपेक्षा भूतकाल के काल की-समय की संख्या असंख्यगुनी है — इससे अनन्तगुनी तो एक द्रव्य के गुण की एक समय की पर्याय है ! ऐसी-ऐसी अनन्त द्रव्यों की पर्यायें ! परन्तु वे द्रव्य कितने ? कि जो अनन्त पर्याय है, उसके अनन्तवें भाग द्रव्य है और उस द्रव्य के गुण हैं, उसकी पर्याय उनसे... असंख्यवें भाग में द्रव्य थे न ? परन्तु गुण तो बहुत हैं, तो ऐसी-ऐसी पर्याय भी असंख्यगुणी हो गयी, एक की पर्याय वही असंख्य द्रव्य की (पर्याय) इसलिए असंख्यगुणी हो गयी न ? और वह पर्याय भी काल से अनन्तगुनी हुई — एक द्रव्य के गुण की पर्याय काल से अनन्तगुनी हुई तो

ऐसी असंख्य द्रव्य की गुण-पर्याय काल से अनन्तगुनी (हो गयी) आहा...हा...! क्या भगवान का द्रव्य!

एक समय में असंख्य कालाणुओं को उल्लंघन करके लोक के एक छोर से दूसरे छोर तक पहुँच जाता है, सो वह परमाणु के विशेष प्रकार के गति परिणाम के कारण ही है;.... उसकी गति की विशेषता की शक्ति के कारण है। इस कारण वहाँ काल के भाग हो जाते हैं — ऐसा नहीं है। **(परमाणु में ऐसी ही कोई विशिष्ट प्रकार के गति परिणाम की शक्ति है, जिसके कारण ऐसा होता है) इससे कहीं 'समय' के असंख्य अंश नहीं होते।** लो, आज फिर दोबारा आया, भाई! आया तो गत रात्रि की चर्चा के कारण, नहीं तो लेना नहीं था। समझ में आया?

आहा...हा...! अनन्त गुण वीतरागभाव से भरपूर हैं। वीतरागभाव की पर्याय से ही वह ज्ञात हो ऐसा है, क्योंकि आत्मा का जिनस्वरूप, वीतरागस्वरूप गुण है तो अनन्त गुण वीतरागस्वभावी हो गये। भले ही संख्या की मर्यादारहित (अमर्यादित) गुण हों! ओ...हो...! क्षेत्र की हद नहीं, काल की हद नहीं, उसे ज्ञान जान लेता है। भाव की हद नहीं, उसे भी ज्ञान की पर्याय जान लेती है!! उस पर्याय की कितनी ताकत है! हाँ, स्थिरता करना, वह तो इससे अनन्तगुनी ताकत है! परन्तु श्रद्धागुण और ज्ञानगुण की इतनी ताकत है! इनकी इतनी ताकत है! आहा...हा...! स्थिरता का पुरुषार्थ इससे अनन्तगुना है परन्तु वह तो पर्याय के पुरुषार्थ की अपेक्षा से बात है परन्तु पर्याय में जिस द्रव्य को लक्ष्य में लिया, उसकी तो इतनी सामर्थ्य है, जिसकी दृष्टि में-मुख्यता में द्रव्य वर्तता है।

परमाणु, समय, प्रदेश और पर्याय — यह सब अखण्ड हैं। परमाणु द्रव्यरूप से, प्रदेश क्षेत्ररूप से, समय कालरूप से पर्याय एक समय की अवस्थारूप से (अखण्ड है)। आहा...हा...!

मुमुक्षु : इन सबको द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव में समाहित कर लिया।

पूज्य गुरुदेवश्री : सब समा गया न! अपना द्रव्य लो तो द्रव्य निर्विकल्प है; क्षेत्र लो तो असंख्य प्रदेशी है; काल लो तो इसकी अनन्त पर्याय, वह उसका काल है; गुण लो तो अनन्त गुण हैं। द्रव्य लो तो निर्विकल्प वस्तु है, क्षेत्र लो तो असंख्य प्रदेशी है, काल लो

तो अनन्त पर्यायें हैं, भाव लो तो अनन्त गुण हैं। आहा...हा...! एक समय में सबको पकड़ता है। निर्विकल्प द्रव्य को, असंख्य प्रदेश को, अनन्त भाव को, अनन्त पर्याय को, परन्तु एक समय की पर्याय स्वयं उसे भी माने, स्वयं को माने और उसे भी माने। आहा...हा...! अब ऐसी बात सर्वज्ञ के सिवाय कहीं नहीं होती और लोग कहाँ-कहाँ सिर फोड़ते हैं।

मुमुक्षु : अभी ऐसी बात एक आप करते हो।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह तो वस्तुस्थिति ऐसी है। लोग जहाँ-तहाँ भटकते हैं (कि) यहाँ है और यहाँ है... अरे...! बापू, कहीं नहीं है, भाई! इस बात की गन्ध जिनेश्वरदेव के अतिरिक्त (कहीं नहीं है) — ऐसा गम्भीर स्वभाव...! आहा...हा...! जिसने उसका माप कर डाला! प्रमाण कर डाला न? उस ज्ञेय का ज्ञान हो गया, प्रमाण हो गया। यह प्रमाण वह प्रमाण है। आहा...! यह फिर से पौन घण्टा हुआ!

इसमें विशेषता तो यह है कि एक समय की पर्याय में अनन्त पर्याय जाने, अनन्त गुण जाने, तथापि उस पर्याय के अनन्त भाग नहीं। अविभाग प्रतिच्छेद सामर्थ्य की शक्ति विशेष भले हो परन्तु पर्याय दो नहीं। आहा...हा...! प्रदेश के दो भाग नहीं पड़ते; समय के दो भाग नहीं पड़ते; पर्याय के दो भाग नहीं पड़ते, आहा...हा...! ऐसी जो पर्याय, वह जीव के स्वरूप को पकड़ सकती है। राग की पर्याय, चाहे तो भगवान की भक्ति हो (परन्तु) उसे पकड़ नहीं सकती, क्योंकि वह राग अचेतन है। आहा...हा...! व्यवहार अचेतन है, वह निश्चय चेतन को कैसे पकड़े? कैसे जाने? आहा...हा...! राग-व्यवहार से निश्चय ज्ञात होता है, यह बहुत बड़ी गड़बड़ी है। भगवान की सामर्थ्यवाली जो पर्याय है, वह उसे पकड़ और जान सकती है। आहा...हा...! वह भी, पर्याय में खड़े रहकर नहीं, क्योंकि जिसका माहात्म्य है, वस्तु है, उसमें दृष्टि रहे और उसे स्थापित करे, तब पर्याय का माहात्म्य होता है। आहा...हा...! समझ में आया?

यह प्रश्न तो यहाँ से अधिक उठा है कि तीन काल के सिद्ध की अपेक्षा सिद्ध के जीवों की संख्या निगोद के अनन्तवें भाग है, अल्प है — ऐसा कहा न? परन्तु उसका अर्थ यह है। ऐसा यदि तीन काल का माप करने जाये तो जब-जब सिद्ध होंगे, उन सिद्ध की

संख्या की अपेक्षा काल तो असंख्य गुणा है, तो इस प्रकार तीन काल को प्राप्त करने जाये तो नहीं मिले, क्योंकि सिद्ध की संख्या की अपेक्षा काल असंख्यगुणा है और जीव की संख्या काल की अपेक्षा अनन्तगुणी है। तो मिलान किस प्रकार खायेगा?

निगोद का शब्द पड़ा है, उसमें से निकाला। वह आया नहीं था? वह तो पहले कहा गया है। (बनारसीविलास, अथ कर्मप्रकृति विधान अधिकार) 'बढै न सिद्ध अनंता, घटै न राशि निगोद, जैसे के तैसे रहे यह जिन-वचन विनोद।' (श्लोक, ९८) ओहो...हो...! इस श्लोक पर यह श्लोक है। यह श्लोक है, उस पर यह श्लोक है - 'एक निरोध शरीर में जीव अनन्त अपार भरे जन्म सब एक के मरहि एक ही बार' (श्लोक, ९५)। 'मरण अठारह बार कर जन्म अठारह देव, एक श्वांस उच्छ्वास में यह निगोद की टेव' (श्लोक ९६)। 'एक निगोद शरीर में ऐसे जीव बखान तीन काल के सिद्ध सब एक अंश परिमाण' (श्लोक, ९७)। 'बढ़ै न सिद्ध अनन्ता, घटै न राशि निगोद...' इसमें अनन्त में अनन्त भाग बढ़े तो भी उसे क्या कहना? और अनन्त में अनन्तवें भाग घटे वह घटे (क्या कहना)? अनन्त की बड़ी राशि पड़ी है! 'बढ़ै न सिद्ध अनन्ता, घटै न राशि निगोद, जैसे के तैसे रहे यह जिनवचन विनोद' (श्लोक ९८)। 'तातैं बात निगोद की, कहैं कहाँ लो कोय, साधारण प्रकृति उदय, जिय निगोदिया होय', (श्लोक, ९९)। 'यह साधारण प्रकृति लौं, वरणी चौदह साठ, बाकी चौदह जे रहें ते वरणो मुख भात' (श्लोक, १००)। यह बनारसीविलास है, गृहस्थ ऐसा काम कर गये हैं! सनातन सत्य था। वरना ये तो श्वेताम्बर थे, फिर यह मिल गया। शृंगारी थे परन्तु सत्य मिल गया फिर हो गया, सर्वज्ञ की जो परम्परा थी, वह हाथ लग गयी। ●

गाथा - १४०

अथाकाशस्य प्रदेशलक्षणं सूत्रयति -

आगासमणुणिविट्ठं आगासपदेससण्णया भणिदं।
सव्वेसिं च अणूणं सक्कदि तं देदुमवगासं।।१४०।।

आकाशमणुनिविष्टमाकाशप्रदेशसंज्ञया भणितम्।
सर्वेषां चाणूनां शक्नोति तद्दातुमवकाशम्।।१४०।।

आकाशस्यैकाणुव्याप्योंऽशः किलाकाशप्रदेशः, स खल्वेकोऽपि शेषपञ्चद्रव्यप्रदेशानां परमसौक्ष्म्यपरिणतानन्तपरमाणुस्कंधानां चावकाशदानसमर्थः। अस्ति चाविभागैकद्रव्यत्वेऽप्यंशकल्पनामाकाशस्य, सर्वेषामणूनामवकाशदानस्यान्यथानुपपत्तेः। यदि पुनराकाशस्यांशान स्युरिति मतिस्तदाङ्गुलीयुगलं नभसि प्रसार्य निरूप्यतां किमेकं क्षेत्रं किमनेकम्। एकं चेत्मकिमभिन्नांशाविभागैकद्रव्यत्वेन किं वा भिन्नांशाविभागैकद्रव्यत्वेन। अभिन्नांशाविभागैकद्रव्यत्वेन चेत् येनांशेनैकस्या अङ्गुलेः क्षेत्रं तेनांशेनेतरस्या इत्यन्यतरांशाभावः। एवं द्व्याद्यंशानामभावादाकाशस्य परमाणोरिंव प्रदेशमात्रत्वम्। भिन्नांशाविभागैकद्रव्यत्वेन चेत् अविभागैकद्रव्यस्यांशकल्पनमायातम्। अनेकं चेत् किं सविभागानेकद्रव्यत्वेन किं वाऽविभागैकद्रव्यत्वेन। सविभागानेकद्रव्यत्वेन चेत् एकद्रव्यस्याकाशस्यानन्तद्रव्यत्वं, अविभागैकद्रव्यत्वेन चेत् अविभागैकद्रव्यस्यांशकल्पनमायातम्।।१४०।।

अथ एवं कालव्याख्यानमुख्यत्वेन षष्ठस्थले गाथाद्वयं गतम्। अथ पूर्वं यत्सूचितं प्रदेशस्वरूपं तदिदानीं विवृणोति - **आगासमणुणिविट्ठं** आकाशं अणुनिविष्टं पुद्गलपरमाणुव्याप्तम्। **आगासपदेससण्णया भणिदं** आकाशप्रदेशसंज्ञया भणितं कथितम्। **सव्वेसिं च अणूणं** सर्वेषामणूनां चकारात्सूक्ष्मस्कन्धानां च **सक्कदि तं देदुमवगासं** शक्नोति स आकाशप्रदेशो दातुमवकाशम्। तस्याकाशप्रदेशस्य यदीत्थंभूतमवकाशदानसामर्थ्यं न भवति तदानन्तानन्तो जीवराशिस्तस्मादप्यनन्तगुणपुद्गलराशिश्चासंख्येयप्रदेशलोके कथमवकाशं लभते। तच्च विस्तरेण पूर्वं भणितमेव। अथ मतम् - अखण्डाकाशद्रव्यस्य प्रदेशविभागः कथं घटते। परिहारमाह-चिदानन्दैकस्वभाव-

निजात्मतत्त्वपरमैकाग्र्यलक्षणसमाधिसंजातनिर्विकाराह्लादैकरूपसुखसुधारसास्वादतृप्तमुनियुगलस्यावस्थितक्षेत्रं किमेकमनेकं वा। यद्येकं तर्हि द्वयोरप्येकत्वं प्राप्नोति। न च तथा। भिन्नं चेत्तदा अखण्डस्याप्याकाशद्रव्यस्य प्रदेशविभागो न विरुध्यत इत्यर्थः।।१४०।।

अब, आकाश के प्रदेश का लक्षण सूत्र द्वारा कहते हैं —

परमाणु जितने क्षेत्र को, धारण करे वो 'प्रदेश' है।
वो प्रदेश सब परमाणु को, अवकाश-दान समर्थ है॥

अन्वयार्थ - [**अणुनिविष्टं आकाशं**] एक परमाणु जितने आकाश में रहता है उतने आकाश को [**आकाशप्रदेशसंज्ञया**] 'आकाशप्रदेश' ऐसे नाम से [**भणितम्**] कहा गया है। [**च**] और [**तत्**] वह [**सर्वेषां अणूनां**] समस्त परमाणुओं को [**अवकाशं दातुं शक्नोति**] अवकाश देने को समर्थ है।

टीका - आकाश का एक परमाणु से व्याप्य अंश, वह आकाश-प्रदेश है और वह एक (आकाश-प्रदेश) भी शेष पाँच द्रव्यों के प्रदेशों को तथा परम सूक्ष्मतारूप से परिणमित अनन्त परमाणुओं के स्कन्धों को अवकाश देने में समर्थ है। आकाश अविभाग (अखण्ड) एक द्रव्य है, फिर भी उसमें (प्रदेशरूप) अंशकल्पना हो सकती है, क्योंकि यदि ऐसा न हो तो सर्व परमाणुओं को अवकाश देना नहीं बन सकेगा।

ऐसा होने पर भी यदि 'आकाश के अंश नहीं होते'(अर्थात् अंश कल्पना नहीं की जाती), ऐसी (किसी की) मान्यता हो, तो आकाश में दो उंगलियाँ फैलाकर बताइये कि 'दो उंगलियों के एक क्षेत्र है या अनेक?' यदि एक है तो (प्रश्न होता है कि—), (१) आकाश अभिन्न अंशोंवाला अविभाग एक द्रव्य है, इसलिए दो अंगुलियों का एक क्षेत्र है या (२) भिन्न अंशोंवाला अविभाग एक द्रव्य है, इसलिए? (१) यदि 'आकाश अभिन्न अंशवाला अविभाग एक द्रव्य है, इसलिए दो अंगुलियों का एक क्षेत्र है' ऐसा कहा जाय तो जो अंश एक अंगुलि का क्षेत्र है, वही अंश दूसरी अंगुलि का भी क्षेत्र है, इसलिए दो में से एक अंश का अभाव हो गया। इस प्रकार दो इत्यादि (एक से अधिक) अंशों का अभाव होने से आकाश, परमाणु की भाँति प्रदेशमात्र सिद्ध हुआ! (इसलिए यह तो घटित नहीं होता); (२) यदि यह कहा जाय कि 'आकाश भिन्न अंशोंवाला अविभाग

एक द्रव्य है' (इसलिए दो अंगुलियों का एक क्षेत्र है) तो (यह योग्य ही है, क्योंकि) अविभाग एक द्रव्य में अंश–कल्पना फलित हुई।

यदि ऐसा कहा जाय कि (दो अंगुलियों के) 'अनेक क्षेत्र हैं' (अर्थात् एक से अधिक क्षेत्र हैं, एक नहीं) तो (प्रश्न होता है कि) (१) 'आकाश सविभाग (खण्ड –खण्डरूप) अनेक द्रव्य हैं' इसलिए दो अंगुलियों के अनेक क्षेत्र हैं या (२) 'आकाश अविभाग एक द्रव्य' होने पर भी दो अंगुलियों के अनेक (एक से अधिक) क्षेत्र हैं? (१) 'आकाश सविभाग अनेक द्रव्य होने से दो अंगुलियों के अनेक क्षेत्र हैं' ऐसा माना जाय तो आकाश जो कि एक द्रव्य है, उसे अनन्त द्रव्यत्व आ जायेगा; (इसलिए यह तो घटित नहीं होता) (२) 'आकाश अविभाग एक द्रव्य होने से दो अंगुलियों का अनेक क्षेत्र है' ऐसा माना जाय तो (यह योग्य ही है क्योंकि) अविभाग एक द्रव्य में अंशकल्पना फलित हुई॥ १४०॥

प्रवचन नं. १५३ का शेष ज्येष्ठ कृष्ण ५ शनिवार, २८ जून १९७५

अब, आकाश के प्रदेश का लक्षण सूत्र द्वारा कहते हैं.... स्वयं कुन्दकुन्दाचार्य (कहते हैं) वह तो आधार दिया था। १३७ में कहा था न? १३७ गाथा में कहा था कि **(भगवत् कुन्दकुन्दाचार्यदेव) स्वयं ही सूत्र द्वारा कहेंगे....** १३७ में कहा था। १३७ गाथा में कहा था। है टीका? **(भगवत् कुन्दकुन्दाचार्य) स्वयं ही (१४० वें) सूत्र द्वारा कहेंगे कि आकाश के प्रदेश का लक्षण एकाणुव्याप्यत्व है (अर्थात् एक परमाणु से व्याप्त होना वह प्रदेश का लक्षण है) और यहाँ (इस सूत्र या गाथा में) 'जिस प्रकार आकाश के प्रदेश हैं, उसी प्रकार शेष द्रव्यों के प्रदेश हैं' — इस प्रकार प्रदेश के लक्षण की एक प्रकारता कही जाती है।** यहाँ प्रदेश के लक्षण की एक प्रकारता कही जाती है और आकाश के प्रदेश का लक्षण १४० (गाथा) में देंगे। यह वह आया। १३७ में है, पहले आ गया।

आगासमणुणिविट्ठं आगासपदेससण्णया भणिदं।
सव्वेसिं च अणूणं सक्कदि तं देदुमवगासं।।१४०।।

परमाणु जितने क्षेत्र को, धारण करे वो 'प्रदेश' है।
वो प्रदेश सब परमाणु को, अवकाश-दान समर्थ है॥

आहा...हा...! सन्तों को शास्त्र की रचना में विकल्प निमित्त हुआ। विकल्प निमित्त हुआ! स्वयं तो विकल्प को करते नहीं। निमित्तकर्ता विकल्प नहीं (मात्र) निमित्तरूप से। पर्याय के कर्ता समय विकल्प के कर्ता हों, वह निमित्तकर्ता कहलाता है। यह निमित्तकर्ता नहीं; निमित्त अवश्य। है न बन्ध अधिकार में - मात्र निमित्त हैं, निमित्तकर्ता नहीं। आहा...हा...! जयसेनाचार्यदेव की टीका में दूसरों को सुख-दुःख होता है, उसमें निमित्तमात्र हैं, निमित्तकर्तारूप नहीं, वह तो अज्ञानी है। आहा...हा...! यह चीज है उसका ज्ञान करने के लिए है। वीतरागमार्ग में बहुत समझने का है — ऐसे तो माहात्म्य हो इसे! ऐसे थोड़ी बहुत बात करके समझ गया और हो गया, जाओ! ऐसा नहीं है। यह तो सर्वज्ञ परमेश्वर हैं, बापू! थोड़ा ज्ञान में कुछ जानना होवे तो ऐसा हो जाता है कि ओ...हो...! अब तो हम बड़े हो गये हैं, पण्डित हो गये! ऐसा नहीं बापू! जीव, पण्डित और मूर्ख दोनों नहीं है। आहा...हा...! वह तो पर्याय की बात है। चौदह गुणस्थान जीव कहाँ है? आ...हा...!

अरे...! इसे यह मौसम आया है! आत्मा को प्राप्त करने के लिए यह मनुष्य अवतार का मौसम है! ऐसे मौसम में तो जितना (अन्दर) झुका जाये, उतना झुकना चाहिए।

आकाश का एक परमाणु से व्याप्य अंश.... आकाश के प्रदेश को सिद्ध करते हैं। **आकाश का एक परमाणु से व्याप्य अंश वह आकाश प्रदेश है....** वह आकाश का एक भाग — अंश है। **और वह एक (आकाश प्रदेश) भी शेष पाँच द्रव्यों के प्रदेशों को तथा परम सूक्ष्मतारूप से परिणमित अनन्त परमाणुओं के स्कन्धों को....** स्थूल तो नहीं आ सकते परन्तु सूक्ष्मरूप से परिणमित हों, उन्हें **अवकाश देने में समर्थ है।....** आहा...हा...! आकाश का एक प्रदेश बाकी के अनन्त पाँच द्रव्यों के प्रदेशों को और सूक्ष्मरूप से परिणमित अनन्त (परमाणुओं के स्कन्धों को) अवकाश देने को समर्थ है।

ओ...हो...! उसकी समर्थता इसमें है, इसका उसे कहाँ पता है? ज्ञान को पता है कि एक प्रदेश अनन्त परमाणु को अवकाश दे और सूक्ष्मरूप से परिणमित स्कन्ध हों, वे

भी एक ही प्रदेश में (रहे) इतनी ताकत है! ओ...हो...! इस ताकत को जाननेवाला ज्ञान है!! वह आकाश के प्रदेश की ताकत का आकाश के प्रदेश को पता नहीं है। आहा...हा...! समझ में आया? माहात्म्य है यह ज्ञान की पर्याय का।

एक प्रदेश में अनन्त परमाणु आवे और सूक्ष्म अनन्त-अनन्त स्कन्ध, स्कन्धरूप से परिणमे अनन्त आवे (तो उन्हें अवगाह देने की) एक प्रदेश में ताकत है। वह पर्याय एक समय की, हाँ! आकाशद्रव्य और गुण तो भिन्न है। अवगाह की एक समय की पर्याय में इतनी ताकत है! आहा...हा...! ऐसा भगवान आत्मा की पर्याय की इतनी ताकत है (कि) तीन काल-तीन लोक से अनन्त गुणा हो तो जान सके! उसके गुण, द्रव्य की बात नहीं, गुण की तो बात क्या करना! आहा...हा...! ऐसा आत्मा इसे प्रभुरूप से जँचे नहीं और दूसरे को महत्ता दे, वह स्वयं को हीन कर डालता है। समझ में आया?

आकाश अविभाग (अखण्ड) एक द्रव्य है,.... आकाश में कहीं द्रव्य के दो भाग नहीं हैं। **अविभाग (अखण्ड)....** अविभाग अर्थात् भाग पड़े बिना अखण्ड **एक द्रव्य है, फिर भी उसमें (प्रदेशरूप) अंशकल्पना हो सकती है,....** वस्तुरूप से — द्रव्यरूप से एक अखण्ड है परन्तु उसके प्रदेशरूप से उसकी कल्पना (हो सकती है)। **क्योंकि यदि ऐसा न हो तो सर्व परमाणुओं को अवकाश देना नहीं बन सकेगा।** समझ में आया? एक ही प्रदेश अनन्त परमाणुओं को (अवकाश) देता है तो प्रदेश कल्पना हो सकती है। सम्पूर्ण आकाश में अनन्त रहते हैं — ऐसा नहीं, एक प्रदेश में अनन्त परमाणु और स्कन्ध रहते हैं; इसलिए उस अखण्ड द्रव्य का एक अंश भी सिद्ध होता है।

विशेष कहेंगे....

प्रवचन नं. १५४ ज्येष्ठ कृष्ण ६ रविवार, २९ जून १९७५

(प्रवचनसार) १४० गाथा चलती है। जानने का जरा सूक्ष्म अधिकार है। अधिकार चले, उसका वाचन होता है न? **आकाश के प्रदेश का लक्षण...** आकाश नामक पदार्थ है। छह द्रव्य भगवान ने देखे, उसमें आकाश नामक एक सर्व व्यापक पदार्थ है। उसके प्रदेश होते हैं। द्रव्य अखण्ड होता है, तथापि उसके अंश होते हैं। उस अंश को प्रदेश कहते हैं।

टीका - आकाश का एक परमाणु से व्याप्य अंश.... यहाँ आकाश है, उसमें एक परमाणु से व्याप्त अंश — प्रदेश **वह आकाश-प्रदेश है....** एक रजकण है और यह रजकण! अन्तिम पॉइन्ट! (वह) जितने में रहे, उसे आकाश का प्रदेश कहते हैं।

प्रश्न : प्रदेश शब्द में क्या समझ में आये?

समाधान : प्रदेश उसका अंश — भाग है। साँकल है न? साँकल! सोने की साँकल! वह अखण्ड होने पर भी कड़ी भिन्न-भिन्न है। उसकी कड़ी है न? सोने की कड़ी? वह हजार कड़ी का समुदाय साँकल; वैसे ही अनन्त प्रदेशों का समूह, वह आकाश है; असंख्य प्रदेशों का समुदाय, वह जीव है। यह वस्तु जाननी तो चाहिए न? सर्वज्ञ परमात्मा तीर्थंकरदेव केवली ने छह द्रव्य कहे, उनका क्या स्वरूप है, उसे जानना चाहिए न!

आकाश का एक परमाणु से व्याप्य.... आकाश का भाग जो एक रजकण से व्याप्त है, वह **अंश वह आकाश-प्रदेश है और वह एक (आकाश-प्रदेश) भी शेष पाँच द्रव्यों के प्रदेशों को तथा परम सूक्ष्मतारूप से परिणमित अनन्त परमाणुओं के स्कन्धों को अवकाश देने में समर्थ है।....** आहा...हा...! आकाश का एक प्रदेश... पूरा द्रव्य तो अखण्ड (एक है) परन्तु (उसका) एक भाग — अंश में **शेष पाँच द्रव्यों के प्रदेशों को....** अवकाश देने की ताकत है।

ऐसे ज्ञान की एक समय की पर्याय में अनन्त द्रव्य, गुण, और त्रिकाल पर्याय को एक समय में जानने की ताकत है। वैसे ही प्रदेश में — आकाश के एक अंश में... पूरा द्रव्य भले (अखण्ड है) परन्तु एक अंश नहीं... आहा...हा...! बाकी के अनन्त द्रव्यों और सूक्ष्मरूप से परिणमित स्कन्धों (अर्थात्) रजकण की सूक्ष्म परिणमन दशावाले (स्कन्धों) — इन सबको रहने की - अवकाश देने की एक प्रदेश में ताकत है। ऐसा कौन जानता है? जीव (जानता है)। उसे (प्रदेश को) तो पता भी नहीं है। आहा...हा...! आकाश के एक अंश में अनन्त दूसरे द्रव्यों के प्रदेश रह सकते हैं और दूसरे सूक्ष्म परमाणु के स्कन्ध भी रह सकते हैं। आहा...हा...! जिसका स्वभाव है, उसे (दूसरा) प्रश्न क्या?

एक ही परमाणु एक प्रदेश को रोके इतना चौड़ा होने पर भी, उसमें अनन्त-अनन्त परमाणु रहें, बापू! वस्तु का स्वरूप ऐसी चीज है। आहा...हा...! ऐसे एक प्रदेश में भी

अनन्त-अनन्त सूक्ष्म स्कन्ध और बाकी द्रव्यों के प्रदेशों को रहने का — अवकाश देने की सामर्थ्य है। इस प्रदेश का स्वभाव इतना है, आहा...हा...! इसे जाननेवाला तो ज्ञान है कि एक प्रदेश में (इतनी सामर्थ्य है)। इसे तो (आकाश को तो) प्रदेश का भी पता नहीं है और द्रव्य का भी पता नहीं है। आहा...हा...! इसमें रहनेवाले अनन्त रजकण (आकर रहें) तो भी इसमें (अवकाश) देने की सामर्थ्य है — ऐसा ज्ञान जानता है। आहा...हा...! समझ में आया?

अनन्त सूक्ष्म स्कन्ध हैं, भले छोटे-बड़े हों, परन्तु सब सूक्ष्म हैं। यह तो बड़ा है, यह कहाँ सूक्ष्म है? यह स्थूल है। यह तो दो (परमाणु से लेकर) अनन्त (परमाणु) सूक्ष्मरूप हों, उनकी बात है। यह तो स्थूल है, इसकी बात नहीं है। सूक्ष्मरूप से दो से अनन्त परमाणु ऐसे अनन्त स्कन्ध, सूक्ष्मरूप से परिणमित हों (तो भी) एक प्रदेश में रहने की ताकत है! एक ही परमाणु जितना चौड़ा! आहा...हा...! तथापि ऐसे अनन्त-अनन्त स्कन्ध वहाँ रहें। स्वभाव किसे कहते हैं? आहा...हा...! ऐसे आकाश के एक प्रदेश का स्वभाव! अजीव का ऐसा स्वभाव! आहा...हा...! तो भगवान आत्मा...! लेंगे, वह अंगुली का दृष्टान्त लेंगे न? इसमें टीका में बहुत सरस लेंगे। आहा...हा...!

यह तो आकाश के एक प्रदेश में इतनी अवगाहन देने की शक्ति है, उसका ज्ञान तो जीव ने किया है। वह जीव की एक समय की ज्ञान की पर्याय अनन्त-अनन्त केवलियों को जाने... आहा...हा...! तो भी एक समय में वहाँ टुकड़े होकर पर्याय दो नहीं होती। आहा...हा...! इसे जीव का पता नहीं है, जीव अर्थात् कौन? और उसके अनन्त गुण — शक्तियाँ (कितनी)? और अनन्त गुण — शक्तियों में से एक समय की एक गुण की पर्याय (कितनी)? आहा...हा...! इसका माप बतलाते हैं आकाश का, परन्तु जाना किसने? वह तो ज्ञेय है। ज्ञेय अधिकार है न? आहा...हा...! समझ में आया? ज्ञान की पर्याय ने इस प्रकार यह सब अस्तित्व है — ऐसा जाना और उस ज्ञान में ऐसी अनन्त अवगाह देने की शक्ति को जाना परन्तु एक समय की पर्याय में जाना। समझ में आया? **आकाश अविभाग (अखण्ड) एक द्रव्य है, फिर भी....** आहा...हा...! **उसमें (प्रदेशरूप) अंशकल्पना हो सकती है,....** आज तो सूक्ष्म विषय है, भाई! **क्योंकि यदि ऐसा न**

हो तो सर्व परमाणुओं को अवकाश देना नहीं बन सकेगा। प्रदेश का भाग न हो तो सभी परमाणुओं को (रहने का) अवकाश नहीं रहेगा। सभी परमाणु कोई एक ही प्रदेश में रहते हैं ? दूसरे परमाणु दूसरे प्रदेश में रहें, तीसरा परमाणु तीसरे (प्रदेश में रहे)। ऐसे बहुत परमाणुओं को रहने का अंश भिन्न-भिन्न है। समझ में आया ? आहा...हा... !

ऐसा होने पर भी यदि 'आकाश के अंश नहीं होते'.... आकाश नामक पदार्थ के प्रदेश नहीं होते... यह प्रश्न (संवत्) १९७८ में अमरेली में हो गया था। (एक भाई) थे, १९७९ में वहाँ गये थे, रास्ते में आता है। यहाँ से वराड़ से अमरेली गये न ? वहाँ अमरेली जाने में बीच में रेल आती है। रेल का फाटक (आता है), वहाँ तक लोग सामने आये थे। ७८ की बात है। 'आकाश के प्रदेश हैं, वे सब कल्पित हैं' — ऐसा उन्होंने कहा था। कल्पित का अर्थ नहीं है — ऐसा नहीं है। उसके अंश हैं। आकाश के अनन्त अंश हैं। ऐ...ई... ! ७९ की बात है। ७९ ! कितने हुए ? ५२ वर्ष हुए। उस वराड़ से अमरेली जाते हुए नहीं आता ? रास्ते में रेल का फाटक (आता है), वह स्टेशन ऐसा रह जाता है और गाँव में आने का रास्ता ऐसा (जाता है)। वहाँ एक प्रश्न हुआ था। ५२ वर्ष पहले ! आहा...हा... ! वे कहीं पढ़ने गये थे न ? काशी, पढ़ने गये थे। बापू ! यह चीज वह नहीं। यह अनन्त प्रदेश अस्तिरूप है, भागरूप है, खण्डरूप है; अखण्ड में प्रदेश का खण्ड पृथक् है। एक-एक प्रदेश में पूरा द्रव्य आ जाता है — ऐसा नहीं है। आहा...हा... !

ऐसा होने पर भी यदि 'आकाश के अंश नहीं होते'(अर्थात् अंश कल्पना नहीं की जाती), ऐसी (किसी की) मान्यता हो, तो आकाश में दो उंगलियाँ फैलाकर.... अब सिद्धान्त कहते हैं। यह दो अंगुलियाँ हैं न ? **बताइये कि 'दो उंगलियों के एक क्षेत्र है या अनेक ?'....** यदि एक (क्षेत्र) कहो तो दो (अंगुलियाँ) सिद्ध नहीं होती, दो सिद्ध नहीं होती। आहा...हा... ! दोनों का क्षेत्र एक होवे तो एक ही अंगुली सिद्ध होगी, दो सिद्ध नहीं होगी। आचार्य ने तो अन्दर संस्कृत टीका में गजब का दृष्टान्त दिया है ! यह गुजराती में टीका है।

कहते हैं, यदि प्रदेश — भाग न हो, क्षेत्र के भाग के अंश न हों... (जयसेनाचार्यदेव की) संस्कृत टीका में है। **चिदानन्दैकस्वभावनिजात्मतत्त्व** देखो ! आचार्य ने क्या

कहा ! आहा...हा... ! यह भगवान आत्मा, चिदानन्द एक स्वभाव है, ज्ञानानन्द एक स्वभाव है। स्वभाववान तत्त्व है। चिदानन्द ज्ञानानन्द एक स्वभाव — ऐसा निज आत्मतत्त्व ! चिदानन्द ज्ञान का आनन्द — ऐसा एक स्वभाव, ऐसा निजात्मतत्त्व ! आहा...हा... ! ध्यान रखना, मुनि की व्याख्या करते हैं। यह दो मुनि एक क्षेत्र में है या दो क्षेत्र में है ? ऐसा सिद्ध करते हैं। यहाँ अंगुली की बात रखी है। आहा...हा... ! मुनिपने की दशा कैसी होती है ? और दोनों एक क्षेत्र में हैं या अलग-अलग में हैं ? (वह कहते हैं)।

चिदानन्द भगवान आत्मा ! आहा...हा... ! ज्ञानानन्द एक स्वभाव आत्मा, भगवान अन्दर आत्मा चिदानन्द एक स्वभाव आत्मतत्त्व ! चिदानन्द एक स्वभाव आत्मतत्त्व ! आहा...हा... ! **परमैकाग्र्यलक्षण** ऐसा जो चिदानन्द आत्मतत्त्व, चिदानन्द एक स्वभाव आत्मतत्त्व में जिसकी परम एकाग्रता है। मुनि लेना है। चौथे और पाँचवें में एकाग्रता थोड़ी है। समझ में आया ? सम्यग्दृष्टि और पाँचवें गुणस्थान में चिदानन्द एक स्वभाव निजात्मतत्त्व में अमुक एकाग्र लक्षण है और मुनि को परम एकाग्र लक्षण है। आहा...हा... !

जिसने चिदानन्द प्रभु एक स्वभावी आत्मतत्त्व में (एकाग्रता की है), जिसका परम एकाग्रता लक्षण है। अन्दर परम एकाग्रता (हुई है).... आहा...हा... ! देखो ! यह दशा ! **परमैकाग्र्यलक्षणसमाधिसंजात** — ऐसा भगवान आत्मा, परम समाधि से वह दशा उत्पन्न हुई ! आहा...हा... ! चिदानन्द एक स्वभाव आत्मतत्त्व में परम एकाग्रता ! आहा...हा... ! जिसे मुनिपना प्रगट हुआ है, उसे ऐसी दशा होती है। लोगों को पता भी नहीं मुनिपना (कैसा होता है) ? आहा...हा... ! समझ में आया ? परम एकाग्रता लक्षण ऐसी समाधि — ऐसी शान्ति उसमें से **संजात** (अर्थात्) उत्पन्न हुई है। आहा...हा... !

निर्विकाराह्लाद आचार्यों को शब्द थोड़े पड़ते हैं ! देखा ? कितने शब्द रखे हैं ! आहा...हा... ! दो मुनियों को सिद्ध करना है कि दो मुनि बैठे हैं, वे एक क्षेत्र में हैं या दो क्षेत्र में है ? एक क्षेत्र में होवे तब तो दो सिद्ध नहीं होते। दो क्षेत्र भिन्न-भिन्न होवे तो दो (क्षेत्र में) दोनों भिन्न है। (यदि ऐसा होवे तो) प्रदेश भिन्न हो गये। आहा...हा... ! भाई ! यह सब लॉजिक की सूक्ष्म बात है। तुम्हारे सब लॉजिक समझने जैसे (होते हैं)।

मुमुक्षु : कायदे में (कानून में) लॉजिक बहुत आते हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : आते हैं, परन्तु वे सब साधारण, ठिकानेरहित (होते हैं)। यह तो सर्वज्ञ के (कहे हुए लॉजिक हैं)! आहा...हा...! परमेश्वर तीर्थंकरदेव केवली परमात्मा ने जो स्वभाव देखा, उसका जो नियम... उसकी वस्तु अलौकिक है, दूसरी बात है!

कहते हैं कि ज्ञानानन्दस्वभाव है। भाषा देखो! आत्मा का स्वभाव कोई राग और पुण्य और दया, दान, वह उसका स्वभाव नहीं है। समझ में आया? उसका तो भेदरूप स्वभाव नहीं है। चिदानन्द एक स्वभाव आत्मतत्त्व! आहा...हा...! समझ में आया? चिदानन्द एक स्वभाव आत्मतत्त्व! ज्ञानानन्द — ज्ञान और आनन्द — ऐसा जो एकरूप स्वभाव! आहा...हा...! ऐसा जो आत्मतत्त्व, उसमें जिसकी परम एकाग्रता है! आहा...हा...! देखो दशा! देखो यह मुनिपना! परम एकाग्रता! ज्ञानानन्द तत्त्व में परम एकाग्रता! देखा? ज्ञानानन्द आत्मतत्त्व कहा! ज्ञानानन्द में एकाग्रता नहीं परन्तु चिदानन्द एकस्वभावी आत्मतत्त्व! उसमें एकाग्रता। समझ में आया?

देखो! एक प्रदेश की व्याख्या करते हुए मुनि की व्याख्या रखी! आहा...हा...! एकाग्र लक्षण समाधि! आहा...हा...! आधि, व्याधि, उपाधि से रहित अन्दर समाधि — आनन्द प्रगट हुआ। शान्ति... शान्ति... शान्ति... शान्ति... शान्तरस ऐसी जो समाधि! लोगस्स में नहीं आता 'समाहि वरमुत्तम्...' ऐसा आता है भाई! किया है या नहीं लोगस्स? नहीं किया? ठीक! यह तो लोगस्स में आता है, भाई! 'समाहि वर मुत्तमम दित्तू...' यह मिला सीधा! इसमें आता है, भाई! 'समाहि मुत्तमम दित्तू...' नहीं? परन्तु इसके अर्थ भी कहाँ पता है? पहाड़े बोल जाता है!

आहा...हा...! यहाँ तो आत्मा की समाधि! समाधि से उत्पन्न आनन्द! चिदानन्द एक स्वभावी आत्मतत्त्व में **परमैकाग्र्यलक्षणसमाधिसंजात**। आहा...हा...! ऐसी समाधि से उत्पन्न हुआ निर्विकारी आल्हाद! आहा...हा...! देखो! यह दशा! मोक्षमार्गी जीव की! आहा...हा...! पाँच महाव्रतवाले और शरीरवाले नहीं कहा। समझ में आया? निर्विकार आल्हाद, निर्विकार प्रसन्नता! उसमें निर्विकल्प प्रसन्नता प्रगट हो गयी है। आहा...हा...! एकरूप! वह भी एकरूप दशा प्रगट हुई है — ऐसा कहते हैं। आहा...हा...! खण्ड नहीं। निर्विकार, आल्हाद, एकरूप! कितने शब्द प्रयोग किये हैं! आहा...हा...!

सुखसुधारसास्वाद एकरूप सुख — ऐसा जो अमृत! सुधा अर्थात् (अमृत) आहा...हा...! भगवान अमृत का सागर है। भाई! कभी सुना भी नहीं होगा कि आत्मा कैसा है? आहा...हा...! आल्हाद एकरूप सुख! एकरूप सुख! वहाँ कहाँ खण्ड है? और सुधारस! एकरूप सुख का अमृत का रस! अन्दर भगवान आत्मा ने अमृत का रस है। **सुधारसास्वाद** अन्दर उस अमृत के रस के स्वाद में मुनि तृप्त हैं (— ऐसा) कहते हैं। आहा...हा...! यह लड्डू-बड्डू खाये और अरबी के भुजिए खाये और तृप्त-तृप्त होकर बैठते हैं न? धूल भी (तृप्ति) नहीं, वहाँ तो अकेला दुःख है। आ...हा...! अरे ऐसा करके बैठते हैं! घी में तली हुई पूरणपोली ठीक से खाये, अरबी की पकोड़ी खाये, ओ...! फिर पेट पर हाथ फेरे! उसमें एक सरीखी हवा निकले। आहा...हा...! भगवान! तेरी तृप्ति तो देख अन्दर! आहा...हा...!

सुखसुधारसास्वाद! सुखसुधारसास्वाद से तृप्त — ऐसे **मुनि युगल** — ऐसे दो मुनि...। क्षेत्र को भिन्न सिद्ध करना है न? दो मुनि! ऐसे **युगलस्यावस्थित** जहाँ रहे हैं, उस क्षेत्र में... ऐसे दो मुनि रहे हैं, जिस क्षेत्र में... आहा...हा...! कहो, समझ में आया? भले आकाश के प्रदेशों की भिन्नता का वर्णन करते हैं, उसे भिन्न सिद्ध करने के लिए मुनि का दृष्टान्त देते हैं। आहा...हा...! ऐसे आत्मा के आनन्द में तृप्त, तृप्ति प्राप्त दो मुनि हैं, वे एक क्षेत्र में हैं या दो क्षेत्र में हैं? यह पूछा है। लॉजिक से तो बात करते हैं। आहा...हा...!

यह आठ-आठ वर्ष के बालक हों, हाँ! परन्तु आत्मा के आनन्द का मुनिपना प्रगटे! आहा...हा...! आठ वर्ष के बालक — राजकुमार! वे अन्दर में परम आनन्द में एकाग्रता (करके) तृप्त-तृप्त वर्तते हैं। आहा...हा...! मुनि हुए दो राजकुमार ऐसी दशा में पड़े हों, कहते हैं। वे दोनों एक क्षेत्र में रहे हैं या दो (क्षेत्र में) रहे हैं? यह प्रश्न है। देखो! **किमेकमनेकं वा। यद्येकं तर्हि द्वयोरप्येकत्वं....** एक (क्षेत्र) होवे तब तो दोनों एक हो जाते हैं। दोनों का एक क्षेत्र होवे तो दोनों एक हो जाते हैं। दोनों एक नहीं हैं, दोनों अत्यन्त भिन्न हैं। समझ में आया? आहा...हा...!

ऐसा प्रसंग याद किया है न? क्षेत्र के प्रदेश की भिन्नता सिद्ध करने में ऐसी बात याद की है। आहा...हा...! दो राजकुमार हों, आठ-आठ वर्ष की उम्र के बालक हों, परन्तु

अन्दर स्वरूप के साधन में लगे हों, आहा...हा...! (उसमें) उम्र का कुछ नहीं की पचास लाख या करोड़ पूर्व की हो तो अधिक आनन्द होवे। आहा...हा...! वे राजा के कुँवर भी 'राजते शोभते इति' — ऐसे आत्मा से अन्दर शोभा में (पड़े हैं) आहा...हा...! चिदानन्द एक स्वभाव आत्मतत्त्व में परम एकाग्र लक्षण समाधिसंजात... आहा...हा...! आल्हादरूप एकरूप सुख, एक सुख, एक सुख! सुधारस स्वाद! आचार्यों को शब्द थोड़े पड़ते हैं! आहा...हा...!

अज्ञानी को अनादि का राग का रस है, वह दु:ख का रस है। पुण्य और पाप का रस है, उसमें एकाग्रता है, वह दु:ख का स्वाद है, जहर का स्वाद है। आहा...हा...! जहर पीता है और मानता है कि हम सुखी हैं! यहाँ तो भगवान आचार्यदेव... आहा...हा...! जिन्हें अन्दर में आनन्द उल्लसित हुआ है, अतीन्द्रिय आनन्द की प्राप्ति हुई है, उनके सुख के सुधारस में — स्वाद में तृप्त हैं... तृप्त हैं... आहा...हा...! जैसे पूरणपोली को घी में डुबोते हैं और ऐसे झरता है, घी झरता है (उसे खाकर तृप्त होते हैं), वह रोटी क्या परन्तु पहले रिवाज ऐसा था, भाई! जवान मर जाये तो चूरना नहीं करते परन्तु रोटी गर्म करके, घी में डुबोकर देते, अनावश्यक खर्च बढ़ता।

प्रश्न : उसमें मीठा डालना?

समाधान : मीठा डालने में बेचारे गरीब व्यक्ति की धूल निकल जाये। यह तो हमारे घर का पता है। आहा...हा...! (संवत्) १९५७ के साल! खुशालभाई से बड़े भाई दीपचन्दभाई गुजर गये (वैसे) साधारण, पिताजी बहुत रूपवान और सुन्दर शरीर तथा गृहस्थ के पुत्र थे, वे कर नहीं सकते थे। मुम्बई में साधारण दुकान थी। साधारण दुकान, उसमें मेहमान आवे, उन्हें लापसी और सुखड़ी (गुजराती मिठाई) न दे परन्तु गरम-गरम रोटियाँ ऐसे घी में (डुबोकर दें) घी का तपेला भरा हुआ हो (उसमें) डुबो-डुबोकर दें। भाई! यह तो सब देखा है। आहा...हा...! उस समय ग्यारह वर्ष की उम्र (देखकर ऐसा लगा) अरे... यह क्या करते हैं? इसकी अपेक्षा सुखड़ी (गुजराती मिठाई) बनावे तो खर्च कर्म हो। ऐसा... क्या कहलाते हैं वह सब? जाति के ऐसे सब... (श्रोता - प्रमुख / अग्रसेर) नहीं, अग्रेसर नहीं। (श्रोता - सेठ)? सेठ नहीं। व्यवहार की ऐसी गाँठें बँध गयी

कि उस समय मिठाई नहीं दे जा सकती, बीस वर्ष का (युवक) मर गया हो, उसे सत्ताईस वर्ष थे। आहा...हा... ! साधारण घर, घी की तपेली भरकर (उसमें रोटियाँ डुबोकर दें) तीन-चार महिलायें बढ़ी तपेली भरें, अन्य (लोग) भी इनकार नहीं करें कि अभी ऐसा नहीं होता, भाई ! यह सब तो देखा है। डुबोकर दें ! किसी समय तो उसमें डालकर और ऐसा करके... घी में अधिक डालकर, उसमें डालते हैं। रोटी को ऐसी ऊँची करके बीच में (घी डालते हैं)।

मुमुक्षु : उस समय का घी ऐसा था।

पूज्य गुरुदेवश्री : उस समय पैसा कहाँ था ? उस समय एक रुपये का ढाई सेर घी (था)। उस समय दो सेर होगा, यहाँ सेर तो अभी था।

मुमुक्षु : वह घी अच्छा घी था।

पूज्य गुरुदेवश्री : अच्छा... अच्छा... घी बहुत अच्छा था। आहा...हा... ! यहाँ तो दूसरा कहना है कि लोगों में ऐसे प्रतिबन्ध हो गये तो इस प्रकार व्यवहार चला। आहा...हा... !

यहाँ कहते हैं कि इन मुनियों का व्यवहार तो देख, आहा...हा... ! धर्मी जीव का व्यवहार कैसा ? कहते हैं। यह विकल्प है, वह उनका व्यवहार नहीं है। आहा...हा... ! वस्तु है, वह त्रिकाली निश्चय है, उसमें परम एकाग्रता लक्षण संजात ! समाधि संजात आल्हाद एकरूप सुख ! सुधारस के स्वाद में तृप्त, आहा...हा... ! गजब बात की है न ?

कहते हैं ऐसे दो मुनि बैठे हैं — ऐसे नजर में / लक्ष्य में लिये हैं। आहा...हा... ! ऐसे मुनिपने का मोक्षमार्ग स्थापित किया है और उसका अस्तित्व सिद्ध किया है तथा उस अस्तित्व की श्रद्धावाला ऐसा कहता है। आहा...हा... ! ऐसा जगत् में होवे तो ये दो मुनि, दो हैं तो एक क्षेत्र में रहे हैं या दो में ? इन लड़कों को समझ में आता है या नहीं ? कहाँ गये ? समझ में आता है या नहीं इसमें ? ऐसे दो मुनि होते हैं न ? कहते हैं कि वे एक जगह में रहे हैं या उनकी दो जगह हैं ? एक जगह में हो तो दो नहीं होते और दो है तो अन्दर दो जगह के भाग पड़ गये। आहा...हा... !

बताइये कि 'दो उंगलियों के एक क्षेत्र है या अनेक ?'.... इसमें यह दृष्टान्त दिया है। यहाँ दो उंगलियाँ कही हैं। जयसेनाचार्यदेव ने दो मुनियों का (दृष्टान्त दिया है)।

यदि 'दो उंगलियों का एक क्षेत्र है.... अर्थात् दो मुनियों का एक क्षेत्र है। **ऐसा कहा जाये तो (पूछते हैं कि) (१) आकाश अभिन्न अंशोंवाला....** आकाश अखण्ड अंशोंवाला-भाग पड़े बिना का **एक द्रव्य है, इसलिए दो अंगुलियों का एक क्षेत्र है या (२) भिन्न अंशोंवाला....** भिन्न अंश है, तथापि **अविभाग एक द्रव्य है,....** भाग पड़े बिना एक द्रव्य है, **इसलिए ?....** यह दो प्रश्न किये।

(१) 'आकाश अभिन्न अंशवाला अविभाग एक द्रव्य है, इसलिए दो अंगुलियों का एक क्षेत्र है'.... ऐसा कहा जाये तो एक अंगुली का क्षेत्र है, वही दूसरी अंगुली का क्षेत्र हो गया। जो अंश एक अंगुली का है, वही दूसरी अंगुली का हो गया। **इसलिए दो में से एक अंश का अभाव हो गया।....** जरा न्याय से सूक्ष्म बात की है। अन्तिम में अन्तिम यह सूक्ष्म आया है। आहा...हा...! यह क्या कहा ?

आकाश अभिन्न अंशोंवाला अविभाग एक द्रव्य होवे, तब तो दो अंगुलियों का एक क्षेत्र है - ऐसा कहने में आवे तो जो अंश एक अंगुली का क्षेत्र है, जो अंश एक अंगुली में रहा है, उसी अंश में दूसरी अंगुली है — ऐसा हो गया, दो भाग नहीं रहे। वही अंश दूसरी अंगुली का क्षेत्र है — ऐसा हो गया। जरा सूक्ष्म बात है, यह बनियों को जमना (कठिन पड़ेगा) आहा...हा...! बाहर के कितने दृष्टान्त नहीं करते ? ब्याज निकालते हैं, चक्रवर्ती ब्याज (निकालते हैं)।

कहते हैं, यह तो आत्मा असंख्य प्रदेशी है, वैसे आकाश भी अनन्त प्रदेशी है। आहा...हा...! उसका अनन्त प्रदेशीपना कैसे है ? कि दो अंगुलियाँ रही हैं, उन दो अंगुलियों का द्रव्यपना (भले ही) एक हो, परन्तु उनके प्रदेश का क्षेत्र एक है या दो ? यदि प्रदेश का क्षेत्र एक होवे तो दोनों के (क्षेत्र) एक हो जाते हैं। इसलिए दोनों के क्षेत्र दो हैं तो प्रदेश भिन्न हो गये। द्रव्य भले अविभाग हो। द्रव्य के भाग नहीं पड़ते परन्तु प्रदेश के भाग पड़े। आहा...हा...! ऐसी बात है भाई !

प्रवचनसार ! वीतराग सर्वज्ञ परमेश्वर द्वारा कही हुई दिव्यध्वनि का यह सार है ! अरे ! इसे समझना तो पड़ेगा न ? अरे ! यह मानवपना मिला, (वह) चला जा रहा है। उसमें वास्तविक तत्त्व का ज्ञान, स्वसहित का न होवे तो कुछ नहीं किया। यह (दूसरे) सब

भटकने के रास्ते हैं। यहाँ बड़ा करोड़पति, अरबपति सेठ हो, लो मरकर छिपकली (गर्भ में) अवतरे! आहा...हा...! बकरी के गर्भ में अवतरे! माया और कपट किया हो... माँस, शराब न खाये-पीये हो (वह तिर्यंच में) जाता है। वक्रता की हो, वह वक्रता में अवतरित होता है। यह (तिर्यंच के) शरीर आड़े हैं न? गाय, भैंस ऐसे आड़े हैं आड़े। मनुष्य ऐसे खड़े हैं। गाय, भैंस, चूहे ऐसे आड़े हैं। इसका अर्थ यह कि पूर्व में वक्रता बहुत की थी। माया, कपट, कुटिलता, दम्भ और इतनी वक्रता (की थी) कि पर्याय में तो वक्रता हो गयी परन्तु शरीर ऐसा आड़ा हो गया। आहा...हा...! बेहद फल आया है, इसका पता नहीं पड़ता? यह मनुष्य ऐसा ऊँचा चलता है और छिपकली, चूहे, कौवे ऐसे आड़े दिखते हैं या नहीं? तो उसका कोई कारण होगा या नहीं? भाई! यह बनिये तो बहुत समझे बिना होंगे न... समझ और ऐसी पहचान नहीं कि होवे तो किसकी गति ऐसी है, ऐसा है। आहा...हा...! कुदरत के नियम में जो उसकी योग्यता हो तद्नुसार आता है। वह कोई कुछ दे दे — ऐसा है वहाँ? आहा...हा...!

(यहाँ कहते हैं कि) **दो में से एक अंश का अभाव हो गया...** क्या कहा? अविभाग आकाश के द्रव्यरूप से भाग नहीं है परन्तु उसके यदि प्रदेशरूप से भाग न हों और जिस जगह एक मुनि है, उसी जगह दूसरे मुनि (होंवे), तब तो दोनों का स्थान एक ही हो गया, दो स्थान नहीं रहे। दो अंगुलियों का एक क्षेत्र (होवे तो उसमें ही) दूसरी अंगुली का क्षेत्र हो गया; इसलिए दूसरे अंश का अभाव हो गया। एक अंश में दोनों रह गयीं। दूसरा अंश जो उसमें था, उसका तो अभाव हो गया। आहा...हा...! ऐसी बात है।

प्रश्न : इसमें अंगुली की क्या आवश्यकता है?

समाधान : लोग सीधा समझें, इसलिए अंगुली का दृष्टान्त (कहते हैं)। देखो! यह अंगुली है, जिस जगह जिस भाग में यह अंगुली है, उस भाग में यह (दूसरी) अंगुली है? वह तो दूसरा भाग हो गया (इसलिए) प्रदेश अलग हो गये। समझ में आया? जरा सूक्ष्म पड़े परन्तु यह तो अधिकार आया हो, वह आवे न? यहाँ गाथा यह है न? आहा...हा...! आज तो समवसरण (मन्दिर) की तिथि है। एक महीना हुआ न? वैशाख कृष्ण षष्ठमी

महीना हुआ न ? मासिक तिथि है न ? तैंतीस साल हुए। आहा...हा... !

क्या कहा ? भगवान! आकाश नामक पदार्थ वस्तुरूप से अखण्ड, अभेद द्रव्य अवश्य परन्तु उसके प्रदेशरूप से भेद न हो तो एक क्षेत्र में रहनेवाली चीज और दूसरे में रहनेवाली (चीज) दोनों एक हो जायें और दोनों को एक मानो तो दूसरे अंश का अभाव होने पर तीसरे अंश का अभाव होने पर (सभी अंशों का अभाव हो जाएगा)। समझ में आया ? भाई ! ऐसा सब वहाँ सुनने को मिला नहीं था।

मुमुक्षु : यह बात ही कहाँ थी ?

पूज्य गुरुदेवश्री : आहा...हा... !

इसी प्रकार तेरा आत्मा असंख्य प्रदेशी अखण्ड द्रव्य अवश्य है, परन्तु जो स्थान यहाँ है, वह स्थान यहाँ है ? क्षेत्र-प्रदेश भिन्न-भिन्न हैं। यहाँ और यहाँ के प्रदेश भिन्न-भिन्न हैं। वस्तुरूप से एक, प्रदेशरूप से असंख्य (प्रदेश) भिन्न हैं। यह प्रदेश हैं वे यहाँ हैं और यह प्रदेश हैं वे यहाँ हैं — ऐसा है ? आहा...हा... ! देखो, यह वीतराग सर्वज्ञ ! इनके द्वारा कथित पदार्थ ! यह पदार्थ का विज्ञान है ! यह अभी तुम्हारी (लौकिक पढ़ाई में) विज्ञान नहीं चलता ? यह तो वीतरागी विज्ञान है।

इस प्रकार दो इत्यादि (एक से अधिक) अंशों का अभाव होने से आकाश परमाणु की भाँति प्रदेशमात्र सिद्ध हुआ.... लो, ठीक ! दो (चीज में) दो क्षेत्र न मानो और दोनों का एक क्षेत्र मानो तो पूरा आकाश एक अंश (मात्र) रहेगा; भिन्न-भिन्न अंश नहीं सिद्ध होगा। आहा...हा... ! है तो सूक्ष्म परन्तु अब इसे पकड़ना तो पड़ेगा। **इस प्रकार दो इत्यादि (एक से अधिक) अंशों का अभाव होने से आकाश परमाणु की भाँति प्रदेशमात्र सिद्ध हुआ....** एक अंश सिद्ध हुआ। एक प्रदेश जितना आकाश हुआ, अनन्त का अभाव हो गया। आहा...हा... ! **(इसलिए यह तो घटित नहीं होता)।**

यदि (यह कहा जाय कि) (१) 'आकाश भिन्न अंशोंवाला अविभाग एक द्रव्य है'.... अब दूसरा प्रश्न कहते हैं। आकाश भिन्न अंशोंवाला परन्तु अविभाग एक द्रव्य है। द्रव्यरूप से एक है **(इसलिए दो अंगुलियों का एक क्षेत्र है तो वह योग्य ही है, क्योंकि अविभाग एक द्रव्य में अंश कल्पना फलित हुई)** आकाश अखण्ड की

अपेक्षा यह सब क्षेत्र एक है। इसका, इसका भी है, आकाश का क्षेत्र। **एक द्रव्य में अंशकल्पना फलित हुई....**

यदि ऐसा कहा जाय कि (दो अंगुलियों के) 'अनेक क्षेत्र हैं' (अर्थात् एक से अधिक क्षेत्र हैं, एक नहीं) तो (प्रश्न होता है कि) (१) 'आकाश सविभाग (खण्ड-खण्डरूप) अनेक द्रव्य हैं' इसलिए दो अंगुलियों के अनेक क्षेत्र हैं या (२) 'आकाश अविभाग एक द्रव्य' होने पर भी दो अंगुलियों के अनेक (एक से अधिक) क्षेत्र हैं ? (१) 'आकाश सविभाग अनेक द्रव्य होने से दो अंगुलियों के अनेक क्षेत्र हैं' ऐसा माना जाय तो आकाश जो कि एक द्रव्य है उसे अनन्त द्रव्यत्व आ जायेगा;.... एक प्रदेश को ही पूरा द्रव्य माना जाये... आहा...हा... ! उसे पृथक् प्रदेश न माना जाये तो एक ही प्रदेश को पूरा अविभाग द्रव्य मानने में आये।

(२) 'आकाश अविभाग एक द्रव्य होने से दो अंगुलियों का अनेक क्षेत्र है' ऐसा माना जाय तो.... वह योग्य है। द्रव्यरूप से अखण्ड है; प्रदेशरूप से भिन्न है। आहा...हा... ! कहाँ से चला आता है, देखो ? १२७ (गाथा से)। भिन्न-भिन्न, भिन्न-भिन्न प्रकार (कहते आते हैं)। ●

भय बिना प्रीति नहीं

अरे रे ! मुझे कहाँ तक यह जन्म-मरण करने हैं। इस भव-भ्रमण का कहीं अन्त है या नहीं ? इस प्रकार जब तक चौरासी के अवतार का भय नहीं होता, तब तक आत्मा की प्रीति नहीं होती। 'भय बिना प्रीति नहीं' अर्थात् भव-भ्रमण का भय हुए बिना, आत्मा की प्रीति नहीं होती। सच्ची समझ ही विश्राम है। अनन्त काल से संसार में परिभ्रमण करते हुए कहीं विश्राम प्राप्त नहीं हुआ है। अब सच्ची समझ करना ही आत्मा का विश्राम है। *-पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी*

गाथा - १४१

अथ तिर्यगूर्ध्वप्रचयावावेदियति -

एक्को व दुगे बहुगा संखातीदा तदो अणंता य।
दव्वाणं च पदेसा संति हि समय त्ति कालस्स।। १४१।।

एको वा द्वौ बहवः संख्यातीतास्ततोऽनन्ताश्च।
द्रव्याणां च प्रदेशाः सन्ति हि समया इति कालस्य।। १४१।।

प्रदेशप्रचयो हि तिर्यक्प्रचयः समयविशिष्टवृत्तिप्रचयस्तदूर्ध्वप्रचयः। तत्राकाशस्यावस्थितानन्तप्रदेशत्वाद्धर्माधर्मयोरवस्थितासंख्येयप्रदेशत्वाज्जीवस्यानवस्थितासंख्येयप्रदेशत्वात्पुद्गलस्य द्रव्येणानेकप्रदेशत्वशक्तियुक्तैकप्रदेशत्वात्पर्यायेण द्विबहुप्रदेशत्वाच्चास्ति तिर्यक्प्रचयः। न पुनः कालस्य, शक्त्या व्यक्त्या चैकप्रदेशत्वात्। ऊर्ध्वप्रचयवस्तु त्रिकोटिस्पर्शित्वेन सांशत्वा-द्द्रव्यवृत्तेः सर्वद्रव्याणामनिवारित एव। अयं तु विशेषः समयविशिष्टवृत्तिप्रचयः शेषद्रव्याणा-मूर्ध्वप्रचयः, समयप्रचयः एव कालस्योर्ध्वप्रचयः। शेषद्रव्याणां वृत्तेर्हि समयादर्थान्तरभूतत्वा-दस्ति समयविशिष्टत्वम्। कालवृत्तेस्तु स्वतः समयभूतत्वात्तन्नास्ति।।१४१।।

अथ तिर्यक्प्रचयोर्ध्वप्रचयौ निरूपयति - **एक्को व दुगे बहुगा संखातीदा तदो अणंता य** एको वा द्वौ बहवः संख्यातीतास्ततोऽनन्ताश्च। **दव्वाणं च पदेसा संति हि** कालद्रव्यं विहाय पञ्चद्रव्याणां संबन्धिन एते प्रदेशा यथासंभवं सन्ति हि स्फुटम्। **समय ति कालस्स** कालस्य पुनः पूर्वोक्तसंख्योपेताः समयाः सन्तीति। तद्यथा - एकाकारपरमसमरसीभावपरिणतपरमानन्दैकलक्षणसुखामृतभरितावस्थानां केवलज्ञानादिव्यक्तिरूपानन्तगुणाधारभूतानां लोकाकाशप्रमित-शुद्धासंख्येयप्रदेशानां मुक्तात्मपदार्थे योऽसौ प्रचयः समूहः समुदायो राशिः स। किं किं भण्यते। तिर्यक्प्रचय इति तिर्यक्सामान्यमिति विस्तारसामान्यमिति अक्रमानेकान्त इति च भण्यते। स च प्रदेशप्रचयलक्षणस्तिर्यक्प्रचयो यथा मुक्तात्मद्रव्ये भणितस्तथा कालं विहाय स्वकीयस्वकीय-प्रदेशसंख्यानुसारेण शेषद्रव्याणां स भवतीति तिर्यक्प्रचयो व्याख्यातः। प्रतिसमयवर्तिनां पूर्वोत्तर-पर्यायाणां मुक्ताफलमालावत्सन्तान ऊर्द्ध्वप्रचय इत्दद्ध्र्वसामान्यमित्यायतसामान्यमिति क्रमानेकान्त

इति च भण्यते। स च सर्वद्रव्याणां भवति। किंतु पञ्चद्रव्याणां संबन्धी पूर्वापरपर्यायसन्तानरूपो योऽसादूर्ध्वताप्रचयस्तस्य स्वकीयस्वकीयद्रव्यमुपादानकारणम्। कालस्तु प्रतिसमयं सहकारिकारणं भवति। यस्तु कालस्य समयसन्तानरूप ऊद्धर्वताप्रचयस्तस्य काल एवोपादानकारणं सहकारि-कारणं च। कस्मात्। कालस्य भिन्नसमयाभावात्पर्याया एवं समया भवन्तीत्यभिप्रायः।।१४१।।

अब, तिर्यक्प्रचय[१] तथा ऊर्ध्वप्रचय[२] बतलाते हैं –

प्रदेश एक दो या बहुत, असंख्य अथवा अनन्त हैं।
सब द्रव्यों के हैं यथा-यथा, अरु काल वह तो समय है॥

अन्वयार्थ – [**द्रव्याणां च**] द्रव्यों के [**एकः**] एक, [**द्वौ**] दो, [**बहवः**] बहुत से, [**संख्यातीताः**] असंख्य, [**वा**] अथवा [**ततः अनन्ताः च**] अनन्त [**प्रदेशाः**] प्रदेश [**सन्ति हि**] हैं। [**कालस्य**] काल के [**समयाः इति**] 'समय' हैं।

टीका – प्रदेशों का प्रचय (समूह) तिर्यक्प्रचय और समयविशिष्ट वृत्तियों[३] का समूह वह ऊर्ध्व प्रचय है।

वहाँ आकाश अवस्थित (निश्चल, स्थिर) अनन्त प्रदेशी होने से; धर्म तथा अधर्म अवस्थित असंख्य प्रदेशी होने से; जीव अनवस्थित (अस्थिर) असंख्यप्रदेशी है और पुद्‌गल, द्रव्य से अनेक प्रदेशीपने की शक्ति से युक्त एक प्रदेशवाला है तथा पर्याय से दो अथवा बहुत (संख्यात, असंख्यात और अनन्त) प्रदेशवाला है, इसलिए उनके तिर्यक्प्रचय है; परन्तु काल के (तिर्यक्प्रचय) नहीं है, क्योंकि वह शक्ति तथा व्यक्ति (की अपेक्षा) से एक प्रदेशवाला है।

ऊर्ध्वप्रचय तो सर्व द्रव्यों के अनिवार्य ही है, क्योंकि द्रव्य की वृत्ति तीन कोटियों को (भूत, वर्तमान और भविष्य ऐसे तीनों कालों को) स्पर्श करती है, इसलिए अंशों से युक्त है परन्तु इतना अन्तर है कि समयविशिष्ट[४] वृत्तियों का प्रचय वह (काल को छोड़कर) शेष द्रव्यों का ऊर्ध्वप्रचय है, और समयों का प्रचय वही कालद्रव्य का ऊर्ध्वप्रचय

१. तिर्यक् = तिरछा; आड़ा; क्षेत्र-अपेक्षित (प्रदेशों का फैलाव)। २. ऊर्ध्व = ऊँचा; काल-अपेक्षित।
३. वृत्ति = वर्तना; परिणति; पर्याय; उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य; अस्तित्व।
४. समयविशिष्ट = समय से विशिष्ट; समय के निमित्तभूत होने से व्यवहार से जिसमें समय की अपेक्षा होती है।

है; क्योंकि शेष द्रव्यों की वृत्ति समय से अर्थान्तरभूत (अन्य) होने से वह (वृत्ति) समय विशिष्ट है, और कालद्रव्य की वृत्ति तो स्वतः समयभूत है, इसलिए वह समयविशिष्ट नहीं है ॥ १४१ ॥

प्रवचन नं. १५४ का शेष	ज्येष्ठ कृष्ण ६	रविवार, २९ जून १९७५

अब, १४१ (गाथा में) **तिर्यक्प्रचय तथा ऊर्ध्वप्रचय बतलाते हैं....** दो, दो भिन्न-भिन्न बतलाते हैं न ?

एक्को व दुगे बहुगा संखातीदा तदो अणंता य।
दव्वाणं च पदेसा संति हि समय त्ति कालस्स।। १४१।।

प्रदेश एक दो या बहुत, असंख्य अथवा अनन्त हैं।
सब द्रव्यों के हैं यथा-यथा, अरु काल वह तो समय है॥

प्रदेशों का प्रचय (समूह) तिर्यक्प्रचय.... क्या कहते हैं ? ऐसे आकाश के प्रदेश या जीव के (प्रदेशों) तिर्यक्प्रचय (अर्थात्) ऐसे बिछे हुए हैं। है ? (मूल ग्रन्थ के फुटनोट में तिर्यक का अर्थ दिया है) **तिरछा; आड़ा; क्षेत्र-अपेक्षित** और **समयविशिष्ट वृत्तियों का समूह वह ऊर्ध्व प्रचय है।** द्रव्य में परिणति की जो पर्याय होती है, वह एक के बाद एक ऐसे होती है और प्रदेश जो तिरछे हैं, वे एक साथ ऐसे (आड़े बिछे हुए) हैं। आहा...हा... ! ऐसे ही आत्मा में जो अनन्त गुण हैं, वे एक समय में ऐसे तिरछे बिछे हुए हैं और उसकी पर्याय जो है, वह ऐसी ऊर्ध्वप्रचय है।

आत्मा वस्तु है, उसमें अनन्त गुण हैं परन्तु अनन्त गुण वर्तमान तिरछे एक साथ ऐसे विस्तार (से) बिछे हुए हैं और उसकी जो पर्याय है, वह भी एक समय में एक और दूसरे समय में दूसरी (होती है), उसमें ऊर्ध्वक्रम है। कालक्रम से ऊर्ध्वप्रचय है। कालक्रम से उसका ऊर्ध्वसमूह है। कहो, यह तो सादी भाषा है।

यह आत्मा है न ? वस्तु ! इसमें अनन्त गुण हैं, वे गुण क्रम-क्रम में हैं ? एक साथ ऐसे हैं। जैसे शक्कर है, उस शक्कर में सफेदाई, मिठास, सुगन्ध एक साथ ऐसी बिछी हुई

है। ठीक है ? परन्तु उसकी पर्याय में जो थोड़ी मिठास या अधिक मिठास (होती है), वह पर्याय क्रमसर है। इस प्रकार कालक्रम से (होती है) वह ऊर्ध्व कालक्रम में पर्याय है। एक समय में ऐसी तिरछी अनन्त पर्यायें नहीं है, ऊर्ध्व पर्याय है, (वह) एक के बाद एक (होती है)। ऐसे द्रव्य के भाग हैं, कहते हैं। समझ में आये उतना समझना, यह तो वीतराग का ऐसा मार्ग है। बापू! आहा...हा...!

मुमुक्षु : समझ में आये उतना समझना ऐसा कहकर आप....

पूज्य गुरुदेवश्री : नहीं, नहीं; ऐसा कि यह जरा सूक्ष्म पड़ता है — ऐसा लगे (तो इसके लिए कहा है)। यह प्रश्न सभा में हो गया है। यह सूक्ष्म कहते हैं इसका अर्थ कि अधिक ध्यान देने योग्य है — ऐसा। सूक्ष्म की व्याख्या न समझ में आये — ऐसा नहीं परन्तु ध्यान अधिक देने योग्य है। चार महीने घूमे, उसमें लोग बहुत आये न! लाखों लोग! आहा...हा...!

मुमुक्षु : आपका बहुत उपकार है!

पूज्य गुरुदेवश्री : कौन करे ? आहा...हा...! यह तो समझ में आये - ऐसी बात है। वह जरा.... वह (बात) भी समझ में आये ऐसी थी।

वस्तु ऐसी अखण्ड एक होने पर भी दो साधु या दो अंगुली जहाँ है, उसका क्षेत्र एक कहो तो दो नहीं रहते और दो मानो तो प्रदेश भिन्न हो गये हैं। दोनों का क्षेत्र भिन्न-भिन्न है। आहा...हा...!

अब, यहाँ दूसरे प्रकार से द्रव्यों को (बतलाते हैं)। एक तिर्यक्प्रचय है और एक ऊर्ध्वप्रचय है। आत्मा में या इस परमाणु में जो अनन्त गुण हैं, वे ऐसे बिछे हुए हैं, एक साथ ऐसे हैं, ऐसे तिरछे, आड़े (बिछे हुए हैं) और उसकी पर्याय जो है, वह कालक्रम से ऐसी ऊर्ध्व है — एक के बाद एक, एक के बाद एक, एक के बाद एक...

यहाँ फिर सिद्ध करना है कि काल में ऊर्ध्वप्रचय है परन्तु तिर्यक्प्रचय नहीं — ऐसा सिद्ध करना है और धर्मास्ति, अधर्मास्ति में तिर्यकप्रचय है तथा काल की अपेक्षा से उनमें ऊर्ध्वप्रचय भी है। काल में तिर्यक्प्रचय नहीं — ऐसा कहकर एक कालाणु भिन्न सिद्ध करना है। आहा...हा...! समझ में आया ? दुकान में होवे तो लेखालेखी सब ध्यान

रखे, एक-एक (बात का ध्यान रखता है)! यहाँ भगवान क्या कहते हैं? इसका इसे पता नहीं पड़ता। व्यर्थ, उसमें अकेला पाप बँधे (उसका बहुत ध्यान रखता है)।

मुमुक्षु : यह तो नया है और वह पुराना है।

पूज्य गुरुदेवश्री : पुराना भी कहाँ था? भूल गया। वापस पर्याय में नया-नया करता है। निगोद में गया था तो कुछ नहीं था। यहाँ बाहर आया वहाँ नया डाला — यह वकालत के बोल और अमुक के बोल और लोहे के.... इन भाई को लोहे का है न?

मुमुक्षु : लोहा सोना हो गया।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह तो भाव बढ़ गया। लोहे का भाव तो जो वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श है, वह है। एक बार पूछा नहीं था? कि सोने का भाव क्या? कोई कहे पाँच सेर और कोई (दूसरा कहने लगा)। यह सोने का भाव कहलाता है? सोने का भाव तो उसका वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श जो है, वह उसका भाव है, जो कि उसके साथ सदा रहता है। यह तो तुम्हारा कल्पित है।

मुमुक्षु : उपाश्रय के यह भाव और वह बाजार का भाव।

पूज्य गुरुदेवश्री : बाजार का सब कल्पित (भाव है)। पच्चीस रुपये का तोला था न? साठ वर्ष पहले बारह रुपये का आधा तोला!

मुमुक्षु : थोड़े समय में बीस रुपये तोला हो गया था।

पूज्य गुरुदेवश्री : वह हो गया होगा। चौबीस का ख्याल है। लो, अभी हो गया कहीं का कहीं! यह तो कल्पना का भाव है, या सोने का भाव है? यह भाव बढ़ गया तो सोने में चिकनाहट बढ़ गयी? पाँच सौ (रुपये का) तोला (हो गया) इसलिए चिकनाहट बढ़ गयी? उसका तो रंग, गंध, रस, स्पर्श जो भाव है, वह ऐसा का ऐसा है। आहा...हा...! ऐसे ही भगवान आत्मा का भाव क्या? ऐसा पूछा था। सोने का भाव क्या? तब कहा, यह (भाव) सोने का नहीं। सोने का भाव तो वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श है। इसी प्रकार आत्मा का भाव? यह शरीर, वाणी, मन, यह आत्मा का भाव है? पुण्य और पाप आत्मा का भाव है? नहीं। यह कहा न? चिदानन्द एक स्वभाव निज आत्मभाव!

आहा...हा... ! उसका भाव तो ज्ञानानन्द का एकरूप ऐसा जो उसका भाव है, वह उसका स्वरूप है। आहा...हा... !

(यहाँ कहते हैं) **समयविशिष्ट वृत्तियों....** (अर्थात्) परिणति; पर्याय; उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य; अस्तित्व। प्रति समय अवस्था वर्तती है, वे सब एक समय की अवस्थाएँ एक साथ समस्त तीन काल की नहीं होती। जो गुण है वे एक समय में साथ में होते हैं परन्तु पर्याय है, वह सब एक समय में साथ में नहीं होती और उसका अर्थ भी यह है कि जैसे इसके गुण एक साथ ऐसे तिरछे-सरीखे हैं (वैसे) इसकी पर्याय एक सरीखी ऐसी (ऊर्ध्व) है, उल्टी-सीधी नहीं और आगे-पीछे नहीं। क्रमबद्ध ! ऐसा है, वस्तु का स्वरूप ऐसा है।

साँकल के मकोड़ा है, वे एक साथ ऐसे हजार हैं परन्तु उनकी पर्याय का बदलना (होता है) वह क्रम-क्रम से (होता) है। वह ऊर्ध्वप्रचय कहलाता है तथा ऐसी कड़ियाँ हैं, उनमें गुण है, वे ऐसे तिर्यक्प्रचय कहलाते हैं।

छह द्रव्य में भेद है — ऐसा सिद्ध करना है। छह द्रव्यरूप से भले हो परन्तु उनके दो प्रकार हैं — एक ऊर्ध्वप्रचयरूप और एक तिर्यक्प्रचयरूप सहित ऊर्ध्वप्रचय। समझ में आया ? यह सब भाषा ऐसी है। अन्य तो एकेन्द्रिया, द्वेन्द्रिया, तीन्द्रिया था, इच्छामि पणिकम्मा.... तस्स मिच्छामि दुक्कडम ! कुछ भी नहीं उसमें ? आहा...हा... ! कुछ पता नहीं पड़ता। जगत् को कहाँ हूँ ? कौन हूँ ? इसका पता नहीं पड़ता। यहाँ जहाँ जन्मे तो इसके पुत्र-पुत्री हो गये... आहा...हा... ! और जिस घर में आया, वह घर हमारा हो गया ! तेरे घर में अनन्त गुण एक साथ पड़े हैं और तेरे घर में पर्यायें एक के बाद एक होती है। ऐसा है।

वहाँ आकाश अवस्थित (निश्चल, स्थिर) अनन्त प्रदेशी होने से धर्म तथा अधर्म अवस्थित असंख्य प्रदेशी होने से... दूसरे दो द्रव्य हैं न ? **जीव अनवस्थित (अस्थिर) असंख्यप्रदेशी है....** देखा ? वे स्थिर (प्रदेशवाले) हैं और जीव में असंख्य प्रदेश फिर जाते हैं। संख्या से तो वे (भी रहते हैं)। **और पुद्गल द्रव्य से अनेक प्रदेशीपने की शक्ति से युक्त एक प्रदेशवाला है तथा पर्याय से दो अथवा बहुत (संख्यात, असंख्यात और अनन्त) प्रदेशवाला है, इसलिए उनके तिर्यक्प्रचय है;....** आहा...हा... !

यहाँ तो छह द्रव्यों में, भगवान के द्वारा देखे हुए छह (द्रव्यों में) दो भाग हैं। एक तिर्यक्प्रचयवाले द्रव्य में और एक ऊर्ध्वप्रचयवाले द्रव्य हैं। **परन्तु काल के (तिर्यक्प्रचय) नहीं है,....** इतना सिद्ध करना है। असंख्य काल एक साथ ऐसे हैं — ऐसा नहीं है। काल तो एक-एक द्रव्य भिन्न है। भाई! आहा...हा...! आज का रविवार का दिन था और फिर यह (आया)! परन्तु अन्दर वह मुनि का विषय आया था, वह अच्छा था।

क्योंकि वह शक्ति तथा व्यक्ति (की अपेक्षा) से एक प्रदेशवाला है।.... परमाणु एक प्रदेशी है परन्तु पर्याय से बहुत प्रदेशवाला स्कन्ध हो सकता है; अतः इस अपेक्षा से उसे तिर्यक्प्रचय कहा जाता है, परन्तु काल को तो तिरछा प्रचय एक तथा दूसरा ऐसे दो कालद्रव्य एकत्रित हों - ऐसा है नहीं। आहा...हा...! काल ही ऐसा सूचित करता है कि एक-एक समय की पर्याय भिन्न-भिन्न ऐसी (ऊर्ध्व है) उसे ऐसे दो (प्रदेश) एकत्रित हों — ऐसा काल को नहीं होता है। आहा...हा...!

देखो! एक कालद्रव्य को सिद्ध करने के लिए (कितने लॉजिक देते हैं।) जो श्वेताम्बर नहीं मानते, उसे कुन्दकुन्दाचार्य (सिद्ध करते हैं) क्योंकि श्वेताम्बर पंथ निकल चुका था। तत्पश्चात् सौ वर्ष में यह शास्त्र बनाया है, उसमें यह सिद्ध किया है। काल नामक द्रव्य तिर्यक्प्रचय नहीं है। बहुत इकट्ठे हों ऐसा नहीं है, तथापि बहुत द्रव्य हैं। आहा...हा...! **शक्ति तथा व्यक्ति (की अपेक्षा) से एक प्रदेशवाला है।** काल तो शक्ति से भी एक प्रदेशवाला और व्यक्ति से भी एक ही (प्रदेशवाला है), काल के दो द्रव्य इकट्ठे हों — ऐसा है नहीं। ऐसा स्वरूप है, उसे भलीभाँति जानना चाहिए। जानकर अपने स्वरूप को जानना, उसकी यह बात है। लो! विशेष कहेंगे...

प्रवचन नं. १५५ ज्येष्ठ कृष्ण ७ सोमवार, ३० जून १९७५

यह प्रवचनसार ज्ञेयतत्त्व का कथन है। १४१ (गाथा), थोड़ा आ गया है, फिर से (लेते हैं) **तिर्यक्प्रचय तथा ऊर्ध्वप्रचय बतलाते हैं....** जगत् में छह द्रव्य हैं, वे द्रव्यरूप से भले ही एक हों, परन्तु उनमें तिर्यक्प्रचय और ऊर्ध्वप्रचय का भेद भी है, अर्थात् क्या?

टीका - प्रदेशों का प्रचय (समूह) तिर्यक्प्रचय.... प्रत्येक पदार्थ को जो

प्रदेश हैं, वे ऐसे तिरछे–आड़े हैं। क्षेत्र अपेक्षा से काल के अतिरिक्त आत्मा आदि सभी पदार्थ ऐसे तिर्यक्प्रचयी हैं।

(जयसेनाचार्यदेव ने संस्कृत) टीका में लिखा है। **एकाकारपरमसमरसीभाव-परिणतपरमानन्दैकलक्षणसुखामृतभरितावस्थानां केवलज्ञानादिव्यक्तिरूपानन्त-गुणाधारभूतानां लोकाकाशप्रमितशुद्धासंख्येयप्रदेशानां मुक्तात्मपदार्थे योऽसौ प्रचयः समूहः समुदायो राशिः** क्या कहा ? कि सिद्ध मुक्तात्मा में असंख्य प्रदेश हैं। सिद्ध भगवान को असंख्य प्रदेश हैं। **एकाकारपरमसमरसीभावपरिणतपरमानन्दैकलक्षण** — जिसे परमानन्द एक लक्षण ऐसा स्वरूप **सुखामृत** सुख के अमृत से भरपूर! आहा...हा...! ऐसा **केवलज्ञानादिव्यक्ति** प्रगटरूप, **अनन्तगुणाधारभूत** ऐसे अनन्त गुण का आधार लोकाकाश प्रमाण शुद्ध असंख्य प्रदेश हैं। कहो, समझ में आता है या नहीं ? उसे तिर्यक्प्रचय कहते हैं।

सिद्ध भगवान, उनके असंख्य प्रदेश, उनके अनन्त गुण, आनन्दमय जिनका परिणमन — ऐसा वहाँ रहा है। अनन्त गुण का आधार असंख्य प्रदेश! आहा...हा...! केवलज्ञानादि अनन्त अमृत की परिणति, उसके — असंख्य प्रदेश के आधार से है, उसे तिर्यक्प्रचय (कहते हैं) अनन्त गुण ऐसे तिरछे हैं अथवा तिर्यक् सामान्य कहा है। सिद्ध भगवान के ऐसे तिरछे एकरूप असंख्य प्रदेश हैं, अथवा विस्तार सामान्य कहा है। असंख्य प्रदेश का विस्तार है न ? उसे विस्तार सामान्य कहा है अथवा अक्रम अनेकान्त कहा है। आचार्य ने इतना सब स्पष्ट किया है! संस्कृत है, गुजराती संस्कृत में है। अनन्त गुण का आधार असंख्य प्रदेश अक्रम से एक साथ ऐसे हैं। गुण एक साथ अनन्त हैं और एक साथ असंख्य प्रदेश ऐसे तिरछे हैं, अक्रम अनेकान्त है।

टीका - प्रदेशों का प्रचय (समूह) तिर्यक्प्रचय.... (है) सिद्ध के अथवा धर्मास्ति आदि के जो असंख्य प्रदेश हैं, उन्हें तिर्यक्प्रचय–तिरछा सामान्य, विस्तार सामान्य, अक्रम अनेकान्त कहा जाता है। भाषा भी अलग प्रकार की! आहा...हा...! **और समयविशिष्ट वृत्तियों का समूह....** जिसमें समय — एक समय की अवस्था — पर्याय लागू पड़े, ऐसा समय, वह विशिष्ट परिणति का प्रचय.... वह तो प्रत्येक द्रव्य को

ऐसा एक समय... एक समय... पर्याय... पर्याय... पर्याय... ऊर्ध्व... ऊर्ध्व... ऊर्ध्व... ऊर्ध्व... छहों द्रव्यों को (होता है)। काल को ऊर्ध्वप्रचय तो है तिर्यक्प्रचय नहीं। वह ऊर्ध्वप्रचय है, आ....हा...!

वहाँ आकाश अवस्थित (निश्चल, स्थिर) अनन्त प्रदेशी होने से.... आकाश नामक पदार्थ अनन्त प्रदेशी ऐसा तिरछा सामान्यविस्तार, अक्रम अनेकान्त (स्वरूप है) **धर्म तथा अधर्म अवस्थित असंख्य प्रदेशी होने से....** जहाँ है वहाँ है — ऐसा कहते हैं। आकाश के अनन्त प्रदेश जिस क्षेत्र में हैं, वहीं अवस्थित है। धर्म-अधर्म के अवस्थित है। जीव के अनवस्थित हैं। (जीव के) असंख्य प्रदेश हैं, अनन्त गुण का आधार है, तथापि प्रदेश एकरूप नहीं हैं; संकोच-विस्तार होता है। देखो, ऐसा स्वरूप!

असंख्य प्रदेशी होने से.... कौन ? जीव। **और पुद्गलद्रव्य से अनेक प्रदेशीपने की शक्ति से युक्त....** है। परमाणु वस्तु से अनेक प्रदेशपने की शक्ति (सहित) **एक प्रदेशवाला....** है। परमाणु है एक प्रदेशी, परन्तु अनेक प्रदेश के सम्बन्ध में आता है — ऐसी उसकी शक्ति है। **तथा पर्याय से दो अथवा बहुत (संख्यात, असंख्यात और अनन्त) प्रदेशवाला है,....** पर्याय से परमाणु दो हों, तीन हों, अनन्त हों ऐसा। द्रव्य से एक है। (ऐसे) **प्रदेशवाला है, इसलिए उनके तिर्यक्प्रचय है;....** यह देखो न, यह है न ? तिरछा परमाणु है, अनन्त प्रदेशी ऐसे तिर्यक्प्रचयी चौड़े हैं, पर्याय से, हाँ! परमाणु द्रव्य (रूप से) एक ही है परन्तु संयोगी पर्याय के सम्बन्ध से परमाणु का विस्तार है, उसे विस्तारसामान्य कहते हैं। तिर्यक्सामान्य कहते हैं, तिर्यक्प्रचय कहते हैं। प्रचय अर्थात् समूह। अक्रम अनेकान्त कहते हैं।

प्रश्न : एक आकाश प्रदेश में अनन्त परमाणु हों तो उन्हें तिर्यक्प्रचय कैसे होगा ?

समाधान : नहीं; यहाँ वह बात नहीं है। एक प्रदेश में अनन्त रजकण भले ही हो परन्तु वे रजकण हैं, वे ऐसे तिर्यक्प्रचय है। एक परमाणु द्रव्यरूप से एक प्रदेश है परन्तु शक्तिरूप से अनन्त रजकणों के स्कन्धरूप होता है — इसलिए उसे तिर्यक्प्रचय कहा जाता है। तिर्यक् - तिरछा समूह। प्रचय अर्थात् समूह। यह सूक्ष्म बातें हैं। लोहे की बात में ऐसा कुछ नहीं आता। आहा...हा...!

प्रश्न : अक्रम अनेकान्त अर्थात् ?

समाधान : अनन्त धर्म एक साथ हैं। असंख्य प्रदेश, अनन्त गुण ऐसे एक साथ हैं। अक्रम अर्थात् एक साथ और अनेकान्त अर्थात् बहुत प्रदेश और बहुत गुण। समझ में आया ? भाई ! यह अधिकार तो थोड़ा सूक्ष्म है। १४४ (गाथा) तक आयेगा। १२७ (गाथा से)। यह अधिकार ही सूक्ष्म है, यह १४१ (गाथा) चलती है।

परन्तु काल के (तिर्यक्प्रचय) नहीं है,.... काल नामक असंख्य अणु हैं, परन्तु वे अणु ऐसे विस्तार प्राप्त मिले हुए नहीं हैं, भिन्न-भिन्न हैं; इसलिए उसे — कालाणु को तिर्यक् अर्थात् ऐसे सामान्य मिले हुए (प्रदेशवाला) प्रचय नहीं है। आहा...हा... ! **क्योंकि वह शक्ति तथा व्यक्ति (की अपेक्षा) से एक प्रदेशवाला है।....** कालाणु शक्ति से भी एक है और व्यक्ति से भी दूसरे कालाणु के साथ सम्बन्ध हो — ऐसा उसमें नहीं है। परमाणु में तो व्यक्ति एक है और शक्ति से तो अनन्त परमाणु के साथ समूहरूप होने की शक्ति है; इस कारण उसे तिर्यक्प्रचय कहा जाता है परन्तु कालाणु में ऐसा नहीं है कि एक कालाणु दूसरे कालाणु के साथ सम्बन्ध को प्राप्त हो तो वह तिर्यक्प्रचय (होता है) ऐसा उसे नहीं है। तिरछा — विस्तार कालाणु को नहीं है। सामान्यविस्तार कालाणु को नहीं है। अक्रम अनेकान्त कालाणु को नहीं है। आहा...हा... !

वहाँ (जयसेनाचार्यदेव की संस्कृत टीका में) दृष्टान्त दिया है। **मुक्ताफलमाला-वत्सन्तान ऊद्धर्वप्रचय** — माला होती है न, माला ? (उसमें) एक के बाद एक होते हैं न ? मोती ! वैसे इस काल में एक के बाद एक इसकी पर्याय होती है परन्तु ऐसे प्रदेश का विस्तार नहीं होता। मुक्ता फलवत् **सन्तान ऊद्धर्वप्रचय** ऊर्ध्व सामान्य समस्त (द्रव्यों को) होता है। काल को और सबको (होता है)। ऊर्ध्व सामान्य और आयात सामान्य — लम्बाई से सामान्य और क्रम अनेकान्त। पर्याय है वह क्रम अनेकान्त है। क्रम-क्रम से है। ऐसे एक साथ रही नहीं है, वह काल से ऐसे ऊर्ध्व है। प्रत्येक द्रव्य की पर्याय क्रम अनेकान्त है, एक के बाद एक, एक के बाद एक ऊर्ध्वकालप्रवाह से ऊँची है ?

प्रश्न : क्रम अर्थात् क्या ?

समाधान : एक के बाद एक, यह क्रमबद्ध, क्रमसर, क्रमवृत्ति। आहा...हा... !

ऐसा स्वरूप है। **ऊर्ध्वप्रचय तो सर्व द्रव्यों के अनिवार्य ही है,....** तिर्यकप्रचय कालाणु को नहीं है, पाँच द्रव्यों को है (उसमें) तीन (द्रव्यों को) असंख्य (प्रदेश) और एक को अनन्त (प्रदेश है)। परमाणु को द्रव्यरूप से एक (प्रदेश है) परन्तु पर्यायरूप से उसे तिर्यक्प्रचय कहा जाता है। कालाणु को तो पर्यायरूप से भी तिर्यक्प्रचय नहीं है।

अब ऊर्ध्वप्रचय (अर्थात्) काल से ऊँचा — ऐसा है न? पहले में है, पहले आ गया है (मूल ग्रन्थ के फुटनोट में है) **ऊर्ध्व = ऊँचा; काल-अपेक्षित।** जिसे काल लागू पड़े। एक के बाद एक, एक के बाद एक, एक के बाद एक। आहा...हा...! छहों द्रव्य में ऊर्ध्व का समूह — काल का समूह (है अर्थात्) ऐसे क्रम-क्रम से पर्याय होती है। उसे ऐसा (ऊँचा) समूह है। पहले क्षेत्र का ऐसा (तिरछा) समूह है। तिर्यक्प्रचय में गुणों का आधार क्षेत्र है, और यह ऐसे चौड़े हैं। यह ऊर्ध्वप्रचय है। अधिकार आवे तो सुनना तो चाहिए न? आहा...हा...!

आ...हा...! सहजानन्दस्वरूप! इसके गुण की अपेक्षा से प्रदेश अपेक्षा से ऐसा तिर्यक्-तिरछा है और इसकी परिणति के वेदन की अपेक्षा से क्रम है। आहा...हा...! यह जो समय आनन्द-वेदन में आता है, वह समय दूसरा, दूसरे समय वेदन में आवे वह दूसरा, तीसरे समय (तीसरा) ऐसे कालक्रम है। क्रम-क्रम से ऐसा ऊँचा है। (इस) काल से ऊँचा है - पहला, क्षेत्र से विस्तार है। आहा...हा...! भाई! ऐसा सुनने की कभी दरकार भी नहीं की है।

मुमुक्षु : आपके प्रताप से सुनने को मिला है।

पूज्य गुरुदेवश्री : आहा...हा...! भगवान, उत्तराधिकार छोड़ गये हैं! सन्त दिगम्बर मुनि केवली के वास्तविक पथानुगामी हैं। आहा...हा...! केवली का जो धन था, लक्ष्मी थी — वह सब छोड़ गये हैं! आहा...हा...!

छहों द्रव्यों को ऊर्ध्वप्रचय — काल पर्यायों का समूह है — ऐसे काल से पर्यायों का समूह है — प्रचय अर्थात् समूह तो **सर्व द्रव्यों के अनिवार्य ही है,....** सर्व द्रव्यों को यह हो सकता है, न हो ऐसा नहीं है। **क्योंकि द्रव्य की वृत्ति....** (अर्थात्) पदार्थ की परिणति **तीन कोटियों को (भूत, वर्तमान और भविष्य ऐसे तीनों कालों को) स्पर्श**

करती है,.... है ? भूत, वर्तमान और भविष्य। प्रत्येक द्रव्य की परिणति, दशा, वृत्ति तीन कोटि को — भूत, भविष्य और वर्तमान को स्पर्श करती है, **इसलिए अंशों से युक्त है....** यह द्रव्य का अस्तित्व तीन कोटि को स्पर्श करता होने से अंशों से सहित है। ऐसे ऊर्ध्व क्रम सहित है।

परन्तु इतना अन्तर है कि समयविशिष्ट वृत्तियों का प्रचय वह (काल को छोड़कर) शेष द्रव्यों का.... एक समय से माप आवे ऐसा काल का — समय का निमित्त दूसरे सभी द्रव्यों को है। समय विशिष्ट, समय का माप — ऐसी पर्याय, काल के अतिरिक्त पाँच (द्रव्यों को) है, क्योंकि काल का समय उन्हें निमित्त है न ? समय खास (विशिष्ट) **वृत्तियों का प्रचय वह (काल को छोड़कर) शेष द्रव्यों का ऊर्ध्व प्रचय है,....** (मूलग्रन्थ में) नीचे स्पष्टीकरण है। देखो, **समयविशिष्ट = समय से विशिष्ट; समय के निमित्तभूत होने से व्यवहार से जिसमें समय की अपेक्षा होती है।** काल के एक समय की पाँच द्रव्य की क्रम पर्याय को अपेक्षा आती है। क्या कहा, समझ में आया ? काल के अतिरिक्त पाँच द्रव्यों को ऊर्ध्व अर्थात् क्रम अनेकान्त पर्याय होने में काल के एक समय का निमित्तभूतपना उन्हें आता है।

भाई ! यह सब याद रहना मुश्किल है। मार्ग ऐसा है। उसे जाननेवाला आत्मा है। ऊर्ध्व और तिर्यक् और ऐसा ज्ञेय का स्वरूप है, परन्तु जाननेवाला कौन ? जड़ को पता है ऊर्ध्व और तिर्यक् का ? काल को पता है (कि) मुझमें तिर्यक्प्रचय नहीं, ऊर्ध्व प्रचय है ? आहा...हा... ! इस ज्ञेय को जाननेवाला ज्ञान इस प्रकार जानता है।

वस्तु के अस्तित्व की स्थिति इस प्रकार से है कि असंख्यप्रदेश और अनन्त गुण एक साथ ऐसे (तिरछे) रहे हुए हैं और ऊर्ध्वप्रचय (की) पर्यायें ऐसे काल से एक साथ रही हुई है। उसका अर्थ क्रमसर एक साथ (रही हुई है)। उलटी-सीधी नहीं।

मुमुक्षु : जल्दी विशेष पुरुषार्थ करे तो जल्दी मोक्ष होवे।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह पुरुषार्थ होता है, उसमें जल्दी होती है, उसे अल्प काल में मोक्ष होना है (तब) अन्दर पुरुषार्थ उग्र होता है — ऐसा ज्ञात होता है। ऐसा क्रम है। अचिरम आता है न ? बहुत जगह आता है। अचिर — चिर बिना अल्प काल में मोक्ष

जाएगा। इस अचिर का अर्थ स्वभावसन्मुख होनेवाले को अल्प काल में क्रम में केवलज्ञान होनेवाला है। आहा...हा...!

यह कहा है, देखो अन्दर... १४१ (गाथा) है न? उसमें कहा है देखो, **ऊर्ध्वताप्रचयस्तस्य स्वकीयस्वकीयद्रव्यमुपादानकारणम्।** संस्कृत में है। **कालस्तु प्रतिसमयं सहकारिकारणं भवति।** काल तो सहकारी निमित्त है। **यस्तु कालस्य समयसन्तानरूप ऊर्ध्वताप्रचयस्तस्य काल एवोपादानकारणं** — काल की एक समय की पर्याय ऐसे... ऐसे... ऐसे... क्रमसर चले उसका उपादानकारण भी काल और निमित्तकारण भी काल है। उपादान और सहकारी (कारण) दोनों काल है और दूसरे पाँच द्रव्यों को उपादान स्वयं की पर्याय है और सहकारी काल की पर्याय है। आहा...हा...! कहा है, देखो न? **एवोपादान -कारणं सहकारिणं च। कस्मात्। कालस्य भिन्नसमयाभावात्पर्याय एवं समया भवन्तीत्यभिप्रायः।** एक समय की पर्याय, वह इसका काल है, उसका दूसरा समय है नहीं और पाँच द्रव्य की पर्याय का समय उसका (स्वयं का) परन्तु उसे काल के समय का सहकारीपना है, इसलिए उसे दोनों लागू पड़ते हैं। काल को तो एक स्वयं ही सहकारी और स्वयं उपादान। सहकारी है, इसलिए उससे होता है — ऐसा यहाँ नहीं कहना है। यह तो एक (द्रव्य) होता है (इतना बतलाना है)। पाँच द्रव्यों की ऊर्ध्व पर्याय में — एक के बाद एक पर्याय में, क्रम अनेकान्त में वह कालद्रव्य की पर्याय निमित्त है, इतनी बात है। (काल की) पर्याय से यहाँ (दूसरे द्रव्यों में) परिणमते हैं और पर्याय से यहाँ कार्य होता है — ऐसा नहीं है। समझ में आया?

यह तो गम्भीर मार्ग है, भाई! वीतराग सर्वज्ञ परमेश्वर! उनका पेट बहुत गहरा! कितनों को ही उसका विशेष पता नहीं होता। तिर्यंचों को आनन्द का अनुभव हो, उसे यह नाम भी नहीं आते हों परन्तु इसके भाव का भासन हो जाता है, परन्तु यह तो जिसे बहुत विपरीत जानपना हो गया हो, उसे यह सुनने को मिले (तो विपरीतता निकल जाये)। इसे ऐसा यथार्थपना जानना चाहिए कि जिससे इसे विपरीत बात नहीं जँचे। समझ में आया? वे तिर्यंच आत्मा में पड़े हैं, आनन्द में! ओ...हो...! कुछ नहीं पड़ी। उन्हें यह तिर्यक्प्रचय और ऊर्ध्वप्रचय नाम भी नहीं आते हैं। आहा...हा...! चिदानन्दस्वभावी भगवान आत्मा, तो अन्दर में पकड़ा, उसमें शक्ति प्रमाण एकाग्रता वर्तती है।

मुमुक्षु : उसमें सब आ जाता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : उसमें आ जाता है।

उसमें – द्रव्य में तिरछे अनन्त गुण सामान्य ऐसे वर्तते हैं। उसमें जिसकी एकाग्रता है... आहा...हा... ! तिर्यक्सामान्य में एकाग्रता है और पर्याय एक के बाद एक होती है, वह ऊर्ध्वसामान्य का प्रचय है। आहा...हा... !

मुमुक्षु : तिर्यक्प्रचय का आश्रय रहना चाहिए।

पूज्य गुरुदेवश्री : आश्रय हो, वह सब होता ही है। असंख्य प्रदेश में अनन्त गुण ऐसे बिछे हैं, उसमें एकाग्र हुआ, वह ऊर्ध्व पर्याय (प्रगट हुई)। तिरछे (गुण) तो हैं परन्तु ऊर्ध्व पर्याय प्रगट हुई। ऐसे के ऐसे क्रम से ऊर्ध्व पर्याय का समूह (प्रगट हुआ), उसे क्रम अनेकान्त, आयत समुदाय, ऊर्ध्व समुदाय कहा जाता है। आहा...हा... !

मति को अन्यत्र रोकता है, उसकी अपेक्षा इसमें रोके तो अन्दर कितनी ज्ञान की निर्मलता होवे। सामान्य से विशेष स्पष्ट होता है — ऐसा कहा है न ? मोक्षमार्गप्रकाशक में (कहा है)। सामान्य से विशेष बलवान है। भले ही वह परलक्ष्यी ज्ञान है, तथापि स्वलक्ष्यवाले को वह विशेष बलवान होता है, निर्मलता बढ़ती है। आहा...हा... ! समझ में आया ? १४४ गाथा तक जरा सूक्ष्म आयेगा। १२७ से १४४ — अठारह (गाथा में सूक्ष्म विषय है)। आहा...हा... !

कालद्रव्य को **समयों का प्रचय वही कालद्रव्य का ऊर्ध्वप्रचय है;....** अर्थात् ? काल को तो उसकी जो क्रम से पर्याय (होती) है, वही उसका ऊर्ध्वप्रचय है, उसे दूसरे किसी समय का निमित्त है — ऐसा नहीं है। भाई ! ऐसा कभी सुना नहीं होगा। दिगम्बर धर्म में ऐसी स्पष्टता है, अन्यत्र कहीं है नहीं।

मुमुक्षु : ज्ञान में न हो तो कहाँ से कहे ?

पूज्य गुरुदेवश्री : दूसरों में अज्ञान में शास्त्र बनाये, उन्हें कहाँ (पता है) ? यह तो धारावाही केवलज्ञान... ! आहा...हा... ! उसके मार्गानुसारी, उसके मार्ग पर चलनेवाले सन्त ! यह व्याख्या कल आ गयी, नहीं ? चिदानन्द निज आत्मतत्त्व, चिदानन्द एक

स्वभाव आत्मतत्त्व — आ गया है न? चिदानन्द एक स्वभाव निजात्मतत्त्व! आहा...हा...! उसमें परम एकाग्रता लक्षण। उसमें एकाग्रता लक्षण। राग में, व्यवहार में (एकाग्रता) नहीं। आहा...हा...! मुनि किसे कहते हैं? चिदानन्द एक स्वभाव निजात्म तत्त्व परम एकाग्रता लक्षण! मुनि है न? इसलिए परम एकाग्रता कही है। समकिती को एकाग्रता है परन्तु थोड़ी है; मुनि को परम एकाग्रता लक्षण! आहा...हा...! दिगम्बर सन्तों ने कोई (अद्‌भुत) कार्य किया है! गजब किया है! करुणाबुद्धि से विस्तार किया, विस्तार हुआ। लोगों के ख्याल में यह बात आ सके (इस प्रकार से) दीपक जैसी, सूर्य जैसी (स्पष्ट की है)!

परम एकाग्रलक्षण समाधि संजात! आहा...हा...! आनन्द में से आनन्द की धारा बही है, कहते हैं। चिदानन्दस्वभाव निज आत्मतत्त्व में परम एकाग्रता लक्षणवाली समाधि! आहा...हा...! वह समाधि (कहलाती है) अन्य बाबा (लोग) समाधि कहलवाते हैं, वह (समाधि) नहीं है। ऐसी समाधि, जिसमें आनन्द की उत्पत्ति हुई। शान्त... शान्त... शान्त... भगवान आत्मा अकषाय रस है! भगवान आत्मा वीतरागी मूर्ति है! भगवान आत्मा अनन्त गुण का पिण्ड का सत्व अकेला तत्त्व है। आहा...हा...! विकार-फिकार उसे स्पर्श भी नहीं करता - ऐसा जो तत्त्व उसमें एकाग्रता लक्षण - समाधि संजात, निर्विकारी आल्हाद! निर्विकारी प्रसन्नता, आहा...हा...! जिसमें निर्विकारी आनन्द की प्रसन्नता प्रगट हुई है। आहा...हा...! एकरूप सुख-सुधारस! एकरूप! भंग बिना, खण्ड बिना, अखण्ड तत्त्व में, अखण्ड की एकता में, अखण्ड दशा प्रगट हुई। आहा...हा...! सुख सुधारस - सुखरूपी अमृत का रस! उसके स्वाद में तृप्त। आहा...हा...! देखो! यह मोक्ष का मार्ग! मार्गी की दशा! आहा...हा...! यहाँ तो वस्त्र बदले, नग्न हुआ, वहाँ मानता है कि हो गया सब साधु! वह तो कुलिंगी है। वस्त्रवाले साधु माने वे तो कुलिंगी हैं, मिथ्यादृष्टि हैं परन्तु जिसका द्रव्यलिंग नग्न हो, वह भी मुनिपना नहीं; मोक्षमार्ग, वह मुनिपना है। आहा...हा...!

मुमुक्षु : अलिंगग्रहण में है।

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, अलिंगग्रहण में आया।

जिसका जीवन मन और इन्द्रिय से नहीं अर्थात् यति की बाह्य क्रिया का जिसमें

अभाव है, वह अलिंगग्रहण है। यति की पंच महाव्रत की, नग्न की क्रिया का उसमें अभाव है — ऐसा जो आत्मा, उस आत्मा में जो आनन्द में एकरस अमृत रसास्वाद में तृप्त है! आहा...हा...! ऐसे दो मुनि युगल बैठे हैं, कहते हैं। उनका क्षेत्र एक है या नहीं? बस, यह सिद्ध किया है। क्षेत्र भिन्न-भिन्न हैं, द्रव्यरूप से भले ही एक हो, प्रदेशरूप से भिन्न है। आहा...हा...! अमृत के आसन लगाकर अन्दर पड़े हैं! पर से उदास हैं, विकल्प से भी उदास हैं। जिनका आसन विकल्प से उदास आसन अन्दर पड़ा हैं। आहा...हा...! असंख्य प्रदेश, अनन्त गुण के धाम में तिर्यक्सामान्यप्रचय के समूह में ऊर्ध्वप्रचय को साधते हैं! समझ में आया?

जीव में ऐसा होता है, काल में ऐसा नहीं होता। काल में तिर्यक्प्रचय नहीं होता, एक ही प्रदेश है न, इसलिए। उसकी परिणति... आहा...हा...! अकेली परिणति ही है, ऐसे तिरछापना उसमें नहीं है, अनेक प्रदेश और अनेक क्षेत्र उसमें नहीं है। यह तो अनेक प्रदेश और अनेक क्षेत्रवाला जीवद्रव्य है — ऐसे असंख्य प्रदेश में उसका वह स्वदेश है। उस स्वदेश में अनन्त गुण, वह उसके गाँव हैं। असंख्य प्रदेश वह उसका देश; अनन्त गुण, उसका गाँव और एक गाँव में अनन्त पर्याय की बस्ती! आहा...हा...! थोड़ा-थोड़ा लिया है। आहा...हा...! आचार्यों ने प्रचलित बात में भगवान को याद किया... मोक्षमार्ग को याद किया!

यहाँ यह कहा, देखो! सहकारी कारण। १४१ (गाथा) चलती है न? **शेष द्रव्यों की वृत्ति समय से अर्थान्तरभूत (अन्य) होने से....** अर्थात् क्या कहा? कि काल के अतिरिक्त शेष (द्रव्यों को) ऊर्ध्वप्रचय है। **और समयों का प्रचय वही कालद्रव्य का ऊर्ध्वप्रचय है;....** काल की जो एक-एक समय की पर्याय (होती है) वही उसका ऊर्ध्वप्रचय है **क्योंकि शेष द्रव्यों की वृत्ति समय से अर्थान्तरभूत (अन्य)....** है। दूसरे द्रव्यों की परिणति, दूसरे अन्य पर्याय को सहकारी है। दूसरी पर्याय उन्हें सहकारी है। **(अन्य) होने से....** अन्य पर्याय है न? **समय विशिष्ट है,....** इसलिए दूसरे समय से विशिष्ट सहकारी है।

और कालद्रव्य की वृत्ति तो स्वतः.... उसकी परिणति तो स्वतः **समयभूत है,**

इसलिए वह समयविशिष्ट नहीं है। अर्थात् एक-एक समय की अपनी पर्याय है, उसे दूसरे समय के निमित्त की आवश्यकता नहीं है। भाई! ऐसा सूक्ष्म इसमें चलता है। मुम्बई में ऐसा नहीं चलता। १२७ गाथा से सूक्ष्म चलता है। १२६ (गाथा तक) द्रव्य सामान्य अधिकार चला है। १२७ (गाथा से) द्रव्य विशेष का (अधिकार चलता है)। (उसमें) यहाँ तक आया है। आहा...हा...!

कहते हैं कि अमृत आदि अनन्त गुण का आधार असंख्य प्रदेशी भगवान तिरछा है। अनन्त गुण एक साथ विस्तार सामान्य और अक्रम अनेकान्त पड़े हैं और उनकी पर्याय का जो वेदन है... आहा...हा...! वह क्रम अनेकान्त, आयत समुदाय-ऐसे लम्बाई का समुदाय, एक के बाद एक पर्याय का समुदाय, ऊर्ध्वसमुदाय है। आहा...हा...! इस सबका जाननेवाला चैतन्य है, उस चैतन्य ने यह सब जाना है। आत्मा के अतिरिक्त पाँच द्रव्य जड़ हैं, उनमें तिर्यक्प्रचय है और अमुक है और अमुक नहीं — ऐसा कुछ उसने नहीं जाना है। आहा...हा...! जाननेवाले ने जाना है, वह जानने के स्वभाव की सामर्थ्य से जाना है। उन ज्ञेयों की सामर्थ्य से यह जाना है — ऐसा नहीं है। आहा...हा...! अरे... इसमें रूके तो इसे अन्दर कितना लाभ हो! बाहर में कहीं भी रूकता है।

दोपहर में समाधितन्त्र में आता है, दूसरे को क्या समझाना? क्योंकि मूढ़ है वह नहीं समझता; मेरा विकल्प निरर्थक जाएगा। आहा...हा...! मूढ़ आत्मा मोह से घिरे हुए को क्या समझाना? प्रबुद्ध आत्मा तो समझा हुआ ही है। आहा...हा...! दो भाषा (बातें) थी न? मूढ़ आत्मा और प्रबुद्ध आत्मा। आहा...हा...! शैली तो कोई गजब है! जिसे आनन्द का नाथ मोह से घिर गया है, उसे क्या समझाना? वह कैसे समझे? यह विरोध करेगा (ऐसा) कहेंगे और जो प्रबुद्ध आत्मा है, वह तो समझा हुआ है, उसे क्या समझाना? ●

गाथा - १४२

अथ कालपदार्थोर्ध्वप्रचयनिरन्वयत्वमुपहन्ति -

उप्पादो पद्धंसो विज्जदि जदि जस्स एगसमयम्हि।
समयस्स सो वि समओ सभावसमवट्ठिदो हवदि।।१४२।।

उत्पादः प्रध्वंसो विद्यते यदि यस्यैकसमये।
समयस्य सोऽपि समयः स्वभावसमवस्थितो भवति।।१४२।।

समयो हि समयपदार्थस्य वृत्त्यंशः। तस्मिन् कस्याप्यवश्यमुत्पादप्रध्वंसो संभवतः, परमाणोर्व्यतिपातोत्पद्यमानत्वेन कारणपूर्वत्वात्। तौ यदि वृत्त्यंशस्यैव, किं यौगपद्येन किं क्रमेण। यौगपद्येन चेत्, नास्ति योगपद्यं, सममेकस्य विरुद्धधर्मयोरनवतारात्। क्रमेण चेत्, नास्ति क्रमः, वृत्त्यंश्य सूक्ष्मत्वेन विभागाभावात्। ततो वृत्तिमान् कोऽप्यवश्यमनुसर्तव्यः। स च समयपदार्थ एव। तस्य खल्वेकस्मिन्नपि वृत्त्यंशे समुत्पादप्रध्वंसौ संभवतः। यो हि यस्य वृत्तिमतो यस्मिन् वृत्त्यंशे तद्वृत्त्यंशविशिष्टत्वेनोत्पादः, स एव तस्यैव वृत्तिमतस्त-स्मिन्नेव वृत्त्यंशे पूर्ववृत्त्यंशविशिष्टत्वेन प्रध्वंसः। यद्येवमुत्पादव्ययावेकस्मिन्नपि वृत्त्यंशे संभवतः समयपदार्थस्य कथं नाम निरन्वयत्वं, यतः पूर्वोत्तरवृत्त्यंशविशिष्टत्वाभ्यां युगपदुपात्तप्रध्वंसो-त्पादस्यापि स्वभावेनाप्रध्वस्तानुत्पन्नत्वादवस्थितत्वमेव न भवेत्। एवमेकस्मिन् वृत्त्यंशे समयपदार्थस्योत्पादव्ययध्रौव्यवत्त्वं सिद्धम्।।१४२।।

एवं सप्तमस्थले स्वतन्त्रगाथाद्वयं गतम्। अथ समयसन्तानरूपेस्योर्ध्वप्रचयस्यान्वयिरूपेणा-धारभूतं कालद्रव्यं व्यवस्थापयति - **उप्पादो पद्धंसो विज्जदि जदिप** उत्पादः प्रध्वंसो विद्यते यदि चेत्। कस्य। **जस्स** यस्य कालाणोः। क्व। **एगसमयम्हि** एकसमये वर्तमानसमये। **समयस्स** समोत्पादकत्वात्समयः कालाणुस्तस्य। **सो वि समओ** सोऽपि कालाणुः **सभावसमवट्ठिदो हवदि** स्वभावसमवस्थितो भवति। पूर्वोक्तमुत्पादप्रध्वंसद्वयं तदाधारभूतं कालाणुद्रव्यरूपं ध्रौव्यमिति त्रयात्मकः स्वभावः सत्तास्तित्वमिति यावत्। तत्र सम्यगवस्थितः स्वभावसमवस्थितो भवति। तथाहि - यथाङ्गुलिद्रव्ये यस्मिन्नेव वर्तमानक्षणे वक्रपर्यायस्योत्पादस्तस्मिन्नेव क्षणे तस्यैवाङ्-गुलिद्रव्यस्य पूर्वजुपर्यायेण प्रध्वंसस्तदाधारभूताङ्गुलिद्रव्यत्वेन ध्रौव्यमिति द्रव्यसिद्धिः। अथवा स्वस्वभावरूपसुखेनोत्पादस्तस्मिन्नेव क्षणे तस्यैवात्मद्रव्यस्य पूर्वानुभूताकुलत्वदुःखरूपेण प्रध्वंसस्त-

दुभयाधारभूतपरमात्मद्रव्यत्वेन ध्रौव्यमिति द्रव्यसिद्धिः। अथवा मोक्षपर्यायरूपेणोत्पादस्तस्मिन्नेव क्षणे रत्नत्रयात्मकनिश्चयमोक्षमार्गपर्यायरूपेण प्रध्वंसस्तदुभयाधारपरमात्मद्रव्यत्वेन ध्रौव्यमिति द्रव्यसिद्धिः। तथा वर्तमानसमयरूपपर्यायेणोत्पादस्तस्मिन्नेव क्षणे तस्यैव कालाणुद्रव्यस्य पूर्वसमयरूपपर्यायेण प्रध्वंसस्तदुभयाधारभूताङ्गुलिद्रव्यस्थानीयेन कालाणुद्रव्यरूपेण ध्रौव्यमिति कालद्रव्यसिद्धिरित्यर्थः।। १४२।।

अब, कालपदार्थ का ऊर्ध्वप्रचय निरन्वय[१] है, इस बात का खण्डन करते हैं —

है काल का उत्पाद और विनाश एकहि समय में।
तो भी अरे! वह काल अपने, भाव निज में ध्रुव रहे॥

अन्वयार्थ - **[यदि यस्य समयस्य]** यदि काल का **[एक समये]** एक समय में **[उत्पादः प्रध्वंसः]** उत्पाद और विनाश **[विद्यते]** पाया जाता है, **[सः अपि समयः]** तो वह भी काल **[स्वभावसमवस्थितः]** स्वभाव में अवस्थित अर्थात् ध्रुव **[भवति]** (सिद्ध) है।

टीका - समय, कालपदार्थ का वृत्त्यंश[२] है; उसमें (उस वृत्त्यंश में) किसी के भी अवश्य उत्पाद तथा विनाश सम्भवित हैं; क्योंकि परमाणु के अतिक्रमण के द्वारा (समयरूपी वृत्त्यंश) उत्पन्न होता है, इसलिए वह कारणपूर्वक है। (परमाणु के द्वारा एक आकाश प्रदेश का मन्दगति से उल्लंघन करना वह कारण है और समयरूपी वृत्त्यंश उस कारण का कार्य है, इसलिए उसमें किसी पदार्थ के उत्पाद तथा विनाश होते होना चाहिए।)

('किसी पदार्थ के उत्पाद-विनाश होने की क्या आवश्यकता है ? उसके स्थान पर उस वृत्त्यंश को ही उत्पाद-विनाश होते मान लें तो क्या आपत्ति है ?' इस तर्क का समाधान करते हैं —)

यदि उत्पाद और विनाश वृत्त्यंश के ही माने जायें तो, (प्रश्न होता है कि) (१) वे (उत्पाद तथा विनाश) युगपद् हैं या (२) क्रमशः ? (१) यदि 'युगपत्' कहा जाय तो युगपत्पना घटित नहीं होता, क्योंकि एक ही समय एक के दो विरोधी धर्म नहीं होते।

१. निरन्वय = अन्वय रहित, एक प्रवाहरूप न होनेवाला, खण्डित; एकरूपता सदृशता से रहित।
२. वृत्त्यंश = वृत्ति का अंश; सूक्ष्मातिसूक्ष्म परिणति अर्थात् पर्याय।

(एक ही समय एक वृत्त्यंश के प्रकाश और अन्धकार की भाँति उत्पाद और विनाश दो विरुद्ध धर्म नहीं होते।) (२) यदि 'क्रमश: है' ऐसा कहा जाय तो, क्रम नहीं बनता, (अर्थात् क्रम भी घटता नहीं) क्योंकि वृत्त्यंश के सूक्ष्म होने से उसमें विभाग का अभाव है। इसलिए (समयरूपी वृत्त्यंश के उत्पाद तथा विनाश होना अशक्य होने से) कोई वृत्तिमान्[1] अवश्य ढूँढ़ना चाहिए और वह (वृत्तिमान्) कालपदार्थ ही है। उसको (उस कालपदार्थ को) वास्तव में एक वृत्त्यंश में भी उत्पाद और विनाश सम्भव है; क्योंकि जिस वृत्तिमान् के जिस वृत्त्यंश में उस वृत्त्यंश की अपेक्षा से जो उत्पाद है, वही (उत्पाद) उसी वृत्तिमान् के उसी वृत्त्यंश में पूर्व वृत्त्यंश की अपेक्षा से विनाश है। (अर्थात् कालपदार्थ को जिस वर्तमान पर्याय की अपेक्षा से उत्पाद है, वही पूर्व पर्याय की अपेक्षा से विनाश है।)

यदि इस प्रकार उत्पाद और विनाश एक वृत्त्यंश में भी सम्भवित हैं, तो कालपदार्थ निरन्वय कैसे हो सकता है कि जिससे पूर्व और पश्चात् वृत्त्यंश की अपेक्षा से युगपत् विनाश और उत्पाद को प्राप्त होता हुआ भी स्वभाव से अविनष्ट और अनुत्पन्न होने से वह (कालपदार्थ) अवस्थित न हो? (कालपदार्थ के एक वृत्त्यंश में भी उत्पाद और विनाश युगपत् होते हैं, इसलिए वह निरन्वय अर्थात् खण्डित नहीं है, इसलिए स्वभावत: अवश्य ध्रुव है।)

इस प्रकार एक वृत्त्यंश में काल पदार्थ उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यवाला है, ऐसा सिद्ध हुआ॥ १४२ ॥

प्रवचन नं. १५५ का शेष ज्येष्ठ कृष्ण ७ सोमवार, ३० जून १९७५

अब, काल पदार्थ का ऊर्ध्वप्रचय निरन्वय है, इस बात का खण्डन करते हैं.... (गाथा) १४२ — यह क्या कहते हैं? **कालपदार्थ का ऊर्ध्वप्रचय....** अर्थात् पर्याय ऐसी है न? ऊँची! उसे ध्रुवता का सम्बन्ध नहीं है, अकेली (पर्याय) है ऐसा नहीं है। अन्वयरहित, एक प्रवाहरूप न होना — ऐसा; ऐसा नहीं है। प्रत्येक पर्याय को ध्रुव के साथ सम्बन्ध है। काल की प्रति समय की पर्याय को — उत्पन्नध्वंसी को ध्रुव का सम्बन्ध

१. वृत्तिमान् = वृत्तिवाला; वृत्ति को धारण करनेवाला पदार्थ।

है, धारावाही है। अकेली पर्याय है — ऐसा नहीं है परन्तु उस पर्याय का / उत्पन्न-व्यय का परिणमन ध्रुव के साथ धारावाही वर्तता है। आहा...हा...! थोड़ा-थोड़ा (जितना) पकड़ में आये उतना पकड़ना, भाई! यह तो (वीतराग का मार्ग है)। आहा...हा...! १४२ (गाथा)

उप्पादो पद्धंसो विज्जदि जदि जस्स एगसमयम्हि।
समयस्स सो वि समओ सभावसमवट्ठिदो हवदि।। १४२।।

है काल का उत्पाद और विनाश एकहि समय में।
तो भी अरे! वह काल अपने, भाव निज में ध्रुव रहे॥

ध्रुव अस्ति है — ऐसा सिद्ध करना है। उत्पाद-व्यय है, वह ध्रुव के होते हैं, यह कहेंगे। कल तो रविवार था, वे सब (बोर्डिंग के) लड़के थे न? उन्हें सूक्ष्म पड़ा। अरे... सुनो तो सही बापू! इस समय यह आया परोसनेवाला दाल होवे तो दाल दे, लड्डू होवे तो लड्डू दे। क्यों? भाई! एक साथ कहीं सब परोसा जाता है? लड्डू के बाद, गाठिया, शाक, दाल, एक के बाद एक परोसते हैं। इसी प्रकार अभी यह परोसने में आया है तो इसे सुनना। आहा...हा...! भाई! यह तो दिमाग ठिकाने आ जाये ऐसा है।

समय काल पदार्थ का वृत्त्यंश है;... अर्थात्? समय काल पदार्थ की एक पर्याय है। क्या कहा? समय काल पदार्थ की वृत्ति-अंश है — पर्याय है। है न? (मूल ग्रन्थ में) नीचे है। **वृत्ति का अंश; सूक्ष्मातिसूक्ष्म परिणति अर्थात् पर्याय।** उस वृत्त्यंश में (अर्थात्) पर्याय में **किसी के भी अवश्य उत्पाद तथा विनाश सम्भवित हैं;....** इस वृत्ति - पर्याय में किसी का भी अवश्य उत्पाद-विनाश सम्भवित है। **क्योंकि परमाणु के अतिक्रमण के द्वारा....** एक परमाणु एक प्रदेश से दूसरे (प्रदेश में) जाये, (उसके द्वारा) **(समयरूपी वृत्त्यंश) उत्पन्न होता है,....** एक परमाणु एक प्रदेश से दूसरे (प्रदेश में) जाये (उसके द्वारा) **(समयरूपी वृत्त्यंश) उत्पन्न होता है, इसलिए....** वहाँ एक समय की पर्याय ख्याल में आती है। इसलिए **वह कारणपूर्वक है।....** वह समय का माप, कारणपूर्वक है — ऐसा कहते हैं।

(परमाणु के द्वारा एक आकाश प्रदेश का मन्दगति से उल्लंघन करना वह

कारण है और समयरूपी वृत्त्यंश उस कारण का कार्य है,....) यह समय सिद्ध हुआ। मन्द गति से एक परमाणु ऐसे से (ऐसा गया) वह कारण हुआ और समय का माप निश्चित हुआ, वह कार्य हुआ। समझ में आया? **(इसलिए उसमें किसी पदार्थ के उत्पाद तथा विनाश होते होना चाहिए।)....** कोई चीज होना चाहिए कि जिसमें उत्पाद और व्यय हों, समझ में आया?

('किसी पदार्थ के उत्पाद-विनाश होने की क्या आवश्यकता है?....) (ऐसा) शंकाकार कहता है **('किसी पदार्थ के उत्पाद-विनाश होने की क्या आवश्यकता है? उसके स्थान पर उस वृत्त्यंश को ही उत्पाद-विनाश होते मान लें तो क्या आपत्ति है?'....)** उस पर्याय को ही उत्पाद और व्यय मान लें तो? किसी पदार्थ के आधार से उत्पाद-व्यय है — ऐसा न मानकर पर्याय को ही उत्पाद-व्यय, उत्पाद-व्यय माने तो क्या आपत्ति है? **(इस तर्क का समाधान करते हैं —)....**

यदि उत्पाद और विनाश वृत्त्यंश के ही माने जायें तो,.... ध्रुव के आधार बिना अकेले पर्याय के ही उत्पाद और व्यय माने जायें **तो, (प्रश्न होता है कि) (१) वे (उत्पाद तथा विनाश) युगपद् हैं या (२) क्रमशः ?....** वह उत्पाद-व्यय क्रमशः हैं या एक साथ उत्पाद और व्यय हैं।

(१) यदि 'युगपत्' कहा जाय तो युगपत्पना घटित नहीं होता, क्योंकि एक ही समय एक के दो विरोधी धर्म नहीं होते।.... अकेला उत्पाद और व्यय ये साथ में ध्रुव के आधार बिना हों – ऐसा नहीं होता। समझ में आया? सूक्ष्म बात तो है, भाई! १४४ (गाथा) तक आयेगा। फिर थोड़ा सा ठीक (सरल) आयेगा।

वीतराग दिगम्बर सन्त आनन्द में झूलनेवाले, उनको यह एक विकल्प आया और शास्त्र रच गया। उनका उत्तराधिकार रह गया। सर्वज्ञ भी, (यदि) जानकर तुरन्त ही (उनकी) देह छूट जाये तो सर्वज्ञ ने क्या जाना? यह वाणी में नहीं आवे तो दूसरों को जानने को नहीं मिले। यह क्या कहा? कितने ही ऐसा कहते हैं कि जब पूर्ण (ज्ञान) होता है फिर वहीं का वहीं समाप्त हो जाता है (देह छूट जाती है) परन्तु पूर्ण सर्वज्ञ होने के बाद समाप्त हो जायें तो उन्होंने जो जाना, वह दूसरों को जानने को कब मिले? सर्वज्ञ

होने के बाद वाणी का योग हो, इतने काल रहे तो जो जाना हुआ है, वह दूसरे को जानने में आवे। आहा...हा...!

भावनगर में 'बढ़वा' में एक बड़ा प्रश्न हुआ था कि पूर्ण दशा हो, फिर उन्हें यहाँ क्या रहना? बस, वे तो अनन्त में अनन्त मिल जाते हैं। सर्व व्यापक हैं न? भाई! ऐसा नहीं होता, बापू! सत्ता का नाश होता है? सत्ता पूर्ण शुद्ध हुई और जानने में आया, उसे पूर्व का प्रारब्ध होता है; इसलिए उसकी वाणी में, जानी हुई चीज का वाणी में, वाणी की शक्ति से जानने के लिए बात बाहर आती है। आहा...हा...! होती ही है। वरना सर्वज्ञ ने जाना, वह दूसरे को जानने का प्रसंग कहाँ बनेगा? उन्होंने क्या जाना? (— वह जानने का) मेल ही होता है। उनकी वाणी में भी ऐसी ही ताकत है। जो ज्ञात हुआ, वैसा ही यहाँ वाणी में स्व-पर प्रकाशक कथन (आता है)। आहा...हा...! छह द्रव्य देखे, अनन्त गुण, यह तिर्यक्प्रचय और ऊर्ध्वप्रचय और यह कितने प्रदेशवाले और कितने प्रदेशरहित तथा कितने मूर्त और कितने अमूर्त, कितने जीव और कितने अजीव, कितने भाववती शक्तिवाले और कितने क्रियावती (शक्तिवाले हैं) — यह सब कहा किसने? जो जाना है, वह वाणी में आया है — ऐसी वाणी का योग उन्हें रहता ही है। आहा...हा...! जाननेवाले ने जाना। आहा...हा...!

(यहाँ कहते हैं) **एक ही समय एक के दो विरोधी धर्म नहीं होते। (एक ही समय एक वृत्त्यंश के प्रकाश और अन्धकार की भाँति उत्पाद और विनाश दो विरुद्ध धर्म नहीं होते।)....** प्रकाश भी हो और अन्धकार भी हो (ऐसे) दो होते हैं? एक पर्याय में ऐसे दो (अंश) होते हैं? **(२) यदि 'क्रमशः है' ऐसा कहा जाय तो, क्रम नहीं बनता, (अर्थात् क्रम भी घटता नहीं) क्योंकि वृत्त्यंश के सूक्ष्म होने से....** पर्याय तो सूक्ष्म है, उसके दो भाग — क्रम कहाँ पड़ते हैं? **उसमें विभाग का अभाव है।....** एक समय की पर्याय में विभाग का अभाव है। दो भाग कहाँ से होंगे? दो भाग (होवें तो) आधा समय हो गया (किन्तु) ऐसा नहीं होता।

इसलिए (समयरूपी वृत्त्यंश के उत्पाद तथा विनाश होना अशक्य होने से).... अब सिद्ध करते हैं। ओ...हो...! **कोई वृत्तिमान्....** उस पर्याय का धारक। (वृत्तिमान् अर्थात्) वृत्तिवाला, वृत्ति का धारक पदार्थ। **अवश्य ढूँढ़ना चाहिए....**

आहा...हा... ! आचार्य (कहते हैं कि) कालपदार्थ को जरूर ढूँढ़ना चाहिए। समय का, माप का, काल का उत्पाद-व्यय जब है तो उसका आधार ढूँढ़ना चाहिए। द्रव्य है, उसका अस्तित्व ढूँढ़ना चाहिए। आहा...हा... ! अर्थात् ? कि प्रतिसमय नयी पर्याय होती है, पुरानी जाती है — ऐसा एक समय की पर्याय को दो पना — विरुद्ध धर्म लागू नहीं पड़ता। अकेले समय को (ऐसा लागू नहीं पड़ता) इसलिए ऐसे दो धर्म का आधार ढूँढ़ना चाहिए। नित्य द्रव्य है, उसे निश्चित करना चाहिए — ऐसा कहते हैं। काल नित्य पदार्थ है। आहा...हा... ! श्वेताम्बरों ने उसे उड़ा दिया है ! उसके लिए आचार्य इतने (तर्क देते हैं)। आहा...हा... !

और वह (वृत्तिमान्) कालपदार्थ ही है।.... है न ? कोई वृत्तिमान ढूँढ़ना चाहिए। अर्थात् ? उस पर्याय का धारक कालपदार्थ है। पर्याय जिसके आधार से होती है — ऐसा वह कालपदार्थ है। आहा...हा... ! समय की पर्याय उत्पन्न हुई और पूर्व पर्याय का व्यय हुआ, वह अकेली पर्याय के आधार से नहीं होता, क्योंकि पर्याय में एक समय में विरुद्ध धर्म नहीं होते और एक समय में क्रम नहीं होता। विरुद्ध धर्म नहीं होते और क्रम नहीं होता। तब वृत्ति का — समय का उत्पाद-व्यय (धारक) — ऐसा टिकनेवाला तत्त्व अन्दर ढूँढ़ना चाहिए कि वह ध्रुव तत्त्व काल है। आहा...हा... !

कितने ही लोगों ने यह पुस्तक रखी होगी परन्तु रखी होगी ऐसी की ऐसी, नहीं ? आहा...हा... ! यह तो अमृत को पिटारा है ! ! यह तो सत् के तत्त्व का अस्तित्व — काल का सत् का अस्तित्व इस प्रकार सिद्ध किया ? कि समय-समय का उत्पाद-व्यय उसी समय अद्धर से होवे तो दो विरुद्ध धर्म है (परन्तु) ऐसा नहीं होता। दूसरे प्रकार से कोई कहे कि उत्पाद-व्यय क्रमश: (होते हैं) तो एक समय में क्रम नहीं हो सकता। आहा...हा... ! इसलिए एक समय के उत्पाद-व्यय का आधार (द्रव्य है — ऐसा सिद्ध होता है।) आहा...हा... ! क्या सन्तों की शैली ! लॉजिक से-न्याय से (सिद्ध करते हैं)।

पक्षपात छोड़कर तत्त्व क्या है ? ऐसा इसे सिद्ध करना चाहिए, यह कहते हैं। वे (श्वेताम्बर) लोग तो पाँच द्रव्य की पर्याय वह काल है — ऐसा कहते हैं।

मुमुक्षु : वह तो स्वकाल का द्रव्य है।

पूज्य गुरुदेवश्री : दूसरा काल (पदार्थ है) यहाँ कहा न? प्रत्येक पर्याय को समय विशिष्ट है, एक समय का माप सहकारी है — ऐसी चीज है।

वृत्त्यंश को एक समय के दो भाग अशक्य है और उसमें एक समय में विरुद्ध धर्म (होवे) वह भी अशक्य है। इसलिए कोई वृत्तिमान-पर्याय का आधार... आहा...हा...! परिणति का धारक — उत्पाद-व्यय की पर्याय का धारक — अवश्य ढूँढ़ना चाहिए। आहा...हा...! टीका तो देखो! स्वयं ने तो ढूँढ़ कर निर्णय किया है। परन्तु जगत को... बापू! इसे ऐसे निर्णय करना चाहिए। **अवश्य ढूँढ़ना चाहिए।** (ऐसा कहा तो) प्रभु! तुम्हारे अब ढूँढ़ना बाकी है? भाई! एक समय में उत्पाद-व्यय को दो भाग हैं (ऐसा यदि तू कहे) तो अकेले पर्याय के दो भाग होवें तो वह विरुद्ध है। क्रम नहीं पड़ता — एक समय में क्रम नहीं पड़ता; इसलिए उसका आधारभूत कोई द्रव्य ढूँढ़ना चाहिए, निर्णय करना चाहिए। आहा...हा...! **और वह (वृत्तिमान्) काल पदार्थ ही है।....** वह ध्रुव तत्त्व है।

उत्पाद-व्यय की जो धारा बहती है, उस धारा का आधार वह ध्रुवतत्त्व है। समझ में आया? पानी की तरंगें उठती हैं, वह कोई पानी चीज है, उसके आधार से उठती है। अद्धर से तरंग नहीं उठती, आहा...हा...! जलकल्लोलवत् कहा है न? आप्तमीमांसा में आता है। पर्याय में समाता है और बाहर आता है।

आनन्द की पर्याय का उत्पाद और आनन्द की पर्याय का व्यय (होवे) — ऐसा जो अकेला उत्पाद और व्यय एक समय में दोनों विरुद्ध नहीं होते और एक समय में क्रम नहीं पड़ता; इसलिए उस आनन्द की पर्याय के उत्पाद-व्यय का आधार आनन्दगुण इसे निश्चित करना पड़ेगा। आहा...हा...! समझ में आया? यह ध्रुव सिद्ध करने की बात है न? (आनन्द का) दृष्टान्त दिया। आहा...हा...!

मुमुक्षु : श्रद्धागुण में उतारिये।

पूज्य गुरुदेवश्री : सत्ता अस्तित्व की अपेक्षा आनन्द अधिक है। आनन्द का भी अस्तित्व है न?

मुमुक्षु : श्रद्धा में.....

पूज्य गुरुदेवश्री : श्रद्धा ? वह भी अस्तित्व है न ? मिथ्यात्व का जाना और सम्यग्दर्शन का होना — ऐसी जो पर्याय है, उसमें एक समय में दो विरुद्ध कुछ नहीं हो सकता क्योंकि एक समय के भाग नहीं होते; इसलिए क्रम नहीं होता तो उस मिथ्यात्व का नाश और समकित की उत्पत्ति का (आधार) श्रद्धागुण ढूँढ़ना चाहिए। अन्दर श्रद्धागुण है। आहा...हा... ! समझ में आया ?

है अन्दर, देखो ? **यथाङ्गुलिद्रव्ये यस्मिन्नेव वर्तमानक्षणे वक्रपर्यायस्योत्पाद-स्तस्मिन्नेव क्षणे तस्यैवाङ्गुलिद्रव्यस्य पूर्वर्जुपर्यायेण प्रध्वंसस्तदाधारभूताङ्गुलि-द्रव्यत्वेन ध्रौव्यमिति** (जयसेनाचार्यदेव की संस्कृत टीका में) अंगुली का दृष्टान्त दिया है। अंगुली का! यह अंगुली है, वह ऐसे वक्र है, उस वक्र का नाश (होना) सीधी की उत्पत्ति (और) अंगुली का ध्रुवपना।

फिर दूसरे प्रकार से लिया है **स्वस्वभावरूपसुखेनोत्पादस्तस्मिन्नेव क्षणे** स्वस्वभावरूप सुख के उत्पाद के क्षण में। देखा ? सुख को लिया है। संस्कृत में लिया है, सुख को लिया है। मैंने तो ऊपर से कहा था परन्तु इसमें है। देखो **स्वस्वभावरूप-सुखेनोत्पादस्तस्मिन्नेव क्षणे तस्यैवात्मद्रव्यस्य पूर्वानूभूताकुलत्वदुःखरूपेण प्रध्वंस....** है ? पूर्व की आकुलता की पर्याय का ध्वंस और आनन्द की पर्याय का उत्पाद। है ? **तस्मिन्नेव क्षणे रत्नत्रयात्मकनिश्चयमोक्षमार्गपर्यायरूपेण प्रध्वंसस्तदुभयाधार -परमात्मद्रव्येत्वेन ध्रौव्यमिति।** आहा...हा... ! यह क्या कहा ? आनन्द की पर्याय की उत्पत्ति, आकुलता की पर्याय का व्यय — इन दोनों को आधारभूत आनन्द का ध्रुवपना — आत्मा का ध्रुवपना है। आहा...हा... ! इस प्रकार काल को लागू (करना)।

विशेष कहेंगे.......

प्रवचन नं. १५६ ज्येष्ठ कृष्ण ९ बुधवार, ०२ जुलाई १९७५

प्रवचनसार, ज्ञेयतत्त्व — ज्ञान में ज्ञात होने योग्य तत्त्व का स्वरूप (बतलाते हैं)। उसमें यहाँ काल पदार्थ की व्याख्या (चलती) है। थोड़ी सूक्ष्म बात है। २९४ पृष्ठ आया है। **और वह (वृत्तिमान्) काल पदार्थ ही है....** यहाँ तक आया है। पहले पैराग्राफ की

नीचे से पाँचवीं लाईन। देखो! आचार्य, कालपदार्थ को सिद्ध करते हैं। जितने अंश में उसकी एक समय की पर्याय सिद्ध होती है, वहाँ वह उत्पाद-व्ययवाला ध्रुवतत्त्व उतने में है। क्या कहा?

एक परमाणु एक प्रदेश से दूसरे प्रदेश में जाये, उसमें काल का छोटे से छोटा माप समय आ जाता है। वह समय द्रव्य की पर्याय है। ऐसा समय माप आया परन्तु वह समय है, वह द्रव्य की पर्याय है। एक समय में वह पर्याय जितने में है, उतने में उस समय उसका उत्पाद है, वह का वही व्यय होवे तो विरोध आवे परन्तु पूर्व की पर्याय का व्यय है, नयी पर्याय उत्पन्न है और अन्वय-ध्रुव कायम अन्दर चालू है। आहा...हा...!

जैसे कि भगवान आत्मा में मोक्ष का मार्ग जो तीन - रत्नत्रय की पर्याय है, उसका जो ध्वंस का-व्यय का समय है, उसी समय मोक्ष की पर्याय का उत्पाद है, यह तो व्यतिरेक हुआ और उत्पाद तथा व्यय का अन्वय अर्थात् ध्रुवद्रव्य उस समय वहाँ है। वह उत्पाद व्यय को आधारवाला (द्रव्य वहाँ है) जो परिणति हुई; हुई और गयी। जो अवस्था मोक्ष की हुई या सुख की उत्पत्ति हुई, उसी समय दुःख की पर्याय का व्यय हो गया और आनन्द त्रिकाली ध्रुवस्वरूप उत्पाद-व्यय में धारावाही ध्रुव अन्वय रहा — ऐसा है।

आत्मा में भी सम्यग्दर्शन-ज्ञान आदि के जो परिणाम उत्पन्न होते हैं, उसी समय पूर्व की मिथ्या आदि की पर्याय थी, उसका व्यय होता है। उसका उस पर्याय का व्यय नहीं, उसी उसी पर्याय का उत्पाद होवे तो विरोध आवे, यह बात आ गयी है। पूर्व की पर्याय की अस्ति का जिस समय व्यय (होता है), उसी समय आनन्द और सम्यक्पर्याय की उत्पत्ति (होती है) और उस उत्पत्ति तथा व्यय में जिसके आधार से (उत्पाद-व्यय) होते हैं, वह ध्रुव कायम रहा है।

इसमें यहाँ काल को सिद्ध करना है। कोई कालपदार्थ मानता न हो तो ज्ञान की पर्याय, उस पदार्थ का जो स्वरूप है, उसे जानती है। यदि काल न हो तब तो जानने की दशा ही उसे न रहे। उस पर्याय में काल आदि छह द्रव्य प्रतिसमय पर्याय से उत्पन्न होते हैं, पूर्व पर्याय से व्यय होते हैं, जिसके आधार से होते हैं, वह अन्वय कायम रहता है — ऐसा ज्ञान जानता है। छहों द्रव्यों की पर्याय इस प्रकार ज्ञान जानता है और स्वयं भी (एक)

समय की (पर्याय की) उत्पत्ति होती है, पूर्व की पर्याय व्यय होती है (तथा) धारावाही ध्रुव रहता है, उसे भी ज्ञान, ज्ञेय बनाता है। आहा...हा...! स्वयं ज्ञेय भी है और स्वयं ज्ञान भी है। अपने अतिरिक्त सभी चीजें ज्ञेय हैं — ऐसा ही ज्ञान की पर्याय का सामर्थ्य है कि छह द्रव्य के उत्पाद-व्यय सहितवाला तत्त्व उसके ज्ञान में ज्ञात होता है — ऐसी ज्ञान की पर्याय की ताकत है, इतनी सामर्थ्य है! तब उसने पर्याय को माना कहा जाता है। क्या कहा समझ में आया? छह द्रव्य के गुण, पर्याय एक समय में जाने। यदि उसमें (कोई) द्रव्य कम करे तो पर्याय में कमी होती है, उस पर्याय की सामर्थ्य पूर्ण नहीं होती; इसलिए छह द्रव्य की पर्यायें समय से उत्पन्न होती हैं, पूर्व की (पर्याय का) व्यय होता है; जो अवस्था उत्पन्न हुई, उसी समय पूर्व का व्यय (होता है) और उसके आधार का ध्रुव (कायम रहता है) ऐसा ज्ञेय का स्वरूप है — वह ज्ञान ऐसा जानता है। (ज्ञान) किसी का कुछ करता नहीं है। आहा...हा...!

यहाँ कालपदार्थ को सिद्ध किया है। आया न इसमें? **वृत्त्यंश के सूक्ष्म होने से उसमें विभाग का अभाव है। इसलिए (समयरूपी वृत्त्यंश के उत्पाद तथा विनाश होना अशक्य होने से) कोई वृत्तिमान् अवश्य ढूँढ़ना चाहिए....** एक ही समय की अवस्था में वह की वही पर्याय का उत्पाद (होवे) और उसी का विनाश (होवे) — ऐसा सम्भव नहीं है; इसलिए उत्पाद और पूर्व की अवस्था का व्यय (होता है), उसका एक आधारद्रव्य ढूँढ़ना चाहिए — ऐसा आचार्य कहते हैं। ढूँढ़ना चाहिए अर्थात् होता है। आहा...हा...!

यह सब क्रियाकाण्ड में उतर गये परन्तु वस्तु क्या है? उसकी दृष्टि और उसके सामर्थ्य की प्रतीति न करे तब तक सब व्यर्थ है, क्योंकि वह तो ज्ञानस्वभाव है। रात्रि में बात हुई थी न? लालबहादुर आये थे, तब क्रमबद्ध माना था। २००३ की साल में! २८ वर्ष हुए। (दूसरे विद्वानों ने) नहीं माना था। वे बदल गये।

क्रमबद्ध अर्थात् आत्मा ज्ञानस्वरूप है। यह ज्ञान है, वह ज्ञेय को और स्व को जाने, (इतना) उसका कार्य है, बस! तो जानने में उल्टा-सीधा होवे — ऐसा उसमें कहाँ रहा? वह तो जिस समय जो पर्याय जहाँ होती है, उसे ज्ञान जानता है। अपनी पर्याय होती है, उसे

भी जानता है। आहा...हा...! आत्मा जाननेवाला है — ऐसा जब निर्णय हुआ तो उसमें क्रमबद्ध (भी निश्चित) हुआ। वह जाननेवाला कुछ बदलता नहीं, जाननेवाला जाने बिना रहता नहीं; होता है उसे जाने बिना रहता नहीं; होता है उसे बदलता नहीं। समझ में आया? यह अन्दर की बात तो जमना चाहिए, भाई! अकेली बातें करके धारण कर ले — ऐसी यह बात नहीं है। वस्तुस्वरूप ही ऐसा है; इसलिए ऐसा कहा कि यह तो ज्ञायकभाव है। पारिणामिकभाव कहना है परन्तु यहाँ आत्मा को ज्ञायकभाव है। वह तो जाननेवाला स्वभाव है। जाननेवाला स्वभाव है, वह इसका अर्थ हो गया। जिस प्रकार, जहाँ, जैसा हो; उसे उसकी ज्ञानपर्याय उस काल में उसे, उस प्रकार से जानने की उत्पन्न होती है। वह भी क्रमबद्ध में!

भाई! वीतरागमार्ग सूक्ष्म है, स्थूलपने से (समझ में आवे ऐसा नहीं) अन्तर से उग जाये तो उग जाये, विशेष ख्याल न हो फिर भी; परन्तु जिसे विशेषरूप से विपरीतता बहुत-बहुत हो तो उसे विशेषरूप से जाने बिना विपरीतता नहीं मिटती। श्वेताम्बर सम्प्रदाय में पूरा कालद्रव्य उड़ा दिया है। वे कहते हैं — द्रव्य की पर्याय (होती है) वह कालद्रव्य है — ऐसा कहते हैं। थाणंग में आता है। वही काल, बस! दूसरा कालद्रव्य भिन्न है (— ऐसा नहीं है)। आहा...हा...!

दूसरे प्रकार से (कहें तो) 'काल' शब्द है तो उसका वाच्य पदार्थ होना चाहिए। वाचक शब्द है तो उसका वाच्य पदार्थ होना चाहिए और जो पदार्थ कितनों को ही अनुमानगम्य होवे तो किसी को प्रत्यक्ष गम्य भी होता है। समझ में आया? यह दृष्टान्त दिया है न? पर्वत के ऊपर अग्नि जलती हो, वह यहाँ से दिखती है कि अग्नि है, धुँआ है। वह यहाँ से अनुमान होता है कि धुँआ तो अग्नि है परन्तु अनुमान करनेवाला जो दूसरा है, वह तो व्यवहार हुआ, तो उसे निश्चय से प्रत्यक्ष करनेवाला होता ही है। समझ में आया? इसी प्रकार आत्मा की पर्याय में या पर की पर्याय जो अनुमान से निश्चित होती है कि यह समय की पर्याय उत्पन्न है, पूर्व का व्यय है, जिसमें से खड़ी होती है... पर्याय ऐसे खड़ी होती है, उसका आधार ध्रुव है। ऐसा जिसे अनुमानगम्य में भी निर्णय होता है तो किसी को प्रत्यक्ष है। समझ में आया? इसी प्रकार यह भगवान आत्मा, काल का जो निर्णय करे, वह भले

ही परोक्षरूप से (करे).... समझ में आया? परन्तु दूसरे किसी जीव को (वह पदार्थ) प्रत्यक्ष है। समझ में आया?

कहते हैं, **उसको (उस काल पदार्थ को) वास्तव में एक वृत्त्यंश में भी उत्पाद और विनाश सम्भव है;....** सन्त, वस्तु को सिद्ध करने के लिए कितनी करुणा से जगत् को वस्तु कहते हैं। भाई! जानने की दरकार भी कब की है? गरम पानी पीना और अपवास करना और एकासन करना (इसमें धर्म मानना), मिथ्यात्व है। उस समय वे पदार्थ आनेवाले नहीं थे और इसने कहा — मैंने त्याग किया है, यह मिथ्यात्वभाव है। सूक्ष्म बात है, भाई! आहा...हा...!

(उस काल पदार्थ को) वास्तव में एक वृत्त्यंश में.... (अर्थात्) पर्याय में। **भी उत्पाद और विनाश सम्भव है;....** है? एक पर्याय में भी उत्पाद-व्यय और ध्रुव सम्भव है। अर्थात् एक समय में ऐसा। **क्योंकि जिस वृत्तिमान् के....** अर्थात् पदार्थ के **जिस वृत्त्यंश में उस वृत्त्यंश की अपेक्षा से जो उत्पाद है,....** वृत्तिमान् अर्थात् पदार्थ। इसमें मस्तिष्क काम करना चाहिए। ऐसे का ऐसा (सुन ले ऐसा नहीं)। **वृत्तिमान् के....** अर्थात् पदार्थ के **जिस वृत्त्यंश में....** अर्थात् पर्याय में **उस वृत्त्यंश की अपेक्षा से जो उत्पाद है,.... वही (उत्पाद) उसी वृत्तिमान् के उसी वृत्त्यंश में....** उसी पर्याय में। **पूर्व वृत्त्यंश की अपेक्षा से विनाश है।....** उसी समय (विनाश है)। आहा...हा...! **(अर्थात् कालपदार्थ को जिस वर्तमान पर्याय की अपेक्षा से उत्पाद है, वही पूर्व पर्याय की अपेक्षा से विनाश है।)**

यदि इस प्रकार उत्पाद और विनाश एक वृत्त्यंश में भी सम्भवित हैं,.... वृत्त्यंश अर्थात् पर्याय। जिस समय पर्याय उत्पन्न होती है; उत्पन्न होती है, उसी समय पूर्व की (पर्याय का) व्यय है। समय तो वही है परन्तु वह पर्याय उत्पन्न हुई, उसका (भी) व्यय है — ऐसा नहीं है। एक समय में पूर्व की अवस्था का व्यय (हुआ) — मोक्षमार्ग की पर्याय का व्यय, मोक्ष की पर्याय का उत्पाद है और उसका आधार ध्रुव आत्मा है। कहो, समझ में आया इसमें? स्थूल बातें हों तो पकड़े, ओ...हो...! छद्मस्थ सन्तों ने भी वस्तु को सिद्ध करके किस प्रकार सरलता से रखा है! सरल करके रखा है! इसे जरा ध्यान

देना चाहिए। सूक्ष्म है, इसलिए न समझ में आये — ऐसा नहीं है। सूक्ष्म है, इसलिए जरा ध्यान देना चाहिए। आहा...हा...!

यदि इस प्रकार उत्पाद और विनाश एक वृत्त्यंश में भी सम्भवित हैं, तो कालपदार्थ निरन्वय कैसे हो सकता है.... तो कालपदार्थ को ध्रुव का सम्बन्ध न हो — ऐसा कैसे होगा? एक समय में उत्पाद-व्यय है तो उसी समय उसका अन्वय-ध्रुव भी साथ है। अन्वयरहित वह उत्पाद-व्यय नहीं हो सकता है। उत्पाद-व्यय व्यतिरेक है (और) कायम रहनेवाला वह अन्वय है। आहा...हा...! भाषा भी अलग! भाई! ऐसी बात है।

कालपदार्थ निरन्वय कैसे हो सकता है.... अर्थात् उसका अन्वयपना उत्पाद-व्यय में कैसे नहीं होगा? जिसके आधार से (उत्पाद-व्यय) होते हैं — ऐसा अन्वय कायम होता है (— ऐसा कहते हैं)। **कि जिससे पूर्व और पश्चात् वृत्त्यंश की अपेक्षा से युगपत् विनाश और उत्पाद को प्राप्त होता हुआ भी....** (अर्थात्) एक ही समय में उत्पाद और व्यय होने पर भी, **स्वभाव से अविनष्ट और अनुत्पन्न होने से...** वस्तुरूप से तो उत्पाद-व्ययरहित चीज है। **अविनष्ट और अनुत्पन्न होने से वह (काल पदार्थ) अवस्थित न हो ?....** अर्थात् काल पदार्थ क्यों स्थित न हो? ध्रुव होता ही है — ऐसा (कहना है)। समझ में आया?

(एक मुमुक्षु) कहता है कि मास्टर अर्थात्.... क्या कुछ कहते हैं न? पंतु! मास्टर अर्थात् पंतु। वह का वही सिखलाना, उसमें कुछ नया या तर्क या न्याय (नहीं आता) भाई! तुम्हारे बैंक में भी क्या (होता है)? वह की वही भाषा (होती है) कुछ नया तर्क है? आहा...हा...! वे कहते थे, मास्टर अर्थात् पंतु। वह की वह भाषा (आवे), उसमें अन्दर कोई रोज नया न्याय निकालना पड़े — ऐसा कुछ नहीं होता। वैसे ही इस बनिये को वह का वह व्यापार और धन्धा, कमा लेना, यह भाव और यह.... हो गया। उसमें आत्मा का रंग क्या है? आहा...हा...!

(यहाँ कहते हैं कि) **(काल पदार्थ के एक वृत्त्यंश में भी....)** एक पर्याय में भी **(उत्पाद और विनाश युगपत् होते हैं, इसलिए....)** एक समय में दो होते हैं

इसलिए, परन्तु एक अभाव और एक भाव ऐसे दो **(वह निरन्वय अर्थात् खण्डित नहीं है,....)** उसका सम्बन्ध अन्वय अर्थात् ध्रुवरहित नहीं है। **(इसलिए स्वभावतः अवश्य ध्रुव है।)....** इसलिए काल पदार्थ स्वभाव से ध्रुव है। पकड़ में आये इतना पकड़ना। जगत् में यह एक तत्त्व है। आहा...हा...!

आत्मा का ज्ञानस्वभाव है, उसकी पर्याय की सामर्थ्य ऐसे छह द्रव्य के गुण-पर्याय जितना जानने की सामर्थ्य है। यह तो एक पर्याय की इतनी सामर्थ्य है। कलश-टीका में तो ऐसा लिखा है या नहीं? कि छह द्रव्य को जाने, माने उसने एक समय की पर्याय को माना। भाई! कलश-टीका में है; और ऐसी अनन्त पर्याय का एक गुण! ध्रुव! और ऐसे अनन्त गुण का ध्रुवस्वरूप द्रव्य!! ओ...हो...हो...! बड़ा खजाना है! यह भगवान आत्मा अपने आनन्द की खान में नजर देने से, नजर है वह वर्तमान उत्पाद-पर्याय है परन्तु वह ध्रुव — कि जिसके आधार से हुई, उसमें नजर देने से वह ध्रुव इस पर्याय का विषय हो गया। ओहो...हो...!

एक समय की पर्याय (में) ऐसा जो द्रव्य का विषय है... समझ में आया? छह द्रव्यों को जैसा है, वैसा एक समय की पर्याय जानती है। तब उसने पर्याय मानी। अब द्रव्य मानने की बात लाते हैं। उस पर्याय ने पर का जितना ज्ञान किया, वह पर्याय भले ही हो, वह पर्याय ऐसे द्रव्य का ज्ञान करती है... समझ में आया? तब उसकी पर्याय की सामर्थ्य कितनी? कि जो छह द्रव्यों को भी जाने और वह पर्याय ऐसी अनन्त पर्याय के पिण्ड गुण और अनन्त गुण का एकरूप ध्रुव, उसमें जो नजर पड़ी — ज्ञान की पर्याय ने उसे ज्ञेय बनाया, वह पर्याय ज्ञेय की ध्रुवता को स्पर्श किये बिना उसका ज्ञान करती है — ऐसी पर्याय की ताकत है।

मुमुक्षु : विशेष सामान्य को छोड़े बिना।

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, विशेष सामान्य को स्पर्श किये बिना (जाने) दोनों का अस्तित्व है। आहा...हा...!

इस प्रकार एक वृत्त्यंश में काल पदार्थ उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यवाला है, ऐसा सिद्ध हुआ। लो, एक समय में तीन सिद्ध किये। ●

गाथा - १४३

अथ सर्ववृत्त्यंशेषु समयपदार्थस्योत्पादव्ययध्रौव्यकत्त्वं साधयति -

एगम्हि संति समये संभवठिदिणाससण्णिदा अट्ठा।
समयस्स सव्वकालं एस हि कालाणुसब्भावो।।१४३।।

एकस्मिन् सन्ति समये संभवस्थितिनाशसंज्ञिता अर्थाः।
समयस्य सर्वकालं एष हि कालाणुसद्भावः।।१४३।।

अस्ति हि समस्तेष्वपि वृत्त्यंशेषु समयपदार्थस्योत्पादव्ययध्रौव्यत्वमेकस्मिन् वृत्त्यंशे तस्य दर्शनात्। उपपत्तिमच्चैतत्, विशेषास्तित्वस्य सामान्यास्तित्वमन्तरेणानुपपत्तेः। अयमेव च समयपदार्थस्य सिद्ध्यति सद्भावः। यदि विशेषसामान्यास्तित्वे सिद्ध्यतस्तदा त अस्तित्वमन्तरेण न सिद्ध्यतः कथंचिदपि।।१४३।।

अथ पूर्वोक्तप्रकारेण यथा वर्तमानसमये कालद्रव्यस्योत्पादव्ययध्रौव्यत्वं स्थापितं तथा सर्वसमयेष्वस्तीति निश्चिनोति - **एगम्हि संति समये संभवठिदिणाससण्णिदा अट्ठा** एकस्मिनन्समये सन्ति विद्यन्ते। के। संभवस्थितिनाशसंज्ञिता अर्थाः धर्माः स्वभावा इति यावत्। कस्य संबन्धिनः। **समयस्स** समयरूपपर्यायस्योत्पादकत्वात् समयः कालाणुस्तस्य। **सव्वकालं** यद्येकस्मिन् वर्तमानसमये सर्वदा तथैव। **एस हि कालाणुसब्भावो** एषः प्रत्यक्षीभूतो हि स्फुट-मुत्पादव्ययध्रौव्यात्मककालाणुसद्भाव इति। तद्यथा - यथा पूर्वमेकसमयोत्पादप्रध्वंसाधारेणाङ्गुलि-द्रव्यादिदृष्टान्तेन वर्तमानसमये कालद्रव्यस्योत्पादव्ययध्रौव्यत्वं स्थापितं तथा सर्वसमयेषु ज्ञातव्यमिति। अत्र यद्यप्यतीतानन्तकाले दुर्लभायाः सर्व प्रकारोपादेयभूतायाः सिद्धगतेः काललब्धिरूपेण बहिरङ्गसहकारी भवति कालस्तथापि निश्चयनयेन निजशुद्धात्म-तत्त्वसम्यक्श्रद्धानज्ञानानुष्ठान-समस्तपरद्रव्येच्छानिरोधलक्षण-तपश्चरणरूपा या तु निश्चयचतुर्विधाराधना सैव तत्रौपादानकारणं, न च कालस्तेन कारणेन स हेय इति भावार्थः।।१४३।।

अब, (जैसे एक वृत्त्यंश में कालपदार्थ उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यवाला सिद्ध किया

है उसी प्रकार) सर्व वृत्त्यांशों में कालपदार्थ उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यवाला है — ऐसा सिद्ध करते हैं —

प्रत्येक क्षण उत्पाद-ध्रौव्य, विनाश अर्थ हैं काल के।
सर्वदा हैं वर्तते, यही कालाणु का सद्भाव है॥

अन्वयार्थ - **[एकस्मिन् समये]** एक-एक समय में **[संभवस्थितिनाशसंज्ञिताः अर्थाः]** उत्पाद, ध्रौव्य और व्यय नामक अर्थ **[समयस्य]** काल के **[सर्वकालं]** सदा **[संति]** होते हैं। **[एषः हि]** यही **[कालाणुसद्भायः]** कालाणु का सद्भाव है; (यही कालाणु के अस्तित्व की सिद्धि है।)

टीका - कालपदार्थ के सभी वृत्त्यांशों में उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य होते हैं, क्योंकि (१४२ वीं गाथा में जैसा सिद्ध हुआ है तदनुसार) एक वृत्त्यंश में वे (उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य) देखे जाते हैं। और यह योग्य ही है, क्योंकि विशेष अस्तित्व, सामान्य अस्तित्व के बिना नहीं हो सकता। यही कालपदार्थ के सद्भाव की (अस्तित्व की) सिद्धि है; (क्योंकि) यदि विशेष अस्तित्व और सामान्य अस्तित्व सिद्ध होते हैं तो वे अस्तित्व के बिना किसी भी प्रकार से सिद्ध नहीं होते॥ १४३॥

प्रवचन नं. १५६ का शेष ज्येष्ठ कृष्ण ९ बुधवार, ०२ जुलाई १९७५

अब, १४३ (गाथा) **अब, (जैसे एक वृत्त्यंश में कालपदार्थ, उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यवाला सिद्ध किया है....)** एक ही समय की अवस्था बतलाकर उत्पाद-व्यय और उसके साथ अन्वय एक समय में तीन सिद्ध किये। समझ में आया? **(उसी प्रकार) सर्व वृत्त्यांशों में कालपदार्थ उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यवाला है — ऐसा सिद्ध करते हैं....** यह तो एक समय में तीन सिद्ध किये कि जिस समय उत्पाद, उस समय पूर्व का व्यय, उस समय अन्वय का सम्बन्ध — एक समय में तीन! अब इसी प्रकार तीन काल (सिद्ध करते हैं)। आहा...हा...! इस प्रकार तीनों काल में समय-समय के उत्पाद-व्यय और ध्रुव.... (सिद्ध करते हैं)।

अब, सिद्ध में उत्पाद-व्यय होगा या नहीं? क्या हुआ? सिद्ध में उत्पाद-व्यय न

हो (ऐसा कहते हैं) ! सिद्ध हो गये उन्हें क्या ? अमुक (भाई) भी नहीं कहते थे ? सिद्ध में भी अभी पर्याय लगी ? वहाँ भी उसने पल्ला नहीं छोड़ा ? ऐसे के ऐसे सब ! और भाषण करे बड़े-बड़े ! दाढ़ी रखें... आहा...हा... ! बीसवीं गाथा में तो ऐसा कहा कि पर्याय ही द्रव्य है। अनुभव का वेदन जो पर्याय है, वही आत्मा है। वेदन में नहीं आया वह तो ध्रुव पड़ा है। आहा...हा... ! अलिंगग्रहण का बीसवाँ बोल। प्रत्यभिज्ञान का कारण, ऐसा जो ध्रुव स्वभाव-द्रव्यस्वभाव को स्पर्श किये बिना एक समय की पर्याय, वह आत्मा है। आहा...हा... ! समझ में आया ? यह मार्ग तो बापू ! (गम्भीर है)। आहा...हा... !

जैसा इसका ज्ञानस्वभाव है, आनन्दस्वभाव है, वैसा आनन्द, पर्याय में पूर्ण प्रगट करना है, तो उस पर्याय का आधार जो गुणस्वरूप भगवान है, उसकी कितनी ताकत है — ऐसी पर्याय ताकत देखे नहीं, वहाँ तक वह पर्याय सच्ची नहीं होती। समझ में आया ? भाई ! यह आवे वह आने दो ! सुनो। इस कनबी के वहाँ कहाँ आत्मा होगा ? १४३ (गाथा)

एगम्हि संति समये संभवठिदिणाससण्णिदा अट्ठा।
समयस्स सव्वकालं एस हि कालाणुसब्भावो।।१४३।।

आचार्य ने कालाणु सिद्ध किया ! ओहो...हो... ! आनन्द में झूलनेवाले ! आहा...हा... ! अतीन्द्रिय आनन्द में, प्रचुर अतीन्द्रिय आनन्द के वेदन में खड़े, (उसमें) यह काल को सिद्ध करने का विकल्प उत्पन्न हुआ। उसके भी ज्ञाता हैं। समझ में आया ? आहा...हा... ! यह मार्ग !

अन्य कहते हैं पूजा में विशुद्धभाव है। विशुद्ध अर्थात् शुभ। वह धर्म का मूल है — ऐसा कहना चाहते हैं। (परन्तु भाई) ऐसी पूजा अनन्त बार भव-भव में की है। अनन्त बार पूजायें की हैं, एक बार सच्ची पूजा करे तो इसे निर्जरा होकर धर्म हो जाये... परन्तु वह पूजा, पूजा कहाँ थी ? वह तो राग है। आहा...हा... ! वह संसार है। भगवान की पूजा का भाव संसार है। ऐ...ई... ! (पूजा का भाव) होवे भले ही परन्तु वह (संसार है)। आवे, अशुभ से बचने के लिए उस काल में उस प्रकार का क्रम में आनेवाला भाव आता है, परन्तु वह हेय है, है संसार। आहा...हा... ! हरिगीत —

प्रत्येक क्षण उत्पाद-ध्रौव्य, विनाश अर्थ हैं काल के।
सर्वदा हैं वर्तते, यही कालाणु का सद्भाव है॥

आहा...हा...! कालपदार्थ को... ऐसी चीज सन्तों ने संस्कृत में रची तो उसे सुनने के लिए, समझने के लिए प्रयत्न तो करना चाहिए न? आहा...हा...! भावलिंगी मुनि अतीन्द्रिय आनन्द में झूलनेवाले हैं, उन्होंने इस कालपदार्थ की सत्ता की सिद्धि करने के लिए संस्कृत में.... शब्दों में निमित्त हुए; कर्ता नहीं, हाँ! निमित्त हुए। निमित्त अलग और निमित्तकर्ता अलग। आहा...हा...! जंगल में बसनेवाले, अन्दर अतीन्द्रिय आनन्द की दहाड़ मारते! आहा...हा...! सिंह गरजते... अनन्त गुण का खजाना खोलते, राग की एकता ने जिस खजाने को ताला लगाया है, वह खोल डाला! राग और स्वभाव — त्रिकाली अनन्त गुण का स्वभाव और राग एक समय की विकृत पर्याय है, उसके साथ एकता (होने पर) स्वभाव के खजाने को ताला लगा दिया, परन्तु राग और स्वभाव दोनों भिन्न हैं। एक ही समय में निर्मल पर्याय का अंश और मलिन पर्याय का अंश एक — पर्याय के दो भाग! आहा...हा...! उसमें जो निर्मल पर्याय का अंश है, वह मेरा; मलिन पर्याय का अंश है, वह जहर है। एक अमृत और एक जहर। आहा...हा...! उसमें झूलते हुए यह बात कर दी है — ऐसा उत्तराधिकार छोड़ा (तो) लेनेवाले को जरा उत्तराधिकार लेने का विचार तो करना न?

टीका - कालपदार्थ के सभी वृत्त्यांशों में.... (अर्थात्) समस्त पर्यायों में **उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य होते हैं,...** कालपदार्थ को प्रत्येक समय के अंश में, प्रत्येक समय, उत्पाद-व्यय और ध्रुव होते हैं। समझ में आया? **क्योंकि (१४२ वीं गाथा में जैसा सिद्ध हुआ है तदनुसार) एक वृत्त्यंश में....** वृत्त्यंश अर्थात् पर्याय। **वे (उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य) देखे जाते हैं।....** एक ही समय की पर्याय में (वे), उत्पाद ध्रौव्य देखे जाते हैं, क्योंकि जो पर्याय उत्पन्न हुई, उसी समय दूसरी पर्याय व्यय हुई और उसका अन्वयपना — ध्रुवपना वहाँ है। एक समय में तीनों देखे जाते हैं। **और यह योग्य ही है,....** अभी एकाध गाथा सूक्ष्म आयेगी, हाँ! फिर बदलेगा। १४४ तक (सूक्ष्म आयेगा)।

क्योंकि विशेष अस्तित्व सामान्य अस्तित्व के बिना नहीं हो सकता।....

देखो ! यह सिद्ध करना है। जिस पर्याय का एक समय का सिद्धपना उस समय में हुआ, वहाँ पर्याय की सिद्धि हुई तो वह पर्याय की सिद्धि, विशेष अस्तित्व, वह सामान्य अस्तित्व के बिना नहीं होता। परमाणु गति करते हुए पर्याय का समय वहाँ सिद्ध हुआ। वहाँ वह पर्याय है, वह विशेष है, वह सिद्ध हुई। विशेष का अस्तित्व सिद्ध हुआ और विशेष का अस्तित्व सामान्य के अस्तित्व के बिना नहीं होता। समझ में आया ? यह सब तो न्याय की — लॉजिक से बात है, भाई ! अभी तक बहुत स्थूल बुद्धि से चलाया है न ? आहा...हा... !

क्योंकि विशेष अस्तित्व, सामान्य अस्तित्व के बिना नहीं हो सकता। यही कालपदार्थ के सद्भाव की (अस्तित्व की) सिद्धि है;.... लो ! एक तो एक समय की पर्याय का माप सिद्ध हुआ अर्थात् वहाँ पर्याय इतने में (है) — ऐसा सिद्ध हुआ और वह सिद्ध होने पर पूर्व का व्यय और उसका उत्पाद, तथा अन्वय / ध्रुव साथ में है। जिसके सम्बन्ध बिना अकेला उत्पाद-व्यय नहीं हो सकता; अत: एक समय में ये तीन सिद्ध होने पर समस्त समय — तीन काल के समयों में (कालपदार्थ के) **सद्भाव की (अस्तित्व की) सिद्धि....** हुई। विशेषपना सिद्ध होने पर उसी काल में सामान्य सिद्ध होने से तीनों काल में उस कालद्रव्य के अस्तित्व की सिद्धि हुई। आहा...हा... !

(क्योंकि) यदि विशेष अस्तित्व और सामान्य अस्तित्व सिद्ध होते हैं.... देखो, क्या कहते हैं ? यह पर्याय का अस्तित्व-अस्ति सिद्ध हुई और वह सामान्य अस्तित्व के बिना नहीं होती; अन्वय के बिना (नहीं होती) — यह दोनों की सिद्धि हुई। **तो वे अस्तित्व के बिना किसी भी प्रकार से सिद्ध नहीं होते।** तो दोनों की अस्ति सिद्ध हुई। विशेष और सामान्य दोनों की अस्ति सिद्ध हुई। आहा...हा... ! यह गाथा संक्षिप्त हो गयी। यह तो त्रिकाल के साथ सम्बन्ध किया है।

इसकी (जयसेनाचार्यदेव की संस्कृत) टीका में है। **यद्यप्यतीतानन्तकाले दुर्लभायाः सर्वप्रकारोपादेयभूतायाः सिद्धगतेः काललब्धिरूपेण बहिरङ्गसहकारी भवति....** आत्मा की पूर्ण सिद्धदशा को कालद्रव्य बाह्य सहकारी निमित्त होता है। **कालस्तथापि निश्चयनयेन....** यह काल उपादेय नहीं है।

प्रश्न : हेय है या ज्ञेय है ?

समाधान : हेय है।

निजशुद्धात्मतत्त्वसम्यक्श्रद्धानज्ञानानुष्ठानसमस्तपरद्रव्येच्छानिरोधलक्षण-तपश्चरणरूपा या तु निश्चयचतुर्विधाराधना सैव तत्रोपादानकारणं,.... आहा...हा... ! निमित्त भले हो परन्तु वह हेय है। देखो ! **न च कालस्तेन कारणेन स हेय....** काल हेय है। इसे काल के सन्मुख देखना नहीं रहता। आहा...हा... ! सहकारी हो परन्तु वह हेय है। इसका जो जाननेवाला भगवान शुद्ध चैतन्यघन आनन्द, वह उपादेय है। आहा...हा... !

अनन्त शक्ति ! ओ...हो...हो... ! क्षेत्र से इतना — शरीर प्रमाण हो गया परन्तु इसके गुण की संख्या अनन्त है। आहा...हा... ! जैसे क्षेत्र के प्रदेश का अन्त नहीं है। (आत्मा) वस्तु तो यहाँ इतने में है — शरीर प्रमाण असंख्यात प्रदेशी कद है और उसमें गुण की संख्या की हद नहीं है — हद नहीं ! आहा...हा... ! ऐसे अनन्त गुण का एकस्वरूप द्रव्य ! इसे जो पर्याय आदरे... आहा...हा... ! उसे सम्यग्दर्शन ज्ञान और शान्ति होती है, क्योंकि अनन्त शान्ति, अनन्त आनन्द से (स्वभाव पूर्ण है)। जिसका आनन्द और शान्ति अमाप है... अमाप है... अमाप है... गहरे... गहरे... गहरे... जहाँ जाओ तो इसका माप नहीं आता — ऐसी चीज है !! उसका अन्त नहीं आता, ऐसा। ज्ञान में माप आ जाता है। आहा...हा... ! समझ में आया ? आहा...हा... ! ऐसा धर्म का उपदेश ! अब, इसमें लोग क्या इकट्ठे हों ? उस धर्म चक्र में कितने लोग इकट्ठे हुए थे ? लो ! दस-दस हजार, बीस-बीस हजार !

मुमुक्षु : आप व्याख्यान देते हैं, तब मुम्बई में बहुत लोग इकट्ठे होते हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : भोपाल में भी बहुत लोग (हुए थे)। चालीस-पैंतालीस हजार ! बेचारे सुनते थे ! पहले जरा खलबलाहट हो गया। पहले तीर्थ का हमने अलग किया है न ? क्या कहलाता है वह ? तीर्थ का फण्ड... फण्ड ! वह नाम लिया है न ? पूरा हो गया उसमें, कुछ नहीं था। थोड़े लड़के आये (और बोलने लगे) नहीं चलने देंगे, नहीं चलने देंगे... हो गया, जाओ। फिर चलेंगे। यह तो जरा होता है — ऐसा कहते हैं। दो भाग क्यों डाले ? तीर्थ की रक्षा में एक ही प्रकार चाहिए। उसमें फिर तुम्हारा अलग (भाग) डाला। ऐसा किसी को खटका, दूसरा कुछ खटके ऐसा नहीं था। कुछ करना था वह यह किया। अरे... जगत् तो जगत् है ! आहा...हा... !

(यहाँ) कहते हैं - जिसका विशेष — पर्याय का अस्तित्व सिद्ध हुआ, वह विशेष, सामान्य के बिना नहीं होता, कायम उसका आधार हो, उसके बिना नहीं होता, तो हो गया। सामान्य और विशेष का अस्तित्व सिद्ध हुआ तो कालद्रव्य सिद्ध हो गया — वस्तु सिद्ध हो गयी। समझ में आया ?

यह श्वेताम्बर कहते हैं — पर्याय वह काल (द्रव्य है), यह झूठी बात है — ऐसा कहते हैं। (यहाँ) कालद्रव्य सिद्ध हो गया क्योंकि उसकी एक समय की पर्याय सिद्ध हुई, विशेष सिद्ध हुआ तो वह विशेष अन्वय के आधार के बिना नहीं होता, सामान्य के बिना नहीं होता। सामान्य और विशेष दो होकर तत्त्व है। इसलिए सामान्य अस्तित्व भी सिद्ध हुआ, विशेष (अस्तित्व भी) सिद्ध हुआ। दोनों का (अस्तित्व सिद्ध) हुआ तो द्रव्य सिद्ध हो गया। आहा...हा... ! समझ में आया ? ऐसा तो अन्दर चलता हो तब व्याख्यान आता है या अद्धर से लावें ? यह तो सामने जब आता हो तब आता है। ●

वह तो कृतकृत्य है ही

अहो ! जो इस चैतन्यस्वभाव का भान प्रगट करके, ध्यान में उसे ध्याता है, उसकी महिमा की क्या बात करना ! उसने तो कार्य प्रगट कर लिया है; इसलिए वह तो कृतकृत्य है ही, परन्तु जिसने उसके कारणरूप रुचि प्रगट की है अर्थात् जिसे यह चिन्ता प्रगट हुई है कि अहो ! मेरा कार्य कैसे प्रगट हो ? मुझे अन्दर से आनन्दकन्द आत्मा का अनुभव कैसे प्रगट हो ? उस आत्मा का जीवन भी धन्य है, संसार में उसका जीवन प्रशंसनीय है - ऐसा सन्त-आचार्य कहते हैं।

- पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी

गाथा - १४४

अथ कालपदार्थस्यास्तित्वान्यथानुपपत्त्या प्रदेशमात्रत्वं साधयति -

जस्स ण संति पदेसा पदेसमेत्तं व तच्चदो णादुं।
सुण्णं जाण तमत्थं अत्थंतरभूदमत्थीदो।।१४४।।

यस्य न सन्ति प्रदेशाः प्रदेशमात्रं वा तत्त्वतो ज्ञातुम्।
शून्यं जानीहि तमर्थमर्थान्तरभूतमस्तित्वात्।।१४४।।

अस्तित्वं दि तावदुत्पादव्ययध्रौव्यैक्यात्मिका वृत्तिः। न खलु सा प्रदेशमन्तरेण सूत्र्यमाणा कालस्य संभवति, यतः प्रदेशाभावे वृत्तिमदभावः। स तु शून्य एव, अस्तित्व-संज्ञाया वृत्तेरर्थान्तरभूतत्वात्। न च वृत्तिरेव केवला कालो भवितुमहति, वृत्तर्हि वृत्तिमन्त-मन्तरेणानुपपत्तेः। उपपत्तो वा कथमुत्पादव्ययध्रौव्यैक्यात्मकत्वम्। अनाद्यन्तनिरन्तरानेकांशव-शीकृतैकात्मकत्वेन पूर्वपूर्वांशप्रध्वंसादुत्तरोत्तरांशोत्पादादेकात्मध्रौव्यादिति चेत्; नैवम्। यस्मिन्नंशे प्रध्वंसो यस्मिंश्चोत्पादस्तयोः सहप्रवृत्त्यभावात् कुतस्त्यमैक्यम्। तथा प्रध्वस्तांशस्य सर्वथास्त-मितत्वादुत्पद्यमानांशस्य वासम्भवितात्मलाभत्वात्प्रध्वंसोत्पादैक्यवर्तिध्रौव्यमेव कुतस्त्यम्। एवं सति नश्यति त्रैलक्षण्यं, उल्लसति क्षणभङ्गः, अस्तमुपैति नित्यं द्रव्यं, उदीयन्ते क्षणक्षयिणो भावाः। ततस्तत्त्वविप्लवभयात्कश्चिदवश्यमाश्रयभूतो वृत्तेर्वृत्तिमाननुसर्तव्यः। स तु प्रदेश एवाप्रदेशस्यान्वय-व्यतिरेकानुविधायित्वासिद्धेः। एवं सप्रदेशत्वे हि कालस्य कुत एकद्रव्यनिबन्धनं लोकाकाशतुल्यासंख्येयप्रदेशत्वं नाभ्युपगम्यते। पर्यायसमयाप्रसिद्धेः। प्रदेशमात्रं हि द्रव्यसमय-मतिक्रामतः परमाणोः पर्यायसमयः प्रसिद्ध्यति। लोकाकाशतुल्यासंख्येयप्रदेशत्वे तु द्रव्यसमयस्य कुतस्त्या तत्सिद्धिः। लोकाकाशतुल्यासंख्येयप्रदेशैकद्रव्यत्वेऽपि तस्यैकं प्रदेश-मतिक्रामतः परमाणोस्तत्सिद्धिरिति चेन्नैवंः; एकदेशवृत्तेः सर्ववृत्तित्वविरोधात्। सर्वस्यापि हि कालपदार्थस्य यः सूक्ष्मो वृत्त्यंशः स समयो, न तु तदेकदेशस्य। तिर्यक्प्रचयस्योर्ध्वप्रचय-त्वप्रसंगाच्च। तथाहि - प्रथममेकेन प्रदेशेन वर्तते, ततोऽन्येन, ततोऽप्यन्यतरेणेति तिर्यक्-प्रचयोऽप्यूर्ध्वप्रचयीभूय प्रदेशमात्रं द्रव्यमवस्थापयति। ततस्तिर्यक्प्रचयस्योर्ध्वप्रचयत्वमनिच्छता प्रथममेव प्रदेशमात्रं कालद्रव्यं व्यवस्थापयितव्यम्।।१४४।।

अथोत्पादव्ययध्रौव्यात्मकास्तित्वावष्टम्भेन कालस्यैकप्रदेशत्वं साधयति - **जस्स ण संति** यस्य पदार्थस्य न सन्ति न विद्यन्ते। के। **पदेसा** प्रदेशाः। **पदेसमेत्तं तु** प्रदेशमात्रमेकप्रदेश-प्रमाणं पुनस्तद्वस्तु **तच्चदो णादुं** तत्त्वतः परमार्थतो ज्ञातुं शक्यते। **सुण्णं जाण तमत्थं** यस्यै-कोऽपि प्रदेशो नास्ति तमर्थं पदार्थ शून्य जानीहि हे शिष्य। कस्माच्छून्यमिति चेत्। **अत्थंतरभूदं** एकप्रदेशाभावे सत्यर्थान्तरभूतं भिन्नं भवति यतः कारणात्। कस्याः सकाशाद्भिन्नम्। **अत्थीदो** उत्पादव्ययध्रौव्यात्मकसत्ताया इति। तथाहि - कालपदार्थस्य तावत्पूर्वसूत्रोदितप्रकारेणोत्पादव्यय-ध्रौव्यात्मकमस्तित्वं विद्यते; तच्चास्तित्वं प्रदेशं विना न घटते। यश्च प्रदेशवान् स कालपदार्थ इति। अथ मतं कालद्रव्या-भावेऽप्युत्पादव्ययध्रौव्यत्वं घटते। नैवम्। अङ्गुलिद्रव्याभावे वर्तमान-वक्रपर्यायोत्पादो भूतर्जुपर्यायस्य विनाशस्तदुभयाधारभूतं ध्रौव्यं कस्य भविष्यति। न कस्यापि। तथा कालद्रव्याभावे वर्तमानसमयरूपौत्पादो भूतसमयरूपो विनाशस्तदुभयाधारभूतं ध्रौव्यं कस्य भविष्यति। न कस्यापि। एवं सत्येतदायाति - अन्यस्य भङ्गोऽन्यस्योत्पादोऽन्यस्य ध्रौव्यमिति सर्वं वस्तुस्वरूपं विप्लवते। तस्माद्वस्तुविप्लवभयादुत्पाद-व्ययध्रौव्याणां कोऽप्येक आधारभूतोऽस्ती-त्यभ्युपगन्तव्यम्। स चैकप्रदेशरूपः कालाणुपदार्थ एवेति। अत्रातीतानन्तकाले ये केचन सिद्ध-सुखभाजनं जाताः, भाविकाले च 'आत्मोपादानसिद्धं स्वयमतिशयवद्' इत्यादिविशेषणविशिष्ट-सिद्धसुखस्य भाजनं भविष्यन्ति ते सर्वेऽपि काललब्धिवशेनैव। तथापि तत्र निजपरमात्मोपादेयरुचिरूपं वीतरागचारित्राविनाभूतं यन्निश्चयसम्यकत्वं तस्यैव मुख्यत्वं, न च कालस्य, तेन स हेय इति। तथा चोक्तम् - 'किं पलविएण बहुणा जे सिद्धा णरवरा गये काले सिज्झहहि जे वि भविया तं जाणह सम्ममाहप्पं'।।१४४।।

अब, कालपदार्थ के अस्तित्व की अन्यथा अनुपपत्ति होने से (अर्थात् कालपदार्थ का अस्तित्व अन्य किसी प्रकार नहीं बन सकने के कारण) उसका प्रदेशमात्रपना सिद्ध करते हैं —

जिसके नहीं हैं प्रदेश या, नहीं एक भी परमार्थ से।
वो अर्थ जानो शून्य, जो कि भिन्न है अस्तित्व से॥

अन्वयार्थ - **[यस्य]** जिस पदार्थ के **[प्रदेशाः]** प्रदेश **[प्रदेशमात्रं वा]** अथवा एकप्रदेश भी **[तत्त्वतः]** परमार्थतः **[ज्ञातुम् न संति]** ज्ञात नहीं होते, **[तम् अर्थम्]** उस पदार्थ को **[शून्यं जानीहि]** शून्य जानो — **[अस्तित्वात् अर्थान्तरभूतम्]** जो कि अस्तित्व से अर्थान्तरभूत (अन्य) है।

टीका – प्रथम तो अस्तित्व वह उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य की ऐक्यस्वरूपवृत्ति है।

वह (वृत्ति अर्थात् विद्यमानता) काल के प्रदेश बिना ही होती है, यह कथन संभवित नहीं है, क्योंकि प्रदेश के अभाव में वृत्तिमान् का अभाव होता है। वह तो शून्य ही है, क्योंकि अस्तित्व नामक वृत्ति से अर्थान्तरभूत है — अन्य है।

और (यदि यहाँ यह तर्क किया जाय कि 'मात्र समयपर्यायरूपवृत्ति ही माननी चाहिए; वृत्तिमान् कालाणु पदार्थ की क्या आवश्यकता है ?' तो उसका समाधान किया जाता है—) मात्र वृत्ति (समयरूप परिणति) ही काल नहीं हो सकती, क्योंकि वृत्ति, वृत्तिमान् के बिना नहीं हो सकती। यदि यह कहा जाय कि वृत्तिमान् के बिना भी वृत्ति हो सकती है तो, (पूछते हैं कि — वृत्ति तो उत्पादव्यय-ध्रौव्य की एकतास्वरूप होनी चाहिए) अकेली वृत्ति, उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य की एकतारूप कैसे हो सकती है ? यदि यह कहा जाय कि — 'अनादि-अननत, अनन्तर (-परस्पर अन्तर हुए बिना एक के बाद एक प्रवर्तमान) अनेक अंशों के कारण एकात्मकता[१] होती है इसलिए, पूर्व-पूर्व के अंशों का नाश होता है और उत्तर-उत्तर के अंशों का उत्पाद होता है तथा एकात्मकतारूप ध्रौव्य रहता है — इस प्रकार मात्र (अकेली) वृतित भी उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य की एकतास्वरूप हो सकती है' तो ऐसा नहीं है। (क्योंकि उस अकेली वृत्ति में तो) जिस अंश में नाश है और जिस अंश में उत्पाद है, वे दो अंश एक साथ प्रवृत्त नहीं होते, इसलिए (उत्पाद और व्यय का) ऐक्य कहाँ से हो सकता है ? तथा नष्ट अंश के सर्वथा अस्त होने से और उत्पन्न होनेवाला अंश अपने स्वरूप को प्राप्त न होने से (अर्थात् उत्पन्न नहीं हुआ है इसलिए) नाश और उत्पाद की एकता में प्रवर्तमान ध्रौव्य कहाँ से हो सकता है ? ऐसा होने पर त्रिलक्षणता (उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यता) नष्ट हो जाती है, क्षण भंग (बौद्धसम्मत्त क्षणविनाश) उल्लसित हो उठता है, नित्य द्रव्य अस्त हो जाता है और क्षणविध्वंसी भाव उत्पन्न होते हैं। इसलिए तत्वविप्लव[२] के भय से अवश्य ही वृत्ति का आश्रयभूत कोई वृत्तिमान् ढूँढ़ना-स्वीकार करना योग्य है। वह तो प्रदेश ही है (अर्थात् वह वृत्तिमान् सप्रदेश ही होता है),

---

१. एकात्मकता = एकस्वरूपता (कालद्रव्य के बिना भी अनादि काल से अनन्त काल तक समय एक के बाद एक परस्पर अन्तर के बिना ही प्रवर्तित होते हैं, इसलिए एक प्रवाहरूप बन जाने से उसमें एकरूपत्व आता है - इस प्रकार शंकाकार का तर्क है।)

२. तत्वविप्लव = वस्तुस्वरूप में अन्धाधुन्धी।

क्योंकि अप्रदेश के अन्वय तथा व्यतिरेक का अनुविधायित्व असिद्ध है। (जो अप्रदेश होता है वह अन्वय तथा व्यतिरेकों का अनुसरण नहीं कर सकता, अर्थात् उसमें ध्रौव्य तथा उत्पाद-व्यय नहीं हो सकते।)

(प्रश्न -) इस प्रकार काल सप्रदेश है तो उसके एकद्रव्य के कारणभूत लोकाकाश तुल्य असंख्यप्रदेश क्यों न मानने चाहिये ?

(उत्तर -) ऐसा हो तो पर्यायसमय प्रसिद्ध नहीं होता, इसलिए असंख्य प्रदेश मानना योग्य नहीं है। परमाणु के द्वारा प्रदेशमात्र द्रव्यसमय का उल्लंघन करने पर (अर्थात् — परमाणु के द्वारा एकप्रदेशमात्र कालाणु से निकट के दूसरे प्रदेशमात्र कालाणु तक मन्दगति से गमन करने पर) पर्यायसमय प्रसिद्ध होता है। यदि द्रव्यसमय लोकाकाशतुल्य असंख्यप्रदेशी हो तो पर्यायसमय सिद्धि कहाँ से होगी ?

'यदि द्रव्यसमय अर्थात् कालपदार्थ लोकाकाश जितने असंख्य प्रदेशवाला एक द्रव्य हो तो भी परमाणु के द्वारा उसका एक प्रदेश उल्लंघित होने पर पर्यायसमय की सिद्धि हो' ऐसा कहा जाय तो यह ठीक नहीं है; क्योंकि (उसमें दो दोष आते हैं) —

(१) [द्रव्य के एक देश की परिणति को सम्पूर्ण द्रव्य की परिणति मानने का प्रसंग आता है।] एक देश की वृत्ति को सम्पूर्ण द्रव्य की वृत्ति मानने में विरोध है। सम्पूर्ण कालपदार्थ का जो सूक्ष्म वृत्त्यंश है, वह समय है, परन्तु उसके एक देश का वृत्त्यंश वह समय नहीं।

तथा, (२) तिर्यक्प्रचय को ऊर्ध्वप्रचयपने का प्रसंग आता है। वह इस प्रकार है कि — प्रथम, कालद्रव्य एक प्रदेश से वर्ते, फिर दूसरे प्रदेश से वर्ते और फिर अन्य प्रदेश से वर्ते (ऐसा प्रसंग आता है) इस प्रकार तिर्यक्प्रचय, ऊर्ध्वप्रचय बनकर द्रव्य को प्रदेशमात्र स्थापित करता है। (अर्थात् तिर्यक्प्रचय ही ऊर्ध्वप्रचय है, ऐसा मानने का प्रसंग आता है, इसलिए द्रव्यप्रदेशमात्र ही सिद्ध होता है।) इसलिए तिर्यक्प्रचय को ऊर्ध्वप्रचयपना न मानने (चाहने) वाले को प्रथम ही कालद्रव्य को प्रदेशमात्र निश्चित करना चाहिए॥१४४॥

प्रवचन नं. १५६ का शेष ज्येष्ठ कृष्ण ९ बुधवार, ०२ जुलाई १९७५

अब.... यह सूक्ष्म कि अन्तिम गाथा है। **कालपदार्थ के अस्तित्व की अन्यथा अनुपपत्ति होने से (अर्थात् काल पदार्थ का अस्तित्व अन्य किसी प्रकार नहीं बन सकने के कारण) उसका प्रदेशमात्रपना सिद्ध करते हैं —** अब उसका प्रदेश सिद्ध करते हैं। अप्रदेशी हो, उसमें उत्पाद-व्यय-ध्रुव नहीं होते हैं। प्रदेश है। और प्रदेश न हो वह शून्य होता है। जिसका प्रदेश न हो, क्षेत्र न हो, वह शून्य होता है। आहा...हा... !

कहते हैं कि जो पर्याय विशेष सिद्ध हुई, (उसने) सामान्य सिद्ध किया; इसलिए दोनों का (अस्तित्व) सिद्ध (हुआ) परन्तु उसका प्रदेश होता है। (ऐसा अब) कहते हैं। प्रदेश न हो और यहाँ सामान्य-विशेष हो — ऐसा नहीं बन सकता। भले एक प्रदेश हो परन्तु प्रदेश है, उसका क्षेत्र है। ऐसे एक समय के उत्पाद-व्यय-ध्रुव को रहने का वह क्षेत्र है। आहा...हा... ! यह है तो एक प्रदेश — क्षेत्र, परन्तु सिद्ध होता है — ऐसा कहते हैं।

अरे... ! इसमें ध्यान दे तो भी अन्दर शुभभाव (होता है) विकल्प कहीं जाये नहीं — ऐसा यह है। सूक्ष्म आया परन्तु अन्दर ध्यान तो दे।

जस्स ण संति पदेसा पदेसमेत्तं व तच्चदो णादुं।
सुण्णं जाण तमत्थं अत्थंतरभूदमत्थीदो।।१४४।।

जिस अर्थ के न बहु प्रदेश.... अर्थ अर्थात् पदार्थ। जिस पदार्थ को न बहु प्रदेश **नहीं एक भी परमार्थ से।** एक भी नहीं और बहुत भी नहीं। **वह अर्थ जानो शून्य,....** वह पदार्थ शून्य है। **जो कि भिन्न है अस्तित्व से।** अन्य अस्तित्व से वह शून्य सिद्ध हुआ, नास्ति सिद्ध हुई — ऐसा कहते हैं। इन लोगों ने दया को धर्म मनवा लिया, इन लोगों ने पूजा को धर्म मनवाया, इन लोगों ने फिर नग्नपना या वस्त्र छोड़ना और ऐसा आहार चलता है और नहीं चलता, उसमें धर्म मनवा दिया।

मुमुक्षु : सूझे वह करना।

पूज्य गुरुदेवश्री : वहाँ सूझ कहाँ है ? सूझ और बूझ वहाँ कहाँ है ? असूझ और अबूझ है।

क्या सिद्ध किया और अब क्या सिद्ध करते हैं ? कि जब काल नाम का एक समय है, उसका माप एक प्रदेश — क्षेत्र में आ जाता है। एक आकाश के प्रदेश में परमाणु वहाँ से दूसरे प्रदेश में जाये, तब छोटे काल का माप आ जाता है तो वह काल है, वह समय है। वह समय है, वह कालद्रव्य की पर्याय है; अत: जितने में पर्याय निश्चित हुई, उतने में वह कालद्रव्य सामान्य, निश्चित हो गया। अब इससे निश्चित हुआ द्रव्य, (उसे) प्रदेश न हों तो वह शून्य होगा। एक अर्थात् बहु प्रदेशी न हो, उसका क्षेत्र ही न हो और अद्धर में यह सब रहे तो वह तो शून्य पदार्थ कहलायेगा। अस्तित्व से शून्य कहलायेगा अर्थात् अन्य कहलायेगा। आहा...हा...! समझ में आया ?

टीका - प्रथम तो अस्तित्व वह उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य की ऐक्यस्वरूपवृत्ति है।.... अस्ति! अस्तित्व अर्थात् होनापना। वह उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य के एक स्वरूपपने होनापना है। तीनों का एक समय में होनापना है, वह उसका एकरूप स्वरूप ही है। **वह (वृत्ति अर्थात् विद्यमानता) काल के प्रदेश बिना ही होती है — ऐसा कथन....** काल को उसका प्रदेश — क्षेत्र अंश नहीं और उत्पाद-व्यय तथा ध्रौव्य की एकता की अस्ति है — ऐसा कहा जाये तो **संभवित नहीं है,....**

क्योंकि प्रदेश के अभाव में वृत्तिमान् का अभाव होता है।.... वृत्तिमान अर्थात् पदार्थ। प्रदेश न हो और पदार्थ हो (ऐसा) होता नहीं है। **वह तो शून्य ही है,....** प्रदेश के अभाव में पदार्थ का अभाव होता है। वृत्तिमान् अर्थात् पदार्थ। प्रदेश के अभाव में जो वृत्तिमान पदार्थ है, उसका अभाव होता है। **वह तो शून्य ही है, क्योंकि अस्तित्व नामक वृत्ति से अर्थान्तरभूत है — अन्य है।** अर्थात् अस्तित्व से शून्य है, इसलिए अन्य है। जिसका एक प्रदेशपना भी न हो वह शून्य है अर्थात् वह अस्तित्व से खाली है। **वह तो शून्य ही है, क्योंकि अस्तित्व नामक वृत्ति से अर्थान्तरभूत है....** अर्थात् अन्य पदार्थभूत अन्य है। अस्तित्व से प्रदेश में वह अन्य है अर्थात् प्रदेश रहित वह चीज हुई। आहा...हा...! थोड़ा अधिकार (सूक्ष्म) आया हो वह सुनना तो चाहिए न ? आता है, किसी समय पढ़ा जाता है। बहुत समय पहले पढ़ा था। पढ़ा है, दो-तीन बार पढ़ा है। क्या कहा ?

जो वस्तु (की) अस्ति है, वह उत्पाद-व्यय और ध्रुव की एकतारूप उसकी अस्ति है। अर्थात् विशेष और सामान्यरूप ही उसकी अस्ति है। अब वह अस्ति, प्रदेश के बिना नहीं हो सकती है — ऐसे काल को भी अंश न हो — क्षेत्र, भाग, अंश न हो और उसका अस्तित्व हो — ऐसा नहीं बन सकता है। आहा...हा...! प्रदेश रहित अस्तित्व से शून्य होता है। आहा...हा...! समझ में आया? इसकी अपेक्षा वह एकेन्द्रिया, द्वेन्द्रिया था (वह सरल था)।

यह श्रीमद्वाले भक्ति करें, ऐसा कहाँ समझना? 'जातिवेश का भेद नहीं कहा मार्ग जो होय' — चाहे जिस जाति और चाहे जिस वेश में हो, मार्ग हो सकता है। (ऐसा सुनकर) लोगों को अच्छा लगता है। यहाँ तो 'कहा मार्ग जो होय तो जातिवेश का भेद नहीं' — ऐसा अर्थ किया है। नहीं? किया है? ऐसा अर्थ किया है? किसमें? आत्मसिद्धि में (संवत्) १९९५, राजकोट में! ३६ वर्ष हुए, उस समय यह अर्थ किया था 'जातिवेश का भेद नहीं कहा मार्ग जो होय' ऐसा नहीं परन्तु 'कहा मार्ग जो होय तो जातिवेश का भेद नहीं'। उन लोगों को — श्रीमद्वालों को खराब लगा था। बात सच्ची है। श्रीमद् को ऐसा नहीं कहना परन्तु उसका ऐसा अर्थ होता है तो सच्चा होता है, वरना सच्चा नहीं होता। आहा...हा...!

यह क्या कहा? **क्योंकि अस्तित्व नामक वृत्ति....** अर्थात् टिकना, वह **अर्थान्तरभूत है....** इससे टिकनेरहित चीज अन्य हो गयी (अर्थात्) प्रदेशरहित चीज टिकनेरहित अन्य हो गयी, उसका अस्तित्व नहीं रहा। आहा...हा...! आचार्य ने गजब काम किया है न! क्षयोपशम भी इतना! अनुभूति — आनन्द की लहर में झूलते-झूलते (बात करते हैं)! क्षयोपशम भी इतना कि पदार्थ को सिद्ध करने की (सामर्थ्य) ज्ञान में विकासरूप, हाँ! फिर तो वाणी के कारण वाणी (निकलती है)।

और (यदि यहाँ यह तर्क किया जाय कि 'मात्र समयपर्यायरूपवृत्ति ही माननी चाहिए;....) अकेली पर्याय की परिणति ही मानो **(वृत्तिमान् कालाणु पदार्थ की क्या आवश्यकता है ?'....)** पदार्थ सामान्य की क्या आवश्यकता है? एकरूप वृत्ति — पर्याय को मानो — ऐसा शिष्य ने प्रश्न किया है। **(तो उसका समाधान किया जाता**

है—) मात्र वृत्ति (समयरूप परिणति) ही काल नहीं हो सकती, क्योंकि वृत्ति, वृत्तिमान् के बिना नहीं हो सकती।.... परिणति — दशा, परिणतिवान — दशावान के बिना परिणति नहीं हो सकती। पर्याय, द्रव्य के बिना नहीं हो सकती। विशेष, सामान्य के बिना नहीं हो सकता। समझ में आया ?

यदि यह कहा जाय कि वृत्तिमान् के बिना भी वृत्ति हो सकती है तो, (पूछते हैं कि — वृत्ति तो उत्पादव्यय-ध्रौव्य की एकतास्वरूप होनी चाहिए) अकेली वृत्ति उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य की एकतारूप कैसे हो सकती है ?.... वृत्ति का रहना, तीनों की एकतारूप हो सकता है, तीनों की एकता के बिना एकतास्वरूप किस प्रकार हो सकता है ? '**अनादि-अनन्त, अनन्तर (-परस्पर अन्तर हुए बिना....)** यह स्पष्टीकरण करता है, शंकाकार, हाँ ! '**अनादि-अनन्त, अनन्तर (-परस्पर अन्तर हुए बिना एक के बाद एक प्रवर्तमान) अनेक अंशों के कारण एकात्मकता होती है....** अनेक अंश है न ? भले ध्रुव नहीं, सामान्य नहीं परन्तु अंश अनेक हैं न ? अनेक !

'अनादि-अनन्त, अनन्तर (-परस्पर अन्तर हुए बिना एक के बाद एक प्रवर्तमान) अनेक अंशों के कारण एकात्मकता होती है इसलिए, पूर्व-पूर्व के अंशों का नाश होता है और उत्तर-उत्तर के अंशों का उत्पाद होता है तथा एकात्मकतारूप ध्रौव्य रहता है — इस प्रकार मात्र (अकेली) वृत्ति भी उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य की एकतास्वरूप हो सकती है' — ऐसा कहा जाये तो.... शिष्य ने क्या कहा ? कि अकेली एक समय की पर्याय है, बस ! क्यों ? कि ऐसे एकता है न ? एक के बाद एक, एक के बाद एक, एक के बाद एक, उत्पाद-व्यय... उत्पाद-व्यय... उत्पाद-व्यय... (होता है), यह बहुत अंशों की एकता हो गयी — ऐसे प्राप्त किया परन्तु ऐसे प्राप्त नहीं किया।

यदि ऐसा कहा जाये तो ऐसा नहीं है। इसका स्पष्टीकरण (कहेंगे)।

प्रवचन नं. १५७ ज्येष्ठ कृष्ण १० गुरुवार, ०३ जुलाई १९७५

प्रवचनसार, ज्ञेयतत्त्व (की) १४४ (गाथा) चलती है। थोड़ा सूक्ष्म है। ध्यान रखे तो समझ में आये — ऐसा है। न समझ में आये ऐसा नहीं है। प्रश्न है न ? वहाँ से है।

(प्रश्न -) इस प्रकार काल सप्रदेश है.... काल के प्रदेश हैं। प्रदेश है — ऐसा कहा न ? सप्रदेश ! **तो उसके एकद्रव्य के कारणभूत लोकाकाश तुल्य असंख्यप्रदेश क्यों न मानने चाहिये ?** जब काल के प्रदेश हैं — ऐसा जब तुम सिद्ध करते हो तो फिर लोकाकाश के जितने काल के प्रदेश हैं — ऐसा क्यों नहीं मानना चाहिए ? समझ में आया ? लोकाकाश (जितने) असंख्य प्रदेश क्यों नहीं मानना ? एक ही प्रदेश क्यों मानना ? लोक के असंख्य प्रदेश हैं, उतने प्रदेशवाला कालद्रव्य मानना। प्रदेशवाला तो तुम्हें मानना है तो फिर इतना मानने में क्या आपत्ति है ? ऐसा शिष्य का प्रश्न है।

(उत्तर -) ऐसा हो तो पर्यायसमय प्रसिद्ध नहीं होता,.... एक समय की पर्याय वह, यदि असंख्य प्रदेश में गिनो तो वहाँ तक की एक समय की पर्याय सिद्ध होगी (परन्तु) ऐसे पर्याय की सिद्धि नहीं होती **इसलिए असंख्य प्रदेश मानना योग्य नहीं है।....** क्यों ? (क्योंकि) **परमाणु के द्वारा प्रदेशमात्र द्रव्यसमय....** अर्थात् कालपदार्थ। **का उल्लंघन करने पर (अर्थात् - परमाणु के द्वारा एकप्रदेशमात्र कालाणु से निकट के दूसरे प्रदेशमात्र कालाणु तक मन्दगति से गमन करने पर) पर्यायसमय प्रसिद्ध होता है।** क्या कहा ? एक परमाणु, एक कालाणु के प्रदेश से दूसरे प्रदेश में जाने पर वहाँ एक समय की पर्याय का माप एक प्रदेश में आ जाता है। असंख्य प्रदेश में जाये तो ही समय की पर्याय सिद्ध हो — ऐसा नहीं है।

'यदि द्रव्यसमय अर्थात् कालपदार्थ लोकाकाश जितने असंख्य प्रदेशवाला एक द्रव्य हो तो भी परमाणु के द्वारा उसका एक प्रदेश उल्लंघित होने पर पर्यायसमय की सिद्धि हो'.... यहाँ तो परमाणु एक समय में एक प्रदेश से दूसरे प्रदेश में जाये, वहाँ समय की सिद्धि होती है, पर्याय की सिद्धि हो जाती है और वह पर्याय असंख्य (प्रदेश में) जाये तो एक समय की पर्याय की सिद्धि हो — ऐसा है नहीं; इसलिए एक प्रदेशी है, असंख्य प्रदेशी है नहीं। कहो, समझ में आया ?

क्योंकि (उसमें दो दोष आते हैं) — (१) [द्रव्य के एक देश की परिणति को सम्पूर्ण द्रव्य की परिणति मानने का प्रसंग आता है।].... क्या कहा ? द्रव्य जब पूरे लोकाकाश प्रमाण असंख्य प्रदेशी है — ऐसा मानो तो उसमें एकदेश के भाग में उसकी

पर्याय की सिद्धि होती है। और पर्याय की सिद्धि तो वास्तव में पूरे द्रव्यप्रमाण होनी चाहिए। असंख्य प्रदेश में से एक समय की सिद्धि होनी चाहिए (परन्तु) ऐसा नहीं होता। **एक देश की वृत्ति....** परिणति **को सम्पूर्ण द्रव्य की वृत्ति मानने में विरोध है।** यह क्या कहा? एक प्रदेश में एक समय की पर्याय सिद्ध होने पर वह एक देश की वृत्ति वह पूरे द्रव्य की वृत्ति, असंख्य प्रदेशी द्रव्य की वृत्ति है — ऐसा मानने में विरोध आता है। समझ में आया? ऐसा जरा मस्तिष्क को, बनियों को (व्यापार में से समय) निकालकर थोड़ा फैलाने जैसा है। उन्हें ख्याल आना चाहिए न?

यह क्या कहते हैं? कि तुम जब काल को प्रदेशमात्र सिद्ध करते हो तो उसे असंख्य प्रदेशी पूरा द्रव्य है — ऐसा सिद्ध करने में क्या आपत्ति आती है? ऐसा शिष्य का प्रश्न है। जब काल को अप्रदेशी तो सिद्ध नहीं किया, प्रदेश सिद्ध किया — तो फिर उसे असंख्य प्रदेशी पूरा एक द्रव्य सिद्ध करने में तुम्हें क्या आपत्ति आती है? उसमें आपत्ति आती है। क्यों? कि काल का जो पूरा असंख्य प्रदेशी द्रव्य है, उसके एक प्रदेश की पर्याय उसके एक देश में ही सिद्ध हो जाती है। एक भाग में उसकी पर्याय की सिद्धि हो जाती है; इसलिए यह आपत्ति आयी, इसलिए वह असंख्य प्रदेशी नहीं है। समझ में आया? **एक देश की वृत्ति....** अर्थात् एक भाग की परिणति को पूरे द्रव्य की परिणति मानने में विरोध आता है। समझ में आया? भाई!

कहते हैं कि काल का जो एक प्रदेश है, उसमें उसकी एक पर्याय सिद्ध होती है तो पूरा जो द्रव्य है, उसके एकदेश-भाग में उसकी पर्याय सिद्ध हो जाती है, यह विरोध आता है। समझ में आया?

फिर से, यदि उसे तुम असंख्य प्रदेशी द्रव्य मानो तो वह असंख्य प्रदेशी जो (पूरा) पूर्ण द्रव्य की एक समय की पर्याय को एक देश में — भाग में सिद्ध हो जाती है, इस एक भाग में सिद्ध हो जाती है; इसलिए इस असंख्य प्रदेशी द्रव्य (की) बात में विरोध आता है। समझ में आया? भाई! यह तो मस्तिष्क को (फैलाना पड़े ऐसा है)। यह सब बाहर के कार्यकर्ता थे।

मुमुक्षु : आचार्य ने दूसरी गाथा में (१३८ में) काल का अप्रदेशी कहा है।

पूज्य गुरुदेवश्री : अप्रदेशी है। अप्रदेशी का अर्थ ज्यादा प्रदेश नहीं, ऐसा। एक प्रदेशी, वह अप्रदेशी — ऐसा। अधिक प्रदेश नहीं — ऐसा कहा है। वह तो ठीक (कहा है)। आहा...हा...! अप्रदेशी का अर्थ दो प्रदेश नहीं। दो, तीन नहीं परन्तु प्रदेश है, यह तो सिद्ध किया। प्रदेश न हो तो वह शून्य हो जाता है। उत्पाद, व्यय, ध्रुव का प्रदेश यदि न हो तो वह शून्य हो जाता है। अर्थ से अन्यथा अर्थात् वस्तु नहीं — ऐसा सिद्ध हो जाता है। आहा...हा...! आचार्यों ने कैसी सरल युक्ति से वस्तु को सिद्ध किया है ?

दो दोष आते हैं। असंख्य प्रदेशी पूरे को एक द्रव्य मानने से दो विरोध आते हैं। एक तो यह विरोध कि उसके एकदेश-भाग में उसकी पर्याय सिद्ध हो जाती है, तो सर्व देश में वह पर्याय सिद्ध नहीं होती — यह दोष आता है। समझ में आया ? इसमें बनियों को जरा (मस्तिष्क) फैलाना पड़े ऐसा है। इसमें (ऐसे का ऐसा) चलाये ऐसा नहीं है।

जब तुम एक प्रदेश सिद्ध करते हो तो शिष्य कहता है कि असंख्य प्रदेशी एक द्रव्य को सिद्ध करने में क्या आपत्ति आती है ? प्रदेश तो तुमने सिद्ध किये। आपत्ति आती है, सुन न! असंख्य प्रदेशी पूरा द्रव्य है, उसके एकदेश में-भाग में उसकी एक पर्याय सिद्ध हो जाती है। है ? **एकदेश की वृत्ति को सम्पूर्ण द्रव्य की वृत्ति मानने में विरोध है।** आहा...हा...! **सम्पूर्ण कालपदार्थ का जो सूक्ष्म वृत्त्यंश है, वह समय है, परन्तु उसके एकदेश का वृत्त्यंश वह समय नहीं।** देखा ? पूरे कालद्रव्य का अंश-वृत्ति समय, वह समय है। जब उसे ऐसा पूरा असंख्य प्रदेशी द्रव्य कहो तो असंख्य प्रदेशी पूरे में वृत्त्यंश की पर्याय सिद्ध नहीं होती, उसके एकदेश-भाग में पर्याय सिद्ध हो जाती है। समझ में आया ? एक बात।

दूसरी (बात)। उसने कहा है या नहीं ? कि एक **परमाणु के द्वारा उसका एक प्रदेश उल्लंघित होने पर पर्यायसमय की सिद्धि हो' ऐसा कहा जाय तो....** आपत्ति क्या ? ऐसा उसने कहा। तो कहते हैं कि **(२) तिर्यक्प्रचय को ऊर्ध्वप्रचयपने का प्रसंग आता है।** ऐसे जो आड़े असंख्य प्रदेश हैं, उसके बदले एक प्रदेश में एक पर्याय की सिद्धि, दूसरे प्रदेश में दूसरी पर्याय की सिद्धि, तीसरे प्रदेश में तीसरी (पर्याय की सिद्धि होती है) — ऐसा ऊर्ध्वप्रचय सिद्ध हो जाता है। यह तिर्यक्प्रचय नहीं होता। यह तो भाई!

वीतराग मार्ग की बात है। आहा...हा... ! सन्तों ने जंगल में रहकर कालपदार्थ की सिद्धि सप्रदेश-एक (प्रदेशवाला) है और कैसी सरल युक्ति से (सिद्ध किया) एक तो यह (दोष आता है) कि सारे द्रव्य की पर्याय ऐसी होनी चाहिए और उसके बदले उसके एकदेश-भाग में उसकी पर्याय सिद्ध होती है; इसलिए वह असंख्य प्रदेशी द्रव्य सिद्ध नहीं होता। समझ में आया ? दूसरा यह कहा कि परमाणु गति (करे तो) एक प्रदेश में पर्याय सिद्ध होती है, तो फिर वह समय सिद्ध होने पर दूसरे समय में दूसरे प्रदेश में दूसरा समय सिद्ध होता है। तीसरे समय में तीसरी पर्याय सिद्ध होती है — ऐसा सिद्ध नहीं होता। समझ में आया ? आहा...हा... !

मुमुक्षु : विवादास्पद विषय है काल द्रव्य नहीं मानते।

पूज्य गुरुदेवश्री : (जो) कालद्रव्य नहीं मानते, उसे मानने की युक्ति से सिद्ध किया है। एक प्रदेशी कालद्रव्य हो क्योंकि एक प्रदेश में ही एक समय की पर्याय सिद्ध हो जाती है; इसलिए तुम ऐसे तिरछा-लम्बा करने जाओ तो एक समय यहाँ सिद्ध हुआ, दूसरा समय दूसरे प्रदेश में सिद्ध हुआ, यह तो ऊर्ध्व पर्याय हो गयी। तिरछा असंख्य प्रदेश का एकत्रपना नहीं रहा। समझ में आया ? समझ में आवे उतना समझना। अब यह अन्तिम थोड़ी कठिन बात है।

मुमुक्षु : आचार्यों ने क्या कहा कि अप्रदेशी है और उत्पाद-व्यय-ध्रुव अर्थ है। अर्थ अर्थात् पदार्थ। उसके उत्पाद-व्यय-ध्रुव होते हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : उसका अर्थ क्या हुआ ? उसका अर्थ क्या हुआ परन्तु ?

मुमुक्षु : अर्थ अर्थात् पदार्थ...

पूज्य गुरुदेवश्री : प्रदेश सिद्ध हुआ, उसमें प्रदेश सिद्ध हुआ। उत्पाद-व्यय और ध्रुववाला एक प्रदेशी द्रव्य सिद्ध हुआ, क्योंकि जितने में उसकी पर्याय है, उतने में उतना द्रव्य है। एक समय में जब यहाँ पर्याय सिद्ध हुई तो सारे द्रव्य की पर्याय की सिद्धि उस देश में हो जाती है तो विरोध आता है, वह असंख्य प्रदेशी द्रव्य सिद्ध नहीं होता — एक बात।

दूसरी बात कि जब ऐसे असंख्य प्रदेशी द्रव्य माने तो... यहाँ तो काल की व्याख्या है... तो एक समय का माप यहाँ आया, दूसरे समय दूसरे प्रदेश में एक समय का माप आया

— ऐसा आता है। ऐसा आता है, (इसलिए पूरे द्रव्य में पर्याय होती है) — ऐसा नहीं आया है। समझ में आया? समझ में आता है या नहीं? यह लॉजिक से तो बात चलती है। एल.एल.बी. वकील की डिग्रियाँ लगाने (को) पढ़ते हैं या नहीं? कहो, समझ में आया?

एक प्रदेशी द्रव्य है, यह (बात) यथार्थ है। इसमें से तू प्रदेश है; इसलिए बहुत प्रदेशी को एक द्रव्य मानना — ऐसा तू कहता हो तो उसमें दो (प्रकार का) विरोध आता है। पूरे द्रव्य की पर्याय एकदेश में सिद्ध हो जाती है। पूरा द्रव्य असंख्यप्रदेशी द्रव्य है, उसमें यदि तू कहे तो एकदेश में उसकी पर्याय सिद्ध होती है। यह विरोध आता है और एक प्रदेश में एक पर्याय सिद्ध हुई, दूसरे प्रदेश में दूसरी पर्याय सिद्ध हुई, काल का समय वहाँ सिद्ध होता है। इस प्रकार असंख्य प्रदेशी सिद्ध नहीं होता। आहा...हा...! इसलिए तिर्यक्‌प्रचय माननेवाले को ऊर्ध्वप्रचय सिद्ध हो जाता है। इसलिए वह तिर्यक्‌प्रचय है नहीं, असंख्य प्रदेशी द्रव्य नहीं। अब, ऐसा तो कहा फिर क्या। असमाधान (रहे)?

तिर्यक्‌प्रचय को.... अर्थात् ऐसे आड़े असंख्य प्रदेश के समूह को **ऊर्ध्वप्रचयपने का प्रसंग आता है। वह इस प्रकार है कि - प्रथम, कालद्रव्य एक प्रदेश से वर्ते, फिर दूसरे प्रदेश से वर्ते....** दूसरा समय है न? तो वह तो ऊर्ध्व पर्याय हो गयी। इस प्रकार प्रदेश वर्ते — ऐसा न हुआ (अर्थात्) ऐसे तिरछे प्रदेश होकर एक समय की पर्याय वर्ती ऐसा नहीं हुआ। असंख्य प्रदेश में वर्त कर एक समय की पर्याय वर्ती — ऐसा नहीं हुआ। एक प्रदेश में एक पर्याय वर्ती, दूसरे समय में दूसरा, तीसरे समय में तीसरा (पर्याय वर्ती हुआ) यह तो ऊर्ध्व पर्याय हुई। यह तिर्यक्‌प्रचयपना असंख्य प्रदेश का समूहपना नहीं रहा। पर्याय का समूहपना ऐसा (ऊर्ध्वरूप) रहा। समझ में आया? ऐसा तो कभी नहीं आया होगा। भाई!

यह फिर कहेंगे कि छह द्रव्य में जीव आ जाता है। छह द्रव्य की सिद्धि में जीव आ जाता है परन्तु वह जीव स्वयं ज्ञेय भी है और ज्ञान भी है। आहा...हा...! ऐसी चीज का ज्ञानपर्याय में उसका ज्ञान हो — ऐसी ताकतवाला (जीव) है। समझ में आया? यह छह द्रव्य (कहे तो वह) स्वयं भी उसमें आ गया। यह छह द्रव्य के प्रदेश, उनकी शक्तियाँ-गुण, इसकी पर्यायें — ये सब ज्ञेय हैं। इस ज्ञान की पर्याय में यह विचार करे तो उसे

ज्ञानपर्याय में यह सब ज्ञेय ज्ञानरूप से ज्ञात हो जाते हैं। आहा...हा...! जैसे कि भूतकाल (जिसकी कि) आदि नहीं — ऐसा भी ज्ञान की पर्याय में ज्ञात हो गया न? समझ में आया? ऐसे एक प्रदेशी कालद्रव्य है, उसमें अनन्त गुण हैं और उतने ही क्षेत्र में उसकी पर्याय है — ऐसा ज्ञान की पर्याय ने कालद्रव्य को जाना। कालद्रव्य को कहाँ (स्वयं को) जानता था? समझ में आया?

इस वर्तमान ज्ञान की पर्याय में ऐसे छह द्रव्यों की शक्तियाँ-गुण आदि रहित और क्षेत्र भी आदि रहित, अन्त रहित, और उसके गुण भी अन्तरहित; क्षेत्र भले ही इतने में ऐसा आ जाये परन्तु उसकी संख्या को अन्त नहीं है — ऐसा ज्ञान की पर्याय में स्वयं भी ज्ञेय होता है और ज्ञान पर्याय उसका ज्ञान करती है। आहा...हा...! पर का-ज्ञेय का ज्ञान करती है और अपने द्रव्य-गुण के ज्ञेय का ज्ञान करती है और वर्तमान पर्याय का-ज्ञेय का ज्ञान करती है।

यह ज्ञान की पर्याय जिसकी है, उसमें झुकी तो उस ज्ञान की पर्याय में यह सब ज्ञेय... जाननेवाली जो ज्ञान की पर्याय थी वह ज्ञान की पर्याय भी उसके ज्ञान की पर्याय में जानने में आ गयी। आहा...हा...! ओहो...हो...! दिगम्बर सन्तों ने परम सत्य को प्रकाशित रखा है, जैसा था वैसा उन्होंने रखा और जाना है।

तिर्यक्प्रचय को ऊर्ध्वप्रचयपने का.... अर्थात्? तिरछे समूह को ऊर्ध्व समूह का प्रसंग आता है। एक समय के बाद दूसरा समय होता है न? **प्रथम, कालद्रव्य एक प्रदेश से वर्ते, फिर दूसरे प्रदेश से वर्ते और फिर अन्य प्रदेश से वर्ते....** समय का माप तो एक प्रदेश में आ जाता है। **इस प्रकार तिर्यक्प्रचय, ऊर्ध्वप्रचय बनकर....** अर्थात् तिरछे समूह का सिद्धपना न होने से ऊर्ध्व समूह बनकर **द्रव्य को प्रदेशमात्र स्थापित करता है।....** वस्तु को एक ही प्रदेश है — ऐसा सिद्ध करता है। यह तो जरा कसौटी का (विषय) है।

(अर्थात् तिर्यक्प्रचय ही ऊर्ध्वप्रचय है, ऐसा मानने का प्रसंग आता है, इसलिए द्रव्यप्रदेशमात्र ही सिद्ध होता है।) इसलिए तिर्यक्प्रचय को ऊर्ध्वप्रचयपना न मानने (चाहने) वाले को प्रथम ही कालद्रव्य को प्रदेशमात्र निश्चित करना

चाहिए। क्योंकि एक प्रदेशमात्र में ही उस द्रव्य की पर्याय उतने काल में-एक समय में सिद्ध हुई। दूसरे समय में वह-वह कालद्रव्य है, वहाँ-वहाँ उस समय की पर्याय सिद्ध हुई। तीसरे काल में उस समय की वह पर्याय (सिद्ध हुई)। एक समय है परन्तु लक्ष्य जाने पर वह कालद्रव्य दूसरे वर्ते तो एक समय (सिद्ध होता है)। तीसरे वर्ते तो एक समय ऐसे करते हुए ऊर्ध्वप्रचय सिद्ध हो गया अर्थात् बहुत प्रदेश तिरछे हैं — ऐसा वहाँ सिद्ध नहीं हुआ। भाई! (तुम्हारे) लोहे से यह बात अलग है। लो, यह बात पूरी हो गयी। यह थोड़ी कठिन थी।

फिर से — एक प्रदेश (मात्र) वस्तु में उत्पाद-व्यय-ध्रुव सिद्ध होते हैं। क्योंकि वहाँ समय का माप लेना है न? यहाँ कहीं क्षेत्र का माप नहीं (कहना)। समय का माप जो पर्याय को एक ही प्रदेश में वहाँ सिद्ध हो जाती है। उत्पाद और व्यय एक समय में और उसका आधार ध्रुव एक प्रदेशी वहाँ सिद्ध हो जाता है।

प्रश्न : माप आ गया?

समाधान : माप आ गया। वहाँ जितने क्षेत्र में पर्याय है, उतने ही क्षेत्र में द्रव्य है, अब उसे यदि असंख्य प्रदेशी द्रव्य मानो तो उसके एकदेश भाग में उसकी पर्याय सिद्ध होने पर सर्वदेश में सिद्ध (नहीं होने से) यह बात विरोध प्राप्त हो गयी। समझ में आया? सर्वदेश में वह पर्याय सिद्ध होनी चाहिए। यदि उसे तिर्यक् असंख्यप्रदेशी मानो तो उसके एक भाग में उसकी पर्याय सिद्ध हो गयी, इसलिए सर्व असंख्यप्रदेशी का विरोध आता है।

दूसरा, एक समय में एक कालद्रव्य की एक समय की पर्याय (होती है) वह का वही कालद्रव्य दूसरे समय में (दूसरे प्रदेश में) जाये तो वहाँ दूसरा समय सिद्ध होता है (इस प्रकार) वहाँ समय सिद्ध होता है। वहाँ प्रदेश साथ में सिद्ध होते हैं — ऐसा नहीं है। समझ में आया? यह तो पर्यायों का समूह सिद्ध होता है। क्षेत्र के प्रदेश का समूह सिद्ध नहीं होता। भाई! ऐसा किसी दिन सुना नहीं होगा जिन्दगी में! (यह) कहाँ था? आहा...हा...! सन्तों को करुणा से द्रव्य की सिद्धि करने का विकल्प उत्पन्न हुआ। ओ...हो...!

यह छह द्रव्य जितने हैं, उनके अनन्त गुण, उनकी अनन्त पर्यायों का अस्तित्व ज्ञेयरूप से है तो आत्मा ज्ञेय भी है और उनका जाननेवाला ज्ञान भी है। इस ज्ञान की पर्याय

में ऐसे अनन्त द्रव्य-गुण-पर्याय का ज्ञान आ जाता है। एक समय में! और ऐसे-ऐसे अनन्त पर्यायों का समूह जो गुण और ऐसे अनन्त गुण की (एकरूप) एक वस्तु का पर्याय में ज्ञान (आ जाता है)। पर्याय, द्रव्य में मिले बिना उसके अस्तित्व में इतना सब अस्तित्व का ज्ञान आ जाता है — ऐसा उसका स्वभाव है! समझ में आया? आहा...हा...! महिमा है ज्ञान की! ज्ञेय बताकर ज्ञान की महिमा कहना है।

(इस प्रकार ज्ञेयतत्त्वप्रज्ञापन में द्रव्यविशेषप्रज्ञापन....) सामान्य (वस्तु का वर्णन) १२६ (गाथा) तक आया था। इस १८ गाथा में विशेष (द्रव्य का वर्णन) आया।

अब, इस प्रकार ज्ञेयतत्व कहकर, ज्ञान और ज्ञेय के विभाग द्वारा आत्मा को निश्चित करते हुए,.... ज्ञेय भी स्वयं और ज्ञान भी स्वयं; दूसरे ज्ञेयों का ज्ञान करनेवाला और अपने ज्ञेय का भी स्वयं ज्ञान करनेवाला। आहा...हा...! **आत्मा को अत्यन्त विभक्त (भिन्न) करने के लिए व्यवहारजीवत्व के हेतु का विचार करते हैं।** लो!

१४४ (गाथा की जयसेनाचार्यदेव की) टीका में है। '**अत्रातीतानन्तकाले ये केचन सिद्धसुखभाजनं जाताः....**' अतीत — विगत काल में अनन्त काल में जो कोई सिद्ध सुख के भाजन हुए.... आहा...हा...! अतीन्द्रिय आनन्द को प्राप्त हुए... गुजराती में (संस्कृत टीका दी है) हिन्दी में नहीं। **केचन सिद्ध-सुखभाजनं जाताः,....** अतीत अनन्त काल में **भाविकाले च 'आत्मोपादानसिद्धं स्वयमतिशयवद्' इत्यादि....** है न? '**विशेषणविशिष्टसिद्धसुखस्य भाजनं भविष्यन्ति....**' (अर्थात्) भविष्य में भी परमानन्द की प्राप्तिरूपी सुख के भाजन होंगे '**सर्वेऽपि काललब्धिवशेनैव।**' वे सब काललब्धि के वश से '**तथापि तत्र निजपरमात्मोपादेयरुचिरूपं वीतरागचारित्रा - विनाभूतं....**' इसमें से निश्चय समकित निकालते हैं। ऐसा (कहते हैं कि) वीतराग चारित्र हो वहीं निश्चय समकित होता है — ऐसा इसमें से निकालते हैं। यहाँ तो वहाँ वीतराग चारित्रसहित समकित है, वह मोक्ष का कारण है — ऐसा सिद्ध करना है।

निज परमात्मा भगवान आत्मा! पूर्ण स्वभाववाला — ऐसा परमात्मा '**उपादेयरुचि**' (अर्थात्) उसकी उपादेयरूप रुचि। देखो! यहाँ तो सम्यग्दर्शन कहा है। उपादेयरूप, रुचिरूप (कहा है) '**वीतरागचारित्राविनाभूतं**' अन्दर फिर चारित्र लेना है न? वीतराग

चारित्र के साथ का जो निश्चय समकित '**तस्यैव मुख्यत्वं,....**' उसका मुख्य है। काल का मुख्य नहीं है। यहाँ कहते हैं कि काल को सिद्ध किया (कि) निमित्त हो (भले) परन्तु मोक्ष के अभिलाषी को काल के सन्मुख नहीं देखना। समझ में आया? और निमित्त के सन्मुख नहीं देखना — ऐसा कहते हैं। सहकारी (भले ही) हो परन्तु उसे उसके सन्मुख नहीं देखना, उसे तो यहाँ भगवान के सन्मुख देखना है।

निज परमात्मा पूर्ण आनन्द और पूर्ण स्वभाव! निज परमात्मा (कहा) न? वापस दूसरे परमात्मा नहीं और निज परमात्मा अर्थात् पूरा द्रव्य। निज परमात्मा उपादेयरुचि (अर्थात्) वही आदरणीय है, वही ग्रहण करने योग्य है, वही अनुभव करने योग्य है — ऐसा जो निज परमात्मा, उसकी रुचिरूप वीतरागचारित्र अर्थात् रागरहित स्थिरता, उस सहित का जो सम्यग्दर्शन, उसकी मुख्यता है; पर के सन्मुख देखने की मुख्यता नहीं है — ऐसा कहते हैं। आहा...हा...! यह तो वीर के काम हैं, बापू! भगवान पूर्णानन्द का नाथ, जिसकी ज्ञान की पर्याय में उपादेयरूप होता है, उससे वीतरागचारित्र और निश्चयसम्यग्दर्शन (प्रगट होता है और) उससे उसकी मुक्ति होती है। इसलिए काल को भले ही सहकारी निमित्त कहा परन्तु उस सहकारी निमित्त के सन्मुख इसे देखना नहीं है। यहाँ उपादान को उपादेय करके बैठा, वहाँ वह निमित्त हो। समझ में आया?

निश्चय समकित, वीतरागचारित्र हो वहीं होता है — ऐसा यहाँ सिद्ध नहीं करना है परन्तु यहाँ तो वीतरागचारित्रवाला जहाँ हो गया, वहाँ भी समकित है, वह मोक्ष का कारण है - ऐसा कहना है। वरना निश्चय समकित तो चौथे (गुणस्थान से) होता है। यहाँ तो मुक्ति का कारण एकदम लेना है न? तो वीतरागचारित्रसहित का जो समकित-ऐसा (कहा है) आहा...हा...! रुचि है न? पूर्णानन्द की रुचिरूप कहना है न? ऐसा समकित भी वीतरागचारित्र के साथ (होता है), वह मोक्ष का कारण होता है। आहा...हा...!

उसमें भी ऐसा लिया न? कलश-टीका! काललब्धिवश (पाता है), सहज नहीं। वह तो काल की अपेक्षा सिद्ध की परन्तु उसे कहीं उसके सन्मुख देखना नहीं है। काललब्धि से पर्याय प्राप्त होती है, उसका ज्ञान भी स्व के सन्मुख हुए बिना उसका सच्चा ज्ञान होगा कहाँ से? बात धार लेना है? इस काललब्धि का ज्ञान तब ही इसे सच्चा होता

है। स्वभावसन्मुख हुआ पूर्ण परमात्मा-पूर्ण शुद्ध द्रव्य को (ज्ञान में ज्ञेय बनाया, उसे काललब्धि का सच्चा ज्ञान होता है)। उसके साथ वीतरागचारित्र होता है, वह मुक्ति का कारण है — ऐसा कहना है। तब इसे काललब्धि का सच्चा ज्ञान होता है और उसी समय वह भाव होना था — ऐसी भवितव्यता का भान भी तब ही होता है। उसी समय स्वभाव -सन्मुख हुआ है तो स्वभाव भी साथ में आ गया। पुरुषार्थ आ गया, काललब्धि, भवितव्यता (आ गयी), उसी समय उस प्रकार के कर्म के निमित्त का अभाव है। कर्म के निमित्त का अभाव (हुआ), वह कारण हुआ; इसलिए यहाँ मोक्ष हुआ — ऐसा नहीं है। कहा न ? प्रतिबद्ध कारण का अभाव होता है, तब राग मिटता है — यहाँ ऐसा नहीं है। पूर्णानन्द के नाथ का (आश्रय) उपादेयरूप से करने पर राग की उत्पत्ति नहीं होती। वीतराग चारित्र है, तब प्रतिबद्ध कारण का वहाँ अभाव उसके कारण (होता है)। इसमें ऐसा किया इसलिए इसे प्रतिबद्ध होना पड़ा — ऐसा नहीं है। आहा...हा... ! ऐसी वस्तु की स्थिति ! वीतराग-सर्वज्ञ परमेश्वर के अतिरिक्त यह बात कहीं (नहीं है)। कड़ी से कड़ी बैठ जाये — यह तो ऐसी चीज है। ●

ऐसी सामर्थ्य प्रत्येक आत्मा में विद्यमान है

अरे! सम्पूर्ण जीवन विषय-कषाय में बिताया, शरीर की सेवा में जीवन बिताया और आत्मा की दरकार किये बिना जीवन को धूलधानी कर दिया; तथापि यदि वर्तमान में उस रुचि को बदलकर आत्मा की रुचि करे तो यह समझा जा सकता है और अपूर्व कल्याण होता है। आठ-आठ वर्ष की सम्यग्दृष्टि कुँवरियाँ / लड़कियाँ भी अपने पूर्ण आत्मा को ऐसा मानती हैं कि अहो! हम तो चैतन्य हैं, अपने आत्मा को सिद्ध भगवान से किञ्चित् भी कम मानना हमको नहीं पोषाता; हम तो अपने आत्मा को परिपूर्ण ही स्वीकार करते हैं। अन्तर स्वभाव के अवलोकन तरफ झुकने पर आठ वर्ष की बालिका को भी ऐसा आत्मभान होता है; इसलिए हमें यह नहीं समझ में आ सकता — ऐसा नहीं मानना चाहिए। समस्त आत्माएँ चैतन्यस्वरूप हैं और पूरा-पूरा समझ सके — ऐसी सामर्थ्य प्रत्येक आत्मा में विद्यमान है।

- पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी

ज्ञान-ज्ञेयविभागाधिकार

गाथा - १४५

अथैवं ज्ञेयतत्त्वमुक्त्वा ज्ञानज्ञेयविभागेनात्मानं निश्चिन्वन्नात्मनोऽत्यन्तविभक्तत्वाय व्यवहार-जीवत्वहेतुमालोचयति -

सपदेसेहिं समग्गो लोगो अट्ठेहिं णिट्ठिदो णिच्चो।
जो तं जाणदि जीवो पाणचदुक्काभिसंबद्धो।।१४५।।

सप्रदेशैः समग्रो लोकोऽर्थैर्निष्ठितो नित्यः।
यस्तं जानादि जीवः प्राणचतुष्काभिसम्बद्धः।।१४५।।

एवमाकाशपदार्थादाकालपदार्थाच्च समस्तैरेव संभावितप्रदेशसद्भावैः पदार्थैः समग्र एव यः समाप्तिं नीदो लोकस्तं खलु तदन्तःपातित्वेऽप्यचिन्त्यस्वपरपरिच्छेदशक्तिसंपदा जीव एव जानीते, नत्वितरः। एवं शेषद्रव्याणि ज्ञेयमेव, जीवद्रव्यं तु ज्ञेयम ज्ञानं चेति ज्ञान-ज्ञेयविभागः। अथास्य जीवस्य सहजविजृंभितानन्तज्ञानशक्तिहेतुके त्रिसमयावस्थायित्वलक्षणे वस्तुस्वरूपभूततया सर्वदानपायिनि निश्चयजीवत्वे सत्यपि संसारावस्थायामनादिप्रवाहप्रवृत्त-पुद्गलसंश्लेषदूषितात्मतया प्राणचतुष्काभिसंबद्धत्वं व्यवहारजीवत्वहेतुर्विभक्तव्योऽस्ति।।१४५।।

एवं निश्चयकालव्याख्यानमुख्यत्वेनाष्टमस्थलेगाथात्रयं गतम्। इति पूर्वोक्तप्रकारेण 'दव्वं जीवमजीवं' इत्याद्येकोनविंशतिगाथाभिः स्थलाष्टकेन **विशेषज्ञेयाधिकारः** समाप्तः।। अतः परं शुद्धजीवस्य द्रव्यभावप्राणैः सह भेदनिमित्तं 'सपदेसेहिं समग्गो' इत्यादि यथाक्रमेण गाथाष्टक-पर्यन्तं सामान्यभेदभावानाव्याख्यानं करोति। तद्यथा। अथ ज्ञानज्ञेयज्ञापनार्थं तथैवात्मनः प्राण-चतुष्केन सह भेदभावनार्थं वा सूत्रमिदं प्रतिपादयति - **लोगो** लोको भवति। कथंभूतः। **णिट्ठिदो** निष्ठितः समाप्तिं नीतो भूतो वा। कैः कर्तृभूतैः। **अट्ठेहिं** सहजशुद्धबुद्धैकस्वभावो योऽसौ परमात्म-

पदार्थस्तत्प्रभृतयो येऽर्थास्तैः। पुनरपि किंविशिष्टः। **सपदेसेहिं समग्गो** स्वकीयप्रदेशैः समग्रः परिपूर्णः। अथवा पदार्थैः। कथंभूतैः। सप्रदेशैः प्रदेशसहितैः। पुनरपि किंविशिष्टो लोकः। **णिच्चो** द्रव्यार्थिकनयेन नित्यः लोकाकाशापेक्षया वा। अथवा नित्यो, न केनापि पुरुषविशेषेण कृतः। **जो तं जाणदि** यः कर्ता तं ज्ञेयभूतं लोकं जानाति **जीवो** स जीवपदार्थो भवति। एतावता किमुक्तं भवति। योऽसौ विशुद्धज्ञानदर्शनस्वभावो जीवः स ज्ञानं ज्ञेयश्च भण्यते। शेषपदार्थास्तु ज्ञेया एवेति ज्ञातृज्ञेयविभागः। पुनरपि किंविशिष्टो जीवः। **पाणचदुक्केण संबद्धो** यद्यपि निश्चयेन स्वतःसिद्धपरमचैतन्यस्वभावेन निश्चयप्राणेन जीवति तथापि व्यवहारेणानादिकर्मबन्ध-वशादायुराद्यशुद्धप्राणचतुष्केनापि संबद्धः सन् जीवति। तच्च शुद्धनयेन जीवस्वरूपं न भवतीति भेदभावना ज्ञातव्येत्यभिप्रायः।।१४५।।

अब, इस प्रकार ज्ञेयतत्व कहकर, ज्ञान और ज्ञेय के विभाग द्वारा आत्मा को निश्चित करते हुए, आत्मा को अत्यन्त विभक्त (भिन्न) करने के लिए व्यवहारजीवत्व के हेतु का विचार करते हैं —

सप्रदेशी अर्थ निष्ठित, सम्पूर्ण लोक जु नित्य है।
ज्ञाता उसका जीव है, जो चार प्राण संयुक्त है॥

अन्वयार्थ - [**सप्रदेशैः अर्थैः**] सप्रदेश पदार्थों के द्वारा [**निष्ठितः**] समाप्ति को प्राप्त[१] [**समग्रः लोकः**] सम्पूर्ण लोक [**नित्यः**] नित्य है, [**तं**] उसे [**यः जानाति**] जो जानता है [**जीवः**] वह जीव है, — [**प्राणचतुष्काभिसंबद्धः**] जो कि (संसार दशा में) चार प्राणों से संयुक्त है।

टीका - इस प्रकार जिन्हें प्रदेश का सद्भाव फलित हुआ है, ऐसे आकाशपदार्थ से लेकर कालपदार्थ तक के सभी पदार्थों से समाप्ति को प्राप्त जो समस्त लोक है, उसे वास्तव में, उसमें अन्तःपाती[२] होने पर भी, अचिन्त्य ऐसी स्वपर को जानने की शक्तिरूप सम्पदा के द्वारा जीव ही जानता है, दूसरा कोई नहीं। इस प्रकार शेष द्रव्य ज्ञेय ही हैं और जीवद्रव्य तो ज्ञेय तथा ज्ञान है — इस प्रकार ज्ञान और ज्ञेय का विभाग है।

अब, इस जीव को, सहजरूप से (स्वभाव से ही) प्रगट अनन्ताानशक्ति जिसका

---

१. छह द्रव्यों से ही सम्पूर्ण लोक समाप्त हो जाता है, अर्थात् उनके अतिरिक्त लोक में दूसरा कुछ नहीं है।
२. अंतःपाती = अन्दर आ जानेवाला; अन्दर समा जानेवाला (-जीव लोक के भीतर आ जाता है)

हेतु है और तीनों काल में अवस्थायिपना (टिकना) जिसका लक्षण है ऐसा, वस्तु का स्वरूपभूत होने से सर्वदा अविनाशी निश्चयजीवत्व होने पर, संसारावस्था में अनादि -प्रवाहरूप से प्रवर्तमान पुद्गल संश्लेष के द्वारा स्वयं दूषित होने से उसके चार प्राणों से संयुक्तपना है — जो कि (संयुक्तपना) व्यवहारजीवत्व का हेतु है, और विभक्त करने योग्य है।

भावार्थ - षट्द्रव्यों का समुदाय वह लोक है। जीव उसे (अपनी) अचिन्त्य ज्ञानशक्ति से जानता है; इसलिए जीव के अतिरिक्त शेष द्रव्य ज्ञेय हैं और जीव ज्ञान तथा ज्ञेय है। उस जीव को वस्तु के स्वरूपभूत होने से जो कभी नष्ट नहीं होता, ऐसा निश्चय-जीवत्व सदा ही है। उस निश्चयजीवत्व का कारण स्वाभाविक अनन्तज्ञानशक्ति है। ऐसा निश्चयजीवत्व जीव के सदा होने पर भी वह, संसारदशा में स्वयं पुद्गल के संबंध से दूषित होने से चार प्राणों से संयुक्त है, और इसलिए उसके व्यवहारजीवत्व भी है। उस व्यवहारजीवत्व को कारणरूप जो चार प्राणों से संयुक्तपना उससे जीव को भिन्न करना चाहिए॥१४५॥

प्रवचन नं. १५७ का शेष ज्येष्ठ कृष्ण १० गुरुवार, ०७ जुलाई १९७५

अब, १४५ (गाथा)

सपदेसेहिं समग्गो लोगो अट्ठेहिं णिट्ठिदो णिच्चो।
जो तं जाणदि जीवो पाणचदुक्काभिसंबद्धो।।१४५।।
सप्रदेशी अर्थ निष्ठित, सम्पूर्ण लोक जु नित्य है।
ज्ञाता उसका जीव है, जो चार प्राण संयुक्त है॥

'ज्ञाता उसका जीव है,' यहाँ वजन है। **अट्ठेहि** शब्द है न ? (जयसेनाचार्यदेव की) संस्कृत (टीका में) **सहजशुद्धबुद्धैकस्वभावो योऽसौ परमात्मपदार्थस्तत्प्रभृतयो येऽर्थास्तैः।** इससे लेकर सभी अर्थ, पदार्थ हैं। भगवान सहज शुद्ध बुद्ध एक स्वभाव स्वाभाविक अनादि सहज स्वभाव! शुद्ध-पवित्र, बुद्ध पिण्ड एक स्वभाव! **परमात्मपदार्थ -स्तत्प्रभृतयो,** लो!

गुजराती टीका। **टीका - इस प्रकार जिन्हें प्रदेश का सद्भाव फलित हुआ है, ऐसे आकाशपदार्थ से लेकर काल पदार्थ तक के सभी पदार्थों....** सबको प्रदेश है — ऐसा कहना है। प्रदेश न हो तो वह वस्तु शून्य होगी। **से समाप्ति को प्राप्त जो समस्त लोक है, उसे वास्तव में, उसमें अन्तःपाती होने पर भी,....** ओहो...हो...! (अन्तःपाती अर्थात्) अन्दर आ जानेवाला। भगवान-जीव लोक के अन्दर आ जाता है। जीव लोक के अन्दर आ जाता है। आहा...हा...! 'लोकयन्ते इति लोकः' इसमें जीव भी 'लोकयन्ते इति' दूसरे सब पदार्थ भी इसमें आ जाते हैं। आ...हा...!

उसे वास्तव में, उसमें अन्तःपाती होने पर भी, अचिन्त्य ऐसी स्व-पर को जानने की शक्तिरूप.... लोक में जीव आ जाता है, तथापि अचिन्त्य ऐसी स्व-पर को जानने की शक्ति उसकी विशेष है! आहा...हा...! आकाश के इतने प्रदेश और इतने से अनन्तगुणे गुण! आकाश के प्रदेश से भी उसके गुण अनन्त गुणे हैं! नहीं? आकाश प्रदेश है, उसके प्रदेश जो अनन्त हैं, अन्त नहीं, उससे भी उसके गुण अनन्तगुणे हैं!! ऐसा उसे पता नहीं है, अनन्त गुण हैं। अनादि अनन्त गुण अनन्त हैं। अपेक्षित धर्म हैं वह अलग बात है। गुण ही अनन्तगुणे हैं, सामान्य और विशेष अनन्त गुण हैं। कहा नहीं? परमात्मप्रकाश! प्रत्येक द्रव्य में सामान्य-विशेष अनन्त गुण हैं। अपेक्षित धर्म वह अलग चीज है। यह तो गुण इसमें सदा हैं। आहा...हा...!

अन्तःपाती होने पर भी,.... (अर्थात्) जीव लोक में आ गया होने पर भी, **अचिन्त्य ऐसी स्व-पर को जानने की शक्तिरूप....** आहा...हा...! ऐसे आकाश प्रदेश अनन्त हैं, उससे अनन्तगुने गुण हैं। काल (के) एक प्रदेश में पर्याय-प्राप्ति होती है, इससे वह एक प्रदेशी द्रव्य उतने में है — ऐसे-ऐसे असंख्य कालाणु हैं; धर्मास्ति असंख्य प्रदेशी एक द्रव्य है; अधर्मास्ति असंख्य प्रदेशी एक द्रव्य है; जीव असंख्य प्रदेशी एक (द्रव्य है) — ऐसे अनन्त जीवद्रव्य हैं। इन सबको स्व और पर को जानने की **शक्तिरूप सम्पदा....** आहा...हा...! यह उसकी सम्पदा है। **स्वपर को जानने की शक्तिरूप सम्पदा के द्वारा जीव ही जानता है,....** जो अपनी सम्पदा के द्वारा जानता है।

कहो, इस पैसे की-धूल की सम्पदा को भी जीव की ज्ञान-सम्पदा द्वारा जानता है

— ऐसा कहते हैं। जानता है। अनन्त परमाणुओं के स्कन्धरूप लक्ष्मी है, यह है, यह है, एक-एक परमाणु में अनन्तगुने गुण हैं (आदि)। उसकी सभी स्व-पर को जानने की सम्पदा द्वारा वह ज्ञात होता है। उसकी (पुद्गल की) उसे (स्वयं को) कहाँ खबर है? आहा...हा...! परमाणु आदि पाँच द्रव्य की स्थिति का वर्णन किया कि एक प्रदेशी, असंख्य प्रदेशी और अनन्त प्रदेशी, अनन्त गुण, और अनन्त पर्यायें और तिरछे तथा ऊर्ध्व (समूह)। काल को तिरछा नहीं परन्तु ऊर्ध्व (प्रवाह) है। यह सब जानने की सम्पदावाला भगवान! आहा...हा...! **स्व-पर को जानने की शक्तिरूप सम्पदा के द्वारा जीव ही जानता है,....** जीव में ही वह जानने की ताकत है। स्व-पर की पूर्ण स्थिति जानने की (ताकत) है। ऐसा कहकर इस काल का ज्ञान और यह सब (ज्ञान) करने की शक्ति आत्मा में ही है — ऐसा कहते हैं। समझ में आया?

सर्वव्यापी आकाश और उसके अनन्त गुण, उन्हें जानने की सम्पदावाला आत्मा है। उन्हें जाननेवाली सम्पदावाला आत्मा है। उसे किसी को करनेवाला या बनानेवाला या उसका कुछ करनेवाला आत्मा नहीं है तथा वे हैं इसलिए ज्ञान की सम्पदा इतनी है — ऐसा नहीं है। समझ में आया? यह स्व-पर को जानने की शक्तिरूप सम्पदा स्वयं की है। उसके द्वारा **जीव ही जानता है,....** आहा...हा...!

दूसरा कोई नहीं।.... दूसरा कोई द्रव्य नहीं जानता। आहा...हा...! यहाँ तो एक ज्ञान की शक्ति (ऐसी है)। दूसरी शक्तियाँ भी नहीं जानती। अपनी अनन्त शक्तियाँ हैं, वे भी जानने की-जो स्व-पर जानने की शक्ति वह.... आहा...हा...! जानती है। समझ में आया? आहा...हा...! इसके पिता (पैसे) छोड़ गये हों और घर की पूँजी हो और फिर बाँटने बैठे तो सब उत्साह से एकत्रित होते हैं। दो, कितने निकले? करोड़ निकले! तुम कितने लड़के हो? तो कहे चार, करो भाग! यहाँ कहते हैं, अनन्त... अनन्त... द्रव्य और गुणों की लक्ष्मी को जाननेवाला स्वयं भगवान है। यह इसे भाग में आता है। आत्मा के भाग में उसका ज्ञान आता है।

राग आदि हों, उन सबको-स्व-पर को जानने की शक्तिवाला-सम्पदावाला यह आत्मतत्त्व है, चैतन्यसूर्य है! चैतन्यसूर्य! ऐसी सम्पदावाला जीव ही जानता है। यह सब

सामान्य द्रव्य के, विशेष के भी बहुत प्रकार वर्णन किये परन्तु कहते हैं कि इन सबको जाननेवाला तो भगवान आत्मा है। आहा...हा... ! **दूसरा कोई नहीं। इस प्रकार शेष द्रव्य ज्ञेय ही हैं....** जीव के अतिरिक्त दूसरे द्रव्य जानने योग्य हैं। **और जीवद्रव्य तो ज्ञेय तथा ज्ञान है....** छह द्रव्य के ज्ञेय में वह आ गया और ज्ञान भी स्वयं है। आहा...हा... !

उसमें नहीं आया अपने ? कलश में आ गया है कि छह द्रव्य का जानना, वह ज्ञेय और आत्मा ज्ञान है — ऐसा नहीं है। यह कलश आ गया है। यह ज्ञान, यह ज्ञेय, यह ज्ञाता — ऐसे उसके तीन भेद भी, कहते हैं कि वचन से है; वस्तु तो है वह है। वह ऐसा **जीवद्रव्य तो ज्ञेय तथा ज्ञान है — इस प्रकार ज्ञान और ज्ञेय का विभाग है।** ज्ञान और ज्ञेय का भाग है। दूसरी सभी चीजें ज्ञेय हैं, आत्मा ज्ञेय और ज्ञान है — ऐसा भाग है। समझ में आया ?

आहा...हा... ! उसकी चैतन्य सम्पदा ! स्व-पर को जानने की सम्पदावाला ! यह सम्पदा इसकी है। स्त्री, पुत्र, पैसा और पाँच-पचास करोड़ या अरब (रुपये) वे ज्ञेयरूप हैं। आत्मा उसे और पर को जानने की सम्पदावाला है, बस ! यह (बाहर की) सम्पदा मेरी है — ऐसा इसमें है नहीं। चक्रवर्ती का राज, इन्द्र का इन्द्रासन, वह सब ज्ञेय है। उस ज्ञान की सम्पदा में स्व-पर को जाने — ऐसी इसकी सम्पदा है। इन्द्र की सम्पदायें और चक्रवर्ती की सम्पदा तो ज्ञेयरूप है। आत्मा उसका जाननेवाला और स्वयं को जाननेवाला-ज्ञेय और ज्ञानरूप से है। यह सम्पदा मेरी है — ऐसा उसमें कहीं है नहीं। आहा...हा... ! यह कर्म भी ज्ञेय में जाते हैं न ? सब लोक में आया न ? यह सब आ गया न ? कर्म, कार्मणशरीर, तैजसशरीर, प्रकृतियाँ (आदि) सब ज्ञेय है और आत्मा उसका जाननेवाला तथा स्वयं ज्ञेय है — दो है। आहा...हा... ! यह प्रकृति और कर्म को जानने पर भी वह प्रकृति इसकी है — ऐसा (नहीं है)। इसकी तो स्व-पर को जानने की सम्पदा है, वह इसकी है। समझ में आया ? कर्म आठ और उसके यह प्रकार और उसकी यह सत्ता और अमुक....

मुमुक्षु : जैनधर्म तो कर्म की बात करता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : कर्म की बात नहीं, यहाँ तो ज्ञान की बात है। ज्ञायकस्वभाव वह जैनधर्म है। आहा...हा... !

जो परवस्तु है, वह ज्ञेयरूप से है ? किसका (ज्ञेय) ? ज्ञान का। वह ज्ञान के ज्ञेयरूप है परन्तु 'पर मेरा' इस रूप से कुछ नहीं है। आहा...हा... ! वास्तव में जो यह शुभभाव है, वह भी ज्ञेयरूप है। यह स्व-पर की सम्पदा उसे जाने — ऐसी सम्पदावाला (आत्मा) है। इस शुभभाव से धर्म का कुछ लाभ हो — ऐसी वह चीज नहीं है। आहा...हा... ! यह बड़ा विवाद-पूजा में ऐसा होता है और अमुक में ऐसा होता है.... पढ़ा या नहीं तुमने ? आहा...हा... ! भाई ! यह सब तो ज्ञेय में जाता है और इस लोक में—ज्ञेय में जीव भी साथ आ गया। अन्त:पाती (कहा न) ? परन्तु जीव की विशेषता स्व-पर को जानने की सम्पदावाला, वह आत्मतत्त्व है। है न ?

(बाकी के द्रव्य) **ज्ञेय ही हैं और जीवद्रव्य तो ज्ञेय तथा ज्ञान है....** आहा...हा... ! इस प्रकार ज्ञान और ज्ञेय का विभाग है, अर्थात् कर्म, लक्ष्मी, शरीर, इज्जत — कीर्ति यह सब ज्ञेय है और आत्मा उसका ज्ञान करनेवाला, वह ज्ञान है तथा उस ज्ञान का स्वयं ही ज्ञेय है। आहा...हा... ! कहो भाई ! ऐसा है। स्व-पर को जानने की सम्पदावाला है और इसके साथ स्व-पर को जानना (होता है); वह पर की अपेक्षा बिना इसकी सम्पदा है। पर की अपेक्षा है इसलिए स्व-पर को जानता है ऐसा नहीं है। स्व-पर को जानने का स्वभाव स्वत: पर की अपेक्षा बिना है। इसलिए आनन्ददायक इसका स्वभाव है। आहा...हा... ! स्व-पर को जानने की सम्पदा का भान होने पर अतीन्द्रिय आनन्द का अन्दर भान होता है, वेदन होता है। तब इसने जीव को स्व-पर जानने की सम्पदावाला है — ऐसा जाना और माना कहा जाता है। आहा...हा... ! समझ में आया ?

अब, इस जीव को, सहजरूप से (स्वभाव से ही) प्रगट अनन्तज्ञानशक्ति जिसका हेतु है.... अनन्तज्ञानशक्ति ! उसका निश्चय जीवत्व पहले सिद्ध करते हैं। **इस जीव को, सहजरूप से....** (अर्थात्) स्वाभाविक प्रगट **(स्वभाव से ही) प्रगट अनन्तज्ञानशक्ति जिसका हेतु है और तीनों काल में अवस्थायिपना (टिकना) जिसका लक्षण है....** आहा...हा... !

प्रश्न : अनन्तज्ञानशक्ति अर्थात् क्या ?

समाधान : अनन्तज्ञानस्वभाव। इसका स्वभाव है, इसका जीवत्व यह है — ऐसा कहते हैं।

अनन्तज्ञानशक्ति जिसका हेतु है और तीनों काल में अवस्थायिपना (टिकना) जिसका लक्षण है ऐसा, वस्तु का स्वरूपभूत होने से.... वस्तु का स्वरूपभूत.... स्वरूपभूत होने से **सर्वदा अविनाशी निश्चयजीवत्व....** सर्वथा निश्चयजीवत्व! यह इसका निश्चय जीवत्व है, लो ठीक! जीओ और जीने दो यह... लगाया! अभी तो कहीं आया था। यही माला लगाते हैं।

यहाँ तो कहते हैं कि निश्चयजीवत्व यह है। जीव का निश्चय / वास्तविक / स्वाभाविक चैतन्य के भाव प्राणस्वरूप अर्थात् अनन्तज्ञानशक्ति है, उसका हेतु है (अर्थात्) जीवत्व का (हेतु है) ऐसा कहते हैं। **ऐसा, वस्तु का स्वरूपभूत होने से सर्वदा अविनाशी निश्चयजीवत्व होने पर भी....** इसका जीना और टिकना तो यह है। वस्तु की स्थिति तो यह है।

अब (कहते हैं) **होने पर भी....** देखा? यह बात पहले रखकर यह बात करते हैं। **संसारावस्था में अनादि-प्रवाहरूप से प्रवर्तमान पुद्गल संश्लेष के द्वारा....** (अर्थात्) पुद्गल के सम्बन्ध द्वारा **स्वयं दूषित होने से....** ओहो...हो...! स्वयं पुद्गल का संग किया। ऐसा उसका जीवत्व होने पर भी, उसका संग छोड़कर पुद्गल का संग किया! **स्वयं दूषित होने से.... अनादि-प्रवाहरूप से प्रवर्तमान पुद्गल संश्लेष के द्वारा स्वयं दूषित होने से....** देखा? **उसके चार प्राणों से संयुक्तपना है....** चार प्राणों से सहितपना है। **जो कि (संयुक्तपना) व्यवहारजीवत्व का हेतु है,....** उसमें आया था कि अनन्तज्ञानशक्ति जिसका हेतु अर्थात् निश्चयजीवत्व का (हेतु)। समझ में आया? और यह **व्यवहारजीवत्व का हेतु है,....** आहा...हा...! **(संयुक्तपना) व्यवहारजीवत्व का हेतु है, और विभक्त करने योग्य है।** भिन्न करने योग्य है — ऐसा कहते हैं। चार प्राण में दश प्राण आ जाते हैं। पाँच इन्द्रिय, मन-वचन-काया, आयुष्य और श्वोच्छ्वास। मन-वचन-काया एक; पाँच इन्द्रियाँ दो; और श्वाँस का एक (तथा आयुष्य का एक) — ऐसे चार। इन चार के दस हुए। मूल तो चार है।

ऐसे प्राण का व्यवहार का संयोग है, उसे विभक्त करने योग्य है - भिन्न करने योग्य है। वह इसकी चीज नहीं है। विशेष कहेंगे....

प्रवचन नं. १५८ ज्येष्ठ कृष्ण १० गुरुवार, ०३ जुलाई १९७५

प्रवचनसार ज्ञेयतत्त्व अधिकार। १४५ (गाथा का) भावार्थ। सामान्य और विशेष द्रव्य का स्वरूप कहा। **षट्द्रव्यों का समुदाय वह लोक है।** उसमें **जीव उसे (अपनी) अचिन्त्य ज्ञानशक्ति से जानता है;....** छह द्रव्यस्वरूप लोक को अचिन्त्य ज्ञानशक्ति द्वारा आत्मा जानता है। यह शक्ति आत्मा में है। **इसलिए जीव के अतिरिक्त शेष द्रव्य ज्ञेय हैं....** जीव के अतिरिक्त दूसरे सभी ज्ञात होने योग्य ज्ञेय हैं। **और जीव, ज्ञान तथा ज्ञेय है।** जीव, ज्ञान भी है और ज्ञेय भी है। जीव के अतिरिक्त दूसरे पदार्थ अकेले ज्ञेय हैं और जीवतत्त्व, ज्ञान भी है (ज्ञेय भी है)। वह ज्ञेय को जानता है — ऐसी शक्तिवाला है और स्वयं ज्ञेय भी है।

उस जीव को वस्तु के स्वरूपभूत होने से जो कभी नष्ट नहीं होता, ऐसा निश्चय-जीवत्व सदा ही है। चैतन्यप्राण से-भावस्वभाव से शुद्ध चैतन्य आनन्द और ज्ञानस्वभाव से सदा ही उसका निश्चय जीवन है। सदा ही एकरूप उसका जीवन यह है। **'स्वतः सिद्धपरमचैतन्यस्वभावेन निश्चयप्राणेन जीवति'** (जयसेनाचार्यदेव की संस्कृत टीका में) है। स्वयं आत्मा तो अपने ज्ञानस्वभाव, आनन्दस्वभाव, दर्शनस्वभाव — ऐसे स्वभाव से वह जी रहा है, टिक रहा है। **उस निश्चय जीवत्व का कारण स्वाभाविक अनन्तज्ञानशक्ति है।** ज्ञान को लिया। जीव का जीना-टिका रहना — ऐसा जो जीव का जीवत्व है, उसका कारण स्वाभाविक अनन्त ज्ञानशक्ति है। जिसका स्वभाव ही अनहद् ज्ञान स्वभाव है। इस कारण जीव का जीवन है।

ऐसा निश्चयजीवत्व जीव के सदा होने पर भी.... द्रव्यस्वभाव से तो ऐसा ही इसका जीवन लगे — ऐसा कहते हैं। पर्याय में अन्तर पड़ा है। चैतन्य भावप्राण का मूल कारण अनन्त चैतन्यशक्ति, चैतन्य का तत्त्व, चैतन्य का स्वभाव, वह जीव को जीने का-टिकने का कारण है। द्रव्यार्थिकनय से ऐसा होने पर भी **वह, संसार दशा में स्वयं पुद्गल के संबंध से दूषित होने से....** पुद्गल का संग किया। भगवान अनन्त चैतन्यशक्ति सम्पन्न — ऐसा निजस्वरूप तत्त्व, उसका जीवन और टिकना तो इस स्वरूप है परन्तु अनादि संसारदशा में पर्याय में पुद्गल का संग करने से दूषित है। आहा...हा...!

'संगएव' कलश में आता है न ? संगएव — ऐसा (समयसार) बन्ध अधिकार में आता है, उससे नहीं परन्तु उसका संग किया। ज्ञान और आनन्दप्राण का संग छोड़कर, इसने पुद्गल का संग-सम्बन्ध किया — ऐसा जो सम्बन्ध था, उसे तोड़कर (पुद्गल का सम्बन्ध किया)। सम्बन्ध था और तोड़ा — यह तो पर्याय की अपेक्षा से बात है। तोड़ा है वह अनादि है, और जीवत्व का सम्बन्ध है, वह भी अनादि है। द्रव्यस्वभाव भी अनादि का और यह पर्याय है, वह भी अनादि है।

मुमुक्षु : पूँजीवाला होने पर भी निर्धन है।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह पर्याय में निर्धन कहलाता है। वस्तु तो है। द्रव्यदृष्टि से तो त्रिकाल ज्ञायकस्वभाव से इसका जीवत्व टिक रहा है। किसी कर्म और किसी (दूसरे) कारण से वहाँ (टिका) नहीं। सहजस्वभाव ज्ञान-दर्शन-आनन्द तो इसका स्वभाव ही है। सत्व है। जीव के सत् का यह सत्व है। इस सत्व से यह जी रहा है। वस्तुदृष्टि से! परन्तु इस दृष्टि का अनादि से अभाव है, पुद्गल के संग में आने से दूषित हुआ है; किसी ने दूषित किया है — ऐसा नहीं है। है? **पुद्गल के संबंध से दूषित होने से....** आहा...हा...!

चार प्राणों से संयुक्त है,.... संक्षिप्त चार कहे न ? दस (प्राण के) चार कहे। पाँच इन्द्रिय के प्राण-एक; मन, वचन, काया, बल-दो; श्वांस का एक (और आयुष्य)ऐसे चार कहे। इन चार के फिर ये दस हुए। **चार प्राणों से संयुक्त है, और इसलिए उसके व्यवहारजीवत्व भी है।** प्राण — पुद्गल के सम्बन्ध से उत्पन्न हुआ दोष — ऐसे प्राण भी उसके हैं। व्यवहारजीवत्व (भी है)। **उस व्यवहारजीवत्व को कारणरूप....** व्यवहार प्राण का जो टिकना है, उसके कारण जो चार प्राण, उनसे संयुक्तपना-सहितपना, **उससे जीव को भिन्न करना चाहिए।** यह तात्पर्य है। लो!

कर्म के सम्बन्ध से प्राप्त हुए चार भाव अशुद्धभाव है। जड़ है यह कहेंगे। जड़ के संग से तो अशुद्धभाव उत्पन्न हुआ है न ? इन जड़ के प्राणों को भी भिन्न करना चाहिए। अर्थात् जड़ के प्राण के साथ जो अशुद्धभाव प्राण है, इस जड़ के प्राण से भिन्न होने पर अशुद्धभाव प्राण से भी भिन्न होता है। समझ में आया ? ऐसा मार्ग! यह प्रवचन का सार!

यह धर्म ऐसे होता है — ऐसा कहते हैं। कर्म के — पुद्गल के संग से दूषित हुआ चार प्राण से अर्थात् इन्द्रिय, बल (आदि)।

जयसेनाचार्यदेव ने प्रत्येक में बहुत सरस स्पष्टीकरण किया है। '**अतीन्द्रियानन्तसुख-स्वभावात्मनो विलक्षण इन्द्रियप्राणाः**' देखा ? इन्द्रियप्राण किसे कहना ? कि अतीन्द्रिय अनन्त सुखस्वभाव आत्मा का! '**अतीन्द्रियानन्तसुखस्वभावात्मनो विलक्षण इन्द्रियप्राणाः**' आहा...हा... ! जयसेनाचार्यदेव की टीका में संस्कृत में है। इससे विलक्षण इन्द्रिय प्राण! ऐसे इन्द्रियप्राण को भगवान आत्मा के प्राण से भिन्न करने योग्य है। आहा...हा... ! १४६ (गाथा की टीका में है) ●

एक चैतन्यतत्त्व के अतिरिक्त सब भूल

हे भाई! अपनी बुद्धि से देह और रागादिक को अपना मानकर, उनका तो तूने अनन्त काल से अभ्यास किया है, तथापि चैतन्यविद्या प्राप्त नहीं हुई और तेरा आत्मा अनुभव में नहीं आया तथा तू अज्ञानी ही रहा... इसलिए अब अपनी इस मिथ्याबुद्धि को छोड़कर, जिस प्रकार हम कहते हैं, उस प्रकार अभ्यास कर। ऐसे अभ्यास से छह महीने में तो तुझे अवश्य चैतन्यविद्या प्राप्त होगी... छह महीने तक लगनपूर्वक अभ्यास करने से तुझे अवश्य आत्मा का अनुभव होगा। भाई! छह महीना तो हम अधिक से अधिक कहते हैं। यदि तू उत्कृष्ट आत्मलगनपूर्वक प्रयत्न करेगा, तब तो दो घड़ी में ही तुझे आत्मा का अनुभव हो जाएगा।

अहा! देखो तो सही, यह चैतन्य के अनुभव का मार्ग! कितना सरल और सहज! चैतन्य का अनुभव, सहज और सरल होने पर भी दुनिया के व्यर्थ के कोलाहल में जीव रुक गया होने से उसे वह दुर्लभ हो गया है।

- पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी

गाथा - १४६

अथ के प्राणा इत्यावेदयति -

इंदियपाणो य तधा बलपाणो तह य आउपाणो य।
आणप्पाणप्पाणो जीवाणं होंति पाणा ते।।१४६।।

इन्द्रियप्राणश्च तथा बलप्राणस्तथा चायुःप्राणश्च।
आनपानप्राणो जीवानां भवन्ति प्राणास्ते।।१४६।।

स्पर्शनरसनघ्राणचक्षुःश्रोत्रपञ्चकमिन्द्रियप्राणाः, कायवाङ्गम्नस्त्रयं बलप्राणाः, भवधारणनिमित्तमायुःप्राणः, उदञ्चनन्यञ्चनात्मको मरुदानपानप्राणः।।१४६।।

अथेन्द्रियादिप्राणचतुष्कस्वरूपं प्रतिपादयतिअतीन्द्रियानन्तसुखस्वभावात्मनो विलक्षण इन्द्रियप्राणाः, मनोवाक्कायव्यापाररहितात्परमात्मद्रव्याद्विसदृशो बलप्राणः, अनाद्यनन्तस्वभावात्परमात्मपदार्थद्विपरीतः साद्यन्त आयुःप्राणः, उच्छवासनिश्वासजनितखेदरहिताच्छुद्धात्मतत्त्वात्प्रतिपक्षभूत आनपानप्राणः। एवमायुरिन्द्रियबलोच्छ्वासरूपेणाभेदननयेन जीवानां संबन्धिनश्चत्वारः प्राणा भवन्ति। ते च शुद्धनयेन जीवाद्भिन्ना भावयितव्या इति।।१४६।।

अब, प्राण कौन-कौन से हैं, सो बतलाते हैं —

इन्द्रिय बल आयु अरु, श्वासोच्छ्वास जो प्राण हैं।
ये चार प्राण संसार में, सर्व जीवों के होते हैं॥

अन्वयार्थ - [**इन्द्रिय प्राणः च**] इन्द्रिय प्राण [**तथा बलप्राणः**] बल प्राण, [**तथा च आयुःप्राणः**] आयुप्राण [**च**] और [**आनपानप्राणः**] श्वासोच्छ्वास प्राण; [**ते**] ये (चार) [**जीवानां**] जीवों के [**प्राणाः**] प्राण [**भवन्ति**] हैं।

टीका - स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र — यह पाँच इन्द्रियप्राण हैं; काय,

वचन, और मन — यह तीन बलप्राण हैं, भव धारण का निमित्त (अर्थात् मनुष्यादि पर्याय की स्थिति का निमित्त) आयु प्राण है; नीचे और ऊपर जाना जिसका स्वरूप है, ऐसी वायु (श्वास) श्वासोच्छ्वास प्राण है ॥१४६ ॥

प्रवचन नं. १५८ का शेष ज्येष्ठ कृष्ण १० गुरुवार, ०३ जुलाई १९७५

अब, प्राण कौन-कौन से हैं, सो बतलाते हैं- यह अब १४६ में कहेंगे।

इंदियपाणो य तधा बलपाणो तह य आउपाणो य।
आणप्पाणप्पाणो जीवाणं होंति पाणा ते।।१४६।।

इन्द्रिय बल आयु अरु, श्वासोच्छ्वास जो प्राण हैं।
ये चार प्राण संसार में, सर्व जीवों के होते हैं॥

टीका - स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र - यह पाँच इन्द्रियप्राण हैं;.... चार में से इन्द्रियप्राण के पाँच प्रकार किये। **काय, वचन, और मन - यह तीन बलप्राण हैं,.... 'मनोवाक्कायव्यापाररहितात्परमात्मद्रव्याद्भिसदृशो बलप्राणः'** मन-वचन और काया के व्यापाररहित परमात्मद्रव्य भगवान परमस्वरूप से विदृश विपरीत बलप्राण है।

भव धारण का निमित्त (अर्थात् मनुष्यादि पर्याय की स्थिति का निमित्त).... भव धारण अर्थात् मनुष्य (आदि की) द्रव्यपर्याय। **आयु प्राण है;.... 'अनाद्यनन्तस्वभावत्व -परमात्मपदार्थद्विपरीतः'** आहा...हा...! आयु की व्याख्या की है। अनादि-अनन्त परमात्म पदार्थ! ज्ञायकभाव! त्रिकाल स्वभावभाव से विपरीत **'साद्यन्त आयुःप्राणः'** है। वह (चैतन्यप्राण) अनादि-अनन्त है और आयुप्राण तो शुरुआत और अन्तवाला है। आहा...हा...! समझ में आया ?

अनादि-अनन्त स्वभाव! ज्ञान-दर्शन आनन्द का परमात्मस्वभाव! परमस्वभावभाव तो अनादि-अनन्त है और यह आयुप्राण तो सादि-सान्त है। आयुष्य तो सादि-सान्त है। अनादि की आयुष्य किसी को नहीं होती। आयुष्य शुरु होती है और अन्त आता है, शुरु होती है और अन्त आता है। अनादि की कहीं आयु नहीं होती।

नियमसार में नहीं लिया? अनादि से बँधा हुआ कर्म। वहाँ अनन्त कर्म लिया। अनादि का लिया। वह भी है तो आदि और अन्त परन्तु प्रवाहरूप से अनादि कर्म से बँधा हुआ है। अनादि आता है न? ऐसा इसमें वैसा नहीं है। इसमें तो आयुष्य की शुरुआत होती है और पूर्ण होती है, शुरु होती है और पूरी होती है। उसमें भी नये कर्म बँधते हैं और पुराने छूटते हैं, तथापि अनादि के प्रवाहरूप से अनादि का कर्म है — ऐसा लिया है। यहाँ तो आयुष्य की शुरुआत होती है और पूर्ण होती है। देह की स्थिति की बात है न? आत्मा की स्थिति तो अनादि-अनन्त है। आहा...हा...! भवधारण कारण आयु प्राण है।

नीचे और ऊपर जाना.... यह श्वांस! **जिसका स्वरूप है — ऐसी वायु....** प्राण है। **(श्वास) श्वासोच्छ्वास प्राण है।** इसका अर्थ किया है। '**उच्छवासनिश्चास -जनितखेदरहित**' यह श्वासोच्छ्वास खेद है, कहते हैं। '**खेदरहिताच्छुद्धात्मतत्त्वात्प्रति -पक्षभूत**' ऐसा जो शुद्ध आत्मतत्त्व खेदरहित स्वभाव, श्वास की क्रियारहित... आहा...हा...! ऐसा जो परमात्मतत्त्व शुद्धात्मतत्त्व से प्रतिपक्षभूत '**आनपानप्राणः**' आहा...हा...!

अभी यहाँ एक बकरी को चार कुत्ते नोंचते थे। श्वांस था अभी। वहाँ उस मकान के पास, मकान है न? यह कसरतवाले का मकान है वहाँ, चार कुत्ते! आहा...हा...! यह जड़ के प्राण। फिर तो असाध्य हो गयी होगी, सब टुकड़े करके खाते थे। आहा...हा...!

भगवान तो अनादि-अनन्त चैतन्यभाव परमात्मभावप्राणस्वरूप है। उसका आश्रय और उसकी दृष्टि करे तो अशुद्धभावप्राण हैं, उनका नाश हो। यह (जड़ प्राण) तो पुद्गल प्राण हैं। समझ में आया? प्राणवान आत्मा अनन्त ज्ञान आदि प्राणवान आत्मा है! अनन्त ज्ञान-दर्शन-आनन्द आदि प्राणवान है। आहा...हा...! उस प्राणवान के जीवन को दृष्टि में लेने से इन श्वाँस आदि प्राणों का अभाव होता है। समझ में आया? ऐसा वहाँ आया। १४६ (गाथा पूरी) हुई।

'**शुद्धनयेन जीवाद्भिन्ना भावयितव्या**' संस्कृत में है। शुद्धनय से जीव से वे प्राण भिन्न हैं — ऐसी भावना करना। आहा...हा...! संस्कृत में है। उसमें — अर्थ में तो आ गया। यह तो टीका में आया। १४५ (गाथा की) टीका में आया न? विभक्त करने योग्य है। यह तो अमृतचन्द्राचार्यदेव की टीका में आया है। अन्तिम शब्द है न? (यह सब)

जानकर इसमें करना क्या ? यह इन्द्रियाँ प्राण है, मन-वचन-काया बल, श्वाँस, आयुष्य है। उन्हें चैतन्य के भाव आनन्द परमात्मप्राण-परम स्वरूप प्राण की दृष्टि करना और इन्हें छोड़ना; इसलिए ऐसा बतलाया है। प्राण रखने के लिये नहीं बतलाते हैं। समझ में आया ?

मुमुक्षु : रखने से रहते कहाँ हैं ?

पूज्य गुरुदेवश्री : परन्तु ऐसे नये-नये होकर रहते हैं न ? चला करते हैं न ? आहा...हा... ! मरकर कहाँ जाये फिर ? लो ! उस बेचारी बकरी को चार कुत्ते खाते थे ! जीवित, हाँ ! जीवित ! बड़ी थी, चाहे जैसे (परन्तु) कोई मनुष्य नहीं हो... ऐ... मरकर फिर कहीं पशु जैसे में जाये और बेचारे को दूसरा तो (क्या होवे) ? आहा... ! ऐसा जीवन सब खेदसहित जीवन है। ऐसे जीवन का स्वभाव के भान द्वारा, स्वभाव का अस्तित्व यह.... यह.... यह.... है, वह (प्राण) है। यह प्राण है, वह नहीं।

अनन्त आनन्द और अनन्त शान्ति ! चारित्रस्वभाव कहो, या वीतरागस्वभाव कहो, या शान्तस्वभाव कहो, त्रिकाल ! त्रिकाल आनन्दस्वभाव और ज्ञानस्वभाव का एकरूप ऐसा आत्मा, उसका आश्रय लेकर और यह अशुद्धभाव प्राण है, वह पुद्गलभावप्राण है, (उन्हें) पृथक् करना। भेदज्ञान करना — ऐसा कहते हैं। बतलाने का आशय इतना है, उन्हें रखना ऐसा नहीं। बतलाया कि यह तो अशुद्ध प्राण हैं। पुद्गल के संगवाले प्राण हैं। अशुद्धभावप्राण ! और पुद्गल है, वह तो पुद्गल के हैं। यहाँ पुद्गल की बात मुख्यता से की है। उन्हें छोड़ना अर्थात् फिर उनके आश्रय से जो अशुद्धभावप्राण हैं, वे भी छूट जाते हैं — ऐसा। १४६ (गाथा पूरी हुई)। ●

गाथा - १४७

अथ प्राणानां निरुक्त्या जीवत्वहेतुत्वं पौद्गलिकत्वं च सूत्रयति -

पाणेहिं चदुहिं जीवदि जीविस्सदि जो हि जीविदो पुव्वं।
सो जीवो पाणा पुण पोग्गलदव्वेहिं णिव्वत्ता।।१४७।।

प्राणैश्चतुर्भिर्जीवति जीविष्यति यो हि जीवितः पूर्वम्।
स जीवः प्राणाः पुनः पुद्गलद्रव्यैर्निर्वृत्ताः।।१४७।।

प्राणसामान्ये जीवति जीविष्यति जीवितवांश्च पूर्वमिति जीवः। एवमनादिसंतानप्रवर्तमानतया त्रिसमयावस्थत्वात्प्राणसामान्यं जीवस्य जीवत्वहेतुरस्त्येव। तथापि तन्न जीवस्य स्वभावत्व-मवाप्नोति पुद्गलद्रव्यनिर्वृत्तत्वात्।।१४७।।

अथ त एव प्राणा भेदनयेन दशविधा भवन्तीत्यावेदयति -

पंच वि इंदियपाणा मणवचिकाया य तिण्णि बलपाणा।
आणप्पाणप्पाणो आउगपाणेण होंति दसपाणा।।१२।।

इन्द्रियप्राणः पञ्चविधः, त्रिधा बलप्राणः, पुनश्चैक आनपानप्राणः, आयुःप्राणश्चेति भेदेन दश प्राणास्तेऽपि चिदानन्दैकस्वभावात्परमात्मानो निश्चयेन भिन्ना ज्ञातव्या इत्यभिप्रायः।।१२।। अथ प्राणशब्दव्युत्पत्या जीवस्य जीवत्वं प्राणानां पुद्गलस्वरूपत्वं च निरूपयति - **पाणेहिं चदुहिं जीवदि** यद्यपि निश्चयेन सत्ताचैतन्यसुखबोधादिशुद्धभावप्राणैर्जीवति तथापि व्यवहारेण वर्तमानकाले द्रव्यभावरूपैश्चतुर्भिरशुद्धप्राणैर्जीवति **जीविस्सदि** जीविष्यति भाविकाले **जो हि जीविदो** यो हि स्फुटं जीवितः **पुव्वं** पूर्वकाले **सो जीवो** स जीवो भवति। **ते पाणा** ते पूर्वोक्ताः प्राणाः **पोग्गलदव्वेहिं णिव्वत्ता** उदयागतपूद्गलकर्मणा निर्वृत्ता निष्पन्ना इति। तत एव कारणात्पुद्गलद्रव्यविपरीतादनन्त-ज्ञानदर्शनसुखवीर्याद्यनन्तगुणस्वभावात्परमात्मतत्त्वाद्भिन्ना भावयितव्या इति भावः।।१४७।।

अब, व्युत्पत्ति से प्राणों को जीवत्व का हेतुपना और उनका पौद्गलिकपना सूत्र

द्वारा कहते हैं (अर्थात् प्राण जीवत्व के हेतु हैं — ऐसा व्युत्पत्ति से दर्शाते हैं तथा प्राण पौद्गलिक हैं — ऐसा कहते हैं) —

जीता है, जीवेगा अरु, जीता था इन प्राण से।
वह जीव है, पर प्राण तो, निष्पन्न पुद्गलद्रव्य से॥

अन्वयार्थ - **[यः हि]** जो **[चतुर्भिः प्राणैः]** चार प्राणों से, **[जीवति]** जीता है, **[जीविष्यति]** जियेगा **[जीवितः पूर्वं]** और पहले जीता था, **[सः जीवः]** वह जीव है। **[पुनः]** फिर भी **[प्राणाः]** प्राण तो **[पुद्गलद्रव्यैः निर्वृत्ताः]** पुद्गल द्रव्यों से निष्पन्न (रचित) हैं।

टीका - (व्युत्पत्ति के अनुसार) प्राणसामान्य से जीता है, जियेगा और पहले जीता था, वह जीव है। इस प्रकार (प्राणसामान्य) अनादि सन्तानयप (प्रवाहरूप) से प्रवर्तमान होने से (संसारदशा में) त्रिकाल स्थायी होने से प्राणसामान्य जीव के जीवत्व का हेतु है ही; तथापि वह (प्राणसामान्य) जीव का स्वभाव नहीं है क्योंकि वह पुद्गलद्रव्य से निष्पन्न-रचित है।

भावार्थ - यद्यपि निश्चय से जीव सदा ही भावप्राण से जीता है, तथापि संसारदशा में व्यवहार से उसे व्यवहारजीवत्व के कारणभूत इन्द्रियादि द्रव्यप्राणों से जीवित कहा जाता है। ऐसा होने पर भी वे द्रव्यप्राण, आत्मा का स्वरूप किंचित्मात्र नहीं हैं क्योंकि वे पुद्गल द्रव्य से निर्मित हैं॥ १४७॥

प्रवचन नं. १५८ का शेष ज्येष्ठ कृष्ण १० गुरुवार, ०३ जुलाई १९७५

अब, व्युत्पत्ति से प्राणों को जीवत्व का हेतुपना.... जीव भी जियेगा और जियेगा ऐसे जीता है। **उनका पौद्गलिकपना सूत्र द्वारा कहते हैं (अर्थात् प्राण जीवत्व के हेतु हैं ऐसा व्युत्पत्ति से दर्शाते हैं तथा प्राण पौद्गलिक हैं — ऐसा कहते हैं)** दो बात की है।

पाणेहिं चदुहिं जीवदि जीविस्सदि जो हि जीविदो पुव्वं।

आहा...हा... ! यह तो व्यवहार से जियेगा और भविष्य में भी जियेगा — ऐसा सिद्ध किया है। आहा...हा... !

पाणेहिं चदुहिं जीवदि जीविस्सदि जो हि जीविदो पुव्वं।
सो जीवो पाणा पुण पोग्गलदव्वेहिं णिव्वत्ता।।१४७।।

जीता है, जीवेगा अरु, जीता था इन प्राण से।
वह जीव है, पर प्राण तो, निष्पन्न पुद्गलद्रव्य से॥

चार प्राण से भी व्यवहार से जीवेगा — ऐसे जीव अनादि के हैं न? अनन्त जीव ऐसे हैं कि इन चार प्राण से भविष्य में जीयेंगे ही। निगोद में अनन्त पड़े हैं। देखो न! त्रस भी होनेवाले नहीं हैं — ऐसे जीव की बात पहले ली थी। जैसे निश्चय से त्रिकाल चैतन्यप्राण से जीवे — ऐसा उसका जीवन है। इस पुद्गल के संग से दूषित हुआ पुद्गल के प्राण से जीवे, जियेगा और जीता है। जियेगा! अभी तो फिर ऐसा कहते हैं। भविष्य में भी पुद्गल के संगवाला जीव, पुद्गल के जीवन से जियेगा। आहा...हा... ! पुद्गल (है ऐसा कहकर) बात निकाल डाले (ऐसा नहीं है)। सुन तो सही! ऐसे जीव हैं। आहा...हा... ! समझ में आया?

(व्युत्पत्ति के अनुसार) प्राणसामान्य से जीता है,.... व्युत्पत्ति करते हैं। जीना अर्थात् जीता है। **जियेगा....** (अर्थात्) भविष्य, **और पहले जीता था,....** आहा...हा... ! पाँच इन्द्रियाँ, मन-वचन-काया, श्वांस और आयुष्य से वह पूर्व में जिया, वर्तमान में जीता है, भविष्य में जियेगा — ऐसा कहकर बात (की है)। मोक्ष जायेगा उसकी बात नहीं है। वह बाद में, आहा...हा... ! यहाँ तो जीना व्युत्पत्ति से सिद्ध करना है न? जीता है, जिया है, जियेगा। चार प्राण से, हाँ! मलिन प्राण, पुद्गल प्राण से! आहा...हा... ! कितने ही तो पुद्गल प्राण तोड़ डालेंगे। यह बात फिर अन्दर गर्भित रही परन्तु ऐसा जीवत्व का व्यवहार जीवत्व सिद्ध करना है तो इस प्रमाण है। आहा...हा... ! समझ में आया?

निश्चय जीवत्व से जीना ऐसा सिद्ध करना हो, तब अकेले आनन्द के प्राण, ज्ञानप्राण से त्रिकाल द्रव्यस्वभाव से जीता है। अब यहाँ अशुद्ध भावप्राण वापस पुद्गल के लेना है। ओ...हो... ! जीव की व्युत्पत्ति करनी है न? इसलिए कहते हैं कि जीता था प्राण

से, जीता है प्राण से, जियेगा प्राण से, पुद्गल के संग से। भाई! व्यवहार प्राणवाला जीवन जियेगा, इसकी व्युत्पत्ति की है।

इस प्रकार (प्राणसामान्य) अनादि सन्तानरूप.... आहा...हा...! **अनादि (प्रवाहरूप)....** सन्तान लड़के और लड़कियाँ, लड़के और लड़कियाँ... सन्तान होती है न? (ऐसे) यहाँ अनादि सन्तानरूप **प्रवर्तमान होने से (संसारदशा में) त्रिकाल स्थायी होने से....** पुद्गल के संग के संगवाले जीव तीनों काल हैं, कहते हैं। आहा...हा...! समझ में आया? **(प्राणसामान्य) अनादि सन्तानरूप (प्रवाहरूप)** से **प्रवर्तमान होने से (संसारदशा में) त्रिकाल स्थायी होने से....** आहा...हा...! प्राण नाश करेगा, उसकी बात यहाँ नहीं लेनी है। यहाँ तो जीवत्व-बाह्य द्रव्यप्राण से जीवे, जीता है, जियेगा — इतना लेना है; इसलिए उसे त्रिकाल में ले लिया। समझ में आया? इससे न जीवे, यह बात गर्भित रह गयी परन्तु इससे जीता है, यह तो तीनों काल इस प्रकार जियेगा — ऐसा सिद्ध करना है। आहा...हा...!

त्रिकाल स्थायी होने से प्राणसामान्य जीव के जीवत्व का हेतु है ही।.... जीव के जीवत्व का हेतु है ही।.... ऐसे चार (प्राण) — इन्द्रिय, बल, श्वाँस, और आयुष्य। एकेन्द्रिय को एकेन्द्रि है परन्तु इन्द्रियप्राण है न। दो है — इन्द्रियप्राण में वह आ गया। फिर किसी को एक, किसी को दो, किसी को तीन, किसी को चार, और किसी को पाँच (होती है)। आहा...हा...! इन चार प्राण से टिक रहा है, टिकेगा और टिकता आया है। आहा...हा...!

जब अभव्य को सिद्ध करना हो, तब ऐसा होता है कि यह तो संसार था, है और रहेगा, वह तो एक व्यक्तिगत अभव्य की (बात हुई) परन्तु यहाँ तो सामान्य व्यक्तिगत की बात लेनी है। भावप्राण संसार के, हाँ! भटकने के! द्रव्यप्राण! द्रव्यप्राण है, उनके अशुद्ध भावप्राण भी है न? जैसे पाँच इन्द्रियाँ जड़ है तो अन्दर क्षयोपशमभाव की भाव इन्द्रिय चैतन्य है। वह भी प्राण है, वह अशुद्ध भावप्राण है। जड़ है, वह पुद्गलिक भावप्राण है और अन्दर त्रिकाली है वह शुद्ध चैतन्यभावप्राण है। समझ में आया?

अरे...! कहते हैं कि ऐसे भावप्राण से जिसका व्यवहार का जीवन जीता आया है, जीता है, और जियेगा। अरे...! अब इससे भिन्न कर, बापू! ऐसा कहते हैं। पहले आ

गया न ? कि ऐसा बताते हैं, उसका हेतु यह कि तू भिन्न कर, भाई ! यह पुद्गल प्राण तेरे नहीं और पुद्गल के निमित्त के संग में अशुद्धभावप्राण में प्राण हैं, वे तेरे नहीं। समझ में आया ? पाँच इन्द्रियाँ — मन, वचन, और श्वाँस ये सब तो जड़ हैं और इनकी योग्यतावाले जो यहाँ पाँच इन्द्रिय, बल, श्वाँस की क्रियारूप योग्यता और आयुष्य में टिकनेवाली योग्यता है न ? आहा...हा... ! (वह) अपनी है। उससे जिया है, जीता है और जियेगा, इसलिए उसे भिन्न कर ऐसा कहते हैं। जहाँ तक इसकी दृष्टि वहाँ रहेगी, तब तक तो इस प्रकार ही जियेगा। आहा...हा... !

मुमुक्षु : जीओ और जीने दो।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह जीवन, जीवन है ? भगवान का आदेश तो वीतरागता बतलाने का है। वीतरागता से जी और वीतरागता से जीने दे। वह तो उसके कारण जीता है, उसमें तुझे कहाँ जिलाना है ? आहा...हा... !

यह बताकर भी वीतरागता बतानी है न ? यह बताकर सार तो वीतरागता बताना है न ? किसी भी शास्त्र का शब्द (होवे) या विस्तार (होवे) परन्तु उसका तात्पर्य क्या ? आहा...हा... ! उसका तात्पर्य तो उससे भिन्न कर और वीतरागता प्रगट कर, यह उसका तात्पर्य है। आहा...हा... ! समझ में आया ? आहा...हा... !

चार कुत्ते (बकरी के) ऐसे जीते-जी टुकड़े करते थे तब किसी ने किये ? बकरी बड़ी थी। क्या होगा ? पकड़ाई गई या कैसे हुआ होगा ? अभी यहाँ दिशा में जाकर आते थे न ? वह मकान नहीं ? कसरत करने का ! उसके पास पड़ी थी, चार बड़े (कुत्ते) ! तोड़-तोड़कर माँस खाते ! आहा...हा... ! यह माँस के टूटने की पीड़ा नहीं, एकत्वबुद्धि की पीड़ा है।

मुमुक्षु : वहाँ से भगाये।

पूज्य गुरुदेवश्री : भगाये परन्तु वह तो मर गयी न ! सब टुकड़े पड़े थे। वह कोई बचे ऐसा नहीं था। चार बड़े कुत्ते ! मूल तो असाध्य हो गयी होगी, मर गयी होगी। मर गयी न ? मर जाये न वह तो, था, दिखता था। दु:ख की पराकाष्ठा हो जाती है, तब असाध्य हो जाता है। फिर उसके टुकड़े करते हैं, उसका कहीं उसे व्यक्त वेदन में ख्याल नहीं।

आहा...हा... ! यह कसाई लोग नहीं ? बकरे को (काटते हैं) राजकोट में देखा न ? जंगल जाते तब रास्ते में आते हैं। क्या कहलाता है वह ? खाटकी... खाटकी ! एक बार हम जाते थे, तब बकरा रोता हुआ, फिर दूसरा कोई व्यक्ति निकला होगा, वह कहे, रहने दे ! वह तो इसकी मजाक करता था। वहाँ से निकले (इसलिए कहा) ऐसा रहने दे। परन्तु वह उसे काटने के लिए ले जा रहा था। (बकरे के) पैर (बँध) गये हों, त्रास हो जाता है न ? काटने के लिए ले जा रहा था। आहा...हा... ! उसे काटनेवाले भी दूसरे होते हैं, हाँ ! रखे हों, वे काटते हैं। यह काटने की क्रिया दुःखरूप नहीं, दुःखरूप तो उसका अपने में द्वेष है, उसका उसे दुःख है।

मुमुक्षु : स्वयं को रुचता नहीं।

पूज्य गुरुदेवश्री : रुचता नहीं, रुचता नहीं, उसका दुःख है। आहा...हा... ! यह तड़पड़ाहट करके फिर (मर जाता है) । अन्दर से फिर कुछ होता होगा। आहा...हा... ! आनन्द का नाथ कहाँ घिर गया है ! इसका मूलस्वरूप तो आनन्द का कन्द है, उसे परिणाम को वहाँ जोड़ने से आनन्द आये ऐसा है, वह सुख है और उस परिणाम को यहाँ बाहर में (जोड़ने से) दुःख होता है — ऐसा वह चीज है। आहा...हा... !

मुमुक्षु : समकित के साथ सगाई हो गयी।

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, समकित के साथ सगाई हुई। 'सपरिवार सुगाढी' ऐसा आनन्दघनजी में आता है। स्वयं का जो परिणाम है, उसे अनन्त गुण का सागर भगवान है, उसके साथ सगाई की, सम्बन्ध किया ! लोग नहीं कहते ? इस लड़की का उसके साथ अभी सम्बन्ध किया, आज अमुक किया। कहते हैं न ? इसी प्रकार इस सम्यग्दर्शन की पर्याय द्वारा त्रिकाल (स्वभाव के) साथ सम्बन्ध किया। जिस परिणाम का राग और पर के साथ सम्बन्ध था, वह तोड़कर.... यह नास्ति से बात है परन्तु जोड़ा यह अस्ति से है। आहा...हा... ! यह करना है। सब सुनकर और सब करके करने योग्य तो यह है। आहा...हा... ! बाकी सब सबके ठिकाने रहेंगे। जहाँ है वहाँ (रहेंगे) भाई ! आहा...हा... !

जिसने जोड़ा उसने तोड़ा ! जिसने राग के साथ जोड़ा था, उसने स्वभाव के साथ जोड़कर वह बात तोड़ दी। आहा...हा... ! यहाँ यह कहते हैं न ? विभक्त करने को कहा

न ? उसमें पाठ है न ? पाठ है न ? अमृतचन्द्राचार्य में। जयसेनाचार्यदेव में तो होता है, (यह तो) अमृतचन्द्राचार्य में।

तेरी पर्याय को जहाँ तूने ऐसे झुकायी है, जो चीज तुझमें नहीं — यह द्रव्यप्राण, जड़प्राण, अरे... ! अशुद्धप्राण में जो तूने जोड़ी है, वह दुःखरूप है, वह दुःख उसका फल है। वहीं का वहीं, हाँ ! और उस पर्याय को स्वभाव में जोड़ने से जिसका आनन्दफल है। जिससे तोड़ी वह अलग रह गया, जिससे जोड़ी उसका सम्बन्ध हो गया। आहा...हा... ! ऐसा स्वरूप है ! यह यहाँ कहते हैं। **वह पुद्गलद्रव्य से निष्पन्न-रचित है।**

भावार्थ - यद्यपि निश्चय से जीव सदा ही भावप्राण से जीता है, तथापि संसारदशा में व्यवहार से उसे व्यवहारजीवत्व के कारणभूत इन्द्रियादि द्रव्यप्राणों से जीवित कहा जाता है। ऐसा होने पर भी वे द्रव्यप्राण आत्मा का स्वरूप किंचित् मात्र नहीं हैं.... आहा...हा... ! यह इन्द्रियाँ हों, श्वाँस ठीक लेता हो, मन-वचन और काया (ठीक हो तो उसमें) यह प्रसन्न होता है। भ्रम है, कहते हैं। आहा...हा... ! मन, वचन और काय के प्राण, बल प्राण की शक्ति से प्रसन्न होना, वह तो दुःखदायक दृष्टि है। अपना भगवान आत्मा, अनाकुल शान्ति और आनन्द व ज्ञान के स्वभाव से भरपूर पदार्थ मौजूद चीज पड़ी है, कहते हैं। आहा...हा... ! मौजूद पड़ी है ! उसे पकड़ तो यह द्रव्यप्राण छूट जायेंगे, द्रव्यप्राण नहीं रहेंगे। थोड़े काल रहेंगे परन्तु वे ज्ञेयरूप से रहेंगे। आहा...हा... ! समझ में आया ? यह तो ऐसी अन्तर की बात है, बापू ! बाहर से प्रसन्न प्रसन्न हो जाये, भाषण किया और प्रसन्न-प्रसन्न बतावे ओ...हो... ! कितने लोगों को समझाया.... !

(एक समाचारपत्र में) आया है कि (एक मुनि की) वक्तृत्व शक्ति तो बहुत है इसलिए वह जरा अभिमान में आ गया है परन्तु वक्तृत्व शक्ति का फल क्या है ? यह तो स्थानकवासी ने लिखा है। पाप की परम्परा की पुष्टि करने जाता है, वहाँ संयम का कोई अंश नहीं रहता। श्रद्धा-ज्ञान की बात तो उन लोगों में है ही नहीं, विषय ही (नहीं), बाकी बातें (करते हैं)। पर को समझाना और पर के लिए (करूँ), यह तेरी श्रद्धा ही मिथ्या है। जिसका तात्पर्य वीतरागता है, उस वीतरागता में पर को समझाना और पर समझता है, यह

बात कहाँ आती है ? यह तो राग में आता है। आहा...हा... ! जो मूल वस्तु है, उसकी लोगों को कीमत नहीं है।

देखो न ! वह कल नहीं लिखा ? जैनप्रकाश में ! कोई तो कहता है उसमें... क्या कहलाता है। रेडियो ! आकाश (वाणी) ! ऐसा कोई कहता था कि आकाशवाणी में आया था, वह इसमें डाला है। अरे ! बौद्ध को केवलज्ञान हुआ है और वे मोक्ष गये हैं, भगवान को केवलज्ञान हुआ और मोक्ष गये। अर...र... ! यह कहनेवाले तो देखो ! कहाँ गृहितमिथ्यादृष्टि (और कहाँ केवलज्ञान) ! भले ही वैराग्य होकर उदास हुए उससे क्या हुआ ? पर की उदासीनता तूने अनन्त बार की है। अस्ति तत्त्व कितना, कैसा है, किसकी प्रतीति और भान बिना तेरी पर की उपदासीनता क्या काम आयेगी ? वैरागी व्यक्ति था परन्तु यहाँ अन्तर चीज क्या है ? कितने में, कितनी कैसी ? त्रिकाल रहनेवाली है। तो कहता है नहीं। नित्य ही नहीं। इसका अपने को निर्णय करना चाहिए। अपने तो दुःख है, उसे छोड़ना, बस ! परन्तु दुःख है और छोड़ना (है तो) किसके आश्रय से (छूटेगा) ? कोई स्थायी चीज हो उसमें टिके तो वह (अवस्था) मिटे (और) स्थायी चीज का तो पता नहीं होता। आहा...हा... ! कहाँ भगवान केवलज्ञानी और कहाँ बौद्ध !! अरे ! गजब काम करते हैं !

मुमुक्षु : लोगों को सुनने में मजा आता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : मजा आता है ! अर...र... ! सार्वजनिक कहे तो अच्छा लगे ! कहाँ आत्मा का केवलज्ञान ! और कहाँ आत्मा का क्षणिकवाद !! आहा...हा... ! दोनों को समान मानकर दोनों मोक्ष गये हैं (ऐसा) कहते हैं, लो ! फिर वापस दोनों प्रतिस्पर्धी थे — ऐसा भी लिखते हैं ! हाँ, लिखा है न ! नहीं आया था ? प्रतिस्पर्धी है, कहो ! प्रतिस्पर्धी फिर समान ! दोनों का उपदेश समान ! क्या कहते हैं यह कुछ ? उनके सम्प्रदाय की रीति की भी उन्हें खबर नहीं है।

मुमुक्षु : स्वयं मूर्ख है और लोगों को मूर्ख बनाते हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : अर...र...र... !

यहाँ तो परमात्मा.... आहा...हा... ! केवलज्ञान की पर्याय अर्थात्.... केवलज्ञान होने

के बाद उसे फिर विचार करना पड़े कि इन सब लोगों के लिए रोटियों के लिए एकान्त में रहना। केवलज्ञानी को इस प्रकार (विचार आवे) !! क्या परन्तु.... शब्द-शब्द में कुकर्म किये हैं ! अरे...रे... ! ऐसी बात सुनने से भी लोगों को क्या नुकसान होता है ? इसका पता नहीं है। आहा...हा... !

यहाँ भगवान कहते हैं... आहा...हा... ! **वे द्रव्यप्राण आत्मा का स्वरूप किंचित् मात्र नहीं हैं....** आहा...हा... ! शुद्ध पर्याय है, उसमें यह द्रव्यप्राण है ही नहीं। आहा...हा... ! द्रव्य-गुण शुद्ध है, उसकी दृष्टि होने पर जो पर्याय शुद्ध हुई, उसमें द्रव्यप्राण है ही नहीं। यह पुद्गल प्राण तो नहीं परन्तु जो अशुद्ध योग्यता के भावप्राण हैं, वे भी नहीं हैं। आहा...हा... ! यहाँ पुद्गल के प्राण को पृथक् करना (— ऐसा) कहा है न ? उसका अर्थ ही यह हुआ कि उससे भिन्न पड़े तो उस ओर की योग्यता के दस प्राण हैं, उनसे भी भिन्न पड़ा। यह तो उसमें आया न ? (समयसार की) छठी गाथा में ! अन्य के द्रव्य-भाव से भिन्न... अन्य के द्रव्यभाव, हाँ ! (अन्य के अर्थात्) पुद्गल के, कर्म के, उसका लक्ष्य छोड़ दे। वहाँ राग का लक्ष्य छोड़ दे — ऐसा नहीं कहा। परन्तु उस पर का लक्ष्य छोड़ दे तो उसका लक्ष्य द्रव्य पर जाता है, तो उसमें राग का लक्ष्य भी छूट जाता है। समझ में आया ? ऐसे यहाँ जड़प्राण से भिन्न कहा, परन्तु उन भावप्राण की योग्यता है न ? इस जड़ से भिन्न करने पर वह (भावप्राण की योग्यता) भी छूट जाती है।

आहा...हा... ! चैतन्यभाव आनन्दस्वरूप भगवान का जहाँ आश्रय लिया, बड़े के पक्ष में चढ़ा... आहा...हा... ! राग और पर्याय के पक्ष में था, (वह) प्रभु के पक्ष में चढ़ा... आहा...हा... ! तो अशुद्धभावप्राण और पुद्गल (प्राण) दोनों छूट जाते हैं। समझ में आया ?

●

गाथा - १४८

अथ प्राणानां पौद्गलिकत्वं साधयति -

जीवो पाणणिबद्धो बद्धो मोहादिएहिं कम्मेहिं।
उवभुंजं कम्मफलं बज्झदि अण्णेहिं कम्मेहिं।।१४८।।

जीवः प्राणनिबद्धो बद्धो मोहादिकैः कर्मभिः
उपभुंजानः कर्मफलं बध्यतेऽन्यै कर्मभिः।।१४८।।

यतो मोहादिभिः पौद्गलिककर्मभिर्बद्धत्वाज्जीवः प्राणनिबद्धो भवति, यतश्च प्राणनिबद्धत्वात्पौद्गलिककर्मफलमुपभुञ्जानः पुनरप्यन्यैः पौद्गलिककर्मभिर्बध्यते, ततः पौद्गलिककर्मकार्यत्वात्पौद्गलिककर्मकारणत्वाच्च पौद्गलिका एव प्राणा निश्चीयन्ते।।१४८।।

अथ प्राणानां यत्पूर्वसूत्रोदितं पौद्गलिकत्वं तदेव दर्शयति - **जीवो पाणणिबद्धो** जीवः कर्ता चतुर्भिः प्राणैर्निबद्धः संबद्धो भवति। कथंभूतः सन्। **बद्धो** शुद्धात्मोपलम्भलक्षणमोक्षद्विलक्षणैर्बद्धः। कैर्बद्धः। **मोहादिएहिं कम्मेहिं** मोहनीयादिकर्मभिर्बद्धस्ततो ज्ञायते मोहादिकर्मभिर्बद्धः सन् प्राणनिबद्धो भवति, न च कर्मबन्धरहित इति। तत एव ज्ञायते प्राणाः पुद्गलकर्मोदयजनिता इति। तथाविधः सन् किं करोति। **उवभुंजदि कम्मफलं** परमसमाधि-समुत्पन्ननित्यानन्दैकलक्षणसुखामृतभोजनमलभमानः सन् कटुकविषसमानमपि कर्मफलमुपभुङ्क्ते। **बज्झदि अण्णेहिं कम्मेहिं** तत्कर्मफलमुपभुञ्जानः सन्नयं जीवः कर्मरहितात्मनो विसदृशैरन्य-कर्मभिर्नवतरकर्मभिर्बध्यते। यतः कारणात्कर्मफलं भुञ्जानो नवतर कर्माणि बध्नाति, ततो ज्ञायते प्राणा नवतरपुद्गलकर्मणां कारणभूता इति।। १४८।।

अब, प्राणों का पौद्गलिकपना सिद्ध करते हैं —

मोहादि कर्म के बन्ध से, संयुक्त होकर प्राणों से।
जीव कर्मफल को भोगता, फिर अन्य कर्मों से बँधे।।

अन्वयार्थ - **[मोहादिकैः कर्मभिः]** मोहादिक कर्मों से **[बद्धः]** बँधा हुआ होने से **[जीवः]** जीव **[प्राणनिबद्धः]** प्राणों से संयुक्त होता हुआ **[कर्मफलं उपभुंजानः]** कर्मफल को भोगता हुआ **[अन्यैः कर्मभिः]** अन्य कर्मों से **[बध्यते]** बँधता है।

टीका - (१) मोहादिक पौद्गलिक कर्मों से बँधा हुआ होने से जीव प्राणों से संयुक्त होता है और (२) प्राणों से संयुक्त होने के कारण पौद्गलिक कर्मफल को (मोही-रागी-द्वेषी जीव मोह-राग-द्वेषपूर्वक) भोगता हुआ पुनः भी अन्य पौद्गलिक कर्मों से बँधता है, इसलिए (१) पौद्गलिक कर्म के कार्य होने से और (२) पौद्गलिक कर्म के कारण होने से प्राण पौद्गलिक ही निश्चित होते हैं ॥१४८॥

प्रवचन नं. १५८ का शेष	ज्येष्ठ कृष्ण १०	गुरुवार, ०३ जुलाई १९७५

अब, प्राणों का पौद्गलिकपना सिद्ध करते हैं — १४८ (गाथा)।

जीवो पाणणिबद्धो बद्धो मोहादिएहिं कम्मेहिं।
उवभुंजं कम्मफलं बज्झदि अण्णेहिं कम्मेहिं।।१४८।।

मोहादि कर्म के बन्ध से, संयुक्त होकर प्राणों से।
जीव कर्मफल को भोगता, फिर अन्य कर्मों से बँधे॥

आहा...हा...! **(१) मोहादिक पौद्गलिक कर्मों से बँधा हुआ होने से जीव प्राणों से संयुक्त होता है....** मोहादिक पौद्गलिक कर्म द्वारा बँधता हुआ **जीव प्राणों से संयुक्त होता है....** इसे प्राण मिलते हैं **और (२) प्राणों से संयुक्त होने के कारण पौद्गलिक कर्मफल को अर्थात् (मोही-रागी-द्वेषी जीव मोह-राग-द्वेषपूर्वक) भोगता हुआ....** आहा...हा...! है न? (जयसेनाचार्यदेव की) संस्कृत (टीका में) है। **'परमसमाधि -समुत्पन्ननित्यानन्दैकलक्षणसुखामृतभोजनमलभमानः'** आहा...हा...! **'परमसमाधि -समुत्पन्ननित्यानन्दैकलक्षणसुखामृतभोजनमलभमानः'** आहा...हा...! अतीन्द्रिय आनन्द के भोजन को नहीं पाता हुआ। आहा...हा...! संस्कृत में है (मूल पाठ में) **'कम्मफलं'** है **'कम्मफलं' 'कटुकविषसमानमपि कर्मफलमुपभुङ्क्ते।'** आहा...हा...! इस राग-द्वेष के जहर के फल को भोगता है। आहा...हा...!

पौद्गलिक कर्म को अर्थात् राग-द्वेषपूर्वक **भोगता हुआ पुनः भी....** कारण कि पौद्गलिक कर्म के लक्ष्य से मोह और राग-द्वेष होते हैं और उससे फिर नये कर्म बँधते हैं। जिनसे फिर नये प्राण मिलते हैं। आहा...हा... ! मार्ग बहुत (सूक्ष्म) ! अन्तर का आश्रय करना, वह अलौकिक मार्ग है ! सब बातें छोड़कर, जहाँ पूर्णानन्द का नाथ विराजमान है, उसका आश्रय लेने से उसे राग-द्वेष-मोह का फल भोगना नहीं पड़ता और उसका आश्रय जहाँ नहीं है तथा जिसने प्राण का संग किया, उसने मोहादि से प्राण का संग किया, उससे नये कर्म बँधे और उस कर्म का फल उस काल में राग-द्वेष-मोह के फल को, वीतराग भाव के स्वभाव से विपरीत — ऐसे राग-द्वेष के भाव को भोगता है। वह जहर का प्याला पीता है। आहा...हा... ! यह प्राण की ओर की अनुकूलता का भोग, वह जहर का प्याला है, कहते हैं। समझ में आया ? आहा...हा... !

पुनः भी अन्य पौद्गलिक कर्मों से बँधता है,.... वापस यह हर्ष और शोक के वेदन से नये कर्म बाँधता है। आहा...हा... ! **इसलिए (१) पौद्गलिक कर्म के कार्य होने से....** इसलिए पौद्गलिक कर्म का कार्य है। **और (२) पौद्गलिक कर्म के कारण होने से....** पौद्गलिक क्यों कहते हैं ? चार प्राण अर्थात् पाँच इन्द्रिय आदि जड़ क्यों ? कि पौद्गलिक कर्म का कार्य होने से और पौद्गलिक कर्म का कारण होने से। **प्राण पौद्गलिक ही निश्चित होते हैं।** प्राण पुद्गल हैं, जड़ हैं — ऐसा निश्चित होता है। आहा...हा... ! वास्तव में तो अशुद्धभावप्राण भी जड़ है। जैसे राग अचेतन है न ? वैसे पाँच इन्द्रिय आदि वास्तव में तो अचेतन हैं। आहा...हा... ! चेतन तो ऐसा त्रिकाली स्वभाव है, वह है। भाव इन्द्रिय को पर कहा न ? चैतन्यद्रव्य से पर कहा। वह कहीं इसका मूल स्वरूप नहीं है। आहा...हा... ! इसलिए कहते हैं कि पौद्गलिक कर्म का कार्य... कौन ? प्राण। और पौद्गलिक कर्म का कारण। नये पौद्गलिक कर्म का कारण होता है। **प्राण पौद्गलिक ही निश्चित होते हैं।** विशेष कहेंगे। ●

गाथा - १४९

अथ प्राणानां पौद्गलिककर्मकारणत्वमुन्मीलयति -

पाणाबाधं जीवो मोहपदेसेहिं कुणदि जीवाणं।
जदि सो हवदि हि बंधो णाणावरणादिकम्मेहिं।।१४९।।

प्राणाबाधं जीवो मोहप्रद्वेषाभ्यां करोति जीवयोः।
यदि स भवति हि बन्धो ज्ञानावरणादिकर्मभिः।।१४९।।

प्राणैर्हि तावज्जीवः कर्मफलमुपभुंक्ते; तदुपभुञ्जानो मोहप्रद्वेषावाप्नोति; ताभ्यां स्वजीवपरजीवयोः प्राणाबाधं विदधाति। तदा कदाचित्परस्य द्रव्यप्राणानाबाध्य कदाचिदनाबाध्य स्वस्य भावप्राणानुपरक्तत्वेन बाधमानो ज्ञानावरणादिनि कर्माणि बध्नाति। एवं प्राणाः पौद्गलिककर्मकारणतामुपयान्ति।।१४९।।

अथ प्राणा नवतरपुद्गलकर्मबन्धस्य कारणं भवन्तीति पूर्वोक्तमेवार्थं विशेषेण समर्थयति - **पाणाबाधं** आयुरादिप्राणानां बाधां पीडां **कुणदि** करोति। स कः। **जीवो** जीवः। काभ्यां कृत्वा। **मोहपदेसेहिं** सकलविमलकेवलज्ञानप्रदीपेन मोहान्धकारविनाशकात्परमात्मनो विपरीताभ्यां मोहप्रदेषाभ्यां। केषां प्राणबाधां करोति। **जीवाणं** एकेन्द्रियप्रमुखजीवानाम्। **जदि** यदि चेत् **सो हवदि बंधो** तदा स्वात्मोपलम्भप्राप्तिरूपान्मोक्षद्विपरीतो मूलोत्तरप्रकृत्यादिभेदभिन्नः स परमागमप्रसिद्धो हि स्फुटं बन्धो भवति। कः कृत्वा। **णाणावरणादिकम्मेहिं** ज्ञानावरणादिकर्मभिरिति। ततो ज्ञायते प्राणाः पुद्गलकर्मबन्धकारणं भवन्तीति। अयमत्रार्थ :- यथा कोऽपि तप्तलोहपिण्डेन परं हन्तुकामः सन् पूर्वं तावदात्मानमेव हन्ति, पश्चादन्यघाते नियमो नास्ति, तथायमज्ञानी जीवोऽपि तप्तलोहपिण्डस्थानीयमोहादिपरिणामेन परिणतः सन् पूर्वं निर्विकारस्वसंवेदनज्ञानस्वरूपं स्वकीयशुद्धप्राणं हन्ति, पश्चादुत्तरकाले परप्राणघाते नियमो नास्तीति।।१४९।।

अब, प्राणों के पौद्गलिक कर्म का कारणपना (अर्थात् प्राण पौद्गलिक कर्म के कारण किस प्रकार हैं, वह) प्रगट करते हैं —

जीव मोह-द्वेष के वश यदि, प्राण-घात जीवों का करे।
वह जीव ज्ञानावरण आदिक, कर्मों के द्वारा बँधे॥

अन्वयार्थ - [**यदि**] यदि [**जीवः**] जीव [**मोहप्रद्वेषाभ्यां**] मोह और द्वेष के द्वारा [**जीवयोः**] जीवों के (स्वजीव के तथा परजीव के) [**प्राणाबाधं करोति**] प्राणों को बाधा पहुँचाते हैं, [**सः हि**] तो पूर्वकथित [**ज्ञानावरणादिकर्मभिः बंधः**] ज्ञानावरणादिक कर्मों के द्वारा बंध [**भवति**] होता है।

टीका - प्रथम तो प्राणों से जीव कर्मफल को भोगता है; उसे भोगता हुआ मोह तथा द्वेष को प्राप्त होता है; मोह तथा द्वेष से स्वजीव तथा परजीव के प्राणों को बाधा[१] पहुँचाता है। यहाँ कदाचित् (किसी समय) पर के द्रव्य प्राणों को बधा पहुँचाकर और कदाचित् (पर के द्रव्यप्राणों को) बाधा न पहुँचाकर, अपने भावप्राणों को तो उपरक्तपने[२] से (अवश्य ही) बाधा पहुँचाता हुआ जीव, ज्ञानावरणादि कर्मों को बाँधता है। इस प्रकार प्राण पौद्गलिक कर्मों के कारणपने को प्राप्त होते हैं ॥१४९ ॥

प्रवचन नं. १५९ ज्येष्ठ कृष्ण १२ शनिवार, ०५ जुलाई १९७५

(प्रवचनसार) ज्ञेय अधिकार १४९ (गाथा)। **अब, प्राणों के पौद्गलिक कर्म का कारणपना (अर्थात् प्राण पौद्गलिक कर्म के कारण किस प्रकार हैं, वह) प्रगट करते हैं** — कहते हैं कि यह जीव जो है, वह निश्चय से तो शुद्ध आनन्द, ज्ञानादि प्राण से सहित है परन्तु अनादि कर्म के संग से, पुद्गल के संग से दोषित हुआ और अशुद्ध दस प्राण होते हैं तथा जड़ के दस प्राण होते हैं। दोनों प्राण पुद्गल के कारण हुए हैं और वे प्राण नये पौद्गलिक कर्म का कारण है — यह कहते हैं।

---

१. बाधा = पीड़ा, उपद्रव, विघ्न।
२. उपरक्तपना = मलिनपना; विकारीपना; मोहादिपरिणामरूप परिणमित होना। [जैसे कोई पुरुष तप्त लोहे के गोले से दूसरे को जलाने की इच्छा करता हुआ प्रथम तो स्वयं अपने को ही जलाता है; (स्वयं अपने ही हाथ को जलाता है) फिर दूसरा जले या न जले - इसका कोई नियम नहीं है; उसी प्रकार जीव मोहादिपरिणामरूप परिणमित होता हुआ प्रथम तो निर्विकार स्वसंवेदनज्ञानस्वरूप निज शुद्ध भावप्राणों को ही हानि पहुँचाता है, फिर दूसरे के द्रव्यप्राणों की हानि हो या न हो - इसका कोई नियम नहीं है।]

पाणाबाधं जीवो मोहपदेसेहिं कुणदि जीवाणं।
जदि सो हवदि हि बंधो णाणावरणादिकम्मेहिं।।१४९।।

जीव मोह-द्वेष के वश यदि, प्राण-घात जीवों का करे।
वह जीव ज्ञानावरण आदिक, कर्मों के द्वारा बँधे॥

मोह-राग-द्वेष की व्याख्या करते हुए टीकाकार कहते हैं कि **'सकलविमलकेवलज्ञानप्रदीपेन मोहान्धकारविनाशकात्परमात्मनो' 'सकलविमलकेवलज्ञानप्रदीपेन'** दीपक! इससे **'मोहान्धकारविनाश'** ऐसा परमात्मा स्वयं! उसका स्वरूप ऐसा है, कहते हैं। इससे विपरीत मोह और द्वेष है — ऐसा मोह और द्वेष से **प्रथम तो प्राणों से जीव...** यह दस प्राण हैं, वे वास्तव में तो ज्ञान का ज्ञेय है। ज्ञेय अधिकार है न? तथापि उस प्राण के सम्बन्ध से जीव, कर्मफल को भोगता है। राग-द्वेष को भोगता है। पाँच इन्द्रिय, मन-वचन-काया, श्वास और आयुष्य — ऐसे प्राण से जीव, कर्मफल को भोगता है। आनन्द को भोगता है — ऐसा उसमें है नहीं। आहा...हा...! दु:ख को भोगता है। कर्मफल, वह दु:ख है।

प्राणों से जीव.... आत्मा से जीव-जो स्वभाव है (उसके द्वारा) तो आनन्द को भोगता है। भगवान आत्मा, शुद्ध चिदानन्दस्वरूप, उसके द्वारा तो आनन्द को भोगता है परन्तु प्राण द्वारा तो राग, द्वेष और मोह को भोगता है। **उसे भोगता हुआ....** पाँच इन्द्रियाँ तथा मन, वचन, काया द्वारा, उसके लक्ष्य से मोह और राग-द्वेष को भोगता है। **उसे भोगता हुआ मोह तथा द्वेष को प्राप्त होता है;.....** यहाँ मोह लिया है (अर्थात्) पर तरफ की सावधानी और अरुचि-द्वेष को प्राप्त होता है। प्राणी के जो यह प्राण हैं, उनके कारण भोगता हुआ विकार को भोगता है और उस विकार को भोगता हुआ वह मोह और द्वेष को प्राप्त होता है।

मोह तथा द्वेष से स्वजीव तथा परजीव के प्राणों को बाधा पहुँचाता है। मिथ्याभाव से और द्वेष से अपने जीव के प्राण को घात करता है। **'निर्विकारस्वसंवेदनज्ञानस्वरूपं स्वकीयशुद्धप्राणं हन्ति'** (जयसेनाचार्यदेव की संस्कृत टीका की) अन्तिम लाईन है। भगवान आत्मा का निर्विकार स्वसंवेदन ज्ञान! ऐसा जो स्वरूप है, वह

'स्वकीयशुद्धप्राणं' वह अपना शुद्ध प्राण है। निर्विकारी स्वसंवेदन ज्ञानस्वरूप — ऐसे जीव का शुद्धप्राण है, उसे मोह और द्वेष से घात करता है। स्व के (प्राण का घात करता है)। अन्तिम लाईन है (मूल ग्रन्थ में नीचे फुटनोट है) *बाधा = पीड़ा, उपद्रव, विघ्न।* विघ्न करता है। अपने आत्मा को परप्राण के घात से कर्मफल को भोगता हुआ, मोह-राग-द्वेष को प्राप्त होता हुआ, अपने शुद्ध चैतन्यभावप्राण को बाधा करता है। आहा...हा...!

वहाँ कदाचित् (किसी समय) पर के द्रव्य प्राणों को बधा पहुँचाकर और कदाचित् (पर के द्रव्य प्राणों को) बाधा न पहुँचाकर, अपने भावप्राणों को तो उपरक्तपने से (अवश्य ही) बाधा पहुँचाता हुआ.... (मूल ग्रन्थ में फुटनोट में उपरक्त का अर्थ दिया है) *उपरक्तपना = मलिनपना; विकारीपना; मोहादिपरिणामरूप परिणमित होना। [जैसे कोई पुरुष तप्त लोहे के गोले से दूसरे को जलाने की इच्छा करता हुआ....* लोहखण्ड का तपा हुआ गोला हाथ में लिया तो *प्रथम तो स्वयं अपने को ही जलाता है;.....* फिर स्वयं दूसरे को पीड़ा हो या न हो यह अलग बात है। *(स्वयं अपने ही हाथ को जलाता है) फिर दूसरा जले या न जले — इसका कोई नियम नहीं है; उसी प्रकार जीव....* तपे हुए लोह गोले के समान *मोहादिपरिणामरूप परिणमित होता हुआ....* पर में सुखबुद्धि और राग-द्वेषरूप परिणमता हुआ, *प्रथम तो निर्विकार स्वसंवेदन -ज्ञानस्वरूप....* आया लो! *निज शुद्ध भावप्राणों को ही हानि पहुँचाता है,....* मोह और द्वेष से अपने शुद्ध निर्विकारी स्वसंवेदन आनन्द के प्राण को वह विघ्न करता है। आहा...हा...! भाव-मरण!

शुद्ध ज्ञान और आनन्द जिसके प्राण हैं। जिसका — जीव का जीवन ही उस स्वरूप है, उसे न मानकर, न जानकर प्राणों के कारण जो भोग और राग-द्वेष को भोगता है, वह मोह और द्वेष को प्राप्त होता हुआ स्वकीय चैतन्य के आनन्दप्राण को विघ्न करता है, पीड़ा करता है, उपद्रव करता है, विघ्न करता है। आहा...हा...! *फिर दूसरे के द्रव्यप्राणों की हानि हो या न हो — इसका कोई नियम नहीं है।]* परन्तु जिसे परप्राण के भोग में राग-द्वेष के कारण से मोह और द्वेष हुआ, वह अपनी शान्ति के प्राण को तो घात करता है। आहा...हा...! अपनी हिंसा करता है।

अनाकुल शान्त आनन्दस्वरूप प्रभु, मोह और द्वेष को प्राप्त होता हुआ, उसे विघ्न

करता है। अपने वीतरागी स्वसंवेदन शान्ति के प्राण को वह विघ्न करता है, दूसरे को हानि हो या न हो, यह (बाद की बात है)। दूसरे को हानि न भी हो परन्तु इस मोह और द्वेष को प्राप्त होता हुआ अपने जीव के प्राण को तो हानि करता है। आहा...हा...! अपने जीव की हिंसा करता है — ऐसा कहते हैं। ऐसा बहुत सूक्ष्म है।

प्रश्न : कब करता है ?

समाधान : अनादि से करता है। आहा...हा...!

प्राण है, वह पर है और उसके कारण से भोगने में जो राग-द्वेष होता है, उसमें मोह और द्वेष को प्राप्त होता है और मोह, द्वेष को प्राप्त होने से अपनी शान्ति के प्राण को घात करता है। आहा...हा...! पर का घात हो या न हो, उसके साथ कुछ (नियम नहीं है)। यह तो व्यवहार है, हो (और) नहीं (भी) हो, यह तो प्राण की हिंसा करता है। आहा...हा...!

अपने भावप्राणों को.... है ? **तो उपरक्तपने से (अवश्य ही) बाधा पहुँचाता हुआ....** लो ! **कदाचित् (किसी समय) पर के द्रव्य प्राणों को बाधा पहुँचाकर और कदाचित् (पर के द्रव्य प्राणों को) बाधा न पहुँचाकर,....** पर को (बाधा) न भी हो **अपने भावप्राणों को तो....** आहा...हा...! अर्थात् जो ज्ञातादृष्टा, आनन्द और शुद्धस्वभाव — ऐसा जिसका जीवत्व स्थायी तत्त्व है, उस स्थायी (तत्त्व का) मोह और राग-द्वेष निषेध करता है। आहा...! वह जीव की-स्वरूप की हिंसा करता है।

इस प्रकार **ज्ञानावरणादि कर्मों को बाँधता है।** ऐसे भाव से नये ज्ञानावरणीय कर्म को (और) नो कर्म को बाँधता है। आ...हा...! **इस प्रकार प्राण पौद्गलिक कर्मों के कारणपने को प्राप्त होते हैं।** इन प्राणों की ममता करने से ये प्राण नये कर्म के कारण होते हैं — ऐसा कहा जाता है। प्राण हैं, वे पौद्गलिक कर्म से हुए हैं और प्राण हैं, वे इसकी ममता से नये कर्म के पुद्गल को बाँधते हैं — ऐसा कहते हैं। आहा...हा...! समझ में आया ? यह भावहिंसा और भावजीव के प्राण का क्या — इसकी दरकार नहीं है। यह करो... यह करो... यह करो... पर जीव को बचाओ। यह जो बचाने का भाव है, वही अपने (भाव) प्राण को घातता है। आहा...हा...!

प्रश्न : छह काय की रक्षा कहलाती है न ?

समाधान : किसकी रक्षा करे ? छह काय (में) स्वयं है या नहीं ? (यह तो) व्यवहार की भाषा है। छह काय की रक्षा पाल, छह काय का ग्वाल — आता है न ? लिखते हैं न ? पत्र में लिखते हैं, इस पत्र में लिखते हैं। छह काय के नाम भी उसमें आते हैं, नियमसार में आते हैं। छह काय की रक्षा ! यह तो निमित्त की बातें हैं।

मोक्षमार्गप्रकाशक में तो यह लिया न ? कि परजीव की रक्षा अर्थात् क्या ? वहाँ रक्षा करता है — समिति, गुप्ति में ऐसा नहीं परन्तु सन्मुख के झुकाव के राग-द्वेष को छोड़ता है, इससे परकाय की रक्षा का निमित्त कहा जाता है। वह रक्षा कर सकता है ? समिति गुप्ति में लिया है। रक्षा कौन करे ? किसकी करे ? आहा...हा... ! अपने प्राण (के) यह रजकण हैं, इनकी रक्षा नहीं कर सकता, ये तो जड़ हैं। इनके कारण भोगते हुए विकार और मोह तथा द्वेष को प्राप्त होता हुआ ये प्राण नये कर्म का कारण इस प्रकार होते हैं।

मुमुक्षु : मोहरूप परिणमित होनेवाले को।

पूज्य गुरुदेवश्री : परिणमित होते हुए को। आहा...हा... ! ऐसी बातें।

मूल तो भगवान आत्मा, शुद्धभावप्राण का धारक चिदानन्द स्वरूप ! आहा...हा... ! उसका वेदन होना — स्वसंवेदन प्राण है, वह उसका जीवत्व का जीना कहा जाता है। पर्याय की बात है, हाँ ! त्रिकाली जो ज्ञानानन्दस्वभाव अस्ति, वस्तु सत् चिदानन्द प्रभु (है), उसकी अस्ति का स्वीकार करके जो श्रद्धा, ज्ञान और शान्ति होती है, वह उसका जीवन है। जड़प्राण से जीवन है, वह उसका जीवन नहीं है। समझ में आया ?

ये प्राण **पौद्गलिक कर्मों के कारणपने को....** ऐसा, इस प्रकार। उनकी ममता करता है, इसलिए पुद्गल प्राण उसमें निमित्त हुए न ? इस कारण वे पुद्गल प्राण नये कर्म का कारण होते हैं। इस प्रकार ! वास्तव में तो वह प्राण की ममता है, वह कारण होती है। प्राण के प्रति ममत्वभाव (कारण होता है)। आहा...हा... ! जो चीज इसमें नहीं, इसकी नहीं। यह प्राण हैं, वे तो मिट्टी हैं। पाँच इन्द्रिय, मन, वचन और काया, लो ! यह इसमें नहीं है, इसके नहीं हैं। इसके माने हैं। वह भ्रम, चैतन्यभावप्राण को घात डालता है। अज्ञानभाव से यह हिंसा कर सकता है; पर की हिंसा (नहीं) कर सकता। आ...हा... !

प्राणों के कारण पर की दया का भाव हुआ, वह भाव भी राग है। इस प्राण के निमित्त

से राग (हुआ) और वह राग नये कर्म का कारण (होता है)। इस कारण प्राण, कर्म का कारण है — ऐसा कहा गया है। आहा...हा...! अरे...!

मुमुक्षु : द्रव्यप्राण ने आत्मा को बाधा की।

पूज्य गुरुदेवश्री : आत्मा को बाधा की न, बाधा ही करे न? रक्षा कहाँ करता है? रक्षा करने का यहाँ प्रश्न नहीं है। दूसरे को दु:ख का निमित्त होता है, दु:ख तो स्वयं करता है, उसकी बात है। उस रक्षा की बात नहीं। जीव को बचाऊँ — ऐसा प्राण के लक्ष्य से जो राग होता है, वह नये कर्म का कारण है; इसलिए प्राण ही नये कर्म का कारण है — ऐसा कहा है। आहा...हा...! ऐसा मार्ग! यह १४९ (गाथा पूरी हुई)।

संस्कृत में बहुत न्याय दिये हैं। '**बन्धो**' है न? '**बन्धो**'**!** देखो! '**बंध**' है न अन्दर? **जीव, मोह-राग-द्वेष द्वारा घाते जीवों के प्राण को तो बन्ध ज्ञानावरणादिक....** बन्ध की व्याख्या की। '**स्वात्मोपलम्भप्राप्तिरूपान्मोक्षद्विपरीतो**' स्वरूप की प्राप्तिरूपी मोक्ष से विपरीत '**मूलोत्तरप्रकृत्यादिभेदभिन्नः स परमागमप्रसिद्धो हि स्फुटं**' **बन्धो** बन्ध की व्याख्या करते हुए इस प्रकार की। भगवान आत्मा! स्व-आत्म की प्राप्तिरूप, '**उपलम्भ**' पूर्ण अनुभव की प्राप्ति '**रूपान्मोक्ष**' इससे विपरीत '**मूलोत्तरप्रकृत्यादि - भेदभिन्नः स परमागमप्रसिद्धो**' परमागम में प्रसिद्ध है बन्ध। आहा...हा...! ●

मुनिराज : प्रतिकूलता में स्वभाव का उग्र अवलम्बन

जैसे, कामधेनु गाय को जब दुहे तब दूध देती है, उसी प्रकार मुनिराज का यह भगवान आत्मा कामधेनु गाय जैसा है। जब वे अन्तर्मुख एकाग्र होते हैं, तब अन्दर से अतीन्द्रिय आनन्द झरता है क्योंकि कैसी भी प्रतिकूलता के समय भी वे प्रबल पुरुषार्थपूर्वक निजात्मद्रव्य का अवलम्बन लेते हैं, उन्हें पञ्चम काल, हीन संहनन, सेवा करनेवालों का अभाव इत्यादि कोई बाधक नहीं है। *- पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी*

गाथा - १५०

अथ पुद्गलप्राणसन्ततिप्रवृत्तिहेतुमन्तरङ्गमासूत्रयति -

आदा कम्ममलिमसो धरेदि पाणे पुणो पुणो अण्णे।
ण चयदि जाव ममत्तिं देहपधाणेसु विसयेसु।।१५०।।

आत्मा कर्ममलीमसो धारयति प्राणान् पुनः पुनरन्यान्।
न त्यजति यावन्ममत्वं देहप्रधानेषु विषयेषु।।१५०।।

येयमात्मनः पौद्गलिकप्राणानां संतानेन प्रवृत्तिः, तस्या अनादिपौद्गलिककर्ममूलं शरीरादिममत्वरूपमुपरक्तत्वमन्तरङ्गो हेतुः।।१५०।।

अथेन्द्रियादिप्राणोत्पत्ते-रन्तरङ्गहेतुमुपदिशति - **आदा कम्ममलिमसो** अयमात्मा स्वभावेन भावकर्मद्रव्यकर्मनोकर्ममलरहितत्वेनात्यन्तनिर्मलोऽपि व्यवहारेणानादिकर्मबन्धवशान्मलीमसो भवति। तथाभूतः सन् किं करोति। **धरेदि पाणे पुणो पुणो अण्णे** धारयति प्राणान् पुनः पुनः अन्यान्नवतरान्। यावत्किम्। **ण चयदि जाव ममत्तिं** निस्नेहचिच्चमत्कारपरिणतेर्विपरीतां ममतां यावत्कालं न त्यजति। केषु विषयेषु। **देहपधाणेसु विसयेसु** देहविषयरहितपरमचैतन्यप्रकाशपरिणतेः प्रतिपक्षभूतेषु देहप्रधानेषु पञ्चेन्द्रियविषयेष्विति। ततः स्थितमेतत् इन्द्रियादिप्राणोत्पत्ते-र्देहादिममत्वमेवान्तरङ्ग-कारणमिति।।१५०।।

अब, पौद्गलिक प्राणों की संतति की (प्रवाह की-परम्परा की) प्रवृत्ति का अन्तरंग हेतु सूत्र द्वारा कहते हैं —

कर्म-मल से मलिन जीव, पुनि-पुनि धरे इन प्राण को।
देह-विषय-भोगों में यह, जब तक न छोड़े मोह को॥

अन्वयार्थ - **[यावत्]** जब तक **[देहप्रधानेषु विषयेषु]** देहप्रधान विषयों में **[ममत्वं]** ममत्व को **[न त्यजति]** नहीं छोड़ता, **[कर्ममलीमसः आत्मा]** तब तक

कर्म से मलिन आत्मा **[पुनः पुनः]** पुनः-पुनः **[अन्यान् प्राणान्]** अन्य-अन्य प्राणों को **[धारयति]** धारण करता है।

टीका - जो इस आत्मा को पौद्गलिक प्राणों की संतानरूप प्रवृत्ति है, उसका अन्तरंग हेतु शरीरादि का ममत्वरूप उपरक्तपना है, जिसका मूल (निमित्त) अनादि पौद्गलिक कर्म है।

भावार्थ - द्रव्यप्राणों की परम्परा चलते रहने का अन्तरंगकारण अनादि पुद्गल कर्म के निमित्त से होनेवाला जीव का विकारी परिणमन है। जब तक जीव, देहादि विषयों के ममत्वरूप विकारी परिणमन को नहीं छोड़ता, तब तक उसके निमित्त से पुनः -पुनः पुद्गल कर्म बँधते रहते हैं और उससे पुनः-पुनः द्रव्यप्राणों का सम्बन्ध होता रहता है ॥१५० ॥

प्रवचन नं. १५९ का शेष ज्येष्ठ कृष्ण १२ शनिवार, ०५ जुलाई १९७५

१५० (गाथा) **अब, पौद्गलिक प्राणों की संतति की (प्रवाह की-परम्परा की) प्रवृत्ति का अन्तरंग हेतु सूत्र द्वारा कहते हैं -**

आदा कम्ममलिमसो धरेदि पाणे पुणो पुणो अण्णे।
ण चयदि जाव ममत्तिं देहपधाणेसु विसयेसु।।१५०।।

कर्म-मल से मलिन जीव, पुनि-पुनि धरे इन प्राण को।
देह-विषय-भोगों में यह, जब तक न छोड़े मोह को॥

आहा... ! शरीर, इन्द्रियाँ जड़ की पर्याय है। मन-वचन-काया भी जड़ की पर्याय है, उसके प्रति सुन्दरता की और अनुकूलता की (वृत्ति का) भाव होने पर वेग उल्लसित हो कि ओ...हो... ! यह सब प्राण ठीक है, यह शरीर ठीक है... आ...हा... ! ऐसा जो मिथ्यात्वभाव है, वह जीव के आनन्दप्राण को घात करता है। पर को घाते या न घाते, वह तो व्यवहार है। समझ में आया ? उसकी प्रवृत्ति का (अन्तरंग हेतु) कहते हैं।

टीका - जो इस आत्मा को.... टीका में इसकी व्याख्या की है। देखा ?**'अयमात्मा'**

भगवान आत्मा! '**स्वभावेन भावकर्मद्रव्यकर्मनोकर्ममलरहितत्वेनात्यन्तनिर्मलोऽपि**' संस्कृत में है, बहुत सादी संस्कृत है। जयसेनाचार्यदेव की संस्कृत बहुत अच्छी! भगवान आत्मा तो ऐसा है कि '**स्वभावेन भावकर्मद्रव्यकर्मनोकर्ममलरहितत्वेनात्यन्तनिर्मल**' है। शुद्ध निर्मलानन्द वस्तु है। '**व्यवहारेणानादिकर्मबन्धवशान्मलीमसो**' कर्म बन्ध की व्याख्या करते हुए यह (व्याख्या की है) आहा...हा...!

जो इस आत्मा को पौद्गलिक प्राणों की संतानरूप प्रवृत्ति है, उसका अन्तरंग हेतु अनादि पौद्गलिक कर्म जिसका मूल (निमित्त) है.... यह पुद्गल कर्म जिसका निमित्त है। **ऐसा शरीरादि का ममत्वरूप उपरक्तपना है।** शरीर, वाणी और प्राण की ममता। आहा...हा...! यह प्राण मेरे, यह शरीर मेरा, शरीर के आकार से बनी हुई यह सब इन्द्रियाँ मेरी, इनकी चेष्टाएँ होती हैं, वह सब मुझसे होती हैं, मेरी है — ऐसा जो शरीर के प्रति ममत्वरूप एकपना, आहा...हा...! वह पौद्गलिक प्राणों की प्रवाह (रूप) प्रवृत्ति का हेतु है।

भावार्थ - द्रव्य प्राणों की परम्परा चलते रहने का.... यह दस प्राण मिलते रहने का, परम्परा चलते रहने का **अन्तरंगकारण अनादि पुद्गल कर्म के निमित्त से होनेवाला जीव का विकारी परिणमन है।** आहा...हा...! कर्म तो निमित्त है। निमित्त के लक्ष्य से होनेवाला विकारी परिणाम, द्रव्यप्राणों का प्रवाह-सन्तति चलती आती है, उसका यह कारण है। आहा...हा...!

जब तक जीव देहादि विषयों के ममत्वरूप.... देहादि विषय, प्राण, मन-वचन-काय... आहा...हा...! **ममत्वरूप विकारी परिणमन को नहीं छोड़ता....** ममत्व की व्याख्या की है न? '**निस्नेहमिच्चमत्कारपरिणतेर्विपरीतां**' (जयसेनाचार्यदेव की संस्कृत टीका में) है। निस्नेहमिच्चमत्कारपरिणत! स्नेहरहित भगवान आत्मा! च्चित्मकार से परिणत! आहा...हा...! उससे विपरीत, यह ममता है। ममता की व्याख्या करते हुए यह (व्याख्या) की है। आहा...! निस्नेह — ऐसा कहा। च्चिमत्कारपरिणत! च्चिमत्कार! ज्ञान के चमत्कार का परिणमन चाहिए उससे विपरीत यह ममता है। चैतन्यचमत्कार परिणति से विपरीत, हाँ! द्रव्य से विपरीत — ऐसा नहीं लिया। चैतन्यचमत्कार की परिणति-पर्याय

है, वह तो ममतारहित परिणति है। चैतन्यचमत्कार की परिणति रागरहित है। उससे विपरीत वह ममता है। आहा...हा...! जयसेनाचार्यदेव ने भी एक-एक पद को, उससे विपरीतभाव से (यह) अविपरीत है — ऐसा कहा है। आचार्य ने टीका की तो भिन्न-भिन्न प्रकार की होती है न? आहा...हा...!

(अब कहते हैं), **'देहपधाणेसु विसयेसु देहविषयरहितपरमचैतन्यप्रकाश-परिणतेः'** देह, विषयरहित परमचैतन्य भगवान के प्रकाश की परिणति चाहिए। उससे **'प्रतिपक्षभूतेषु देहप्रधानेषु'** लो! आहा...हा...! **जब तक जीव, देहादि विषयों के ममत्वरूप विकारी परिणमन....** यह जड़ प्राण मेरे हैं, पाँच इन्द्रियाँ, मन-वचन-काया, काया मेरी है, भाषा मेरी है, भाषा मुझसे होती है, शरीर के प्राण का टिकना, वह मैं हूँ, वह मेरा स्वरूप है — ऐसे पर की जिसे ममता है... आहा...हा...! **(उसके निमित्त से पुनः-पुनः) पुद्गल कर्म बँधते रहते हैं....** पुनः-पुनः पुद्गल कर्म बाँधता है। आहा...हा...! **और उससे पुनः-पुनः द्रव्यप्राणों का सम्बन्ध होता रहता है।**

द्रव्यप्राण की ममता से नया कर्म बँधता है; नया कर्म बँधने से वापस नये प्राण मिलते हैं; प्राण की ममता से फिर नया कर्म (बँधता है); उससे फिर (द्रव्यप्राण मिलते हैं), आहा...हा...! उसमें भगवान कहीं नहीं आता — ऐसा कहते हैं। रहटचक यह हुआ। द्रव्यप्राण से भिन्न भगवान की दृष्टि, उसका स्वीकार्य और उसके अनुभव बिना यह प्राण है, वह मैं हूँ ऐसी जो ममता है, उससे नये कर्म बाँधे और नये कर्म से फिर नये द्रव्यप्राण मिलें। फिर उसकी ममता से नये कर्म बँधें। आहा...हा...! जिसे पर में उत्साह है न, उसकी बात की है। यह पाँच इन्द्रियाँ, भाषा आदि काया की अनुकूलता में जिसका उत्साह है, उसमें जिसका उत्साह है (उसकी बात करते हैं)। 'विषय उत्सव' आया था न? आहा...हा...! उत्सव! इसने पर में उत्सव माना! आहा...हा...! विषय उत्सव! आहा...हा...!

मुमुक्षु : उत्सव है, इसलिए लड्डू बनाऊँ, दूसरा बनाऊँ....

पूज्य गुरुदेवश्री : बहुत प्रकार से...

यह तो कहते हैं कि इन इन्द्रिय के प्राण को विषय बनाकर विषय उत्सव किया। आहा...हा...! आत्मा का विषय भूल गया। यह विषय (याद रखा)। आहा...हा...!

विवाह के समय देखें तो मानो पागल की तरह घूमता है! लाख-दो लाख खर्च करना हो, करोड़-दो करोड़ हो, मारवाड़ी के विवाह हो, मारवाड़ी बहुत खर्च करते हैं। आहा...हा...! कहते हैं कि यह किसका उत्सव है प्रभु? विषय का उत्सव है, तेरा उत्सव नहीं। आहा...हा...!

यह अभिनन्दन दें, (तब) पाँच-दस हजार लोग एकत्रित होते हैं। अभी दिल्ली में या वहाँ कहीं किया नहीं था? (एक मुमुक्षु) उस दिन रात्रि में वहाँ होंगे। दस लाख (लोग) बन्दूक की आवाज की! तोप चलायी! इतने लोग! उसे तो ऐसा कहना था कि ऐसा (सामान्यजन को) होता है तो तीर्थंकर को इससे विशेष हो उसमें क्या? वह तो अलौकिक है! ऐसी बात है। उस दिन उसका राज था न? 'एडवर्ड' या जार्ज का था। कल यह शब्द आया था। तोप और बन्दूक! कितने लाख लोग! सलाम! देखो, पूर्व के पुण्य के कारण विषय उत्सव! यह विषय उत्सव! आहा...हा...! कितने लोग! मर गया। आहा...हा...! मन-वचन की क्रिया विषय का रोग है। आहा...हा...!

वह राजा नहीं? एक बड़ा राजा नहीं था? एक रात में एक करोड़ खर्च किये! एक करोड़! विवाह के पहले दिन में एक करोड़ (खर्च किये)! पैसे बहुत होंगे, बहुत करोड़पति होगा। राजा था, राजा! एक रात के एक करोड़! उसे मानो उत्सव... उत्सव...! दीपक और ये बन्दूकें और आतिशबाजी... ओहो...हो...! क्या है यह? विषय का उत्सव है। तेरा तो वहाँ मरण है। आहा...हा...! वहाँ तेरी अहित है! आहा...हा...!

जिसे भगवान आत्मा की ओर का रस और स्वभाव का भान नहीं है, उसे ऐसे विषय के उत्सव में भी मजा लगता है। उसमें लुट जाता है, इसका उसे पता नहीं है।

इन बनिये को विवाह में देखो न! भले दो-पाँच-दस हजार खर्च होते हों, उसमें भी मण्डप और.... क्या कहलाता है तुम्हारा? बैंडबाजा! उसमें अच्छे वस्त्र दे और दो से पाँच सेर तोला सोना बिछाये (प्रदर्शित करे), वहाँ सबको... आहा...हा...! (हो जाता है)। क्या है यह? अरे! प्रभु! तेरी वस्तु इसमें घात हो जाती है। भाई! इसके उत्साह में तेरा आनन्द लुट जाता है। आहा...हा...!

प्रश्न : चक्रवर्ती उसकी लड़की को कुछ नेग की रस्म नहीं करता होगा?

समाधान : कौन करे? वह होने के काल में होता है। उसमें ज्ञानी उदास है, आहा... ! वह विकल्प का भी स्वामी नहीं। चक्रवर्ती समकिती हो, पुत्री के विवाह में तो अरबों का खर्च होता है, अरबों रुपये का! वहाँ मैं नहीं हूँ, वह तो जड़ के कारण होता है। आहा...हा... ! मैं तो आनन्दस्वरूप आत्मा हूँ, मेरे आनन्द की लहर का मजा तो मुझमें है। आहा...हा... !

ऐसे प्राणों की ममता के कारण.... देहादि लिया है न? **देहादि विषयों के ममत्वरूप विकारी परिणमन को नहीं छोड़ता....** आहा...हा... ! **उसके निमित्त से पुनः-पुनः पुद्गल कर्म बँधते रहते हैं और उससे पुनः-पुनः द्रव्यप्राणों का सम्बन्ध होता रहता है।** लो! यह प्रवृत्ति का हेतु कहा। ●

वैसा ही तेरा स्वरूप है

भाई, प्रभु! तू कैसा है, तेरी प्रभुता की महिमा कैसी है, इसे तूने नहीं जाना है। तू अपनी प्रभुता के भान बिना बाहर में जिस-तिस के गीत गाया करता है, तो उसमें तुझे अपनी प्रभुता का लाभ नहीं है। तूने पर के गीत तो गाये परन्तु अपने गीत नहीं गाये। भगवान की प्रतिमा के सामने कहता है कि 'हे नाथ, हे भगवान! आप अनन्त ज्ञान के स्वामी हो।' वहाँ सामने से वैसी ही प्रतिध्वनि आती है कि 'हे नाथ, हे भगवान! आप अनन्त ज्ञान के स्वामी हो...' तात्पर्य यह है कि जैसा परमात्मा का स्वरूप है, वैसा ही तेरा स्वरूप है, उसे तू पहचान।

- पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी

गाथा - १५१

अथ पुद्गलप्राणसंततिनिवृत्तिहेतुमन्तरङ्गं ग्राहयति -

जो इंदियादिविजई भवीय उवओगमप्पगं झादि।
कम्मेहिं सो ण रज्जदि किह तं पाणा अणुचरंति।।१५१।।

य इन्द्रियादिविजयी भूत्वोपयोगमात्मकं ध्यायति।
कर्मभिः स न रज्यते कथं तं प्राणा अनुचरन्ति।।१५१।।

पुद्गलप्राणसंततिनिवृत्तेरन्तरङ्गो हेतुर्हि पौद्गलिककर्ममूलस्योपरक्तत्वस्याभावः। स तु समस्तेन्द्रियादिपरद्रव्यानुवृत्तिविजयिने भूत्वा समस्तोपाश्रयानुवृत्तिव्यावृत्तस्य स्फटिकमणेरिवात्यन्तविशुद्धमपयोगामात्रमात्मानं सुनिश्चलं केवलमधिवसतः स्यात्। इदमत्र तात्पर्य - आत्मनोऽत्यन्तविभक्तत्वसिद्धये व्यवहारजीवत्वहेतवः पुद्गलप्राणा एवमुच्छेत्तव्याः।।१५१।।

अथेन्द्रियादिप्राणानामभ्यन्तरं विनाशकारणमावेदयति - **जो इंदियादिविजई भवीय** यः कर्तातीन्द्रियात्मोत्थसुखामृतसंतोषबलेन जितेन्द्रियत्वेन निःकषायनिर्मलानुभूतिबलेन कषायजयेन चेन्द्रियादिविजयी भूत्वा **उवओगमप्पगं झादि** केवलज्ञानदर्शनोपयोगं निजात्मानं ध्यायति, **कम्मेहिं सो ण रज्जदि** कर्मभिश्चिच्चमत्कारात्मनः प्रतिबन्धकैर्ज्ञानावरणादिकर्मभिः स न रज्यते, न बध्यते। **किह तं पाणा अमुचरंति** कर्मबन्धाभावे सति तं पुरुषं प्राणाः कर्तारः कथमनुचरन्ति कथमाश्रयन्ति। न कथमपीति। ततो ज्ञायते कषायेन्द्रियविजय एव पञ्चेन्द्रियादिप्राणानां विनाशकारणमिति।।१५१।।

अब, पौद्गलिक प्राणों की संतति की निवृत्ति का अन्तरंग हेतु समझाते हैं —

जो इन्द्रियों को विजयकर, उपयोग आत्मा ध्याय रे।
वह कर्म से रंजित नहीं, क्यों प्राण उसको अनुसरे ?॥

अन्वयार्थ – **[यः]** जो **[इन्द्रियादिविजयीभूत्वा]** इन्द्रियादि का विजयी होकर

[उपयोगं आत्मकं] उपयोगमात्र आत्मा का **[ध्यायति]** ध्यान करता है, **[सः]** वह **[कर्मभिः]** अन्य कर्मों द्वारा **[न रज्यते]** रंजित नहीं होता; **[तं]** उसे **[प्राणाः]** प्राण **[कथं]** कैसे **[अनुचरंति]** अनुसरेंगे ? (अर्थात् उसके प्राणों का सम्बन्ध नहीं होता।)

टीका - वास्तव में पौद्गलिक प्राणों के संतति की निवृत्ति का अन्तरंग हेतु, पौद्गलिक कर्म जिसका कारण (-निमित्त) है — ऐसे उपरक्तपने[१] का अभाव है और वह अभाव, जो जीव समस्त इन्द्रियादिक परद्रव्यों के अनुसार परिणति का विजयी होकर, (अनेक वर्णोंवाले) आश्रयानुसार[२] सारी परिणति से व्यावृत्त (पृथक्, अलग) हुए स्फटिकमणि की भाँति, अत्यन्त विशुद्ध उपयोगमात्र अकेले आत्मा में सुनिश्चलतया बसता है, उस जीव के होता है।

यहाँ यह तात्पर्य है कि आत्मा की अत्यन्त विभक्तता सिद्ध करने के लिए व्यवहारजीवत्व के हेतुभूत पौद्गलिक प्राण इस प्रकार उच्छेद करनेयोग्य हैं।

भावार्थ - जैसे अनेक रंगयुक्त आश्रयभूत वस्तु के अनुसार जो (स्फटिकमणि का) अनेक रंगी परिणमन है, उससे सर्वथा व्यावृत्त हुए स्फटिकमणि के उपरक्तपने का अभाव है; उसी प्रकार अनेक प्रकार के कर्म व इन्द्रियादि के अनुसार जो (आत्मा का) अनेक प्रकार का विकारी परिणमन है, उससे सर्वथा व्यावृत्त हुए आत्मा के (जो एक उपयोगमात्र आत्मा में सुनिश्चलतया बसता है, उसके) उपरक्तपने का अभाव होता है। उस अभाव से पौद्गलिक प्राणों की परम्परा अटक जाती है।

इस प्रकार पौद्गलिक प्राणों का उच्छेद करने योग्य है ॥१५१ ॥

प्रवचन नं. १५९ का शेष ज्येष्ठ कृष्ण १२ शनिवार, ०५ जुलाई १९७५

अब, अब, पौद्गलिक प्राणों की संतति की निवृत्ति का अन्तरंग हेतु समझाते हैं — आहा... !

१. उपरक्तपना = विकृतपना; मलिनपना; रंजितपना; उपरागयुक्तपना, [उपराग के अर्थ के लिए गाथा १२६ का फुटनोट देखो]

२. आश्रय = जिसमें स्फटिकमणि रखा हो वह वस्तु।

जो इंदियादिविजई भवीय उवओगमप्पगं झादि।
कम्मेहिं सो ण रज्जदि किह तं पाणा अणुचरंति।।१५१।।

जो इन्द्रियों को विजयकर, उपयोग आत्मा ध्याय रे।
वह कर्म से रंजित नहीं, क्यों प्राण उसको अनुसरे ?॥

उसे शरीर क्यों मिलता है ? (ऐसा) कहते हैं आहा...हा... ! यह संस्कृत में है। '**कर्तातीन्द्रियात्मोत्थसुखामृतसंतोषबलेन**' भगवान आत्मा ! '**अतीन्द्रियात्मोत्थसुखामृत-संतोषबलेन जितेन्द्रियत्वेन**' (अर्थात्) इन्द्रियों को जिसने जीता है। आहा...हा... ! '**निःकषायनिर्मलानुभूतिबलेन कषायजयेन**' '**अतीन्द्रियात्मोत्थसुखामृतसंतोषबलेन जितेन्द्रियत्वेन**' (उसके द्वारा) इन्द्रियों को जीती और कषाय को '**निःकषायनिर्मलानुभूति-बलेन कषायजयेन**' आ...हा... ! आहा...हा... !

टीका - वास्तव में पौद्‌गलिक प्राणों के संतति की निवृत्ति का अन्तरंग हेतु.... वह शरीर और प्राण मिलना, इनका प्रवाह-संतति का अभाव (अर्थात्) निवृति का अन्तरंग हेतु **पौद्‌गलिक कर्म जिसका कारण (-निमित्त) है ऐसे उपरक्तपने का अभाव है....** (अर्थात्) मलिनपने का अभाव है। आहा...हा... ! अब कहेंगे, **और वह अभाव जो जीव समस्त इन्द्रियादिक परद्रव्यों के अनुसार परिणति का विजयी होकर,....** आहा...हा... ! जो जीव समस्त पाँचों इन्द्रियों, मन आदि परद्रव्यों के अनुसार परिणति का विजयी होकर, आहा...हा... !

(अनेक वर्णोंवाले) आश्रयानुसार सारी परिणति से व्यावृत्त (पृथक्, अलग) हुए स्फटिकमणि.... जिसमें रखते हैं, उससे भिन्न हो गया — ऐसा कहते हैं। स्फटिकमणि का आश्रय लाल आदि बर्तन हो, उसे रखे तो लाल आदि दिखती है न ? (आश्रय अर्थात्) जिसमें स्फटिकमणि रखा हो, वह वस्तु। लाल-पीली कोई नीचे वस्तु हो ऐसे **आश्रयानुसार सारी परिणति से....** निवृत्त हुआ स्फटिकमणि। आहा...हा... ! स्फटिकमणि को जो आश्रय स्थान है, उससे रहित है।

अत्यन्त विशुद्ध उपयोगमात्र अकेले आत्मा में सुनिश्चलतया बसता है,.... लो ! (संस्कृत गाथा में) पाठ है न यह ? '**उपयोगमात्मकं ध्यायति**' आहा...हा... ! ऐसा

जो अत्यन्त विशुद्ध उपयोगमात्र आत्मा.... '**केवलज्ञानदर्शनोपयोगं निजात्मानं ध्यायति**' (जयेसनाचार्यदेव की संस्कृत टीका में है) केवलज्ञान और दर्शन — अकेला दर्शन और ज्ञान! ऐसा स्वभाव, ऐसा जो उपयोग, उसे '**निजात्मानं ध्यायति**' ऐसा उपयोगरूप आत्मा!... आहा...हा...! उसका जो ध्यान करता है। निर्मल शुद्ध ज्ञानदर्शन उपोग ऐसा जो आत्मा (उसे) जो ध्यान की पर्याय विषय बनाती है, अर्थात् उसका ध्यान करती है — ऐसा। आहा...हा...!

उपयोगमात्र अकेले आत्मा में सुनिश्चलतया बसता है, उस जीव के होता है। विकार (से) रहितपना ऐसे जीव को होता है। पौद्गलिक प्राण का अन्तरंग कारण जो ममत्व, वह जिसने उपयोग आत्मा का ध्यान किया, वह उपरक्त-मलिन परिणाम से रहित होता है। आहा...हा...! यह तो बाहर की बातों में अकेला फँस गया है।

हीराजी महाराज बेचारे कहते थे, हाँ! शान्त प्रकृति, मन्दकषाय। (वे कहते थे कि) अहिंसा-किसी भी प्राणी को मत मारो। तुमने देखा था या नहीं? वहाँ 'काँप' में नीचे जलाये थे। ७४, चैत्र कृष्ण अष्टमी, ५७ वर्ष हुए न? ५७ वर्ष हुए! नीचे जलाये थे, पुल के नीचे। ऐसा कहते बेचारे, हाँ! शान्ति से कहते - ज्ञानी का यह सार है — किसी प्राणी को जरा भी मारना नहीं, बस! वह प्राणी पर, हाँ! स्वयं ने नहीं! पर प्राणी को मत मारो, वह अहिंसा है, यह सिद्धान्त का सार है — ऐसा वे कहते थे। क्या करे? सम्प्रदाय में उनका आचरण दूसरों की अपेक्षा अलग प्रकार का, ५८ वर्ष की उम्र, छह-छह गाँव का विहार, स्वयं आहार लेने जाते, शिष्य को लेने भेजें ऐसा नहीं। उसे क्या कहते हैं? चटाई! स्वयं चटाई बिछाते। चटाई बिछाने का शिष्य को नहीं कहते, किसी को नहीं कहते, स्वयं बिछाते।

प्रश्न : पैर दबाने का नहीं कहते?

समाधान : नहीं, किसी को नहीं कहते। पैर दबाने की बात क्या? चटाई का नहीं कहते, न! वैसे बहुत (सज्जन) मनुष्य, सम्प्रदाय की शैली अनुसार बहुत सज्जन मनुष्य! परन्तु यह वस्तु.... अरे...रे...! यह चीज सुनने को नहीं मिली।

आत्मा निर्मलानन्द प्रभु का ध्यान करने से मलिन परिणाम का उत्पत्ति नहीं होती, उसे मलिन परिणाम का अभाव किया — ऐसा कहा जाता है। आहा...हा...! पर की दया

का भाव, वह मलिन परिणाम है। आहा...हा... ! उसे पुरुषार्थसिद्ध्युपाय में हिंसा कहा है। पर प्राणी को बचाने का भाव विकल्प है, राग है, वह हिंसा है। जीव की स्वयं की हिंसा है। आहा...हा... ! ऐसे निर्मल वीतराग के वाक्य... अरे ! जिन्हें सुनने को नहीं मिले, वे कहाँ किस प्रकार बेचारे उद्धार करें ? लो ! भाई ! सुनने का आया। आ...हा... !

(हीराजी महाराज) 'चूड़ा' में बहुत आते, चूड़ावालों को प्रेम बहुत था। राणपुर, चूड़ा, बोटाद, नागनेश, लाठी (सबका) बहुत प्रेम ! स्वर्गस्थ हो गये तब लोग रोते थे। चैत्र कृष्ण अष्टमी को स्वर्गस्थ हो गये और नौवीं को उठाया, लोग रोते... पाँच-पाँच लाख, दस-दस लाख के आसामी (रोते), आर्यिकायें रोतीं, साधु रोते ऐसे व्यक्ति थे, परन्तु अरे...रे... ! ऐसी बात सुनने को नहीं मिली। ऐसी दुर्लभ चीज है बापू ! समझ में आया ?

यहाँ कहते हैं कि मलिन परिणाम के अभाव का हेतु कौन ? अन्तरंग हेतु है, कहते हैं। आहा...हा... ! यह अन्तरंग हेतु शुद्ध ज्ञान, दर्शन उपयोगमय प्रभु ! इस उपयोग का ध्यान... आहा...हा... ! ऐसे शुद्ध उपयोग का ध्यान, वह मलिन परिणाम के अभाव का अन्तरंग हेतु है। समझ में आया ?

अत्यन्त विशुद्ध उपयोगमात्र आत्मा। अमृतचन्द्राचार्यदेव की भाषा इतनी है। जयसेनाचार्य की (ऐसी है)। **'केवलज्ञानदर्शनोपयोगं निजात्मानं ध्यायति'** आहा...हा... ! अकेला विशुद्ध स्वभाव, ध्रुव निर्मलानन्द प्रभु का जो ध्यान करता है। **'ध्यायति'** है न ? (अर्थात्) उपयोगमात्र आत्मा को ध्याता है। आहा...हा... ! भगवान शुद्ध उपयोगस्वरूप को धाता है, ध्याता है, उसे धाता है।

माँ के आँचल में से बालक दूध पीता है न ? कहाँ उत्पन्न होता है, देखो ! आहा...हा... ! माँस में दूध उत्पन्न होता है ! यहाँ तो आनन्द में से दूध उत्पन्न होता है, कहते हैं। आहा...हा... ! शुद्ध चैतन्यघन उपयोगस्वरूप प्रभु को ध्यावे, ध्यान करे, उसे ध्यावे अर्थात् धाता है। उसके आनन्द का स्वाद लेता है। आहा...हा... ! माँ के स्तन में दूध होता है, वह बालक (धाता है) । कुदरत की दशा देखो न ! कहो, वहाँ माँस में दूध होता है ! और फिर वह बालक पीता है ! बालक को पता भी नहीं परन्तु वह संज्ञा है तो वहाँ (पीने जाता है) यहाँ तो आनन्द के नाथ प्रभु का जो ध्यान करता है, वह ध्याता है, उसे चूसता है, उस

आनन्द के स्वाद का वेदन करता है वह। मलिन परिणाम के अभाव का कारण है; दूसरा कोई कारण है नहीं। आहा...हा...! समझ में आया?

'होंशिड़ा मत होंश न कीजै...' सज्झाय आती है, वे चार सज्झाय है न? उसमें यह आता है। 'होंशिड़ा मत होंश न कीजै...' बापू! कहाँ उत्साह करता है? भाई! तेरे हर्ष के....

उपयोग आत्मा! भाषा देखो, ओहो...हो...! **'उपयोगम् आत्मकं'** ऐसा। आत्मा कैसा उसकी व्याख्या की — रागवाला, पुण्यवाला — ऐसा नहीं। **'उपयोगम् आत्मकं'** आहा...हा..! ओहो! आचार्य की भाषा सरल! व्यवहार से (सरल) भाषा तो भाषा है। उसमें निमित्तपना विकल्प का है। निमित्तपना था, इसलिए भाषा हुई है — ऐसा नहीं है, तथापि भाषा तो ऐसा कहे न? **'वोच्छामि समयपाहुडम्'** मैं समयप्राभृत को कहूँगा — ऐसा कहा न? देखो! वहाँ फिर विवाद निकालते हैं! (कि) देखो! कहते हैं न? कहूँगा... कहूँगा... कहते हैं। अरे...! सुन न भाई! उस प्रकार का भाव-विकल्प है और भाषा उस प्रकार उसके कारण निकलेगी, आहा...हा...!

ऐसा आत्मा... अपने **अत्यन्त विशुद्ध उपयोगमात्र आत्मा में....** विशुद्ध निर्मल आत्मा! देखो! यहाँ विशुद्ध शब्द प्रयोग किया! ए...ई...! देखो, विशुद्ध... विशुद्धभाव! क्या अपेक्षा कहाँ है (वह समझना चाहिए)। यह तो विशुद्ध उपयोगमात्र त्रिकाल! फिर ध्याता है, वह तो वर्तमान पर्याय है। पहले ध्याता है कहा न? ध्याता है का अर्थ सुनिश्चलपने बसता है — यह पर्याय हुई। ध्यावे शब्द पड़ा है न? उसका अर्थ यह किया कि अत्यन्त विशुद्ध **अत्यन्त विशुद्ध उपयोगमात्र आत्मा में....** अकेले आत्मा में **सुनिश्चलपने...** ध्याता है अर्थात् उसमें **बसता है,....** आहा...हा...! वह प्राण का कारण ऐसा जो अन्तरंग विकारी भाव, उसका अभाव होकर, उसे प्राण नहीं मिलते, उसे शरीर नहीं मिलता, कहते हैं। आहा...हा...! भाई, ऐसा कहाँ था? भाग्यशाली तुम, (इन लोगों को) किसी को मिला नहीं था। निवृत्ति लेकर बैठे हैं न! आहा...हा...! ऐसा अन्दर भगवान! विशुद्ध स्वरूप! उसे ध्याता है, उसकी व्याख्या की। भाई! आहा...हा...! **उसमें बसता है।** आहा...हा...!

उपयोगमात्र आत्मा में.... आहा...हा...! अरे...! सन्तों ने भी मार्ग को जगत के सामने सरल करके रखा है! आहा...हा...! कहते हैं कि प्राण की ममता में बसी हुई जो

दशा... आहा...हा...! यह जो प्राण है, उसकी ममता में... मोह और द्वेष कहा न? उसमें जो बसा है, वह संसार है, वह नये कर्म का कारण और नये प्राण का कारण है। आहा...हा...! परन्तु जो भगवान आत्मा में सुनिश्चलरूप से बसता है 'उसे ध्याता है' उसकी व्याख्या की। आहा...हा...! ओ...हो...!

अत्यन्त विशुद्ध उपयोगमात्र.... भगवान आत्मा निर्मल स्फटिक जैसा! स्फटिक का दृष्टान्त आया न? स्फटिक जो आश्रय में रहता है, वह आश्रयरहित हो गया। आहा...हा...! अकेला निर्मल स्फटिक रहा, इस प्रकार जिसे राग और द्वेष का आश्रय था, वह छूट गया। यहाँ आश्रय आया। **उस जीव के होता है।** उसे अन्तरंग हेतु-प्राणों की संतति के अभाव का हेतु वह होता है। ऐसे जीव को होता है।

विशेष कहेंगे...

प्रवचन नं. १६० **ज्येष्ठ कृष्ण १३** **रविवार, ०६ जुलाई १९७५**

(प्रवचनसार) १५१ (गाथा)। **यहाँ यह तात्पर्य है कि....** भावार्थ के ऊपर की दो लाईन। **आत्मा की अत्यन्त विभक्तता सिद्ध करने के लिए....** भगवान आत्मा, वह इस व्यवहार जीवत्व के प्राण से पृथक् है।

प्रश्न : कब?

समाधान : अभी। यहाँ कहते हैं न? कि **आत्मा की अत्यन्त विभक्तता सिद्ध करने के लिए व्यवहारजीवत्व के हेतुभूत पौद्गलिक प्राण....** (अर्थात्) यह दस प्राण। यह तो जड़ हैं, यह तो अजीव की अवस्था है। इससे भिन्न करने के लिए... ज्ञेय है न? तो यह ज्ञेय पर है और यह स्वज्ञेय अन्दर भिन्न है। ऐसा ज्ञेय आत्मा... **पौद्गलिक प्राण इस प्रकार उच्छेद करनेयोग्य हैं।** पर से रहित उपयोग आत्मा ज्ञानस्वरूप है। उपयोग अर्थात् त्रिकाल। त्रिकाल जो जानने-देखने के स्वभावस्वरूप आत्मा है, उसमें बसकर अर्थात् उसका ध्यान करके अर्थात् उस वस्तु के उपयोग स्वभाव में एकाग्रता (करके) — बसकर उसे भिन्न करना। (ऐसी बात है।) समझ में आया? क्योंकि यह प्राण तो जड़ — अजीव-मिट्टी की पर्याय है, इन्हें अपना स्वभाव स्थायी जानना-देखना

— ऐसा इसका त्रिकाल उपयोगस्वभाव में बसकर उस ओर के झुकाव में स्वभाव में एकाग्र होकर, यह प्राण जो पुद्गल की पर्यायरूप है, उन्हें भिन्न करना अर्थात् अनुभव होने पर वे पृथक् पड़ जाते हैं। ऐसी बात है।

मुमुक्षु : भिन्न करना... भिन्न करना...

पूज्य गुरुदेवश्री : भिन्न है, उसे भिन्न करना। भेदज्ञान की बात है। आहा...हा...! जिसका अस्तित्व — भगवान आत्मा का ज्ञान और दर्शन उपयोगस्वरूप अस्तित्व त्रिकाल है — ऐसे स्वभाव में बसकर अर्थात् उस स्वभाव का ध्यान करके अथवा वर्तमान ज्ञान में उसे ध्येय बनाकर, शुद्धस्वरूप पूर्ण चिदानन्द आत्मा को वर्तमानदशा में ध्येय बनाकर वहाँ रहना, उसमें स्थिर होना, वह पौद्गलिक प्राण से पृथक् करने का उपाय है। फिर उसे प्राण नहीं मिलते।

यह जो द्रव्यप्राण हैं, उन्हें अनुसरकर मोह और राग-द्वेष होने से वे नवीन कर्मबन्ध का कारण था, वह भगवान आत्मा जानन और दर्शनस्वभावरूप त्रिकालवस्तु है, उसका आश्रय लेकर, उसे ध्येय बनाकर, उसमें एकाग्र होना, वह जड़प्राण से भिन्न करने का — उच्छेद करने का उपाय है। आहा...हा...!

भावार्थ - जैसे अनेक रंगयुक्त आश्रयभूत वस्तु.... जिसमें स्फटिकमणि रखते हैं — ऐसा बर्तन आदि, थाली या अनेक रंगवाली आश्रयभूत जिसमें रखते हैं — ऐसी वस्तु **के अनुसार जो (स्फटिकमणि का) अनेक रंगी परिणमन है, उससे सर्वथा व्यावृत्त हुए....** अर्थात् भिन्न पड़कर। क्या कहा? **अनेक रंगयुक्त आश्रयभूत वस्तु....** स्फटिकमणि उसके अनुसार **अनेक रंगी परिणमन....** होना। स्फटिक में अनेक रंग का परिणमन होना, **उससे सर्वथा व्यावृत्त हुए....** आहा...हा...! उससे रहित हुए स्फटिकमणि को **उपरक्तपने का अभाव है,....** उसे मलिनपने के परिणमन का अभाव है। मार्ग ऐसा सूक्ष्म है।

उसी प्रकार अनेक प्रकार के कर्म व इन्द्रियादि के अनुसार.... कर्म और इन्द्रियों को अनुसरकर होनेवाला **अनेक प्रकार का विकारी परिणमन....** ऐसा जो दोष और अधर्मभाव, **उससे सर्वथा व्यावृत्त हुए आत्मा...** आहा...हा...! पर का अनुसरण

छोड़कर — कर्म, इन्द्रियादि का अनुसरण छोड़कर शुद्ध चैतन्य उपयोग को अनुसरण करके जो परिणाम होते हैं, उनसे अत्यन्त व्यावृत्त हुआ। उस विकारी भाव से... आहा...हा... ! भिन्न पड़ा हुआ भगवान आत्मा ! अन्दर का मार्ग — भिन्न पड़ने का उपाय अलौकिक है !

चैतन्य भगवान ! अन्दर शब्द है। **'केवलज्ञानदर्शनोपयोगं निजात्मानं ध्यायति'** है न ? संस्कृत टीका में है। आहा...हा... ! **'कर्मभिश्चिच्चमत्कारात्मनः प्रतिबन्धकैर्ज्ञा-नावरणादिकर्मभिः स न रज्यते'** वह जीव, कर्म को अनुसरण कर विकार में रंगता था, जड़ इन्द्रियों को अनुसरण करके विकार में रंगता था, उसे चैतन्य का अनुसरण करके परिणति करने से उस रंग से व्यावृत्त अर्थात् भिन्न पड़ जाता है। कहो, ऐसा स्वरूप है ! पहले तो एकेन्द्रिया, दोइन्द्रिया... तस्स मिच्छामि दुक्खडं (सरल) था। भाई ! हो गया। परन्तु वह मिच्छामि दुक्खडं कब ? कि पर को अनुसरण करके होनेवाले भाव को छोड़कर स्व को अनुसरण कर परिणाम करे, तब तस्स मिच्छामि दुक्खणं हुआ।

मुमुक्षु : स्व और पर के भेदज्ञान की बात भी कहाँ है ?

पूज्य गुरुदेवश्री : वहाँ है ही कहाँ ? आहा...हा... ! भाग्यशाली जीवों को यह बात मिलती है। आहा...हा... ! फिर कहेंगे। अपना जो चैतन्य अस्तित्व है, उससे पुद्गल के परिणाम का अस्तित्व तो भिन्न है। यह शरीर इन्द्रियाँ, यह सब जड़ की दशाएँ वे भगवान आत्मा के अस्तित्व से इनका अस्तित्व अलग चीज है। आहा...हा... !

(जो एक उपयोगमात्र आत्मा में....) टीका में आया था न यह ? उपयोग — जानना-देखना — ऐसा जिसका एकरूप स्वभाव। स्वभाववान आत्मा, जिसका स्वभाव स्थायी। जैसे वस्तु स्थायी है, वैसे उसका ज्ञान-दर्शन-स्वभाव शाश्वत्, असली, अविनाशी स्वभाव है। आहा...हा... ! ऐसे अविनाशी स्वभाव में — अकेले उपयोगमात्र आत्मा में, ऐसा। **(सुनिश्चलतया बसता है,....)** इन्द्रियाँ, कर्म और शरीर आदि को अनुसरण करके जो विकारी परिणाम होते थे, उसका अनुसरण जिसने अन्दर में छोड़ा है... आहा...हा... ! भगवान आत्मा ! अस्तिरूप उपयोग ज्ञान-दर्शन के स्वभाववाले पदार्थ में बसता है, अर्थात् उसका ध्यान करता है, उस विकार के परिणाम से निवृत्त होता है। कहो, यह वस्तु ऐसी है।

उपरक्तपने का अभाव होता है। जिससे उसे मलिनपरिणाम का अभाव होता है

क्योंकि पर का अनुसरण करना छोड़ा और स्वस्वभाव का अनुसरण किया, उसे मलिन परिणाम का अभाव होता है। समझ में आया? आहा...हा...! जो अपनी चीज से भिन्न चीज है — कर्म, इन्द्रियाँ, शरीर, फिर संस्थान-सहनन कहेंगे। फिर व्यंजनपर्याय कहेंगे। उसे अनुसरण करके जो विकारीभाव होता है, वह संसार है-दु:खरूप है। उसका अनुसरण करना छोड़कर, भगवान ज्ञान-दर्शनस्वभाव, जिसका त्रिकाली स्वभाव उपयोग है। आहा...हा...! उसमें आया न? भेदज्ञान में! उपयोग में उपयोग... आहा...हा...! संवर अधिकार (समयसार गाथा १८१ से १८३) अर्थात्? उपयोग में उपयोग है, अर्थात् स्वस्वभाव को अनुसरण करके होनेवाले परिणाम में आत्मा है। आहा...हा...! समझ में आया? यह धर्म की सूक्ष्म बात है। भाई! अभी तक वह बाहर से माना था न? तस्सूतरी और लोग्गस्स और... भाई!

मुमुक्षु : यह करेंगे तो धर्म होगा।

पूज्य गुरुदेवश्री : होगा, हो गया। बस! प्रौषध करे, सामायिक करे, इसलिए धर्म हो जाये, हो गया! आहा...हा...! क्या धूल (धर्म होगा)। किसे कहना प्रौषध? परद्रव्य को अनुसरण करके होनेवाले परिणाम, वह प्रौषध कहाँ आया? समझ में आया?

भगवान तीन लोक का नाथ, चिदानन्द सहजानन्द प्रभु, जिसकी खान में अनन्त चतुष्टय पड़ा है! ऐसे अन्दर ज्ञान को देखने जाये तो कहीं मर्यादा नहीं — ऐसा अनन्त ज्ञान जिसमें है, जिसमें अनन्त दर्शन है, अनन्त आनन्द है, जिसके अस्तित्व में अनन्त पुरुषार्थ — अनन्त वीर्य है, उस चतुष्टय से लेकर अनन्त गुणों का स्वभाव है, उसे जो अनुसरे... आहा...हा...! उसे पर का अनुसरण करना (छूट जाता है)।

प्रभु! यह नगर लुट गया। अब तो प्रभु! तेरी अक्षय शरण है। आहा...हा...! अक्षय — क्षय न हो — ऐसा जो भगवान आत्मा, उसे हम अब प्रार्थना करते हैं। प्रभु! तेरी नगरी की सम्हाल करने हम जाते हैं। आहा...हा...! यह नगरी तो लुट गयी। भक्ति में थे? थे, बैठे था। उसका अर्थ यह है कि वह परवस्तु है। दस प्राण आदि शिथिल पड़ गये, ढीले पड़ गये, कान पूरा सुने नहीं ऐसा आया था न? आँखों से देखे तो तेज दिखे नहीं, वस्तु दिखे नहीं; पेट में अनाज जाता नहीं, पेट में! अनाज जाये तो वापस फिर जाये, वहाँ पेट लाद

में धन्धा चलता नहीं, (पाचन नहीं होता) उल्टी हो, वमन हो, पचे नहीं, दस्त हो, ऐसी यह जो चीज है, उसकी अस्ति है और उसे अनुसरण तो महा-अधर्म है। आहा...हा...! भगवान का अस्तित्व इस ओर है — ऐसा कहते हैं। आहा...हा...! जहाँ नजर डालने से भगवान पूर्णानन्द विराजमान हैं — ऐसा जो अन्दर आनन्द का नाथ प्रभु, अनन्त आनन्द, अनन्त शान्ति, अनन्त स्वच्छता अनन्त प्रभुता — ऐसी बेहद शक्तियों का सागर प्रभु हैं, उसमें स्थिर हो! आहा...हा...! उसमें वास्तु ले — ऐसा कहते हैं। यहाँ ऐसा कहा न? **सुनिश्चलतया बसता है,...** आहा...हा...!

भगवान! तूने परद्रव्य को अनुसरण करके भाव में वास्तु किया है। प्रभु! वह तो अधर्म में है। आहा...हा...! भगवान अन्तरस्वरूपी अस्ति महा पदार्थ प्रभु है, जिसके गुण की संख्या की हद नहीं और गुण की शक्ति का माप नहीं। आहा...हा...! ऐसी जो दर्शन-ज्ञान उपयोगमयी वस्तु,... यहाँ मूल उपयोग को आत्मा गिना है न? मुख्य यह वस्तु है न? 'उपयोग लक्षण जीवो'! 'उपयोग लक्षण जीवो' — कल नहीं कहा था। उपयोग — त्रिकाल जानना-देखना वह उपयोग, हाँ! उसे अनुसरण करके होनेवाले परिणाम अर्थात् उसमें रहने से होनेवाले परिणाम अर्थात् उसे ध्येय बनाकर होनेवाले भाव, वे विकारी परिणाम से निवर्तते हैं। आहा..हा...! भाई! ऐसा मार्ग है। पूर्वजों को स्थानकवासी में तो यह बात मिली नहीं थी। आहा...हा...! अरे...! पूर्वज - हमारे सम्प्रदाय के गुरु लो न! भाग्य नहीं, अरे...!

परद्रव्य को अनुसरण करके होनेवाले परिणाम, वह अधर्म है। आहा...हा...! उससे व्यावृत — रहित होना हो तो भगवान आत्मा को अनुसरण कर परिणाम करना... आहा...! अर्थात् उसमें बसना अर्थात् उसमें जो अन्दर वास्तु नहीं किया, वह वास्तु करना। आहा...हा...! पूर्ण ज्ञान-दर्शन और आनन्द के स्वभाववाला पदार्थ प्रभु, उसमें वास्तु करना। पर्याय द्वारा उसमें स्थिर होना — ऐसा कहते हैं। आहा...हा...! ऐसी बातें हैं! इसका नाम धर्म। इन धर्म के परिणाम से अधर्म के परिणामों से निवृत्त होता है। आहा...हा...! उसे अब संसार के प्राण नहीं मिलते। कहा है न यह? '**कथं तं प्राणा अनुचरन्ति**' है न? (संस्कृत गाथा में) चौथा शब्द है, चौथी लाईन (पद है)। जिसे यह दस जड़ मिट्टी के

प्राण, इन्द्रिया-शरीर आदि को अनुसरण कर होनेवाला विकार... इस भगवान आत्मा को अनुसरण कर होनेवाला अविकारीभाव शुद्ध उपयोगरूप भाव... आहा...! उससे - विकार से निवृत्त हुआ, उसे अब प्राण कैसे मिलेंगे? यह दस प्राण उसे नहीं मिलेंगे। आहा...हा...! उसे तो अनन्त आनन्द, ज्ञान आदि शुद्ध पूर्ण प्राण (की) प्राप्ति होगी। आहा...हा...! अद्भुत, भाई! ऐसी सब व्याख्या।

उपरक्तपने का अभाव होता है। उस अभाव से पौद्गलिक प्राणों की परम्परा अटक जाती है। अर्थात् उसे नये प्राण नहीं मिलते, विकारी परिणाम से अटका तो विकारी (परिणाम से) बन्ध होता था और उससे प्राण मिलते थे, वे अटक गये। आहा...हा...! **इस प्रकार पौद्गलिक प्राणों का उच्छेद करने योग्य है।** पाँच इन्द्रियाँ, मन, वचन और काया, श्वाँस और आयुष्य का अभाव करने योग्य है, क्योंकि उसमें वस्तु नहीं है। यहाँ है, उसमें नहीं। आहा...हा...! भगवान आत्मा में वह नहीं; इसलिए संयोग से जो प्राप्त होता है, उसका भी अभाव करने योग्य है — ऐसा कहते हैं। आहा...हा...! ध्यान रखे तो समझ में आये — ऐसा है, हाँ! भाषा तो सादी है, भाव भले (सूक्ष्म हो) परन्तु काम तो बापू!

आठ-आठ वर्ष के लड़कों ने काम किया है! आहा...हा...! चक्रवर्ती के आठ-आठ वर्ष के राजकुमार अन्दर में जाकर स्थिर हुए और केवलज्ञान लिया! आहा...हा...! चक्रवर्ती के पुत्र, तीर्थंकर के पुत्र, कितने ही तो आठ वर्ष की उम्र में... आहा...हा...! सवा नौ महीने अन्दर (गर्भ) के, सवा आठ वर्ष बाहर के — ऐसा करके आठ वर्ष, आठ वर्ष में आठ कर्म का नाश किया। आहा...हा...! एक क्षण में अन्दर में जाने से पूर्णानन्द के प्राण की सम्हाल करने से जिन्हें अनन्त ज्ञान-दर्शन के प्राण प्रगट हुए (उसे) यह (जड़) प्राण नहीं रहे। अशरीरी! आहा...हा...! अशरीरी हो गये। बाकी ऐसा नहीं कहते कि हम बालक हैं, इसलिए नहीं समझ में आता। बालक तो शरीर है, आत्मा कहाँ बालक है? युवा शरीर की बहुत मजबूती और फाट... फाट... इन्द्रियों के विषय... आहा...हा...! प्रभु! यह तो जड़ की दशा है न! युवापन तो जड़ की दशा है, वह आत्मा को नहीं, आत्मा युवा नहीं। आहा...हा...! आत्मा तो युवा तब कहलाता है कि स्व को अनुसरण

करके भाव करे और पर को अनुसरण करनेवाले भाव छोड़े, तब वह धर्म में युवा हुआ — ऐसा कहा जाता है। आहा...हा...! और पूर्णपद की प्राप्ति करे, तब वृद्ध कहा और पर को अनुसरण करके भाव करे तब तक बालक है। बालबुद्धि — अज्ञानबुद्धि है। समझ में आया? आहा...हा...!

छोटी-छोटी उम्र में भी देखो न! ऐसे रोग होते हैं न? पचता नहीं, देखो न? वह लड़का अभी आया था। यहाँ बैठा था (पूछा) कहाँ गया? तो कहा, बाहर गया। दस बारह वर्ष का होगा। पेशाब हो जाता है, बाहर बैठा, पूछा, यहाँ बैठा था न? (तो कहता है) बाहर बैठा है। किसी को पथरी का वहम पड़ा होगा। यहाँ देखा तो पथरी नहीं। अन्दर में ही कुछ है, अनायास पेशाब आ जाता है, चाह नहीं रहता। यहाँ बैठा था। अभी तो उगकर खड़ा हुआ है, दस-बारह वर्ष का है। आहा...हा...! यह शरीर की दशाएँ! अनुकूल होवे तब प्रेम करे, प्रतिकूल होवे तब द्वेष करे। दोनों को अनुसरण करके होनेवाले भाव दुःखरूप हैं।

यहाँ कहते हैं कि **इस प्रकार पौद्गलिक प्राणों का उच्छेद करने योग्य है।●**

समझ में आ सके - इतनी सरल भी है

क्षणिक विकार को अपना मानकर, आत्मस्वभाव का अनादर करना ही भावमरण है/मृत्यु है। इस भावमरण का अभाव, अमर आत्मस्वभाव की पहचान से होता है। इसलिए हे भाई! यदि तुझे भव-दुःखों का भय हो तो आत्मा को समझने की प्रीति कर! जन्म-मरण के अन्त की बात अपूर्व है, मूल्यवान् है और जिसे समझने की धगश जागृत होती है, उसे समझ में आ सके - इतनी सरल भी है।

- पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी

गाथा - १५२

अथ पुनरप्यात्मनोऽत्यन्तविभक्तत्वसिद्धये गतिविशिष्टव्यवहारजीवत्वहेतुपर्यायस्वरूप-मुपवर्णयति -

अत्थित्तणिच्छिदस्स हि अत्थस्सत्थंतरम्हि संभूदो।
अत्थो पज्जाओ सो संठाणादिप्पभेदेहिं।।१५२।।

अस्तित्वनिश्चितस्य ह्यर्थस्यार्थान्तरे संभूतः।
अर्थः पर्यायः स संस्थानादिप्रभेदै।।१५२।।

स्वलक्षणभूतस्वरूपास्तित्वनिश्चितस्यैकस्यार्थस्य स्वलक्षणभूतस्वरूपास्तित्वनिश्चित एवान्य-स्मिन्नर्थे विशिष्टरूपतया संभावितात्मलाभोऽर्थोऽनेकद्रव्यात्मकः पर्यायः। स खलु पुद्‌गलस्य पुद्‌गलान्तर इव जीवस्य पुद्‌गले संस्थानादिविशिष्टतया समुपजायमानः संभाव्यत एव। उपपन्नश्चैवंविधः पर्यायः। अनेकद्रव्यसंयोगात्मत्वेन केवलजीवव्यतिरेकमात्रस्यैकद्रव्यपर्यायस्या-स्खलितस्यान्तरवभासनात्।।१५२।।

एवं `सपदेसेहिं समग्गो' इत्यादि गाथाष्टकेन सामान्यभेदभावनाधिकारः समाप्तः। अथानन्तरमेकपञ्चाशद्‌गाथापर्यन्तं विशेषभेदभावनाधिकारः कथ्यते। तत्र विशेषान्तराधिकारचतुष्टयं भवति। तेषु चतुर्षु मध्ये शुभाद्युपयोगत्रयमुख्यत्वेनैकादशगाथापर्यन्तं प्रथमविशेषान्तराधिकारः प्रारभ्यते। तत्र चत्वारि स्थलानि भवन्ति। तस्मिन्नादौ नरादिपर्यायैः सह शुद्धात्मस्वरूपस्य पृथकत्वपरिज्ञानार्थं `अत्थित्तणिच्छिदस्स हि' इत्यादि यथाक्रमेण गाथात्रयम्। तदनन्तरं तेषां संयोगकारणं `अप्पा उवओगप्पा' इत्यादि गाथाद्वयम्। तदनन्तरं शुभाशुभशुद्धोपयोगत्रयसूचनमुख्यत्वेन `जो जाणदि जिणिंदे' इत्यादि गाथात्रयम्। तदनन्तरं कायवाङ्‌गनसां शुद्धात्मना सह भेदकथनरूपेण `णाहं देहो' इत्यादि गाथात्रयम्। एवमेकादशगाथाभिः प्रथमविशेषान्तराधिकारे समुदायपातनका। तद्यथा-अथ पुनरपि शुद्धात्मनो विशेषभेदभावनार्थं नरनारकादिपर्यायरूपं व्यवहारजीवत्वहेतुं दर्शयति-**अत्थित्तणिच्छिदस्स हि** चिदानन्दैकलक्षणस्वरूपास्तित्वेन निश्चितस्य ज्ञातस्य हि स्फुटम्। कस्य। **अत्थस्स** परमात्मपदार्थस्य **अत्थंतरम्हि** शुद्धात्मार्थादन्यस्मिन्

ज्ञानावरणादिकर्मरूपे अर्थान्तरे **संभूदो** संजात उत्पन्नः **अत्थो** यो नरनारकादिरूपोऽर्थः, **पज्जाओ सो** निर्विकारशुद्धात्मानुभूतिलक्षणस्वभावव्यञ्जनपर्यायादन्यादृशः सन् विभावव्यञ्जनपर्यायो भवति स इत्थंभूतपर्यायो जीवस्य। कैः कृत्वा जातः। **संठाणादिप्पभेदेहिं** संस्थानादिरहितपरमात्मद्रव्य-विलक्षणैः संस्थानसंहननशरीरादिप्रभेदैरिति।।१५२।।

अब फिर भी आत्मा की अत्यन्त विभक्तता सिद्ध करने के लिए, व्यवहारजीवत्व के हेतु ऐसी जो गतिविशिष्ट (देव-मनुष्यादि) पर्यायों का स्वरूप कहते हैं —

अस्तित्व-निश्चित अर्थ का, उत्पाद अन्य जो अर्थ में।
वह अर्थ ही पर्याय है, संस्थान आदि से सहित॥

अन्वयार्थ - **[अस्तित्वनिश्चितस्य अर्थस्य हि]** अस्तित्व से निश्चित अर्थ का (द्रव्य का) **[अर्थान्तरे संभूतः]** अन्य अर्थ में (द्रव्य में) उत्पन्न **[अर्थः]** जो अर्थ (भाव) **[स पर्यायः]** वह पर्याय है — **[संस्थानादिप्रभेदैः]** कि जो संस्थानादि भेदों सहित होती है।

टीका - स्वलक्षणभूत स्वरूप-अस्तित्व से निश्चित एक अर्थ का (द्रव्य का), स्वलक्षणभूत स्वरूप-अस्तित्व से ही निश्चित ऐसे अन्य अर्थ में (द्रव्य में) विशिष्टरूप से (भिन्न-भिन्नरूप से) उत्पन्न होता हुआ जो अर्थ (भाव), वह अनेक द्रव्यात्मक पर्याय है। वह अनेकद्रव्यात्मक पर्याय वास्तव में, जैसे पुद्गल की अन्य पुद्गल में (अनेक द्रव्यात्मक उत्पन्न होती हुई देखी जाती है उसी प्रकार, जीव की पुद्गल में संस्थानादि से विशिष्टतया (संस्थान इत्यादि के भेद सहित) उत्पन्न होती हुई अनुभव में अवश्य आती है और ऐसी पर्याय उपपन्न (योग्य घटित, न्याययुक्त) है; क्योंकि जो केवल जीव की व्यतिरेकमात्र है — ऐसी अस्खलित एक द्रव्यपर्याय ही अनेक द्रव्यों के संयोगात्मकरूप से भीतर अवभासित होती है।

भावार्थ - यद्यपि प्रत्येक द्रव्य का स्वरूप-अस्तित्व सदा ही भिन्न-भिन्न रहता है तथापि, जैसे पुद्गलों की अन्य पुद्गल के संबंध से स्कन्धरूप पर्याय होती है, उसी प्रकार जीव की पुद्गलों के सम्बन्ध से देवादिक पर्याय होती है। जीव की ऐसी अनेक द्रव्यात्मक देवादि पर्याय अयुक्त नहीं है; क्योंकि भीतर देखने पर, अनेक द्रव्यों का संयोग होने पर भी,

जीव कहीं पुद्गलों के साथ एकरूप पर्याय नहीं करता, परन्तु वहाँ भी मात्र जीव की (पुद्गल पर्याय से भिन्न) अस्खलित (अपने से च्युत न होनेवाली) एक द्रव्यपर्याय ही सदा प्रवर्तमान रहती है ॥१५२॥

प्रवचन नं. १६० का शेष ज्येष्ठ कृष्ण १३ रविवार, ०६ जुलाई १९७५

अब फिर भी आत्मा की अत्यन्त विभक्तता सिद्ध करने के लिए, व्यवहार जीवत्व के हेतु ऐसी जो गतिविशिष्ट.... यह देव गति आदि, संस्थान आदि मिलते हैं वे, **पर्यायों का स्वरूप कहते हैं —** ओहो...हो...! (यह) प्रवचनसार! वीतराग द्वारा कथित आगम का यह सार है।

मुमुक्षु : अत्यन्त विभक्तपना साधने के लिए।

पूज्य गुरुदेवश्री : (अर्थात्) भिन्न करने के लिए।

अत्थित्तणिच्छिदस्स हि अत्थस्सत्थंतरम्हि संभूदो।
अत्थो पज्जाओ सो संठाणादिप्पभेदेहिं।।१५२।।

अस्तित्व-निश्चित अर्थ का, उत्पाद अन्य जो अर्थ में।
वह अर्थ ही पर्याय है, संस्थान आदि से सहित॥

ओ...हो...हो! ज्ञेय की सादी भाषा करते हैं परन्तु कितनी सरलता से सीधी बात करते हैं। **टीका - स्वलक्षणभूत स्वरूप-अस्तित्व से निश्चित एक अर्थ का (द्रव्य का), स्वलक्षणभूत स्वरूप-अस्तित्व से ही निश्चित ऐसे अन्य अर्थ में....** पहले ऐसा कहा कि **स्वलक्षणभूत स्वरूप-अस्तित्व से ही निश्चित....** एक पदार्थ का (अर्थात्) यह स्वयं। इसे **स्वलक्षणभूत स्वरूप-अस्तित्व से ही निश्चित ऐसे अन्य अर्थ में...** आहा...हा...! अन्य पदार्थ का उसे सम्बन्ध होता है।

स्वलक्षणभूत स्वरूप — **'चिदानन्दैकलक्षणस्वरूपास्तित्वेन निश्चितस्य ज्ञातस्य हि स्फुटम्।'** एक बात और **स्वलक्षणभूत स्वरूप-अस्तित्व से ही निश्चित ऐसे अन्य अर्थ में....** दूसरा पदार्थ भी उसके स्वयं के लक्षणभूत स्वरूप-अस्तित्व से है

— ऐसा पदार्थ है। ऐसा (कहते) हैं। समझ में आया ? आहा...हा... ! शरीर आदि, पाँच इन्द्रिय आदि विभावव्यंजनपर्याय अस्ति है। वह अन्य अर्थ की पर्याय है, वह अन्य पदार्थ की पर्याय है। भगवान आत्मा का स्वलक्षणभूत अस्तित्व तो ज्ञानानन्दस्वभावरूप उसका अस्तित्व है और उसका अन्य पदार्थरूप अस्तित्व है, उसे संयोग में सम्बन्ध है — ऐसा अभी तो कहना है। आहा...हा... !

अन्य अर्थ में (द्रव्य में) विशिष्टरूप से (भिन्न-भिन्नरूप से) उत्पन्न होता हुआ जो अर्थ.... शरीर की इन्द्रियाँ, संहनन, संस्थान तथा अन्य द्रव्य के अस्तित्व में उत्पन्न होती अनेक-अनेक अवस्थाएँ। आहा...हा... ! अपना जो स्वलक्षणभूत अस्तित्व है, वह तो आनन्द और ज्ञान के लक्षण से लक्षित है — ऐसे स्वलक्षणभूत आत्मा के अस्तित्व से अन्य पदार्थ का स्वलक्षण है, वह भिन्न है। आहा...हा... ! उसका भी स्वलक्षणभूत स्वरूप अस्तित्व है या नहीं ? आहा...हा... ! ऐसे अन्य पदार्थ में विशिष्टरूप से उत्पन्न होता हुआ (जो) अर्थ **वह अनेक द्रव्यात्मक पर्याय है....** यह शरीर-व्यंजनपर्याय है, वह अनेक परमाणुओं की पर्याय है। इसका संस्थान अर्थात् आकार और संहनन अर्थात् अन्दर हड्डियों की मजबूती, वह भी अन्य द्रव्य की एक पर्याय है। स्वद्रव्य के साथ अन्य द्रव्य की वह एक पर्याय है — ऐसा कहते हैं। आहा...हा... !

वह अनेक द्रव्यात्मक पर्याय वास्तव में,.... यह शरीर, संहनन और संस्थान (आदि)। यह अनेक परमाणु की (बनी हुई) है न ? यह कहीं एक द्रव्य नहीं, अनेक परमाणु का — जड़ मिट्टी का यह सब आकार है। इसका संस्थान, इसका संहनन, शरीर और आकार आदि। देखो न ! हाथ-पैर के आकार ! किसी के कैसे आकार, (किसी के) कैसे ! दस अंगुली का कहा नहीं था ? दस अंगुलियाँ ऐसे आयी थीं। काम करके दस अंगुलियाँ जीर्ण हो गयीं। नव द्वार ! यह नव द्वार है न ? दो (आँख), दो (कान), दो (नासिका), पेशाब और विष्टा (ऐसा करके) नौ हैं। शरीर में नौ द्वार, दस प्राण, दस अंगुलियाँ, यह सब बहुत वर्णन किया है। दस अंगुलियाँ जीर्ण हो गयी हैं। काम भी नहीं करतीं फिर यह शरीर कंपता है। देखो न, इन भाई का (कंपता है न)।

मुमुक्षु : यह तो युवा हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : युवा हैं तो शरीर की स्थिति में कहाँ (कुछ) आता है? आहा...हा...! यह तो बाईस वर्ष का युवक है। यह पानी भी पी नहीं सकता। ऐसे-ऐसे होवे तो ढुल जाता है। आहा...हा...!

यह शरीर की पुद्‌गल की व्यंजनपर्याय, आत्मा के अस्तित्व से अन्य अस्तित्व की यह अन्य पर्याय है। आहा...हा...! (इसमें से) मेरापन छोड़ दे — ऐसा कहने के लिए यह बात है, हाँ! अनेक द्रव्य एकत्रित होकर अन्य द्रव्य की यह पर्याय है। आँख और नाक और.... आहा...हा...! शरीर के अवयव नव द्वार... आह...हा...! झरते हैं, वह अन्य द्रव्य के अस्तित्व की पर्याय है। अन्य द्रव्य की अस्तिवाला द्रव्य है। उसका अस्तित्व सिद्ध किया है कि दूसरा अन्य (द्रव्य) भी है। (एक) आत्मा ही है और उसका ही अस्तित्व है और इसका अस्तित्व नहीं — ऐसा नहीं है। अस्तित्व है। यह वेदान्त कहते हैं न, 'ब्रह्म सत्य और जगत मिथ्या।' जगत है ही नहीं — ऐसा नहीं है। आत्मा में वह जगत मिथ्या है परन्तु जगत में जगत अस्तित्व (रखता) है। आहा...हा...! कैसी शैली से बात की है? देखो न!

वह अनेक द्रव्यात्मक पर्याय वास्तव में, जैसे पुद्‌गल की अन्य पुद्‌गल में (अनेक द्रव्यात्मक उत्पन्न होती हुई देखी जाती है....) एक परमाणु का भी बहुत परमाणुओं के साथ सम्बन्ध देखा जाता है। बहुत परमाणुओं का बहुत परमाणुओं के साथ सम्बन्ध होता देखा जाता है। लड्डू, चूरमा पृथक् होता और इकट्ठा होता देखा जाता है। आहा...हा...!

उसी प्रकार, जीव की पुद्‌गल में संस्थानादि से विशिष्टतया.... जीव को पुद्‌गल में संस्थान-आकार इत्यादि विशिष्ट **(संस्थान इत्यादि के भेद सहित) उत्पन्न होती हुई अनुभव में अवश्य आती है....** भिन्न-भिन्न आकार (देखने में आते हैं) आहा...हा...! देखो न! यह कानगुट्टी के आकार में अन्तर! किसी को यह है वह यहाँ चिपकी होती है, किसी को ऐसे खुली होती है, किसी को ऐसे होती है.... कान के आकार में अन्तर, नाक के आकार में अन्तर, इतने में भी प्रत्येक को देखो तो प्रत्येक में अन्तर होता है। या वह चौड़ा है या वह लम्बा है या वह छोटा... वह अनेक द्रव्यात्मक

व्यंजनपर्याय है। अनेक द्रव्यात्मक विभाविक व्यंजनपर्याय है। आहा...हा...! फिर भाषा (ऐसी) है। देखा!

और ऐसी पर्याय उपपन्न (योग्य घटित, न्याययुक्त) है;.... ऐसा कहते हैं। देखा? अनेक द्रव्य का आकार होता है। किसी की आँखें मोटी होती हैं, किसी की छोटी होती है। ऐसे बहुत से भेद होते हैं न? वे सब आकार — मुँह का आकार, उसका यह आकार, यह होंठ का आकार, किसी के होंठ ऐसे लम्बे होते हैं, किसी के ऐसे (छोटे) होते हैं, आहा...हा...! (ऐसी) अनेक द्रव्यात्मक विभाविक व्यंजनपर्याय का अस्तित्व है — ऐसा कहते हैं। आहा...हा...! ज्ञेय अधिकार है न? ज्ञेय... ज्ञेय है, परवस्तु भी है। (उसकी) ऐसी पर्याय योग्य है, न्याययुक्त है।

क्योंकि जो केवल जीव की व्यतिरेकमात्र है — ऐसी - अस्खलित एक द्रव्यपर्याय ही अनेक द्रव्यों के संयोगात्मकरूप से भीतर अवभासित होती है। क्या कहते हैं? भगवान आत्मा का पर से भिन्न ऐसा **अस्खलित एक द्रव्यपर्याय ही अनेक द्रव्यों के संयोगात्मकरूप से भीतर....** अनेक द्रव्य की यह पर्याय होने पर भी, भगवान के एक द्रव्य की पर्याय उससे भिन्न भासित होती है। आहा...हा...! ऐसे दो अस्तित्व पहले सिद्ध किये। स्वलक्षणभूत भगवान आत्मा का अस्तित्व है (और) परलक्षणभूत पुद्‌गल की पर्याय का — व्यंजनपर्याय का अस्तित्व है परन्तु वह अनेक द्रव्यात्मक पुद्‌गल की पर्याय में भगवान आत्मा एक द्रव्यपर्यायरूप भिन्न है, उस पुद्‌गल की पर्याय के साथ एक नहीं है। आहा...हा...!

मुमुक्षु : पुद्‌गल अनेक द्रव्यपर्यायरूप होने पर भी अपना एकत्व नहीं छोड़ता।

पूज्य गुरुदेवश्री : भिन्न तो है न? उसके साथ एकमेक कहाँ हो गया है? पुद्‌गल की पर्याय के साथ (जीव) द्रव्य की पर्याय कहीं एक हुई है? एक होवे तो दो (रहे नहीं) मात्र उसे अनुसरण करके परिणाम करता है, वे इसमें होते हैं। इसमें अपने स्वभाव को अनुसरण करके परिणाम करना तो उनसे व्यावृत होता है — ऐसा यहाँ कहना है।

प्रश्न : अभी, वर्तमान में?

समाधान : वर्तमान में भिन्न है। यहाँ वर्तमान में कहते हैं। जीव के स्वद्रव्य की

पर्याय, अनेक द्रव्यात्मक पर्याय से भिन्न है। है न? देखो! **ऐसी अस्खलित एक द्रव्यपर्याय ही अनेक द्रव्यों के संयोगात्मकरूप से भीतर अवभासित होती है।** है अन्दर? क्या कहा? **क्योंकि जो केवल जीव की व्यतिरेकमात्र है — ऐसी अस्खलित एक द्रव्यपर्याय ही...** वह अपनी भिन्न पर्याय **अनेक द्रव्यों के संयोगात्मकरूप से भीतर अवभासित होती है।** भले अनेक द्रव्यपर्याय का संयोग है परन्तु उसकी पर्याय अन्दर भिन्न भासित होती है, उसका अस्तित्व भिन्न है — स्वद्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव में है; परद्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव में तो नहीं, आहा...हा...! कैसी टीका! क्या कहा?

फिर से - पहले दो बात सिद्ध की है — कि एक स्वलक्षणभूत भगवान आत्मा अस्खलितरूप है और परलक्षणभूत जो पुद्गल की पर्याय के अस्तित्वरूप भी वह है। अनेक द्रव्यात्मक व्यंजनपर्याय है। कहते हैं कि ऐसी व्यंजनपर्याय के अस्तित्व की पर्याय के काल में भी भगवान आत्मा का अस्खलित द्रव्यपर्याय उससे भिन्न है, उसकी पर्याय और यह पर्याय वहाँ एक हुई हैं? आहा...हा...! समझ में आया? भाई! तत्त्व समझने के लिए ज्ञान को जरा फैलाना पड़ेगा।

प्रश्न : फैलाना पड़ेगा अर्थात्?

समाधान : फैलाना पड़ेगा अर्थात् उसमें ध्यान रखकर, जिस प्रकार क्या है? (वह) इसे पकड़ना पड़ेगा। यह कोई बाहर की कथा-वार्ता नहीं है, यह तो आत्मा की कथा है। आहा...हा...!

भगवान आत्मा अपना अस्तित्व भिन्न रखता है। अनेक द्रव्यात्मक अनेक परमाणु की सम्बन्धवाली पर्याय के समय भी, भगवान आत्मा की द्रव्यपर्याय भिन्न रहती है। आहा...हा...! (एक) मानता है वह अलग बात है परन्तु कहीं एक है नहीं। आहा...हा...! शरीर वह मैं, वाणी वही मैं, मैं जैसे बोलना चाहूँ - वैसे बोलूँ, हिलना चाहूँ वैसे हिलूँ — ऐसा मानता है वह मूढ़ है। उसने तो परद्रव्य को अपना माना है। जो अपने अस्तित्व में नहीं, अपनी अस्ति में नहीं — ऐसी पर की अस्तिवाली चीज को अपनी माना है। आहा...हा...! आहा...हा...!

(वह) नहीं आता? कि अनन्त परमाणु के रजकण स्वतन्त्र भिन्न हैं। आहा...हा...!

ऐसा ही होगा न? जो पदार्थ है, वह अपने द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव में अस्ति (रखता है)। पर के द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से नास्ति (रखता है)। आहा...हा...! ऐसा यहाँ सिद्ध किया है।

यहाँ अनेक वस्तु के संयोगवाली यह जड़ की पर्याय - शरीर की, संस्थान की, अन्दर हड्डियों की — यह सब विभाविक व्यंजनपर्याय अर्थात् अनेक द्रव्यस्वरूप विभाविक पर्याय का अस्तित्व है परन्तु वैसे अस्तित्व के अन्दर भी अस्खलित ऐसे भगवान के अस्तित्व की द्रव्यपर्याय भिन्न है। आहा...हा...! **केवल जीव की व्यतिरेकमात्र है....** (अर्थात्) वह तो भिन्न है। ऐसा गले लगा है न... शरीर और वाणी मानो मेरे... मेरे... मेरे... हो गया है। हम चाहें वैसे शरीर से काम लें, शरीर हमारा नौकर है, चाकर है — ऐसा कितने ही कहते हैं। शरीर, नौकर-चाकर है, हम काम लेते हैं और वह देता है। कौन दे? सुन न! चाकर कहाँ था? उसका अस्तित्व अलग है।

मुमुक्षु : उसका कश निकालना।

पूज्य गुरुदेवश्री : कश किसका निकाले? यह अपवास करे, उसे कश निकाला — ऐसा कहते हैं न? अपवास करना, तपस्यायें करना... तुझे जड़ में से कश निकालना है? वह तो जड़ है। आहा...हा...! जिसका अस्तित्व तुझसे भिन्न है, उसमें से कश निकालना है? आहा...हा...! उसे कृश करना है? उसे पुष्ट करना है? उसका अस्तित्व ही अलग है, उसे कृश या पुष्ट करना तेरे कहाँ रहा? कहो, भाई! ऐसी बातें हैं।

मुमुक्षु : बहुत से ऐसा कहते हैं कि आत्मा है, तब तक शरीर चलता है, फिर नहीं चलता।

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, तो यही कहते हैं, वे मूढ़ हैं। पक्षघात (लकवा) हो जाये (तब) अन्दर आत्मा है और शरीर नहीं चलता। लो!

मुमुक्षु : सुन्न हो जाये तो भी पैर नहीं चलता।

पूज्य गुरुदेवश्री : अरे... कँपे! क्या कहलाता है? सुन्न हो जाये। ऐसा (लट्ठ जैसा) शरीर हो परन्तु दो घण्टे एक सरीखा ऐसा वहीं का वहीं बैठा रहे, (फिर) पैर उठाये वहाँ गिरे! सुन्न हो जाये? सुन्न क्या? सुन्न (हो जाने का) अर्थ क्या? ऐसा अकड़ जाये,

(इसलिए) चल नहीं सके। वह तो जड़ की अवस्था है। आहा...हा...! पाँच इन्द्रियाँ जड़ की अवस्था है। आहा...हा...! वह अनेक द्रव्य अनेक द्रव्यात्मक व्यंजनपर्याय है। जो इन्द्रियाँ हैं, वे भी अनेक द्रव्यात्मक व्यंजनपर्याय है। उसका अस्तित्व है परन्तु भगवान आत्मा का अस्तित्व तो उससे भिन्न है। उस काल में भी (भिन्न है)। आहा...हा...! कठिन बातें! अन्तर का अभ्यास नहीं न! भिन्न चीज है, उसे भिन्न में रखना। आहा...हा...!

शरीर की इन्द्रियों का आकार बदले — पतला हो, मोटा हो, वह सब अनेक द्रव्यात्मक विभाविक व्यंजनपर्याय है; उसके अस्तित्व का होना तेरे कारण नहीं है और इतना अस्तित्व वहाँ वर्तता है, तथापि तेरा अस्तित्व तो अस्खलित एक द्रव्यात्मक पर्याय भिन्न है। आहा...हा...!

जीभ ऐसे चलती है, वह तो उसके अनेक द्रव्यात्मक पर्याय की विभाविक व्यंजनपर्याय है; वह आत्मा के अस्तित्व से वहाँ चलती है — ऐसा नहीं है और ऐसी इन्द्रियों की पर्यायें अनेक द्रव्यात्मक वर्तती है; इस कारण जीवद्रव्य अन्दर में उसके साथ एक हुआ है — ऐसा नहीं है। कठिन... भाई! ऐसा कहते हैं कि संस्थान की, शरीर की, संहनन की, ऐसी व्यंजनपर्याय होना, वह उचित है, होने योग्य उसकी पर्याय है। अस्ति है। आहा...हा...!

ऐसा मुँह (खोलकर) उवासी लेता है, वह तो अनेक द्रव्यात्मक पर्याय की विभाविक व्यंजनपर्याय है। आत्मा के अस्तित्व से वह उवासी खाता है? उस समय भी भगवान आत्मा की द्रव्यपर्याय का अस्तित्व भिन्न रहता है। आहा...हा...! तो भिन्न को भिन्न करे — ऐसा तो है नहीं। वीतरागमार्ग ऐसा है बापू!

आहा...हा...! (अज्ञानी) दुःखी, दुःखी होकर भटकता है। बाह्य में कहीं सुख नहीं है। बाहर की इन्द्रियाँ और उनके विषयों में सुख मानता है, पर के अस्तित्व में मेरा सुख है — ऐसा मानता है। आहा...हा...! पर की अस्ति अनेक द्रव्यात्मक पतली-मोटी हो, उसके कारण आत्मा में मजा आता है, सुख होता है, यह तो भ्रम है, क्योंकि ऐसी समस्त इन्द्रियों की विभाव व्यंजनपर्याय के काल में भी भगवान आत्मा की द्रव्यपर्याय

का अस्तित्व भिन्न है। आहा...हा...! भिन्न अस्तित्व ने इसके अस्तित्व में कुछ किया है (— ऐसा नहीं है)। उसका स्वलक्षणभूत अस्तित्व भिन्न है, आहा...हा...!

देखो! यह ज्ञेय अधिकार! अनेक द्रव्यपर्यायात्मक ज्ञेय है अवश्य, परन्तु आत्मा के अस्तित्व से अन्य अस्तित्व में वह द्रव्यपर्याय है और उससे भगवान आत्मा का अस्तित्व भिन्न है। आहा...हा...! अन्दर में अनेक द्रव्यों के संयोगरूप हो, परन्तु आत्मा को अन्दर अस्खलित एक द्रव्यपर्याय भिन्न भासित होता है। आहा...हा...! कहो, समझ में आता है या नहीं? ए...ई...! यह तो समझ में आये ऐसी बात है। यह शरीर जड़ का अस्तित्व है, इसका आकार ऐसा होता है... ऐसा होता है... ऐसा होता है... यह सब जड़ के अस्तित्व की पर्याय में होता है। आत्मा के अस्तित्व के कारण, आत्मा की अस्ति के कारण नहीं। आहा...हा...! सुखी होना हो तो इसे ऐसा ज्ञान करना पड़ेगा। वह तुम्हारी शिक्षा का ज्ञान, वह सब कुज्ञान है।

एक क्षेत्र में दोनों का अस्तित्व भिन्न-भिन्न है। आकाश की अपेक्षा से (एक क्षेत्र) है। उसके आकाश में वह स्वयं है और एक समय में उसकी पर्याय होती है, और इसकी होती है, वे दोनों अत्यन्त भिन्न हैं। आहा...हा...! शरीर की पर्याय ऐसे होती है, वह व्यंजनपर्याय उस-उस समय में उस-उस अनेक द्रव्यात्मक पर्याय की विभाव पर्याय हो, उस-उस समय में (हो) परन्तु उस समय में भगवान आत्मा तो अस्खलित द्रव्य की पर्याय, द्रव्य और पर्यायरूप से भिन्न है। आहा...हा...! इस प्रकार सिद्ध किया है! दोनों ज्ञेय हैं। ज्ञेय अधिकार है न? परन्तु दोनों ज्ञेय स्वयं के कारण से है। परज्ञेय के अस्तित्व के कारण अन्दर स्वद्रव्य का अस्तित्व है — ऐसा नहीं; उसकी पर्याय है — ऐसा भी नहीं है।

भावार्थ - यद्यपि प्रत्येक द्रव्य का स्वरूप-अस्तित्व सदा ही भिन्न-भिन्न रहता है.... यह स्वरूप अस्तित्व में आ गया है, नहीं? ९३-९४ (गाथा) स्वरूप-अस्तित्व! प्रत्येक पदार्थ का स्वरूप-अस्तित्व सदा ही भिन्न-भिन्न है। ठीक है? आत्मा का अस्तित्व और इस शरीर की पर्याय का अस्तित्व प्रत्येक का अपने-अपने कारण से भिन्न है। आहा...हा...! **तथापि, जैसे पुद्‌गलों की अन्य पुद्‌गल के संबंध से स्कन्धरूप पर्याय**

होती है,.... दो परमाणु, दस परमाणु (आदि) **उसी प्रकार जीव की पुद्‌गलों के सम्बन्ध से देवादिक पर्याय होती है।** यह मनुष्य, यह देव।

जीव की ऐसी अनेक द्रव्यात्मक देवादि पर्याय अयुक्त नहीं है, क्योंकि भीतर देखने पर, अनेक द्रव्यों का संयोग होने पर भी, जीव कहीं पुद्‌गलों के साथ एकरूप पर्याय नहीं करता,.... देखा? पुद्‌गल के साथ एकरूप पर्याय उस काल में भी नहीं करता। **परन्तु वहाँ भी मात्र जीव की (पुद्‌गल पर्याय से भिन्न) अस्खलित (अपने से च्युत न होनेवाली) एक द्रव्यपर्याय ही सदा प्रवर्तमान रहती है।** यह पर्याय के भेद विशेष कहेंगे। ●

संस्कार डाल तो तुझे सत् प्रगट होगा ही

अरे! दुनिया को क्या पड़ी है? मैंने यह किया, मैंने कमाया और बड़ा उद्योगपति बन गया; पिता के पास कुछ नहीं था किन्तु मैंने अपने हाथों के बल से प्राप्त किया - इस प्रकार दुनिया पागलपन में जीवन व्यतीत कर देती है। प्रभु! तूने बाहर का कुछ किया नहीं है, कर भी नहीं सकता; तूने मात्र राग और मिथ्यात्वभाव किया है। अब, तू अपनी दिशा पलट दे! अन्तर में तू नित्य-स्थायी तत्त्व है; उसके तल पर दृष्टि लगा और उसके गहरे संस्कार डाल! वहाँ बैठने से आत्मा को स्थायी विश्राम मिलेगा। राग और पर्याय में बैठने से / रहने से तुझे दुःख होगा। एक समय की पर्याय भी तेरा ध्रुवधाम नहीं है। अहा! अन्तर में जहाँ तेरा ध्रुवधाम-भगवान आत्मा है, वहाँ जा! उसके संस्कार डाल तो तुझे सत् प्रगट होगा ही।

- पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी

गाथा - १५३

अथ पर्यायव्यक्तीर्दर्शयति -

णरणारयतिरियसुरा संठाणादीहिं अण्णहा जादा।
पज्जाया जीवाणं उदयादिहिं णामकम्मस्स।।१५३।।

नरनारकतिर्यक्सुराः संस्थानादिभिरन्यथा जाताः।
पर्याया जीवानामुदयादिभिर्नामकर्मणः।।१५३।।

नारकस्तिर्यङ्मनुष्यो देव इति किल पर्याया जीवानाम्। ते खलु नामकर्मपुद्गलविपाक-कारणत्वेनानेकद्रव्यसंयोगात्मकत्वात् कुकूलाङ्गारादिपर्याया जातवेदसः क्षोदखिल्वसंस्थानादि-भिरिव संस्थानादिभरन्यथैव भूता भवन्ति।।१५३।।

अथ तानेव पर्यायभेदान् व्यक्तीकरोति-**णरणारयतिरियसुरा** नरनारकतिर्यग्देवरूपा अवस्थाविशेषाः। **संठाणादीहिं अण्णहा जादा** संस्थानादिभिरन्यथा जाताः, मनुष्यभवे यत्समचतुरस्रादि-संस्थानमौदिरकशरीरादिकं च तदपेक्षया भवान्तरेऽन्यद्विसदृशं संस्थानादिकं भवति। तेन कारणेन ते नरनारकादिपर्याया अन्यथा जाता भिन्ना भण्यन्ते; न च शुद्धबुद्धैकस्वभावपरमात्मद्रव्यत्वेन। कस्मात्। तृणकाष्ठपत्राकारादिभेदभिन्नस्याग्नेरिव स्वरूपं तदेव। **पज्जाया जीवाणं** ते च नरनारकादयो जीवानां विभावव्यञ्जनपर्याया भण्यन्ते। **कैः** कृत्वा। **उदयदिहिं णामकम्मस्स** उदयादिभिर्नामकर्मणो निर्दोषपरमात्मशब्दवाच्या-न्निर्णामनिर्गोत्रादिलक्षणाच्छुद्धात्मद्रव्यादन्या-दृशैर्नामकर्मजनितैर्बन्धोदयोदीरणादिभिरिति। यत एव ते कर्मोदयजनितास्ततो ज्ञायते शुद्धात्मस्वरूपं न संभवन्तीति।।१५३।।

अब, पर्याय के भेद बतलाते हैं —

तिर्यंच-नारक-देव-नर जो, नामकर्म के उदय से।
हैं जीव की पर्याय, होती भिन्न संस्थान आदि से॥

अन्वयार्थ - [**नरनारकतिर्यक्सुराः**] मनुष्य, नारक, तिर्यंच, और देव - ये [**नामकर्मणः उदयादिभिः**] नामकर्म के उदयादिक के कारण [**जीवानां पर्यायाः**] जीवों की पर्यायें हैं — [**संस्थानादिभिः**] जो कि संस्थानादि के द्वारा [**अन्यथा जाताः**] अन्य-अन्य प्रकार की होती हैं।

टीका - नारक, तिर्यंच, मनुष्य और देव — ये जीवों की पर्यायें हैं। वे नामकर्मरूप पुद्गल के विपाक के कारण अनेक द्रव्यों की संयोगात्मक है; इसलिए जैसे तुष की अग्नि और अंगार इत्यादि अग्नि की पर्यायें चूरा और डली इत्यादि आकारों से अन्य-अन्य प्रकार की होती है, उसी प्रकार जीव की वे नारकादि पर्यायें संस्थानादि के द्वारा अन्यान्य प्रकार की ही होती हैं॥१५३॥

प्रवचन नं. १६१ ज्येष्ठ कृष्ण १४ सोमवार, ०७ जुलाई १९७५

(प्रवचनसार) १५३ (गाथा)। पर्याय के भेदों का वर्णन करते हैं। शरीर की पर्यायें — संस्थान, आकार, संहनन इत्यादि की पर्याय उत्पाद, व्यय और ध्रुव से आत्मा से भिन्न है। इसके (शरीर के) उत्पाद-व्यय-ध्रुव आत्मा से भिन्न हैं — ऐसा कहते हैं। यह अंगुली सीधी है, वह वक्र हुई; उस सीधी का व्यय हुआ, वक्र का उत्पाद हुआ और अंगुली ध्रुव (रही)। परमाणु का वह उत्पाद, व्यय और ध्रुव आत्मा से भिन्न होता है। समझ में आया? यह बतलाते हैं।

णरणारयतिरियसुरा संठाणादीहिं अण्णहा जादा।
पज्जाया जीवाणं उदयादिहिं णामकम्मस्स।।१५३।।

तिर्यंच-नारक-देव-नर जो, नामकर्म के उदय से।
हैं जीव की पर्याय, होती भिन्न संस्थान आदि से॥

नारक... (अर्थात्) यह नारकी का शरीर। यह शरीर है न? यह मनुष्य का शरीर कहलाता है। नारकी का शरीर (हो), ऐसे देव का (शरीर), ऐसे पशु का (शरीर), वह जीवों की पर्याय है। व्यवहार से जीव के संयोग में वह पर्याय है। **वे नामकर्मरूप पुद्गल के विपाक के कारण....** नामकर्म है न? इस शरीर का मिलना और शरीर के आकार का

होना, वह सब नामकर्म के उदय के कारण हुई दशा है; वह आत्मा की (दशा) नहीं, आत्मा से नहीं, आत्मा में नहीं, आत्मा की नहीं। भाषा तो ऐसी की है, **जीवों की पर्यायें हैं।** संयोगीरूप से जीव की पर्यायें कही हैं। आहा...हा... ! **ये जीवों की पर्यायें हैं।**

वे नामकर्मरूप पुद्गल के विपाक के कारण.... एक नामकर्म है, उसका विपाक होने पर **अनेक द्रव्यों की संयोगात्मक है;....** बहुत रजकणों के स्कन्धरूप यह पर्याय है। इस शरीर की आँखें, यह कान (है वह) अनेक द्रव्य अर्थात् अनेक रजकण, उन अनेक द्रव्यस्वरूप यह (आँख-कान की) एक पर्याय है। वह नामकर्म के निमित्त से उत्पन्न हुई वह पुद्गल की पर्याय है। आहा...हा... ! उसका समय-समय में जो उत्पाद — नयी अवस्था होना, पुरानी अवस्था जाना और उसमें सदृशरूप ध्रुवरूप रहना वह सब आत्मा से भिन्नरूप होता है। आत्मा में वह नहीं होता तथा आत्मा से नहीं होता। वह तो कर्मोदय के निमित्त से (होता है)। उपादान तो उसकी स्वयं की शरीर की पर्याय, इन्द्रिय की पर्याय.... आहा...हा... ! समय-समय में भिन्न होने योग्य है — ऐसा कहेंगे। समझ में आया ? पहले आ गया है।

जरा मुद्दे की बात है। कहते हैं कि आत्मा जो अन्दर है, उसके उत्पाद-व्यय और ध्रुव अपने अस्तित्व में है और शरीर आदि के उत्पाद-व्यय और ध्रुव (उसमें है)। उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत् कहा है न ? अतः आत्मा की जो पर्याय उत्पन्न होती है, पूर्व की (पर्याय) व्यय होती है और ध्रुवरूप से (कायम रहता है) — ऐसा सत् वह अपना अस्तित्व है, वह अपना स्वरूप है और शरीर वाणी मन में जो उत्पाद-व्यय और ध्रुव होते हैं, वह पर का अस्तित्व है, वह पर में होता है; आत्मा से नहीं, आत्मा में नहीं। आहा...हा... !

पूरे दिन शरीर ऐसा हो, हिले-चले, ऊँचा-नीचा शरीर हो, ऐसा सिर हिले, वह सब उत्पाद-व्यय की ध्रुवसहित की पर्याय पर की है... आहा...हा... ! वह आत्मा की नहीं — ऐसे इसे भेद करना चाहिए — यह कहीं आया है। कदम... कदम... पर.... कहीं आया है।

मुमुक्षु : ३०२ पृष्ठ पर पाँचवीं लाईन।

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ वह।

मुमुक्षु : पद-पद पर ख्याल में लेना योग्य है।

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, यह। यह लो, यह! ३०२ (पृष्ठ पर) कहाँ आया (श्रोता : पाँचवीं लाईन।) भावार्थ में, हाँ! यह भावार्थ में है। अन्दर आया था। **जीव को इस स्वरूप-अस्तित्व को पद-पद पर लक्ष्य में लेना योग्य है।** (१५४ गाथा का) भावार्थ है न? यह शरीर है, इसकी जो दशा (होती है), समय-समय भिन्न पर्याय होती है, उसे पद-पद पर भिन्न जानना चाहिए अर्थात् क्षण-क्षण में प्रत्येक पर्याय में इसे भिन्न जानना चाहिए — ऐसा कहते हैं। आहा...हा...!

पानी में मक्खी हो और अंगुली ऐसे बचाने जाये तो कहते हैं कि वह तो अंगुली की उत्पाद पर्याय (होती) है, यह तो उसकी पर्याय है, यह उसे बचाने में वह पर्याय निमित्त हुई है। उपादान तो उसका वहाँ था। आहा...हा...! पानी में मक्खी हो और जीव को बचाने का (भाव आवे) तो उस काल में शरीर की पर्याय का उत्पाद और आत्मा की पर्याय का (उत्पाद) वहाँ भिन्न-भिन्न उसके कारण था। अंगुली ने उसे बचाया — ऐसा नहीं है, ऐसा कहते हैं। आहा...हा...! क्योंकि अंगुली का उत्पाद-व्यय और ध्रुव में उसका अस्तित्व उसमें है, वह उत्पाद-व्यय वहाँ पर में नहीं जाते और पर की पर्याय के उत्पाद को यह उत्पाद पर्याय नहीं करती। निमित्त कुछ नहीं करता — ऐसा यह तो सिद्ध किया। आहा...हा...!

नारक, तिर्यंच, मनुष्य और देव.... यह जीव की संयोगी पर्याय हैं। भाषा तो ऐसी कही है — **जीवों की पर्यायें हैं। वे नामकर्मरूप पुद्गल के विपाक के कारण अनेक द्रव्यों....** रजकण एकत्रित होकर यह दशा हुई है। इस अंगुली का यह आकार भी उसके परमाणु की उत्पाद पर्याय के कारण ऐसा उत्पाद हुआ है। कर्म के कारण कहना यह तो निमित्त का कथन है। वहाँ आत्मा के निमित्त से हुआ — ऐसा नहीं कहा। मात्र वह होता है, उसे नामकर्म का निमित्त है — ऐसा कहा है। वह निमित्त है — ऐसा कहा। इस शरीर की पर्याय होती है, वह तो स्वयं के कारण उत्पाद होता है। आहा...हा...!

प्रश्न : कर्म के कारण नहीं?

पूज्य गुरुदेवश्री : कर्म के कारण नहीं, इसीलिए तो उसे निमित्त (कहा)। यहाँ तो आत्मा के कारण नहीं, उसका निमित्त भी नहीं कहा। उस (कर्म को) निमित्त कहा। समझ में आया? आहा...हा...! ऐसी चीज ही है, कहते हैं। ऐसी चीज का जैसा उत्पाद, व्यय और ध्रौव्ययुक्तं सत् का अस्तित्व है, जिस प्रकार है, उस प्रकार उसे दृष्टि में

आना चाहिए। यदि दृष्टि में गड़बड़ होवे कि इस देह की क्रिया मुझसे हुई (तो वह मिथ्यात्व है)। आहा...हा...!

प्रश्न : निमित्तपना तो है या नहीं ?

समाधान : यह कहा न ? उसके लिए तो यहाँ बात की है। नामकर्मोदय का निमित्त कहा, आत्मा का निमित्त नहीं कहा; आत्मा की पर्याय कही ! आहा...हा... ! भाषा देखो ! संयोगरूप से जीव की पर्याय कही परन्तु उसका निमित्त या कारण में उदय निमित्त है, उसके कारण यह सब पर्यायें वर्तती हैं। आत्मा के निमित्त से वर्तती है — ऐसा भी नहीं है। आहा...हा... !

क्षण-क्षण में शरीर की पर्याय होती है, उसे क्षण-क्षण में, पद-पद पर, पर्याय-पर्याय में भिन्न जानना चाहिए। आहा...हा... ! समझ में आया ? अजीव को जीव माने तो मिथ्यात्व है — ऐसा आता है न ? उसका अर्थ क्या हुआ ? अजीव की यह जो पर्याय ऐसी होती है, वह मुझसे हुई (— ऐसा माने), तब तो उसमें अजीव को जीव माना है, जीव को अजीव माना है। इस प्रकार जीव और अजीव प्रतिक्षण भिन्न है।

प्रतिक्षण भिन्न-भिन्न अवस्था होती है — ऐसा करके होती है कि विकल्प आया और शरीर ऐसे हुआ, विकल्प आया और अंगुलियाँ ऐसे हो गयीं। इस प्रकार भिन्न-भिन्न काल में ऐसी अवस्थाएँ होती हैं न ? तो वह भिन्न-भिन्न काल में उसकी पर्याय के कारण (अर्थात्) जीव की पर्याय के कारण उसका उत्पाद होता है या नहीं ? आहा...हा... ! भिन्न-भिन्न काल में उस काल में उसी प्रकार का उत्पाद जड़ की अवस्था में होने का उसका काल था, वह उत्पाद उसके सत् का उत्पाद है; ध्रुव है, उसका उत्पाद है। आहा...हा... ! समझ में आया ?

पुद्गल कर्म के विपाक को.... यहाँ पुद्गल पर्याय कहना है न ? इसलिए उसे पुद्गल विपाक कर्म का निमित्त कहा। निमित्तमात्र। इसलिए उसने वहाँ ऐसी रचना-उत्पाद की है — ऐसा नहीं है। आहा...हा... ! क्योंकि नामकर्म का उदय है, वह उसका उत्पाद है, वह तो उसमें है। उदय है वह उत्पाद है। आहा... ! कर्मरूप अवस्था पड़ी थी, उसका व्यय हुआ और उदय हुआ, वह उत्पाद हुआ। आहा...हा... ! उसके उत्पाद के

कारण यहाँ शरीर की उत्पाद-पर्याय हुई — ऐसा नहीं है परन्तु निमित्त पुद्गल है, उसकी पर्याय का निमित्त पुद्गल कर्म कहा है; आत्मा तो निमित्त (भी) नहीं है। आहा...हा...! समझ में आया? यह दया पाले और यह पालें और.... आहा...हा...!

पोरबन्दर में एक भाई थे। अपने यहाँ (एक मुमुक्षु) आते हैं न? उनके काका थे। चातुर्मास में बाहर निकले, (तब) जहाँ-जहाँ पानी में मक्खी (हों) वर्षा होती है न? पानी भरा हो, मक्खी पड़ी हो, (तब) वे दया पालने जाते थे। पानी भरा होता है न? वहाँ मक्खी उड़े वह गिरे। बरसात के समय में (गिरे), देखो न! अभी कितना पानी भरा है! मक्खियाँ गिरें, मच्छर गिर गये हों, वे निकल नहीं सकते; इसलिए व्याख्यान सुनकर यह करने को निकल जाते हैं और ऐसा मानते हैं कि मैंने यह पर की दया पालन की, पर को बचाया।

मुमुक्षु : स्वयं को मारा।

पूज्य गुरुदेवश्री : अरे... अरे...! ऐसी बातें हैं।

यह तो जड़ की उत्पाद पर्याय उसे निमित्त हुई है। वह भी वहाँ उसे जीने का उत्पाद था। उसके उत्पाद को इसकी अंगुली ने जीने का उत्पाद बनाया — ऐसा नहीं है। आहा...हा...!

समय-समय उत्पाद-व्यय और ध्रुव ऐसा अस्तित्व.... अब दूसरे प्रकार से सिद्ध करते हैं। उसके कारण वहाँ उत्पाद, व्यय होता है, उसे दूसरा कहता है कि मेरे कारण होता है, वह मिथ्या मोह है, मिथ्यात्वभाव है। आहा...हा...! भगवान की प्रतिमा पधराते हुए... वहाँ पधरायी न? तो वहाँ उत्पाद हुआ न? उस जगह वहाँ पधरायी, उसकी पर्याय का वहाँ उत्पाद हुआ। पधरानेवाला प्रतिष्ठावाला कहता है — यह मैंने पधरायी (तो वह मिथ्याभाव है) बहुत मन्दिर हुए। नहीं थे, दिगम्बर मन्दिर अभी तक नहीं थे। बैंगलोर में बारह लाख का मन्दिर बना। बारह लाख! कल ही पत्र आया है कि हमें अब यहाँ एक व्यक्ति चाहिए, विद्वान् व्यक्ति चाहिए जो कि हमेशा वाँचन करे।

यह सब उस-उस काल में वह पर्याय जहाँ शरीर की (होनेवाली हो वह होती है) आहा...हा...! यह प्रतिमा को पधराने का, मन्दिर बनने का उत्पाद उन-उन परमाणुओं की अनेक द्रव्यात्मक पर्याय उनकी है। आहा...हा...! दूसरा जीव ऐसा कहे कि मैंने यहाँ

(पधरायी), वह व्यवहार से बोले भले ही परन्तु ऐसा है नहीं। समझ में आया? आहा...हा...! समय-समय के सूक्ष्म काल में प्रत्येक पदार्थ में होनेवाला उत्पाद-व्यय, कायम रहकर उससे इसे भिन्न किया, क्योंकि तेरा उत्पाद-व्यय भी उसके उत्पाद-व्यय से भिन्न है। भले ही समकाल हो। काल सम अर्थात् एक साथ हो। एक साथ हो, इसलिए आत्मा ने शरीर की पर्याय की, उत्पन्न की, हिलाई — ऐसा है नहीं। आहा...हा...!

यह बड़ी-बड़ी शोभायात्राएँ चलती हैं, गजरथ चलते हैं लो! गजरथ! कैसा बड़ा स्वागत होता है कि ऐसा... ओ...हो...हो...! इक्कीस हाथी! जयपुर में इक्कीस हाथी! चालीस हजार लोग! लोग तो उमड़ पड़े कि क्या है यह!? इसकी उत्पाद की वह-वह पर्याय — रथ की, हाथी चलने की... आहा...हा...! उस उत्पाद को अन्दर का आत्मा नहीं करता, तो दूसरा फिर दूर स्थित (किस प्रकार करेगा)? अन्त में (रथयात्रा) पूरी हुई तो (इक्कीस हाथी) ऐसे लाईन में खड़े रहे, सलामी दी! अरे...! यह क्या होगा यह?

कहते हैं कि इस शरीर की जिस काल में उस प्रकार के रजकणों के अनेक द्रव्य... यह अनेक द्रव्य हैं न? अनेक द्रव्यात्मक एक पर्याय के उत्पाद को दूसरा आत्मा नहीं करता है। आहा...हा...!

मुमुक्षु : नजदीक का परमाणु भी नहीं करता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : उसका एक रजकण दूसरे रजकण को क्या करे? वह भी इसमें आयेगा। आहा...हा...! एक रजकण के उस समय के उत्पाद-व्यय और ध्रुवयुक्तं सत् है। पर का उत्पाद व्यय ध्रुव सहित युक्तं सत् — ऐसा कुछ है नहीं अथवा आत्मा के कारण इस शरीर का उत्पाद-व्यय और ध्रुव का सत् है — ऐसा नहीं है। आहा...हा...! वीतरागमार्ग बहुत सूक्ष्म है भाई! आहा...हा...!

इसलिए जैसे तुष की अग्नि.... (अर्थात्) छिलकों की अग्नि भूसे के आकार अग्नि और **अंगार इत्यादि....** अंगारा (अर्थात्) कांगड़ा के आकार वे **पर्यायें चूरा और डली इत्यादि आकारों से अन्य-अन्य प्रकार की होती है,....** त्रण की अग्नि, कण्डे की अग्नि भिन्न-भिन्न आकार की होती है न? वह स्वयं के कारण हुई है। आहा...हा...!

उसी प्रकार जीव की वे नारकादि पर्यायें संस्थानादि के द्वारा.... जैसे उसका

आकार कहा न? तुष की अग्नि का आकार तुष के आकाररूप, अंगारे का आकार, डली के आकाररूप इस कण्डे के आकाररूप अग्नि (होती है)। सूखा गोबर होता है, बोर; सूखा गोबर अर्थात् यों ही पड़ा हो, सूख जाए, उसे अग्नि होती है तो वैसे आकाररूप होती है। **उसी प्रकार जीव की वे नारकादि पर्यायें संस्थानादि के द्वारा अन्यान्य प्रकार की....** उसके कारण होती है। आहा...हा...!

यहाँ निमित्त से तो इंकार किया। आत्मा से होती है, यह तो बात भी नहीं ली। निमित्त लिया तो मात्र पुद्गलकर्म लिया। समझ में आया? अभिमान... अभिमान... है न? वाणी की पर्याय भी अनेक द्रव्यात्मक विभाविक संयोगी पर्याय है। उसके उत्पाद-व्यय और ध्रुव आत्मा के अस्तित्व से भिन्न हैं। आत्मा के अस्तित्व में ऐसा आया कि विकल्प हुआ (और) भाषा हो; इसलिए विकल्प का निमित्त है और भाषा होती है — ऐसा नहीं है। विकल्प का उत्पाद यहाँ है और भाषा की पर्याय का उत्पाद भाषा में है, उस उत्पाद का कर्ता आत्मा नहीं है। आहा...हा...! आत्मा के बिना भाषा निकलती है? लोग ऐसा कहते हैं। दीवार में से भाषा निकलती है? दीवार में से भी नहीं और आत्मा से भी नहीं। सुन न अब! आहा...हा...! यह दो (हाथ की) आवाज होती है, वह उनके कारण नहीं। वह आवाज की पर्याय स्वयं के उत्पाद के कारण होती है। यह दो आवाज ऐसे हुए, इसलिए शब्द की आवाज आती है (ऐसा नहीं है)।

मुमुक्षु : दो हाथों को अलग करो फिर देखो होती है या नहीं।

पूज्य गुरुदेवश्री : रखे कौन और इकट्ठे कौन करे? ऐसा मार्ग है।

प्रति समय पर के उत्पाद का कारण आत्मा नहीं है — ऐसा इसे लक्ष्य में रखना चाहिए। यदि इसे भेदज्ञान (करना हो तो) जिस प्रकार इसका अस्तित्व है — अपना और पर का, (उस प्रकार) इसे प्रतिक्षण भेदज्ञान का लक्ष्य रखना पड़ेगा। आहा...हा...! समझ में आया? ऐसा धर्म! इतना ध्यान रखकर इतने बड़े मकान बनाते हैं और कहते हैं, कुछ (नहीं किया)! कहते हैं कि अनेक द्रव्यात्मक पर्याय की विभाविक पर्याय को तो कर्म का भी कारण नहीं है। यहाँ तो शरीर आदि लेना है और इसलिए (कर्म का निमित्त कहा है)। यह तो उसका स्वकाल-उत्पाद, व्यय और ध्रुव का अस्तित्व उस काल में, उस प्रकार से,

उस क्षेत्र में, उस काल में, उस प्रकार की उत्पाद पर्याय को आत्मा नहीं करता। आहा...हा... ! देखो न यह, कैसा रंगा है ! कौन करे ? वहाँ-वहाँ उसके रजकणों का उस प्रकार का उत्पाद, उस काल का था, वह वहाँ उत्पन्न हुई है। आहा...हा... ! **उसी प्रकार जीव की वे नारकादि पर्यायें....** देव आदि, शरीर आदि की पर्यायें, उसका संस्थान-उसका आकार। देखो न ! सिर का आकार, यह नाक का आकार, आँख का आकार, कान का आकार, हाथ के दल का आकार, अंगुलियों का यह सब आकार, उसका उत्पाद है, वह अनेक द्रव्यात्मक पर्याय का उत्पाद है।

संस्कृत में है। '**निर्दोषपरमात्मशब्दवाच्यान्निर्णामनिर्गोत्रादिलक्षणाच्छुद्धात्म-द्रव्यादन्या**' आहा...हा... ! रजकण की पर्याय '**न्निर्णामनिर्गोत्रा**' ऐसी भाषा है ? परमात्मप्रकाश में ऐसा आता है। भाषा ऐसी आयी है, हाँ ! '**न्निर्णामनिर्गोत्रा**' परमात्मप्रकाश में आता है। ऐसा जो भगवान आत्मा ! उसकी पर्याय से इस शरीरादि की (पर्याय भिन्न है)। ओहो...हो... ! नारकी का शरीर ऐसे पारे के तरह बिखर जाता है। वहाँ सर्दी और गर्मी इतनी अधिक होती है कि उस पारे की तरह शरीर बिखर जाता है। तो कहते हैं कि उस सर्दी, -गर्मी के कारण नहीं। उस शरीर का पारे की तरह बिखरना — ऐसी ही उसकी उत्पाद की पर्याय (होती है)। आहा...हा... ! समझ में आया ? फिर ऐसा आता है लो ! कि नरक की अग्नि का एक तिनका भी यहाँ आवे तो दस-दस हजार गाँव के मनुष्य मर जायें। अब कहते हैं कि तुमने कहा कि उससे मर जायें तो उसका उत्पाद उससे हुआ ? देह की अवस्था व्यय हुई ? (तो कहते हैं) नहीं; वह तो उसका उत्पाद और व्यय उसके ध्रुव के आश्रय से हुआ है, अग्नि के आश्रय से नहीं हुआ। आहा...हा... !

अग्नि के ऊपर घी का कटोरा रखो। क्या कहलाता है ? कटोरा... लोटा ! अग्नि पर घी का लोटा रखो एकदम पिघल जाता है। पिघलता है या नहीं ? तो कहते हैं कि (अग्नि के) कारण नहीं। उसकी पर्याय का पिघलने का उत्पाद उसके स्वयं के कारण ऐसा पिघलता है। आहा...हा... ! दुनिया को तो (यह बात पागल जैसी लगती है।) १५३ गाथा पूरी हुई। ●

गाथा - १५४

अथात्मनोऽन्यद्रव्यसंकीर्णत्वेऽप्यर्थनिश्चायकमस्तित्वं स्वपरविभागहेतुत्वेनोद्योतयति -

तं सब्भावणिबद्धं दव्वसहावं तिहा समक्खादं।
जाणदि जो सवियप्पं ण मुहदि सो अण्णदवियम्हि।।१५४।।

तं सद्भावनिबद्धं द्रव्यस्वभावं त्रिधा समाख्यातम्।
जानाति यः सविकल्पं न मुह्यति सोऽन्यद्रव्ये।।१५४।।

यत्खलु स्वलक्षणभूतं स्वरूपास्तित्वमर्थनिश्चायकमाख्यातं स खलु द्रव्यस्य स्वभाव एव, सद्भावनिबद्धत्वाद्द्रव्यस्वभावस्य। यथासौ द्रव्यस्वभावो द्रव्यगुणपर्यायत्वेन स्थित्यत्पादव्यय-त्वेन च त्रितयीं विकल्पभूमिकामधिरूढः परिज्ञायमानः परद्रव्ये मोहमपोह्य स्वपरविभागहेतु-र्भवति, ततः स्वरूपास्तित्वमेव स्वपरविभागसिद्धये प्रतिपदमवधार्यम्। तथाहि-यच्चेतनात्वान्वयलक्षणं द्रव्यं, यश्चेतनाविशेषत्वलक्षणो गुणो, यश्चेतनात्वव्यतिरेकलक्षणः पर्यायस्तत्त्रयात्मकं, या पूर्वोत्तरव्यतिरेकस्पर्शिना चेतनत्वेन स्थितिर्यावत्तरपूर्वव्यतिरेकत्वेन चेतनस्योत्पादव्ययौ तत्त्रयात्मकं च स्वरूपास्तित्वं यस्य नु स्वभावोऽहं स खल्वयमन्यः। यच्चाचेतनत्वान्वयलक्षणं द्रव्यं, योऽचेतनाविशेषत्वलक्षणो गुणो, योऽचेतनत्वव्यतिरेकलक्षणः पर्यायस्तत्त्रयात्मकं, या पूर्वोत्तर-व्यतिरेकस्पर्शिनाचेतनत्वेन स्थितिर्यावत्तरपूर्वव्यतिरेकत्वेनाचेतनस्योत्पादव्ययौ तत्त्रयात्मकं च स्वरूपास्तित्वं यस्य तु स्वभावः पुद्‌गलस्य स खल्वयमन्यः। नास्ति मे मोहोऽस्ति स्वपरविभागः।।१५४।।

अथ स्वरूपास्तित्वलक्षणं परमात्मद्रव्यं योऽसौ जानाति स परद्रव्ये मोहं न करोतीति प्रकाशयति-**जाणदि** जानाति। **जो** यः कर्ता। कम्। तं पूर्वोक्तं **दव्वसहावं** परमात्मद्रव्यस्वभावम्। किंविशिष्टम्। **सब्भावणिबद्धं** स्वभावः स्वरूपसत्ता तत्र निबद्धमाधीनं तन्मयं सद्भावनिबद्धम्। पुनरपि किंविशिष्टम्। **तिहा समक्खादं** त्रिधा समाख्यातं कथितम्। केवलज्ञानदयो गुणाः सिद्धत्वादिविशुद्ध-पर्यायास्तदुभयाधारभूतं परमात्मद्रव्यत्वमित्युक्तलक्षणत्रयात्मकं तथैव शुद्धोत्पादव्यय-ध्रौव्यत्रयात्मकं च यत्पूर्वोक्तं स्वरूपास्तित्वं तेन कृत्वा त्रिधा सम्यगाख्यातं कथितं प्रतिपादितम्। पुनरपि कथंभूतं आत्मस्वभावम्। **सवियप्पं** सविकल्पं पूर्वोक्तद्रव्यगुणपर्यायरूपेण सभेदम्। य इत्थंभूतमात्मस्वभावं

जानाति, **ण मुहदि सो अण्णदवियम्हि न** मुह्यति सोऽन्यद्रव्ये, स तु भेदज्ञानी विशुद्धज्ञानदर्शन-स्वभावमात्मतत्त्वं विहाय देहरागादिपरद्रव्ये मोहं न गच्छतीत्यर्थः ।।१५४।।

अब, आत्मा का अन्य द्रव्य के साथ संयुक्तपना होने पर भी अर्थ[1] निश्चायक अस्तित्व को स्व-पर विभाग के हेतु के रूप में समझाते हैं —

अस्तित्व से निष्पन्न, त्रि-विकल्प द्रव्य-स्वभाव को।
आत्मा जो जानता, पर में करे नहीं मोह वो॥

अन्वयार्थ - [**यः**] जो जीव [**तं**] उस (पूर्वोक्त) [**सद्भावनिबद्धं**] अस्तित्व -निष्पन्न, [**त्रिधा समाख्यातं**] तीन प्रकार से कथित, [**सविकल्पं**] भेदोंवाले [**द्रव्य -स्वभावं**] द्रव्य-स्वभाव को [**जानाति**] जानता है, [**सः**] वह [**अन्यद्रव्ये**] अन्य द्रव्य में [**न मुह्यति**] मोह को प्राप्त नहीं होता।

टीका - जो द्रव्य को निश्चित करनेवाला, स्वलक्षणभूत स्वरूप-अस्तित्व कहा गया है, वह वास्तव में द्रव्य का स्वभाव ही है; क्योंकि द्रव्य का स्वभाव अस्तित्व-निष्पन्न (अस्तित्व का बना हुआ) है। द्रव्य-गुण-पर्यायरूप से तथा ध्रौव्य-उत्पाद-व्ययरूप से त्रयात्मक[2] भेदभूमिका में आरूढ़ ऐसा यह द्रव्यस्वभाव ज्ञात होता हुआ, परद्रव्य के प्रति मोह को दूर करके स्व-पर के विभाग का हेतु होता है, इसलिए स्वरूप-अस्तित्व ही स्व -पर के विभाग की सिद्धि के लिए पद-पद पर अवधारना (लक्ष्य में लेना) चाहिए। वह इस प्रकार है —

(१) चेतनत्व का अन्वय जिसका लक्षण है — ऐसा जो द्रव्य, (२) चेतनाविशेषत्व (चेतना का विशेषपना) जिसका लक्षण है — ऐसा जो गुण और (३) चेतनत्व का व्यतिरेक जिसका लक्षण है — ऐसी जो पर्याय - यह त्रयात्मक (ऐसा स्वरूप-अस्तित्व), तथा (१)[3] पूर्व और उत्तर व्यतिरेक को स्पर्शन करनेवाले चेतनत्वरूप से जो ध्रौव्य और (२-३)

---

१. अर्थ निश्चायक = द्रव्य का निश्चय करनेवाला; (द्रव्य का निर्णय करने का साधन जो स्वरूपास्तित्व है, वह स्वपर का भेद करने में साधनभूत है, इस प्रकार इस गाथ में समझाते हैं।)

२. त्रयात्मक = तीनस्वरूप; तीन के समूहस्वरूप (द्रव्य का स्वभाव द्रव्य, गुण और पर्याय — ऐसे तीन भेदोंवाला तथा ध्रौव्य, उत्पाद और व्यय — ऐसे तीन भेदोंवाला है।)

३. पूर्व अर्थात् पहले का; और उत्तर अर्थात् बाद का। (चेतन पूर्व और उत्तर की दोनों पर्यायों को स्पर्श करता है; इस अपेक्षा से ध्रौव्य है; बाद की अर्थात् वर्तमान पर्याय की अपेक्षा से उत्पाद और पहले की पर्याय की अपेक्षा से व्यय है।)

चेतन के उत्तर तथा पूर्व व्यतिरेकरूप से जो उत्पाद और व्यय- यह त्रयात्मक (ऐसा) स्वरूप-अस्तित्व जिसका स्वभाव है — ऐसा मैं वास्तव में यह अन्य हूँ, (अर्थात् मैं पुद्गल से ये भिन्न रहा)। और (१) अचेतनत्व का अन्वय जिसका लक्षण है — ऐसा जो द्रव्य, (२) अचेतना विशेषत्व जिसका लक्षण है — ऐसा जो गुण और (३) अचेतनत्व का व्यतिरेक जिसका लक्षण है — ऐसी जो पर्याय - यह त्रयात्मक (ऐसा स्वरूप अस्तित्व) तथा (१) पूर्व और उत्तर व्यतिरेक को स्पर्श करनेवाले अचेतनत्वरूप से जो ध्रौव्य और (२-३) अचेतन के उत्तर तथा पूर्व व्यतिरेकरूप से जो उत्पाद और व्यय — यह त्रयात्मक - ऐसा स्वरूप-अस्तित्व जिस पुद्गल का स्वभाव है, वह वास्तव में (मुझसे) अन्य है। (इसलिए) मुझे मोह नहीं है; स्वपर का विभाग है।

भावार्थ - मनुष्य, देव इत्यादि अनेक द्रव्यात्मक पर्यायों में भी जीव का स्वरूप -अस्तित्व और प्रत्येक परमाणु का स्वरूप-अस्तित्व सर्वथा भिन्न-भिन्न है। सूक्ष्मता से देखने पर वहाँ जीव और पुद्गल का स्वरूप-अस्तित्व (अर्थात् अपने-अपने द्रव्य-गुण -पर्याय और ध्रौव्य-उत्पाद-व्यय) स्पष्टतया भिन्न जाना जा सकता है। स्व-पर का भेद करने के लिये जीव को इस स्वरूपास्तित्व को पद-पद पर लक्ष्य में लेना योग्य है। यथा — यह (जानने में आता हुआ) चेतन द्रव्य-गुण-पर्याय और चेतन ध्रौव्य-उत्पाद-व्यय जिसका स्वभाव है — ऐसा मैं इस (पुद्गल) से भिन्न रहा; और यह अचेतन द्रव्य-गुण -पर्याय तथा अचेतन ध्रौव्य-उत्पाद-व्यय जिसका सवभाव है — ऐसा पुद्गल यह (मुझसे) भिन्न रहा। इसलिए मुझे पर के प्रति मोह नहीं है; स्व-पर का भेद है॥ १५४॥

प्रवचन नं. १६१ का शेष ज्येष्ठ कृष्ण १४ सोमवार, ०७ जुलाई १९७५

अब, १५४ (गाथा) **अब, आत्मा का अन्य द्रव्य के साथ संयुक्तपना होने पर भी....** कहते हैं, भले ही दूसरे पदार्थ-परमाणु के साथ भगवान संयोग में दिखता है (तथापि) **अर्थ निश्चायक अस्तित्व को स्व-पर विभाग के हेतु के रूप में समझाते हैं।** प्रत्येक पदार्थ का निश्चय स्वभाव स्वयं का अस्तित्व स्वयं के कारण है और पर, पर के कारण है — ऐसे **विभाग के हेतु के रूप में समझाते हैं।** १५४ (गाथा)

तं सब्भावणिबद्धं दव्वसहावं तिहा समक्खादं।
जाणदि जो सवियप्पं ण मुहदि सो अण्णदवियम्हि।।१५४।।

अस्तित्व से निष्पन्न, त्रि-विकल्प द्रव्य-स्वभाव को।
आत्मा जो जानता, पर में करे नहीं मोह वो॥

टीका - जो द्रव्य को निश्चित करनेवाला,.... प्रत्येक पदार्थ को निश्चित करनेवाला **स्वलक्षणभूत स्वरूप-अस्तित्व कहा गया है,....** वह उसके स्वलक्षणभूत स्वरूप — ऐसा अस्तित्व, उसके कारण कहा गया है। **वह वास्तव में द्रव्य का स्वभाव ही है;....** वह उत्पाद-व्यय और ध्रुव स्वलक्षणभूत स्वरूप, वह उसका स्वभाव है। आहा...हा...! (मूल ग्रन्थ में नीचे फुटनोट में अर्थ निश्चयक का अर्थ दिया है।) ऊपर के (शीर्षक के) वाक्य में (जो शब्द है उसका अर्थ) *द्रव्य का निश्चय करनेवाला; (द्रव्य का निर्णय करने का साधन जो स्वरूपास्तित्व है वह स्व-पर का भेद करने में साधनभूत है, इस प्रकार इस गाथा में समझाते हैं।)*

प्रत्येक आत्मा और प्रत्येक परमाणु का स्वरूप अस्तित्व स्वयं के कारण है - ऐसा पर से भिन्नरूप यह स्वरूप अस्तित्व बतलाता है। आहा...हा...! यह सब विवाद आते हैं न? निमित्त से होता है और इससे होता है और उससे होता है, निमित्त न आवे तो नहीं होता.... यह प्रश्न ही नहीं है। सत् का वस्तु का स्वरूप कैसा है? वह समय-समय में अस्तित्व का स्वरूप, प्रत्येक का उत्पाद-व्यय और ध्रुवरूप से निर्णय करके, उसमें पर की उत्पाद-पर्याय (आत्मा से) होवे — ऐसा तो है नहीं। वह स्वयं के कारण उत्पाद-व्यय होता है या द्रव्य-गुण-पर्यायरूप होता है, वह स्वयं का स्वभाव है। आहा...हा...!

पानी के बिना चावल नहीं पकते, लो! यह गरम पानी हो तो चावल पकते हैं या ऐसे के ऐसे चावल पकते होंगे? तो फिर पानी के कारण चावल पकें, उसका उत्पाद-व्यय पर के कारण हुआ तो स्वयं का (उत्पाद-व्ययस्वभाव) कहाँ गया? पकने की पर्याय का उत्पाद, कच्चे की पर्याय का व्यय और ध्रुवरूप से रहना, वह तो उसके अस्तित्व का स्वरूप है। कहो, पानी से चावल पकते नहीं — ऐसा कहते हैं।

प्रश्न : पानी के बिना तो चावल किस प्रकार होंगे?

समाधान : उसका द्रव्य का स्वभाव है, इसलिए होते हैं — ऐसा कहा है। देखो न! द्रव्य-गुण-पर्याय और उत्पाद-व्यय-ध्रुव — ऐसा उसका स्वभाव है। आहा...हा...!

मुमुक्षु : यह बात भारत में नहीं, विदेहक्षेत्र की बात है।

पूज्य गुरुदेवश्री : विदेहक्षेत्र की नहीं, आत्मा की बात है।

हो, उस-उस काल में जड़ की उत्पाद-पर्याय हो और वह पर्याय, द्रव्य-गुण की है। द्रव्य कायम रहता है, गुण कायम रहता है और उस काल की उस पर्याय का उत्पाद उस अस्तित्व के कारण उसमें (होता) है। द्रव्य-गुण-पर्याय और उत्पाद-व्यय-ध्रुव ये तीन-तीन लिये हैं। आहा...हा...! बहुत स्पष्ट! बहुत स्पष्ट!!

क्योंकि द्रव्य का स्वभाव अस्तित्व-निष्पन्न.... द्रव्य-वस्तु का स्वभाव ही अस्तित्व — अपने अस्तिपने ही प्राप्त है, बना हुआ है। द्रव्य का स्वभाव — आत्मा का, परमाणु का स्वभाव अस्तित्व से प्राप्त, बना हुआ है। उसके अस्तित्व से बना हुआ है, उसके अस्तित्व से हुआ है, दूसरे के अस्तित्व से हुआ है — ऐसा नहीं है। आहा...हा...! अद्‌भुत बात भाई!

(यह) टीका होती है तो कहते हैं कि इस टीका के रजकण उसके उत्पाद-व्यय और ध्रुव का अस्तित्व उससे हुआ है। आत्मा के अस्तित्व से नहीं। मैंने यह टीका बनायी? नहीं। उसमें ऐसा लिखा है कि यह तो बहुत बड़े पुरुष हैं, इसलिए ऐसा कहा है — ऐसा लिखा है। ऐसा (कहकर) ढीला कर दिया। कलश टीका! दूसरी टीका अच्छी थी, वहाँ फिर ढीला कर दिया। वे तो बड़े पुरुष हैं, इसलिए कहते हैं कि मैंने नहीं बनायी, बाकी बनायी तो उन्होंने है। यह तो मात्र उनका निमित्त था और उनका उपकार है, इतना बतलाने के लिए वहाँ ऐसा लिया है। इतना वहाँ लिया है कि उपकार है। इस वाणी का निमित्त तो आचार्य थे न? इसलिए उनका उपकार मानना चाहिए। जड़ से हुई है — ऐसा मानकर उपकार न माने इसके लिए यह बात जरा ऐसी की है। वरना तो... आहा...हा...! अक्षर-अक्षर का, अनन्त परमाणुओं का स्कन्ध उसका उस काल में उस पर्याय का उत्पाद, पूर्व के कारण व्यय (और) ध्रुव (रहना) यह तो अस्तित्व का ही प्राप्तपना है। उसका अस्तित्व का-प्राप्त की प्राप्ति करते हैं। दूसरे के

अस्तित्व के कारण यह अस्तित्व है — ऐसा सिद्ध नहीं करता। समझ में आया? भाई! यह सब तुम कार्यकर्ता बहुत (काम करते हो)।

मुमुक्षु : अभिमान करते हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : अभिमान? एक तो गाँव का सेठ था फिर वापस गाँव का कार्यकर्ता हो तो दोगुना अभिमान होता है न, डबल पदवी! आ...हा...! मार्ग अलग, प्रभु!

आहा...हा...! क्या बात की है! ज्ञेय अधिकार है न? प्रत्येक ज्ञेय — जड़ और चैतन्य का उस काल में उसके द्रव्य-गुण और पर्याय में उसका अस्तित्व है। उत्पाद-व्यय और ध्रुव के कारण उसका अस्तित्व है। आहा...हा...! वह पर्याय उसके द्रव्य-गुण के अस्तित्व से मिली है। दूसरे के द्रव्य-गुण में हुई है और दूसरे के द्रव्य-गुण से पर्याय हुई है — ऐसा नहीं है। आहा...हा...! इसे बहुत अभिमान! हम ऐसा बोलते हैं, हम ऐसा समझाते हैं, हमने तुम्हें सरल भाषा से समझाया। आहा...हा...! कौन करे भाषा? भाई! वह भाषा की पर्याय शब्द में से — शब्दवर्गणा में से उत्पन्न होती है, उसका उत्पाद उसका है, शब्दवर्गणा का व्यय है और परमाणु का ध्रुवपना है। आहा...हा...! उसमें यह सब वैद्य और डॉक्टर दूसरे का कर दे... इस कारण हम कुछ जानते हैं, इसलिए दूसरे का ऐसा कर दें, ऐसी दवा कर दें, अमुक ऐसा कर दें...

मुमुक्षु : परस्पर अनुग्रह करना चाहिए न?

पूज्य गुरुदेवश्री : धूल भी अनुग्रह नहीं।

मुमुक्षु : कला.... कला... है।

पूज्य गुरुदेवश्री : कला कहाँ की? कला, कला में रह गयी, यहाँ कहाँ आ गयी थी। कला का उत्पाद उसकी पर्याय में रहा। दवा की पर्याय बतायी, उसमें दवा की पर्याय में कहाँ इसकी कला आयी? आहा...हा...!

मुमुक्षु : ऐसी सूचना करता है कि दवा लागू पड़े बिना रहती ही नहीं।

पूज्य गुरुदेवश्री : धूल भी लागू नहीं पड़ती, कितनी ही बार तो! (दवा) करने जाये वहाँ सिर घूम जाये। (एक भाई को) हुआ था न? असाध्य हो गये थे। इंजेक्शन

लिया, वहाँ असाध्य हो गये। यहाँ इंजेक्शन देते हैं, वहाँ फेरफार नहीं हो जाता? क्षण में फेरफार हो जाता है। लो! बेहोश हो जाता है, प्रलाप बढ़ जाये, मर जाए! देह की स्थिति पूरी होने हो (तो मर जाता है)। यहाँ अपने हुआ नहीं था? इंजेक्शन दिया... हो गया पूरा! यह होनेवाला था, हाँ! वह कोई इंजेक्शन से (कुछ नहीं हुआ)।

जो ऐसा निर्णय करता है, उसे पर का मोह उड़ जाता है। आहा...हा...! उसे व्यर्थ जो मोह था... मोह अर्थात् व्यर्थ! उसे वह व्यर्थ का मोह उड़ जाता है। आहा...हा...! हमने यह किया था, हमने यह किया था... क्योंकि द्रव्य का स्वभाव अस्तित्व से प्राप्त है, बना हुआ है। अस्तित्व से बना हुआ है। उत्पाद-व्यय और ध्रुवरूप अस्तित्व से बना हुआ है। वह पर के कारण बना हुआ है — ऐसा है नहीं। मानो होता है, पर से ऐसा होता है... निमित्त से किसी समय होता है, किसी समय नहीं होता। निमित्त से होता ही नहीं — यह एकान्त है — ऐसा (लोग) कहते हैं। यहाँ तो कहते हैं — तीन काल में निमित्त से (नहीं होता) निमित्त की पर्याय का उत्पाद-व्यय का ध्रुव उसके अस्तित्व में है और सामनेवाले पदार्थ के उत्पाद-व्यय और ध्रुव उसके अस्तित्व में। सामनेवाले के द्रव्य-गुण की पर्याय वहाँ, इसके द्रव्य-गुण की पर्याय यहाँ। उसमें यह पर्याय इस पर्याय को करे यह कहाँ रहा? आहा...हा...! यह द्रव्य है, वह शाश्वत् है। गुण शाश्वत् है, अब उसकी वर्तमान अवस्था उत्पाद-व्यय (स्वरूप), और वह ध्रुव — द्रव्य-गुण ध्रुव और उत्पाद-व्यय वह पर्याय — तीन होकर उसका अस्तित्व है। उसका अस्तित्व यह रहा हुआ बना हुआ है। आहा...हा...! कठिन बात है भाई!

अनासक्ति से दूसरे का काम करना, यह बात ही झूठ है। दूसरे का काम अर्थात् दूसरे के उत्पाद का कार्य अनासक्ति से करना — ऐसा?

मुमुक्षु : अनासक्ति से करना — ऐसा तो समयसार में भी है।

पूज्य गुरुदेवश्री : वह अनासक्ति दूसरी बात है। अनासक्ति अर्थात्? राग होता है, वह मेरा नहीं है — ऐसी अनासक्ति है। एकत्वबुद्धि नहीं है। यह तो एकत्व मैं करता हूँ परन्तु अनासक्ति रखता हूँ। इसका अर्थ क्या? आहा...हा...! यहाँ तो अनासक्ति अर्थात् हुई अवस्था में एकत्वबुद्धि नहीं, ज्ञाताबुद्धि है, उसे अनासक्ति इस अपेक्षा से, एकत्व नहीं

— ऐसा कहा जाता है परन्तु पर का कर सकता हूँ (— ऐसी जहाँ मान्यता है), वहाँ तो पर के साथ एकत्वबुद्धि हो गयी। पर के पर्याय मैं कर सकता हूँ, वहाँ तो दो की एक बुद्धि हो गयी। आहा...हा... !

द्रव्य-गुण-पर्यायरूप से.... देखो! प्रत्येक वस्तु का द्रव्य-गुण-पर्याय... आहा...हा... ! उस-उस काल का द्रव्य-गुण तो अविनाशी है और उस काल की, उस द्रव्य की वह पर्याय वह द्रव्य-गुण की पर्याय है। वह सामान्य का विशेष है। वह विशेषपना बाह्य के संयोग आये, इसलिए यहाँ विशेषपना हुआ — ऐसा नहीं है। आहा...हा... ! द्रव्य -गुण, वह सामान्य है, पर्याय उसका विशेष है। उसके द्रव्य-गुण का वह पर्याय विशेष है। आहा...हा... ! पानी गर्म हुआ, वह पानी के द्रव्य-गुण में कायम रहकर उष्ण पर्याय (हुई), वह उसकी पर्याय है। वह पर्याय अग्नि से उत्पन्न हुई है - ऐसा नहीं है। अरे... ऐसी व्याख्या !

'परस्पर उपग्रहो' — लो ! अभी तो यह चला है। नहीं ? चौदह राजलोक का फोटो देते हैं, नीचे 'परस्पर उपग्रह' (लिखते हैं)। (अर्थात्) एक दूसरे का उपकार करो। कौन उपकार करे ? भाई ! जिसका-जिस द्रव्य का, उसके गुण का, उसका जो विशेष का — पर्याय का उसका स्वयं का काल है, उसे वह उत्पाद-व्यय और ध्रुव का अस्तित्व उसका है, (उसने) दूसरा उसकी पर्याय करे तो उसके द्रव्य-गुण की वह पर्याय हो गयी। इसके द्रव्य-गुण की वह पर्याय नहीं रही। समझ में आया ?

दूसरे की दशा को — शरीर की वाणी की मन की और दूसरे आत्मा की (दशा को), मैंने उसे धर्म की पर्याय प्रगटायी, 'मैंने' उसे (प्रगटायी) ! भाई ! उसके उत्पाद -व्यय और ध्रुव का अस्तित्व तो उसका है और वह उत्पाद-पर्याय है, वह उसके द्रव्य -गुण की है, वह तेरी पर्याय नहीं कि तूने उसे उत्पन्न किया। आहा...हा... ! तो फिर यह उपदेश किसलिए करते हैं ? उपदेश तो वाणी के कारण वाणी निकलती है, भाई ! आहा...हा... ! उस वाणी के उत्पाद का कर्ता आत्मा नहीं है। आहा...हा... ! यह तो पर से मर गये का काम है !

मुमुक्षु : सद्गुरु के वचन से आया अपूर्व भान...

पूज्य गुरुदेवश्री : कुछ नहीं मिलता — ऐसा यहाँ तो कहते हैं। 'श्रीमद्' ने कहा है, हाँ! सद्गुरु अर्थात् आत्मा — ऐसा लिखा है। 'उपदेश छाया' में है। सत् — ऐसा जो भगवान आत्मा, ध्रुव, उसकी जो पर्याय, उसका अस्तित्व है, वह द्रव्य-गुण का अस्तित्व है। वह पर्याय उसके द्रव्य-गुण से हुई है। निश्चय से तो पर्याय, पर्याय से हुई है, द्रव्य-गुण से नहीं। आहा...हा...! समझ में आया? जैसे एक द्रव्य दूसरे द्रव्य को नहीं करता, वैसे एक ध्रुवसत्, उत्पाद-व्यय के सत् को नहीं करता — ऐसा उत्पाद-व्यय का सत् ध्रुव सत् को नहीं करता। एक सत् है, वह दूसरे सत् का कुछ नहीं करता। वैसे ही एक सत् ध्रुव है, वह उत्पाद-व्यय के सत् को नहीं करता — तो वह उत्पाद-व्यय का सत् दूसरे के उत्पाद-व्यय के सत् को करे, यह तो है नहीं। भाई! यह तो वीतरागमार्ग! सत्य के पन्थ की रीति ही अलग है, बापू!

पर की दया पालो, तुम्हारे धर्म हो गया, जाओ! अहिंसा परमोधर्मः! इस अहिंसा की व्याख्या क्या? कि पर को न मारो यह! परन्तु पर को कौन मार सकता है? और पर को बचा कौन सकता है? पर को मारने की पर्याय का व्यय तो उससे होता है। उसे यह करे? और इसमें तो यह लिया कि तू उसकी मरने की पर्याय को करे तो फिर उसका जो आयुष्य का कर्म था, वह पूरा हुआ, तब देह छूटा, वह तो उसके आयुष्य के कारण (छूटा है)। उस आयुष्य के कारण कार्य हुआ वह कहाँ गया? तूने मारने का कार्य किया? और जीया वह तो पूर्व में उसने उसका आयुष्यकर्म बाँधा था, तद्नुसार वह वहाँ जीता है। उसे तूने जीवन (दिया) तो उसके कर्म का फल कहाँ गया?

मुमुक्षु : उसे तूने कर्म दिया?

पूज्य गुरुदेवश्री : दिया (माने) तो फिर यह भूल हो गयी। आहा...हा...!

सम्यग्दृष्टि लड़ाई में भी खड़ा दिखे! लड़ाई करता हुआ (दिखे), तथापि उस उत्पाद-व्यय की पर्याय को यह जीव करता है — ऐसा नहीं मानता, तथा उस समय जो जरा विकल्प आया है, वह भी मेरा कर्तव्य है — ऐसा वह नहीं जानता। आहा...हा...! मैं तो एक जाननेवाले स्वभाव में हूँ। मेरे जानने का अस्तित्व, उत्पाद-व्यय-ध्रुववाला अस्तित्व है, जानने का, हाँ! जानने का उत्पाद, पूर्व का व्यय और जानने का गुण — यह

द्रव्य-गुण और पर्याय है, इसमें मैं हूँ। आहा...हा...! धर्ममार्ग अलौकिक है। लौकिक के साथ मिलान करने जायेगा तो कहीं मिलेगा नहीं। आहा...हा...!

यह बौद्ध और भगवान (महावीर) दोनों केवल (ज्ञान) प्राप्त हुए थे। (कितने ही ऐसा कहते हैं)। गजब किया है न! दोनों निर्वाण प्राप्त हुए। आहा...हा...!

मुमुक्षु : उन्हें बोधि का ज्ञान हुआ, इन्हें केवलज्ञान हुआ।

पूज्य गुरुदेवश्री : कहाँ बोधि का ज्ञान...? उन्हें ऐसी कोई तह बैठी कि इसका ऐसा और इसका ऐसा... परन्तु ज्ञान कहाँ था? प्रतिस्पर्धी कहा है। कहा है न! प्रतिस्पर्धी कहे और फिर समान कहे, कुछ ठिकानेरहित... अरे...रे...! यह क्या चलता है। जैनदर्शन में दावानल!! अभी जहाँ (बौद्ध ने) ध्रुवपना स्वीकार नहीं किया, वहाँ फिर भगवान के साथ कहाँ मिलान करना था?

(विशेष कहेंगे)

प्रवचन नं. १६२ ज्येष्ठ कृष्ण १४ मंगलवार, ०८ जुलाई १९७५

(प्रवचनसार, १५४ गाथा) (ध्रौव्यउत्पादव्ययरूप) **त्रयात्मक भेदभूमिका में आरूढ़....** ऐसे इन तीन भेद में वस्तु आरूढ़ है। द्रव्य-गुण-पर्याय में वस्तु आरूढ़ है, रही हुई है और ध्रौव्य-उत्पाद-व्यय में वह रही हुई है। **ऐसा यह द्रव्यस्वभाव ज्ञात होता हुआ,....** ऐसा प्रत्येक द्रव्य का स्वभाव स्वयं के द्रव्य-गुण-पर्यायरूप रहता हुआ और ध्रौव्य-उत्पाद-व्ययरूप रहता हुआ, यह द्रव्य-स्वभाव स्वयं ऐसा ज्ञात होता हुआ... पर्याय जानती है। पर्याय जानती है कि यह द्रव्य-गुण और पर्याय उतना मैं। ऐसा पर्याय जानती है कि ध्रुव और उत्पाद व्यय वह मैं; जानती है तो पर्याय न?

ऐसा यह द्रव्यस्वभाव ज्ञात होता हुआ,.... प्रत्येक पदार्थ का द्रव्य-गुण और पर्याय, ध्रुव उत्पाद-व्यय; इस प्रकार द्रव्य का स्वभाव अपनी अस्तिवाला इस प्रकार ज्ञात होता हुआ। **परद्रव्य के प्रति मोह को दूर करके....** परद्रव्य, जो उसके द्रव्य-गुण-पर्याय में रहा हुआ है, और उसके ध्रुव-उत्पाद-व्यय में (रहा हुआ) है, उसका मोह (दूर करके कि) यह मेरा नहीं है — ऐसे ज्ञान की पर्याय अपने द्रव्य-गुण-पर्याय में ऐसा

(रहा) हूँ और मैं ध्रुव व उत्पाद-व्यय में हूँ; परद्रव्य उसके द्रव्य-गुण-पर्याय में, उसके ध्रुव उत्पाद-व्यय में है — ऐसा जानने से पर के प्रति के मोह को दूर करता है, क्योंकि जो मेरे अस्तित्व में नहीं है, वह मेरा नहीं है। समझ में आया? मोह को — मिथ्याभ्रान्ति को दूर करके **स्व-पर के विभाग का हेतु होता है,....** इस प्रकार जानने से स्व और पर की भिन्नता का भेदज्ञान होता है। स्व-पर के विवेक का — भेद का हेतु होता है।

इसलिए स्वरूप-अस्तित्व ही.... प्रत्येक के स्वरूप का अस्तित्व ही **स्व-पर के विभाग की सिद्धि के लिए....** अपना आत्मा और परवस्तु की **विभाग की सिद्धि के लिए....** भावार्थ में पद-पद था — यह उसका अर्थ है। **पद-पद पर अवधारना....** उसका यह अर्थ है। वास्तव में तो पर्याय-पर्याय में इसे निर्णय करना। पद-पद पर निर्णय करना, **(लक्ष्य में लेना)....** उसका स्पष्टीकरण अब द्रव्य-गुण और पर्याय की व्याख्या (करते हैं)।

(१) चेतनत्व का अन्वय जिसका लक्षण है ऐसा जो द्रव्य,.... चेतन... चेतन... चेतन... चेतन... चेतन... ऐसा जिसे कायम स्वभाव है — ऐसा जो द्रव्य-चेतनद्रव्य। चेतन अर्थात् जानने-देखनेवाला ऐसा द्रव्य, हाँ! यहाँ (द्रव्य) लेना है। जिसे चेतनपने का शाश्वत् सम्बन्ध है — ऐसा जो चेतनपने का अन्वय (अर्थात्) उसका चेतनपना ऐसा का ऐसा रहता है — ऐसा जिसका लक्षण है, वह द्रव्य है, उसे चेतन का द्रव्य कहा जाता है।

पर्याय ऐसा जानती है कि यह जो चेतनपना शाश्वत्... शाश्वत्... शाश्वत्... शाश्वत्... शाश्वत्... रहता है, वह द्रव्य है। समझ में आया? पर्याय जानती है कि यह चेतन... चेतन... चेतन... चेतन... अन्वय शाश्वत् रहनेवाला, वह चेतनद्रव्य है।

(२) चेतनाविशेषत्व (चेतना का विशेषपना).... अर्थात् गुण। **जिसका लक्षण है — ऐसा जो गुण....** पर्याय में जानता है कि यह चेतन... चेतन... चेतन... चेतन... वह द्रव्य है और उसका ज्ञान-गुण जानना... जानना... यह उसका गुण है। यह द्रव्य-गुण-पर्याय का ज्ञान घट गया, उसमें सब विवाद उठे हैं।

प्रश्न : घट गया या विपरीत हो गया?

समाधान : इसलिए विवाद हो गया न! यह पर्याय इसकी करे और यह इसकी करे... किसी के अस्तित्व में — पर्याय में जाकर यह अस्तित्व काम करे।

प्रत्येक आत्मा और प्रत्येक परमाणु... उस परमाणु के अस्तित्व का निर्णय तो ज्ञान पर्याय करती है न? उसे तो (परमाणु को तो) कुछ पता नहीं है।

(३) चेतनत्व का व्यतिरेक.... (अर्थात्) चेतनत्व की भिन्नता की अवस्थाएँ **जिसका लक्षण है....** वह पर्याय है। **यह त्रयात्मक (ऐसा स्वरूप-अस्तित्व),....** एक बात की। द्रव्य-गुण और पर्याय के स्वरूपपने रहनेवाला अस्तित्व — ऐसा ज्ञान ने जाना। समझ में आया? मेरा भगवान चेतन... चेतन... चेतन... चेतन... चेतन... चेतन... ऐसा कायम अनुसरकर रहनेवाला चेतन, वह द्रव्य है और उसका विशेषगुण — जानना आदि वह विशेषगुण है — ऐसा पर्याय ने जाना और व्यतिरेक (अर्थात्) अवस्था की भिन्न-भिन्नता है, वह उसकी पर्याय है। पर्याय ऐसा जानती है कि अन्य-अन्य पर्याय, भिन्न-भिन्न (पर्याय होती है)। उत्तर (अर्थात्) बाद की होनेवाली (पर्याय) उत्पाद और पहले की होनेवाली व्यय — ऐसी व्यतिरेक पर्यायें, वह द्रव्य की दशाएँ — अवस्थाएँ हैं। अरे! ऐसा (समझने का)!

कितना धीरजवान हो, तब उस पर्याय को पर्याय में यह चेतन... चेतन... चेतन... द्रव्य है — ऐसा निर्णय होता है। पर्याय में यह ज्ञान... ज्ञान... ज्ञान... गुण-विशेषगुण जो है, वह गुण है — ऐसा पर्याय उसे जानती है और पर्याय ऐसा जानती है कि पूर्व की और बाद की भिन्न-भिन्न दशा अर्थात् व्यय और उत्पाद — ऐसी भिन्न-भिन्न अवस्था (होती है), वह पर्याय है, वह मैं हूँ। समझ में आया? **(ऐसा स्वरूप-अस्तित्व),....** त्रयात्मक कहा न? द्रव्य-गुण और पर्याय — तीन। अन्दर यह सविकल्प - भेद है न? तीनरूप से भेद, वह वस्तु।

अब उत्पाद, व्यय और ध्रुव डालते हैं। पहले में द्रव्य, गुण और पर्याय डाले। दो बोल हैं न? **पूर्व....** अर्थात् पहले की पर्याय **और उत्तर....** अर्थात् बाद की। (मूल ग्रन्थ के फुटनोट में) नीचे अर्थ किया है, देखो! *पूर्व अर्थात् पहले का; और उत्तर अर्थात् बाद का। (चेतन पूर्व और उत्तर की दोनों पर्यायों को....* चेतन ध्रुव *स्पर्श करता है;....* चेतनद्रव्य

पहले की पर्याय और बाद की पर्याय अर्थात् उत्तर और पूर्व, उसकी पर्याय को ध्रुव स्पर्श करता है। ध्रुव के साथ उसे सम्बन्ध है, पर के साथ सम्बन्ध नहीं है — ऐसा कहते हैं। समझ में आया?

प्रत्येक द्रव्य में... अभी चेतन की बात है। उसकी जो बाद की अर्थात् उत्पादवाली पर्याय और पूर्व की अर्थात् व्यय पर्याय है, वह व्यतिरेक (है और) वे ध्रुव को स्पर्श करते हैं (अर्थात्) ध्रुव के साथ सम्बन्ध रखते हैं। समझ में आया? **पूर्व और उत्तर व्यतिरेक....** अर्थात् भिन्न-भिन्नता। ऐसी पर्याय को **स्पर्शन करनेवाले चेतनत्वरूप से जो ध्रौव्य....** चेतनपना जो ध्रुव है, वह पहले की और बाद की अवस्था को स्पर्श करता है। स्पर्श करता है, अर्थात् उसका सम्बन्ध वहाँ ध्रुव के साथ है, ऐसा। समझ में आया? इस पहले की और बाद की अवस्था का उत्पाद होना और व्यय होना, उसका सम्बन्ध ध्रुव के साथ है, पर के साथ सम्बन्ध नहीं है — ऐसा कहते हैं।

प्रश्न : तो फिर अब पर का काम करना या नहीं करना?

समाधान : कौन करता है? किसने किया है? वकालात की थी? (पुत्र को) पढ़ाया और पैसा खर्च किया... रोटियाँ खानी पड़ती है अकेले को, स्त्री वहाँ रहती है। ए...ई... इसका पुत्र बाहर रहता है, हाथ से रोटियाँ बनाकर खाता है... परन्तु वहाँ कौन था? स्वयं के अस्तित्व में जो द्रव्य-गुण और पर्याय है, उतना वह मैं (हूँ) और बाद की उत्तर पर्याय, वह उत्पाद तथा पहले का व्यय, उसे स्पर्श करनेवाला ध्रुव वह मैं हूँ। इतने में मैं, वह मैं, दूसरे में मैं नहीं; दूसरे में मैं नहीं, दूसरा मैं नहीं। आहा...हा...! देखो न, कैसी शैली? ओहो...हो...! सादी भाषा में....

इस पर्याय ने ऐसा निर्णय किया है। पर्याय ऐसा निर्णय करती है, जानती है कि यह जो चेतन... चेतन... चेतन... चेतन... शाश्वत् रहनेवाला जो है... है... है... है... वह द्रव्य है। उसे अन्दर में विचारना चाहिए, हाँ! और उसका विशेष जो जानने का भाव — ज्ञान आदि है, वह पर्याय कहती है कि यह मैं (हूँ) और भिन्न-भिन्न बाद की अवस्था जो उत्तर की और पहले की अवस्था जो व्यय की - पूर्व की — ऐसी अवस्था का सम्बन्ध ध्रुव के साथ है। यह उत्पाद-व्यय, ध्रुव को स्पर्श करते हैं।

एक ओर कहना कि उत्पाद-व्यय, उत्पाद-व्यय में है; उत्पाद-व्यय, ध्रुव को स्पर्श नहीं करते। यह दूसरी अपेक्षा है। यहाँ उत्पाद-व्यय, ध्रुव के साथ सम्बन्ध रखते हैं — इतना सिद्ध करके स्पर्श करते हैं — ऐसा कहना है। पर को स्पर्श नहीं करता। पहले की पर्याय व्यय होने पर और बाद की पर्याय उत्पाद होने पर, पर के साथ उसे कुछ सम्बन्ध नहीं है — ऐसा कहना है। पर के अस्तित्व के साथ पर के उत्पाद का अस्तित्व वहाँ है, उसके साथ इस उत्पाद का सम्बन्ध कोई सम्बन्ध नहीं रखता। समझ में आया?

पूर्व और उत्तर व्यतिरेक को स्पर्शन करनेवाले चेतनत्वरूप से जो ध्रौव्य.... अर्थात् शाश्वत् जो चेतनद्रव्य है, उसमें यह बाद की और पहले की... बाद की अर्थात् उत्पाद और (पहले की) व्यय की पर्याय, उसके (साथ) सम्बन्ध रखती है। ध्रुव के अस्तित्व के साथ व्यतिरेक पर्याय का सम्बन्ध है। भिन्न-भिन्न उत्पाद और व्यय पर्याय का सम्बन्ध पर के साथ बिल्कुल नहीं है — ऐसा सिद्ध करना है। आहा...हा...! समझ में आया?

यहाँ विकारी पर्याय होती है और पूर्व की पर्याय जाये या निर्विकारी पर्याय हो और पूर्व की पर्याय जाये, उस व्यतिरेक-पर्याय को ध्रुव के साथ सम्बन्ध है। ध्रुव के अस्तित्व के साथ उसका अस्तित्व है, उसका अस्तित्व पर के कारण है (— ऐसा नहीं है)।

प्रश्न : विकार और निर्विकार दोनों को.... ?

समाधान : दोनों... दोनों! उसका अपना अस्तित्व सिद्ध करना है न? परन्तु फिर पर से भिन्न अस्तित्व सिद्ध हो, तब यह द्रव्य... द्रव्य... द्रव्य... गुण... गुण... वह मैं। बाद की पर्याय में भिन्न-भिन्न अवस्था हो, उस पर्याय का लक्ष्य वहाँ गया है। इसलिए विकार पर्याय मुझमें है, ऐसा जाना परन्तु निर्मल पर्याय है, वह विकार से भिन्न है, क्योंकि द्रव्य... द्रव्य... द्रव्य... यह द्रव्य... यह गुण... ऐसा लक्ष्य वहाँ गया न? इसलिए वह पर्याय निर्मल उत्पन्न हुई और पूर्व की गयी। उसकी अवस्था में विकार पर्याय भी है; वह है मेरे अस्तित्व में परन्तु उस निर्मल पर्याय से मेरा अंश भिन्न है परन्तु है मेरे अस्तित्व में। आहा...हा...! ज्ञान ने ऐसा जाना न? कि राग का परिणमन मेरे अस्तित्व में है। यह आया नहीं? सैंतालीस नय में! इस प्रवचनसार का सार वहाँ नय में डाला है। राग का अस्तित्व मेरे अस्तित्व में

है; वह पर के अस्तित्व के कारण नहीं है और वह राग का अस्तित्व पर में नहीं है। समझ में आया? आहा...हा...!

यहाँ तो कहते हैं कि पर्याय ने निर्णय किया कि यह चेतन... चेतन... चेतन... चेतन... चेतन... चेतन... जो द्रव्य है और उसमें शाश्वत् जानने का एक स्वभाव है, वह गुण है — यह पर्याय ऐसा जानती है और पर्याय भिन्न-भिन्न जो होती है, नयी अवस्था होवे, पुरानी जाये वह व्यतिरेक-पर्याय है, वह मैं हूँ और उत्पाद-व्यय तीनों में कहने पर इस व्यतिरेक का सम्बन्ध ध्रुव के साथ है। इस व्यतिरेक का सम्बन्ध निमित्त और पर के साथ नहीं है। आहा...हा...! ऐसी बात है।

पूर्व और उत्तर व्यतिरेक को स्पर्शन करनेवाले चेतनत्वरूप से.... अर्थात् यह दो और ध्रुव यह तीसरा। **(२-३) चेतन के उत्तर तथा पूर्व....** अर्थात् उत्तर अर्थात् उत्पाद, पूर्व अर्थात् व्यय। **व्यतिरेकरूप से जो उत्पाद और व्यय....** देखो! उत्तर आया न? उत्तर अर्थात् उत्पाद, पूर्व अर्थात् व्यय। **यह त्रयात्मक (ऐसा)....** चेतन का ऐसा लिया न? चेतन का अर्थात् शाश्वत् द्रव्य; उसके उत्तर और पूर्व अर्थात् उत्पाद और व्यय ये तीन हो गये न? **चेतन का....** अर्थात् चेतन जो द्रव्य है, और उत्पाद तथा व्यय — तीन हो गये।

त्रयात्मक (ऐसा) स्वरूप-अस्तित्व जिसका स्वभाव है.... देखो! **ऐसा मैं....** ऐसा जो मैं! आहा...हा...! यह बड़ा विवाद उठा है न? पर का कर सके, निश्चय से नहीं व्यवहार से कर सकता है। व्यवहार से करता है, निश्चय से नहीं — (ऐसा कहते हैं) परन्तु व्यवहार से करता है, उसकी व्याख्या क्या? यह तो बोलने की बात है। बोलना, वह जीव का कहाँ है? वह तो व्यवहार का कथन — भाषा है। निमित्तकर्ता है। कर्ता अर्थात् क्या? व्यवहार अर्थात् है नहीं। उस समय के उस अपने उत्पाद को द्रव्य और गुण के साथ सम्बन्ध है और उसके द्रव्य-गुण तथा पर्याय स्वयं के अस्तित्व में स्वयं से है। तीन होकर सत् है। वह सत् का अंश स्वयं का स्वयं से है। आहा...हा...!

यहाँ तो पर से पृथक् करना है न? वरना तो पर्याय का - सत् का अंश है, वह सत् का अंश भी द्रव्य के सत् के अंश की अपेक्षा नहीं रखता। सत्, सत् है न? सत् है, वह

अहेतुक है। आहा...हा... ! पर्याय का पर हेतु तो नहीं परन्तु उस पर्याय का ध्रुव हेतु नहीं। आहा...हा... ! सत् है न ? सत् है, उसका हेतु क्या ? है, उसे दूसरे की अपेक्षा क्या ? है, उसे अपेक्षा क्या ? यहाँ तो मात्र पर से भिन्न करके उसके क्षण-क्षण के उत्पाद और व्यय (होते हैं), वह पर्याय है, विशेष गुण है, द्रव्य कायम रहनेवाला त्रिकाल है, अकेला और वह मैं हूँ तथा बाद की और पहले की पर्याय को स्पर्श करनेवाला ध्रुव वह मैं हूँ। इस प्रकार स्पर्श करनेवाला मैं ऐसे (बाहर में स्पर्श करनेवाला) नहीं। कहो, भाई ! वहाँ फिर चालने में कहाँ था यह ? आहा...हा... !

केवली पहले समय में वाणी ग्रहण करते हैं और दूसरे समय में छोड़ते हैं (ऐसा श्वेताम्बर में कहते हैं)। छठवीं साल में (२००६ में) चर्चा चली थी। (श्वेताम्बर का साधु) कहे नहीं केवली पहले समय में वाणी ग्रहण करते हैं, दूसरे समय में छोड़ते हैं। कहो ? आहा...हा... ! वह (कहे) कि यह वाणी कौन बोलता है ? तू नहीं बोलता तो तेरा बाप बोलता है ? अरे...रे... ! क्या हुआ यह ? वाणी के रजकण हैं या नहीं ? रजकण हैं, उनका अस्तित्व है या नहीं ? और उनका अस्तित्व द्रव्यरूप से रजकण... रजकण... रजकण... रजकण... अन्वयरूप से वे रजकण (रहे हैं) और जड़ का वर्ण-गन्ध आदि उनके गुण हैं और उनकी पर्याय उत्पत्ति और व्यय - व्यतिरेक, वह उनकी अवस्थाएँ हैं। उस अवस्था में उसका अस्तित्व है अथवा भाषा की पर्याय हुई, पूर्व की गयी, उसका सम्बन्ध उस परमाणु के ध्रुव के साथ है। बोलनेवाला बोलता है, इसलिए उसका सम्बन्ध उसके साथ है — ऐसा नहीं है। आहा...हा... !

देखो न ! इसीलिए कहा न ? **पद-पद पर अवधारणा....** समय-समय में यह ख्याल में रखना — ऐसा। समय-समय में ख्याल में रखना कि मेरा उत्पाद-व्यय मुझमें है। मेरे उत्पाद-व्यय का स्पर्श करनेवाला ध्रुव है, उसमें मैं हूँ, अनादि-अनन्त पर्याय में — मेरी पर्याय में मैं हूँ, पर की पर्याय में मैं नहीं हूँ और पर की पर्याय के कारण मेरी पर्याय नहीं है। आहा...हा... ! ऐसी वीतराग-वाणी अन्यत्र कहाँ मिलती है ? ओहो...हो... !

वह आया नहीं था ? अपने यहाँ पण्डित आया नहीं था ? (वह) कहता था पर्याय क्या ? कहो, (यह) पण्डित ! जैन का दिगम्बर पण्डित ! बेचारा सरल, हाँ ! एक बार कहीं

मिला नहीं था? बैंगलोर! व्यक्ति सरल। उन लोगों के व्यक्ति भाषा समझे नहीं परन्तु व्यक्ति बहुत नरम। ऐसे जिज्ञासा से सुनता (था)। क्या करे? यह भाषा समझ में नहीं आती। कन्नड़ का एक शब्द हम नहीं समझते। वह पण्डित बोलता होगा, हम कुछ समझते नहीं। हम कहते हैं वह कहता है या (दूसरा कुछ कहता है, पता नहीं पड़ता)। उसने अभिप्राय में धारा हो तद्नुसार कहे न? इस प्रकार धारा हो, वह तो (उसे पता है) दोनों व्यक्ति सरल थे, हाँ! आहा...हा...! अरे...रे...!

सुनने की जड़ की जो पर्याय उसका - भाषा का उत्पाद, उसके ध्रुव के साथ सम्बन्ध रखता है। बोलनेवाले के विकल्प या ज्ञान की पर्याय के साथ उसे सम्बन्ध नहीं है। उसका अर्थ कि कुछ है ही नहीं। निमित्त का अर्थ — वह इसमें है ही नहीं, इससे है नहीं, इसका अर्थ यह हुआ। आहा...हा...! (ऐसी) स्वयंसिद्ध स्वतन्त्र वस्तु ही है। भगवान ने बनायी नहीं; भगवान ने तो जैसी थी, वैसी जानकर कही है। आहा...हा...!

(ऐसा) स्वरूप-अस्तित्व जिसका स्वभाव है ऐसा मैं वास्तव में यह अन्य हूँ,.... लो! आहा...हा...! अन्य सर्वज्ञ, सिद्ध, पंच परमेष्ठी का अस्तित्व, उनके द्रव्य-गुण और पर्याय में है। मेरा अस्तित्व मेरे द्रव्य-गुण-पर्याय में है। उनके अस्तित्व की उत्पाद -व्यय की पर्याय उनके ध्रुव के साथ सम्बन्ध रखती है। मेरी उत्पाद-व्यय की पर्याय (मेरे) ध्रुव के साथ सम्बन्ध रखती है। आहा...हा...! भाई! यह ऐसी बातें हैं! गाथा संक्षिप्त और अमृतचन्द्राचार्य ने अर्थ कैसा भरा है!! आहा...हा...! दिगम्बर सन्तों ने अमृत बहाया है! इसके ख्याल में आना चाहिए।

पर्याय, यह द्रव्य... द्रव्य... द्रव्य... और यह गुण... गुण... है — ऐसा लक्ष्य करती है, तब पर्याय में भले विकार हो परन्तु वह पर्याय, यह द्रव्य और गुण है (ऐसा लक्ष्य करती है) इसलिए वह तो निर्मल होती है। भाई! क्या कहा समझ में आया इसमें कुछ? यह चैतन्य द्रव्य... द्रव्य... द्रव्य... द्रव्य... कहा न? ऐसे अस्ति कहा न? चेतन... चेतन... चेतन... चेतन... चेतन... चेतन... अस्ति का ज्ञान की पर्याय ने निर्णय किया न? वह तो द्रव्य पर (लक्ष्य) गया कि यह द्रव्य है और अन्दर जानने का विशेष गुण है, वह यह गुण है। ऐसा लक्ष्य किया वह पर्याय वास्तव में तो निर्मल ही है, परन्तु साथ में विकार है, वह

विकार भी मुझमें है — ऐसा वह पर्याय जानती है। यह द्रव्य... द्रव्य... द्रव्य के लक्ष्य से पर्याय हुई, वह निर्मल उत्पाद हुआ और निर्मल (पर्याय के साथ) राग का उत्पाद भी है — ऐसा ज्ञान की पर्याय, यह भी मेरे में अस्तित्व है — ऐसा जानती है। आहा...हा...!

देखो न! शैली! जहाँ शक्तियों का — गुण का वर्णन किया है, वहाँ तो इसकी विकारी पर्याय भी नहीं ली है। वहाँ तो द्रव्यस्वभाव का दृष्टि का विषय लिया है। वहाँ तो इसकी विकारी पर्याय भी इसमें नहीं है। इसकी पर्याय, द्रव्य-गुण और पर्याय तीनों निर्मल हैं — ऐसा लिया है और यहाँ तो ज्ञान प्रधान पर से भिन्न वस्तु बतलानी है, इसलिए ज्ञान जानता है कि द्रव्य वह यह — शाश्वत् रहनेवाली चीज वह मैं; गुण — विशेष वह मैं और पर्याय वह मैं। उसमें इसकी निर्मल पर्याय हुई है परन्तु साथ में विकार है, इसे भी ज्ञान जानता है कि (वह) मुझमें है। आहा...हा...! समझ में आया? वे कहते हैं न? ज्ञानी को दु:ख नहीं होता, ज्ञानी को विकार नहीं होता। बहुत जगह ऐसा आता है कि ज्ञानी को विकार नहीं होता। किस अपेक्षा से? यह तो वस्तु और दृष्टि का स्वभाव देखने से, दृष्टि और दृष्टि का विषय देखने से ऐसा कोई गुण नहीं है कि पर्याय में विकार हो — ऐसा कोई गुण नहीं है; इसलिए वहाँ ऐसा लिया कि ज्ञानी को विकार है ही नहीं परन्तु ज्ञान से जहाँ पर्याय को देखता है तो वह पर्याय ऐसा जानती है कि मेरा द्रव्य चेतन... चेतन... चेतन... है वह मैं; यह जानने का गुण है — ऐसा तो पर्याय जानती है न? गुण तो ध्रुव है। यह द्रव्य है, वह चेतन है और जानने का गुण है, वह विशेष है — ऐसा कौन जानता है? वह पर्याय जानती है। समझ में आया? और वह पर्याय जानती है कि यह निर्मल और मलिन पर्याय का अस्तित्व है वह मुझमें है। आहा...हा...! समझ में आया? ज्ञान ही जानता है न? श्रद्धा हुई, वह जानती है ज्ञान को?

मुमुक्षु : ध्रुव, ध्रुव को जानता है — ऐसा कहते हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : नहीं; ध्रुव को ध्रुव नहीं जानता, पर्याय ध्रुव को जानती है। गुण, गुण को नहीं जानता; पर्याय, गुण को जानती है। गुण को द्रव्य तो ध्रुव है, वह शक्ति है परन्तु कार्य इसमें कहाँ है? वह तो कारणरूप है। आहा...हा...! प्रत्येक का ऐसा पृथक् अस्तित्व है और इस प्रकार प्रति समय ख्याल में रखना — ऐसा कहा है। अमृतचन्द्राचार्य! (जिसे

ऐसा) भेद पड़ा है, वहाँ समय-समय ख्याल है। समझ में आया? परन्तु इसे विशेष ख्याल रखना (— ऐसा कहा है)।

त्रयात्मक (ऐसा) स्वरूप-अस्तित्व.... रजकण का — अचेतन पुद्‌गल का (अस्तित्व) आहा...हा...! **तथा (१) पूर्व और उत्तर व्यतिरेक को स्पर्शन करनेवाले....** परमाणु का उत्पाद और व्यय, ध्रुव के साथ स्पर्श करनेवाले **अचेतनरूप से जो ध्रौव्य और (२-३) अचेतन के उत्तर तथा पूर्व व्यतिरेकरूप से जो उत्पाद और व्यय....** ये जड़ के उत्पाद और व्यय — व्यतिरेक अर्थात् भिन्न-भिन्न अवस्था **यह त्रयात्मक ऐसा स्वरूप-अस्तित्व जिस पुद्‌गल का स्वभाव है,....** लो! यहाँ तो मूल दो के साथ भिन्नता करना है न? इसके (जड़ के साथ) भिन्न होने पर भिन्न हो जाता है।

एक-एक परमाणु — रजकण जो POINT है, वह अचेतन तत्त्व है — ऐसा ज्ञान जानता है। उसका गुण अचेतन है — ऐसा ज्ञान जानता है और उसकी पर्याय नयी-नयी होती है, पुरानी जाती है — ऐसा ज्ञान जानता है कि यह व्यतिरेक पर्याय इसके ध्रुव के साथ सम्बन्ध रखती है और ध्रुव तथा पर्याय-उत्पाद-व्ययवाला उसका अस्तित्व है। मेरे कारण उसका अस्तित्व है (— ऐसा नहीं है)। आहा...हा...!

प्रश्न : पैसे किसने कमाये?

समाधान : पैसा कौन कमाता है? धूल! पैसे का अस्तित्व पैसे के कारण है, आत्मा के कारण उनका अस्तित्व है — ऐसा तीन काल में नहीं है। इस शरीर का अस्तित्व... यह मिट्टी है, यह जड़द्रव्य है, तो इसका अचेतनपना है, वह इसका द्रव्य है। इसके अचेतन गुण हैं, (वह) इसकी विशेष शक्ति है और यह अवस्थाएँ हैं। देखो! यह भिन्न-भिन्न अवस्था होती है न? यह व्यतिरेक है। यह इसके गुण-द्रव्य के साथ सम्बन्ध रखती है; आत्मा के साथ नहीं। आत्मा है, इसलिए यह अंगुली चलती है — ऐसा नहीं है। सूक्ष्म बात है भाई!

प्रश्न : मुर्दे को क्यों नहीं चलती?

समाधान : मुर्दे को उसके परमाणु सूक्ष्मरूप परिणमते हैं, यह साधारण (लोगों को) पता नहीं है। वह एक सरीखा लगा करता है। वह एक सरीखा है? स्थूलरूप से एक

सरीखा है परन्तु प्रति समय वहाँ अवस्था बदलती है। ऐसी एक समान अवस्था लगती है। यहाँ का एक-एक रजकण... वह कोई एक तत्त्व नहीं है, वह तो अनन्त रजकणों का पिण्ड है, इन अनन्त परमाणुओं का (पिण्ड है) तो एक-एक रजकण नयी अवस्था से उत्पन्न होता है, पुरानी अवस्था से व्यय (होता है) उसके — रजकण का ध्रुव के साथ सम्बन्ध (रखते हैं), आत्मा के साथ सम्बन्ध नहीं। आहा...हा...! कहो, भाई! वहाँ कहीं था? नहीं था? ऐसा वीतरागमार्ग है, बापू!

मुमुक्षु : मुमुक्षु के लिए ढूंढ़ कर ले आये!

पूज्य गुरुदेवश्री : बात सत्य! सर्वज्ञ परमेश्वर... धर्म का मूल तो सर्वज्ञ है। आहा...हा...! उन्होंने जो देखा, वह वाणी द्वारा उनका कथन आया। उस वाणी में भी उत्पाद-व्यय और ध्रुव है। उस वाणी के रजकण शावत् रहनेवाले हैं; उनका गुण है, वह शाश्वत् रहनेवाला है और उत्पाद — बाद की पर्याय, व्यय - पहले की पर्याय भी उसके अस्तित्व में है और उसके अस्तित्व का उत्पाद-व्यय का ध्रुव के साथ सम्बन्ध है। आहा...हा...! भगवान वाणी ले और निकाले — ऐसा भगवान के साथ वाणी का सम्बन्ध नहीं है — ऐसा कहते हैं। आहा...हा...! जैन में दरार डाल दी! यह तो वस्तु का स्वरूप ऐसा है।

भगवान आत्मा अन्दर चैतन्यस्वरूप जाननस्वभाव है। यह (शरीर) जड़ स्वभाव है, दोनों चीजें अत्यन्त भिन्न हैं। आहा...हा...! और दोनों का अस्तित्व अपने-अपने कारण से है। यह जो अंगुली हुई है, वह आत्मा के कारण नहीं। इसके रजकणों की शाश्वत् रहनेवाली शक्ति द्वारा इसकी जो उत्पाद-व्यय पर्याय हुई, उसके साथ सम्बन्ध रखकर आगे हुई है। आहा...हा...!

प्रश्न : आत्मा के साथ जरा भी सम्बन्ध नहीं?

समाधान : कुछ सम्बन्ध नहीं। एक द्रव्य को दूसरे द्रव्य के साथ (कुछ सम्बन्ध नहीं है)। 'सर्व सम्बन्ध निषेध' आया नहीं? २०६, कलश (समयसार) आहा...हा...! बापू! तत्त्व — वस्तु ऐसी सूक्ष्म है। लोगों को सुनने को नहीं मिली। ऐसे के ऐसे अंधेरे में अंधे होकर कूटते हैं।

कहते हैं कि एक-एक परमाणु — यह रजकण! यह तो (शरीर को बहुत से

रजकणों का पिण्ड है) पृथक् करते... करते... अन्तिम Point उस परमाणु का उत्पाद-व्यय उसके द्रव्य के साथ सम्बन्ध रखता है। आहा...हा...! यह क्या कहते हैं ? ध्रुव को स्पर्श करता है ऐसा कहते हैं। वह दूसरे परमाणु को या दूसरे द्रव्य को स्पर्श नहीं करता। अर्थात् उसके कारण नहीं होता। आहा...हा...! भाई! ऐसा वीतराग का मार्ग! ओहो...हो...! वस्तु का स्वरूप ऐसा है। वीतराग में कुछ किया नहीं है।

कहते हैं कि केवलज्ञान की पर्याय का उत्पाद, पूर्व की पर्याय का व्यय उसके द्रव्य के साथ सम्बन्ध रखता है। यह सम्बन्ध ज्ञानावरणीय का अभाव हुआ, इसलिए यह हुआ है — ऐसा सम्बन्ध नहीं रखता। आहा...हा...! गजब बातें हैं! अरे! तूने तेरे तत्त्व को सुना नहीं, प्रभु! तू कहाँ है ? कौन है ? और जड़ कहाँ है ? और कैसा है ? आहा...हा...!

यह शरीर मिट्टी, जड़ है। भगवान आत्मा अन्दर जाननेवाला चैतन्य ब्रह्म आत्मा है। यह इस शरीर की पर्याय जो ऐसे होती है, उस पर्याय का उत्पाद-व्यय का सम्बन्ध उसके परमाणु के साथ है, आत्मा के साथ नहीं। आहा...हा...! कहो भाई! ऐसी कठिन बात! यह सब जवाहरात के धन्धे पूरे दिन करे और बदलते हैं न... कहते हैं कि यह सब पर्याय बदलती है, इस पर्याय का सम्बन्ध किसके रजकण के साथ है ? तू बदलता है, इसलिए बदलती है (— ऐसा नहीं है)। आहा...हा...! दुनिया तो पागल जैसा गिने! ऐसा है, बापू! आहा...हा...!

सिर का यह एक रजकण है, उस रजकण का उत्पाद-व्यय उसके ध्रुव के साथ सम्बन्ध रखता है। ओहो...! यह क्या कहते हैं ? वहाँ उसका सम्बन्ध है, दूसरे परमाणु के साथ, अस्तित्व के साथ उसका सम्बन्ध है ही नहीं — ऐसा जहाँ भेदज्ञान होता है, उसे सम्यग्ज्ञान हुए बिना नहीं रहता और सम्यग्ज्ञान होता है, वहाँ शान्ति आये बिना नहीं रहती। आहा...हा...!

(यहाँ) परमाणु द्रव्य लिया न ? यह **स्वरूप-अस्तित्व जिस पुद्गल का स्वभाव है,.....** आहा...हा...! **वह वास्तव में (मुझसे) अन्य है।....** यह जानकर जानना क्या है ? कि मुझसे अन्य है। उसे जानकर उसका अस्तित्व उससे से है, मुझसे अन्य है; इसलिए वहाँ नजर स्थिर करने जैसा नहीं है, वहाँ नजर को रोकने जैसा नहीं है। आहा...हा...! यहाँ

रोकने जैसा है। जिसके उत्पाद-व्यय-ध्रुव के साथ सम्बन्ध रखता है, उसकी उत्पाद की नजर को ध्रुव के साथ रखने योग्य है! आहा...हा...! क्या बात!

(इसलिए) मुझे मोह नहीं है;.... क्यों? कि उस रजकण का उत्पाद-व्यय और ध्रुव का अस्तित्व मेरे ज्ञान में आता है कि उसका अस्तित्व है, वह भिन्न है। उसका अस्तित्व जो भिन्न है — ऐसा जो ज्ञान हुआ, उस ज्ञान की पर्याय का सम्बन्ध मेरे द्रव्य के साथ है। उस ज्ञान की पर्याय ने उसे जाना कि वह भिन्न है, इस कारण ज्ञान की उत्पाद-पर्याय का सम्बन्ध उसके साथ नहीं है। समझ में आया? यह जाननेवाली तो पर्याय है न? जिस पर्याय ने अपने द्रव्य-गुण (के साथ) सम्बन्ध है — ऐसा जाना, उस पर्याय ने परद्रव्य के गुण के साथ मेरा कुछ सम्बन्ध नहीं है — ऐसा जिस ज्ञान की पर्याय ने जाना, उस पर्याय का सम्बन्ध ध्रुव के साथ है। आहा...हा...! वह अन्य है — ऐसा ज्ञान हुआ, उस ज्ञान की पर्याय का सम्बन्ध अन्य के साथ नहीं है। समझ में आया? यह तो बहुत ध्यान रखे तो (पकड़ में आये ऐसा है)। कथा-वार्ता होवे और अन्यत्र लक्ष्य जाये तो (चलता है)। आहा...हा...! यह तो आत्मकथा! द्रव्यानुयोग की कथा!! आहा...हा...!

दो (बातें) कही — एक तो यह भगवान आत्मा चेतनद्रव्य, वह अन्वय है; उसका जानने का जो स्वभाव है, वह गुण है और यह गुण है तथा यह द्रव्य है — ऐसी जो पर्याय की उत्पत्ति हुई और पूर्व की पर्याय गयी, वह मेरे अस्तित्व में है। द्रव्य मेरा अस्तित्व, गुण मेरा अस्तित्व, आहा...हा...! और यह उत्पाद व्यय ने जाना कि यह द्रव्य त्रिकाल है, गुण त्रिकाल और पर्याय भिन्न-भिन्न है तथा उस उत्पाद-व्यय-पर्याय का ध्रुव के साथ सम्बन्ध है — ऐसी जो ज्ञानपर्याय हुई, उस ज्ञानपर्याय का सम्बन्ध स्व के साथ है और उस ज्ञान पर्याय ने परमाणु के अचेतन... अचेतन... अचेतन... अचेतन... अचेतन... आहा...हा...! उसका द्रव्य वह स्थायी अचेतन रहनेवाला है — ऐसा जो ज्ञान की पर्याय जाने और उसके गुण का — वर्ण आदि का और उसकी पर्याय वर्तमान उत्पन्न होती है, पूर्व की जाती है, इतने अस्तित्व में वह है और उस उत्पाद-व्यय की पर्याय का उसके रजकण के साथ — ध्रुव के साथ सम्बन्ध है — ऐसा जो ज्ञानपर्याय जानती है... आहा...हा...! ऐसा स्व-पर प्रकाशक ज्ञान का सम्बन्ध भी द्रव्य के साथ है। आहा...हा...! वह ऐसा है, इसलिए यहाँ

ज्ञान हुआ है — ऐसा नहीं है ऐसा कहते हैं। समझ में आया? भाई! यह ऐसा सूक्ष्म है! आहा...हा...! कहो भाई! यह क्या होगा? आहा...हा...!

क्या शैली! प्रवचनसार! भगवान की दिव्यध्वनि का सार! त्रिलोकनाथ सर्वज्ञ परमेश्वर! उनकी वाणी — ऐसा भी एक व्यवहार से कहा जाता है। उस वाणी का सार यह है। तेरा तत्त्व तुझमें, तेरा गुण तुझमें, तेरी पर्याय तुझमें — इतने में अस्तित्व समाप्ति पाता है। आता है न? १०७ (गाथा)। (यह गाथा) आ नहीं गयी? आ गयी — द्रव्य सत्, गुण सत्, पर्याय सत्, इतने में सत् समाप्त (पूर्ण) होता है। बस! आहा...हा...! कुन्दकुन्दाचार्य के शास्त्र और उनकी टीका करनेवाले अमृतचन्द्राचार्यदेव, आहा...हा...! भरतक्षेत्र में ऐसी बात अन्यत्र कहीं नहीं है और परमसत्य को सिद्ध करती है। उसमें भी परम सत्य, जो भले ही पर है परन्तु उसने जाननेवाले की पर्याय को सिद्ध किया। आहा...हा...!

यह अचेतन... अचेतन...अचेतन... उसका विशेष गुण और उसकी पर्याय अचेतन। अचेतन का अर्थ — उसे तो द्रव्य-गुण-पर्याय क्या इसका भी पता नहीं है। वह तो अचेतन है, इसलिए उसकी उसे खबर नहीं है। चेतन को उसकी खबर है। आहा...हा...! अचेतन कहा न? यह द्रव्य अचेतन... अचेतन... अचेतन... अचेतन द्रव्य को पता है कि मैं अचेतन... अचेतन... हूँ? अचेतन के गुण अचेतन हैं, उन अचेतन के गुणों को पता है? अचेतन की पर्याय अचेतन है — ऐसी अचेतन की पर्याय को पता है? ओ...हो...हो...! यह स्व-पर प्रकाशक ज्ञान की जो पर्याय है, (वह ऐसा जानती है कि मैं मेरे) अपने द्रव्य -गुण-पर्याय में हूँ और मेरी पर्याय का सम्बन्ध ध्रुव के साथ है — ऐसी ज्ञान की पर्याय जो उत्पन्न हुई, उस ज्ञान की पर्याय में पर का अस्तित्व-द्रव्य-गुण पर्याय को जानती है। वह जानती है, इसलिए ऐसी पर्याय उत्पन्न हुई है — ऐसा नहीं है, उस पर्याय का सम्बन्ध द्रव्य के साथ है; इसलिए मैं हूँ वहाँ यह नहीं और यह है वहाँ मैं नहीं; इसलिए उसे पर का मोह उड़ जाता है।

विशेष कहेंगे.....

प्रवचन नं. १६३ आषाढ़ शुक्ल १ तथा २ गुरुवार, १० जुलाई १९७५

प्रवचनसार, ज्ञेयतत्त्व का प्रज्ञापन / कथन। १५४ गाथा का भावार्थ। **मनुष्य, देव इत्यादि अनेक द्रव्यात्मक पर्यायों....** जो यह शरीर आदि की है, उनमें **भी जीव का स्वरूप-अस्तित्व....** भिन्न-भिन्न है। अनेक द्रव्यस्वरूप इस शरीर की पर्याय में भी जीव का स्वरूप तो — उसका अस्तित्व तो इससे भिन्न है। **और प्रत्येक परमाणु....** जो यह अनेक द्रव्यात्मक शरीर हैं, उसमें भी प्रत्येक परमाणु का **स्वरूप-अस्तित्व....** सर्वथा भिन्न है।

दो बातें की — यह जो शरीर है, वह अनेक द्रव्यस्वरूप पर्याय है, उसमें जीव का अस्तित्व अत्यन्त भिन्न है। क्यों ? — (यह) बाद में निर्णय करायेंगे; और इस अनेक द्रव्यस्वरूप पर्याय में भी प्रत्येक परमाणु का अस्तित्व भिन्न-भिन्न है। दूसरे परमाणुओं से भी उस परमाणु का अस्तित्व भिन्न है। **सूक्ष्मता से देखने पर वहाँ जीव और पुद्‌गल का स्वरूप-अस्तित्व (अर्थात् अपने-अपने द्रव्य-गुण-पर्याय और ध्रौव्य-उत्पाद-व्यय) स्पष्टतया भिन्न जाना जा सकता है।**

स्व-पर का भेद करने के लिये जीव को इस स्वरूपास्तित्व को.... ऐसे स्वरूप के अस्तित्व को **पद-पद पर....** (अर्थात्) पर्याय-पर्याय में **लक्ष्य में लेना योग्य है।** वह इस प्रकार है — **यथा - यह (जानने में आता हुआ) चेतन द्रव्य-गुण-पर्याय....** भाषा देखो ! चेतन... चेतन... द्रव्य लेना है। चेतन द्रव्य, चेतन गुण और चेतन पर्याय। यह जानना पर्याय — जाननेवाली पर्याय... यह चेतन द्रव्य, चेतन गुण के साथ चेतनपर्याय का सम्बन्ध है। यह क्या कहा ?

चेतन द्रव्य, गुण और पर्याय। चेतन द्रव्य-गुण-पर्याय। जाननेवाला जो चेतन है, उसे पर्याय में जाना कि यह जाननेवाला चेतन... चेतन... चेतन... वह द्रव्य है। इस चेतन की पर्याय को, अन्दर चेतन द्रव्य जो जाननेवाला... जाननेवाला है, उसके सन्मुख करने से यह चेतन... चेतन... चेतन... है — ऐसा पर्याय में द्रव्य का ज्ञान होता है। आहा...हा... ! समझ में आया ? यह चेतन के ज्ञान की बात हुई।

जो जाननेवाली पर्याय... यहाँ जानने की प्रधानता से बात है। चेतन लिया है न? वह जाननेवाली जो पर्याय, वह ऐसा चेतनद्रव्य है, जाननेवाला शाश्वत्... शाश्वत् वस्तु है — ऐसा ज्ञान की पर्याय ने ख्याल में लिया और वह ज्ञान की पर्याय, उसका ज्ञानगुण है; द्रव्य सामान्य है, गुण है, उसकी चेतन पर्याय में गुण को ज्ञान में लिया। आहा...हा...! और वह चेतन पर्याय-वह स्वयं जाननेवाली है, उसे भी पर्याय ने जाना। आहा...हा...! भाषा ऐसी है न? मूल पाठ यह आ गया है न? चेतनद्रव्य ऐसा। जाननेवाला... जाननेवाला... शाश्वत् ऐसा है... है... है... जाननेवाला, हाँ! है, ध्रुव है — ऐसे ज्ञान की पर्याय ने ऐसे चेतन द्रव्य को पर से भिन्न जाना। आहा...हा...!

वह क्या कहलाता है? प्रैक्टिकल को क्या कहते हैं? प्रयोग! प्रयोग — ऐसा कहा जाता है? यह प्रयोग किया। अचेतन-अचेतन की दशा में हो। चेतन की पर्याय ने — जाननेवाली पर्याय ने जाननेवाला शाश्वत् तत्त्व चेतन है, उसके साथ सम्बन्ध किया। उस पर्याय ने - जाननेवाली पर्याय को अन्तर्मुख करके — पर्याय अन्तर्मुख होकर यह चेतन... चेतन... चेतन... चेतन... चेतन... चेतन... है — ऐसा पर्याय ने जाना और इस चेतन पर्याय ने.... यहाँ चेतन का गुण लेना, जानना वह लेना है, हाँ! दूसरे सब गुण भले अविनाभावी है।

चेतन द्रव्य और चैतन्य गुण; ज्ञान है न? तो ज्ञान की पर्याय उसके गुण को जानती है। चेतन है वह अभेदरूप है। उसमें ज्ञानगुण है — ऐसा भेदरूप भाव है, विशेषरूप भाव है, उसका अस्तित्व भी ज्ञानपर्याय ने जाना। आहा...हा...! जाना तभी पर्याय शुद्ध हुई। वह पर्याय, द्रव्य के सन्मुख झुकी, तब द्रव्य को जाना, तब वह पर्याय शुद्ध ही है। ज्ञान की पर्याय, हाँ! आहा...हा...! यहाँ तो चेतन द्रव्य, चेतन गुण, चेतन पर्याय — ऐसे तीन लेने हैं न? फिर चेतन का ध्रुव और चेतन का उत्पाद-व्यय। चेतन का ध्रुव और चेतन का उत्पाद-व्यय, यह छह बोल कहकर आत्मा का अस्तित्व पर से मैं भिन्न हूँ — ऐसा जाना। आहा...हा...! भाई!

प्रयोग कैसे करना? इस जानने की पर्याय को प्रैक्टिस में किस प्रकार लगाना? कि यह पर्याय जाननेवाली है; अत: यह जाननेवाला जो शाश्वत् द्रव्य है, उसे अन्तर्मुख होकर (ग्रहण करे) क्योंकि द्रव्य है, वह अन्तर्मुख है, उसे जाने और उसके गुण को (जाने) यहाँ

तो चेतन द्रव्य, चेतन गुण, चेतन पर्याय, यह बात लेनी है। उसके साथ भले ही दूसरे गुण हों। समझ में आया? आहा...हा...! ऐसा है!

चेतन की जो वर्तमान पर्याय है, वह जो द्रव्य है, उस ओर जाती है; इसीलिए वह पर्याय निर्मल ही हुई। जो ज्ञान की पर्याय पर के ऊपर थी, वह तो वहाँ रही। उस पर्याय को कहीं अन्तर (में) नहीं झुकाया जा सकता परन्तु जिसने इस पर की ओर का लक्ष्य, ज्ञान की पर्याय का जो लक्ष्य (परसन्मुख) था, वह लक्ष्य जिस पर्याय ने छोड़ा, वह तो दूसरी पर्याय हुई। यह तो धीरजवान का मार्ग है, बापू!

भगवानस्वरूप प्रभु! वह चेतनस्वरूप! जिसने उसे जाना और गुण है उन्हें जाना... क्योंकि जाननेवाले द्रव्य को जाना, गुण को जाना, अपनी पर्याय को भी जाना। जानने की पर्याय का उत्पाद-व्यय, वह पर्याय है। उसके साथ राग आदि होता है, तथापि उस जानने की पर्याय का उत्पाद-व्यय वह मैं हूँ। उसमें राग भले हो, उसे ज्ञान जानता है परन्तु मेरे अस्तित्व में तो जाननेवाला द्रव्य, जाननेवाला गुण, और जाननेवाली पर्याय वह मेरे अस्तित्व में है। उसमें राग आदि भी आ गया। राग का ज्ञान हुआ है न? कहेंगे, अचेतन, ज्ञात होगा। राग है वह वास्तव में तो अचेतन है। आहा...हा...! वह भी पर्याय में होता है, उसे ज्ञान जानता है। उसने जीव को अनेक द्रव्यात्मक इस जड़ की पर्याय से भिन्नरूप देखा है, भिन्न करके देखा है — भिन्न करके जाना है। आहा...हा...! भाई! ऐसा बहुत सूक्ष्म! बाहर में से कुछ मिले ऐसा है यह? बाहर की धमाधम क्रियाएँ... आहा...हा...! धमाधम चली है, ज्ञानमार्ग रहा दूर।

यहाँ तो सर्वज्ञ परमात्मा, जैसा स्वज्ञेय का और परज्ञेय का स्वरूप है, वैसा कहते हैं। सन्त-दिगम्बर मुनि अनुभव करके कहते हैं कि भाई! यह चेतन... चेतन... चेतन... द्रव्य, जो पर्याय में जानने की दशा है, उस जानने की दशा का सम्बन्ध ध्रुव के साथ — द्रव्य के साथ है। शाश्वत् रहनेवाला चेतन द्रव्य मैं हूँ — ऐसा चेतन की पर्याय ने जाना। और उसका जो जानने का स्वभाव है; वह स्वभाववान जाना। चेतन स्वभाववान् और उसका स्वभाव — जानना, वह मैं हूँ और उसे जाननेवाली पर्याय (जो है उस) जाननेवाली पर्याय को भी मैं जानता हूँ — ऐसा ज्ञान का तीन के साथ सम्बन्ध हुआ — द्रव्य, गुण और

पर्याय के साथ (सम्बन्ध हुआ) वह मैं हूँ। आहा...हा...! है?

(जानने में आता हुआ) चेतन द्रव्य.... चेतन **गुण...** चेतन **पर्याय...** आहा...हा...! **चेतन द्रव्य-गुण-पर्याय....** चेतन ध्रुव (कहा वह), उसमें जो द्रव्य-गुण थे वे इस ध्रुव में आये और पर्याय उत्पाद-व्यय में आयी। चेतन शाश्वत् रहनेवाला ऐसा ध्रुव, चेतन, हाँ! और चेतन उत्पाद-व्यय। चेतन के — जानने के उत्पाद और व्यय **जिसका स्वभाव है....** जिसका स्वभाव है (— ऐसा कहा)। देखा? उत्पाद-व्यय और ध्रुव, द्रव्य-गुण और पर्याय, यह जिसका स्वभाव है। पर्याय भी जिसका स्वभाव है। आहा...हा...!

ऐसा मैं इस.... ओहो...हो...! ऐसा मैं इस! ज्ञान में द्रव्य-गुण-पर्याय तीनों ज्ञात हो गये — ऐसा मैं, यह (अर्थात्) तीन होकर मैं। अद्‌भुत व्याख्या, भाई! प्रवचनसार! भगवान की दिव्यध्वनि! उसका यह मक्खन!! चेतन के द्रव्य-गुण-पर्याय और चेतन के ध्रुव और उत्पाद-व्यय भाव, वह मैं हूँ। समझ में आया? इसमें रागादि मैं हूँ, यह नहीं आया। राग सम्बन्धी का अपना ज्ञान जो पर्याय में (हुआ), वह मैं हूँ। समझ में आया? अरे...! ऐसी व्याख्या और ऐसा सूक्ष्म!

मुमुक्षु : यहाँ स्वभाव कहा।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह तीनों स्वभाव है। द्रव्य-गुण और पर्याय; ध्रुव और उत्पाद-व्यय वस्तु का स्वभाव है।

प्रश्न : निश्चय नहीं हो जाये?

समाधान : निश्चय है न! निश्चय अर्थात् सत्। यह निश्चय की बात है न! पर्याय भी निश्चयस्वभाव है न!

मुमुक्षु : पर्याय तो व्यवहार कहलाती है।

पूज्य गुरुदेवश्री : यहाँ अभी (उसका) काम नहीं है। यहाँ तो स्व है, वह स्व का निश्चय। यहाँ तो पर से भिन्न करना है न, कि ऐसा मैं (हूँ)। पर से भिन्न करना है। आहा...हा...! इसमें से वास्तव में तो रागादि भी भिन्न पड़ गये, क्योंकि जाननेवाला... जाननेवाला... जाननेवाला... जाननेवाला... यह जो शाश्वत् रहनेवाला ऐसा द्रव्य अथवा ध्रुव और जाननेवाले का जाननेवाला गुण, वह भी ध्रुव में आ गया और वह गुण मैं और

जाननेवाले की जो उत्पाद-व्यय की पर्याय (होती है), द्रव्य-गुण को जाननेवाली (पर्याय) वह मैं। ध्रुव और उत्पाद-व्यय में यह मेरा ध्रुव और यह उत्पाद-व्यय वह मैं। आहा...हा...! **ऐसा मैं इस पुद्गल से भिन्न रहा।**

प्रश्न : पुद्गल से भिन्न हो गया, राग से ?

समाधान : इस राग से भिन्न हो गया। राग, पुद्गल है। जानने की पर्याय वह मैं हूँ, बस! यहाँ राग आदि की बात नहीं है। उस समय राग सम्बन्धी का ज्ञान हुआ, वह तो स्वयं के कारण स्वयं के स्वभाव की सामर्थ्य से हुआ है। वह पर्याय और यह द्रव्य तथा गुण, वह मैं हूँ। आहा...हा...! ज्ञाता-दृष्टा जीव; ज्ञान आदि गुण; और उन्हें जानने की पर्याय। उस पर्याय ने इस द्रव्य-गुण को जाना, उस पर्याय ने ध्रुव को जाना — ऐसी जो पर्याय, वह मैं अर्थात् यह सब तीनों होकर मैं। आहा...हा...! अद्भुत भाई! यह प्रवचनसार! दिगम्बर सन्तों की शैली कोई अलौकिक है! यह बात कहीं है नहीं। आहा...हा...!

मुमुक्षु : वर्तमान पर्याय को भी अपना कहा।

पूज्य गुरुदेवश्री : अपनी है। उसकी तो बात है। द्रव्य-गुण और पर्याय, वह मैं। ध्रुव और उत्पाद-व्यय वह मैं। अकेला ध्रुव वह मैं — ऐसा यहाँ नहीं लेना है। यहाँ तो ज्ञानप्रधान कथन है न? प्रवचनसार में सब ज्ञानप्रधान कथन है। ज्ञान में ज्ञेय में सब में (इस प्रकार कथन है)। आहा...हा...!

मुमुक्षु : स्वरूप अस्तित्व लिया।

पूज्य गुरुदेवश्री : वह स्वरूप अस्तित्व यह। जाननेवाला द्रव्य, जानने का गुण और जानने की पर्याय, वह मेरा सत्व है। आहा...हा...! द्रव्य-गुण और पर्याय वह मैं हूँ। जाननेवाला द्रव्य, जानने का गुण, जानने की पर्याय (वह मैं)। जाननेवाला ध्रुव, जाननेवाला उत्पाद-व्यय, वह मैं। आहा...हा...! ऐसी बात जिसे सुनने मिले नहीं और विवाद करे... आहा...हा...! अरे...रे!

आत्मा! उसका अस्तित्व कितना, कैसा? और उस पर की अपेक्षा रखे बिना ऐसे अस्तित्व को प्रतीति में, अनुभव में लेने का नाम धर्म है। बाकी सब चाहे जो सम्प्रदाय मानकर बैठे, वस्तु तो यह है। भिन्न, **ऐसा मैं इस (पुद्गल) से भिन्न रहा;....** परपदार्थ

से भिन्न रहा। आहा...हा...! **और यह अचेतन द्रव्य-गुण-पर्याय....** भाषा देखो! अचेतन (अर्थात्) यहाँ पुद्‌गल की बात लेना है। वह द्रव्य-रजकण जो है, वह अचेतन है। यह जानती है ज्ञान की पर्याय। समझ में आया? वह अचेतन द्रव्य, उसके अचेतन गुण, उसकी अचेतन पर्याय। **तथा अचेतन ध्रौव्य-उत्पाद-व्यय....** अचेतन ध्रुव, जिसमें चेतनपना नहीं है — ऐसा अचेतन ध्रुव — ऐसा जाना (ज्ञान की) पर्याय ने। ज्ञान की पर्याय ने स्वयं को इस प्रकार (मैं चेतन) हूँ (— ऐसा) जाना; उस पर्याय ने इस प्रकार अचेतन है — ऐसा जाना। आहा...हा...!

स्वरूपग्राही ज्ञान हुआ, उसने यह अचेतन द्रव्य — रजकण है, उसमें अचेतन गुण और अचेतन पर्याय (है — ऐसा जाना)। अचेतन ध्रुव और अचेतन उत्पाद-व्यय। उसमें द्रव्य-गुण-पर्याय लिये थे; यह ध्रुव तथा उत्पाद-व्यय (लिये हैं)। वह आता है न? उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत् और या गुणपर्यायवत् द्रव्यं। गुण और पर्याय वह द्रव्य; उसमें ध्रुव और उत्पाद-व्यय आ गये। उत्पाद-व्यय और ध्रुव में ये तीनों आ गये (और) यहाँ दोनों में ये तीनों आ गये। आहा...हा...! पंचास्तिकाय में आता है।

यह अचेतन द्रव्य... ऐसा। आहा...हा...! उसे जाननेवाली मेरी पर्याय वह मैं, परन्तु वह जो वस्तु (अचेतन) है, वह मैं नहीं। आहा...हा...! परद्रव्यरूप से (जानता है)। आहा...हा...! ऐसा इसे पद-पद पर अर्थात् पर्याय-पर्याय में ख्याल में लेना चाहिए — ऐसा कहते हैं। भेदज्ञान हुआ, वहाँ पर्याय-पर्याय में ऐसा ही ज्ञान होता है। उसे कहीं अधिक नया नहीं करना पड़ता। आहा...हा...!

मुमुक्षु : अधिक बलवान होता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह जो हुआ है, तद्‌नुसार हुआ करता है। जिस समय वापस दूसरा समय भेद पड़ा है — ऐसा नहीं। भेद पड़कर स्वयं अपने द्रव्य-गुण-पर्याय को जाना और भेदवाले अचेतन द्रव्य-गुण-पर्याय को भी पर्याय में यह भिन्न है — ऐसा जाना। अत: पर्याय-पर्याय में, क्षण-क्षण में, यह मेरा स्वरूप अस्तित्व है और यह मेरा (अस्तित्व) नहीं है — ऐसा आ जाता है। समझ में आया? ख्याल में लेने का अर्थ? पर्याय-पर्याय में इसी प्रकार वस्तु की स्थिति होती है — ऐसा। समझ में आया?

ऐसा धर्म, भाई! अन्य तो प्रौषध करे, सामायिक करे, प्रतिक्रमण करे, अपवास करे.... हो गया धर्म, लो! आहा...हा...! क्योंकि अपवास वह तप है और तप है वह निर्जरा है, निर्जरा, वह धर्म है और धर्म मोक्ष का कारण है। सब सिद्ध हो गया। लो! अरे! तुझे कुछ पता नहीं, भाई! उपवास का विकल्प उठा, वह तू नहीं। उसे जाननेवाली ज्ञान की पर्याय स्व के लक्ष्य से जो जानती है, उसे उपवास या व्रत का विकल्प उठा, उसे जाननेवाली पर्याय वह स्व को जाननेवाली पर्याय है, वह उसे जानती है। समझ में आया? (ऐसा जाने कि) यह एक विकल्प है। यह विकल्प भी अचेतन है। परमाणु अचेतन, गुण अचेतन, विकल्प पर्याय भी अचेतन है। आहा...हा...! अर्थात् उसमें ज्ञान नहीं है और यहाँ तो तीनों में ज्ञान है। द्रव्य, गुण और पर्याय - पूर्ण (स्वरूप) (गुण) भेद और दशा — तीनों में ज्ञान व्याप्त है और राग तथा कर्म के रजकण या शरीर के रजकण में ज्ञान की पर्याय व्याप्त नहीं है, उसे जानती है — ऐसा कहना वह भी यहाँ पर्याय ने — ज्ञान की पर्याय ने चेतन द्रव्य-गुण को जाना; इसलिए वह पर्याय, द्रव्य के सन्मुख झुक गयी है। वह पर्याय ऐसा जानती है, उसका उस काल का ऐसा स्वभाव (है) कि यह अचेतन है, वह मैं नहीं हूँ — ऐसा ज्ञान की पर्याय में सहज होता है। फिर समझाये, (तब) तो ऐसा समझावे न? समझ में आया? आहा...हा...!

द्रव्यानुयोग का ज्ञान सूक्ष्म है और इसे जाने बिना चरणानुयोग, कथानुयोग और करणानुयोग,... यह जाने बिना इनके अर्थ भलीभाँति नहीं समझ सकते। समझ में आया? और इस शरीर में भी एक-एक रजकण अपने अचेतन द्रव्य, अचेतन गुण, और अचेतन पर्यायस्वरूप है। पंचास्तिकाय संग्रह में ८१ (गाथा में) कहा है न? स्कन्ध में रहने पर भी उसकी गिनती अलग है। उसका यह गिनना अलग है। ८१ में है, पंचास्तिकाय। ओहो...हो...!

जैसे इस (अनेक) द्रव्यात्मक पर्याय में एक क्षेत्र में रहनेवाला भगवान आत्मा है, तथापि उसके द्रव्य-गुण-पर्याय में उसका अस्तित्व है। इस शरीर की किसी भी पर्याय के अस्तित्व में उसका अस्तित्व नहीं है। हाँ, उस शरीर के और रजकण के जो द्रव्य-गुण और पर्याय अचेतन हैं, उन्हें इस ज्ञान की पर्याय ने अपने द्रव्य-गुण और अपनी पर्याय को जाना, उसमें यह भाव आ गया। यह मैं हूँ और यह नहीं — ऐसा ज्ञान की पर्याय का सामर्थ्य ज्ञात हो गया। समझ में आया?

और यह अचेतन द्रव्य-गुण-पर्याय तथा अचेतन ध्रौव्य-उत्पाद-व्यय जिसका स्वभाव है.... यह उसका स्वभाव है। आहा...हा...! **ऐसा पुद्गल यह (मुझसे) भिन्न रहा।....** यह तो कुछ विकल्प करना नहीं। ज्ञान में इस प्रकार परिणमन (वर्ता करता है)। ज्ञान के अस्तित्व में उसका अस्तित्व नहीं — ऐसा ज्ञान हो गया। वह मुझमें नहीं — ऐसा जानता कौन है ? जाननेवाली पर्याय (जानती है)। वहाँ कहना क्या है ? आहा...हा...! धीरज का काम है। समझकर समावे, उसका यह काम है! राग हो, परन्तु उसमें मेरा अस्तित्व नहीं है। आहा...हा...! उस काल में मुझे जानते हुए जो उसे जानने का भाव मुझमें मुझसे प्रगट हुआ है, उसमें उस राग को जानने में आता है। आहा...हा...! समझ में आया ?

प्रश्न : धीरजवान का काम है, उसका क्या अर्थ ?

समाधान : धीरज अर्थात् अन्तर में बहुत खलबलाहट... खलबलाहट खड़ी हो, उसका यह काम नहीं। यह किया और यह किया और शास्त्र जाना, यह जाना... यह जाना... यह सब ठीक है। 'निश्चिन्त पुरुष' नहीं आता ? निश्चिन्त पुरुष! उसका अर्थ किया। 'निभृत' आता है, कलश में आता है ? आहा...हा...! निभृत पुरुष (अर्थात्) पर की चिन्ता के भाव से भिन्न पड़ा है - ऐसे जीव का काम है। समझ में आया ? निभृत पुरुष — ऐसा कलश है। आचार्यों ने तो... ओ...हो...! दिगम्बर सन्तों ने तो मार्ग को सरल, बहुत सीधा, सरल कर दिया है! और उसे समझने में भी सरल पड़े — ऐसी यह चीज है। आहा...हा...!

इसलिए मुझे पर के प्रति मोह नहीं है;.... अर्थात् परवस्तु मेरी है, यह भाव मुझमें नहीं है। आहा...हा...! मुझे पर के प्रति मोह अर्थात् सावधानी — यह मैं हूँ — ऐसा भाव, मुझे नहीं है। आहा...हा...! **स्व-पर का भेद है।** चैतन्य के द्रव्य-गुण-पर्याय, ध्रुव तथा उत्पाद-व्यय। अचेतन के द्रव्य-गुण-पर्याय; ध्रुव तथा उत्पाद-व्यय दोनों भिन्न हैं। स्व-पर दोनों भेद है। समझ में आया ? यह १५४ (गाथा पूरी) हुई। परसों चली थी न ? कल तो सज्झाय थी।

बहुत सरस बात! ओहो...हो...! स + रस = रसवाली बात है!! जिसने ज्ञान की पर्याय को द्रव्य-गुण को जानने की तरफ झुकाया... आहा...हा...! उसकी पर्याय में

आनन्द आये बिना नहीं रहता — ऐसा कहते हैं, क्योंकि एक अंश है, उसने पूरे अंशी को पकड़ा है, उसमें तो आनन्द है। आहा...हा...! भगवान भी आनन्द का ध्यान करते हैं। रात्रि में (रात्रि चर्चा में) नहीं कहा था? रात्रि में कहा था न? केवलज्ञानी किसका ध्यान करते हैं? महाराज! वे तो पूर्ण केवली हैं, भाई! वे आनन्द का ध्यान (करते हैं) अर्थात् आनन्द को लक्ष्य में रखकर वे अनुभव करते हैं। उन्हें उसका वेदन है। आहा...हा...! अतीन्द्रिय आनन्द! पूर्ण पर्याय प्रगट हुई, वहाँ अतीन्द्रिय आनन्द पूर्ण प्रगट हुआ है। इस साधक में पूर्ण अतीन्द्रिय आनन्द नहीं है। क्योंकि द्रव्य चेतन है, गुण चेतन, और पर्याय चेतन है — ऐसा जो ज्ञान यहाँ झुका, (उसे) द्रव्य की जितनी शक्तियाँ हैं, उतनी पर्याय में व्यक्तरूप से आयी। आहा...हा...! समझ में आया? कहो भाई! ऐसा मार्ग है। आहा...हा...!

लोगों को ऐसा लगता है कि यह दिगम्बर धर्म! भाई! दिगम्बर धर्म (अर्थात्) वस्तु का धर्म यह है। दिगम्बर धर्म कोई पक्ष नहीं है। आहा...हा...!

मुमुक्षु : कपड़े न पहने वे दिगम्बर।

पूज्य गुरुदेवश्री : ऐसा भी यहाँ कहाँ है? राग का वस्त्र आत्मा में नहीं है — ऐसा जो जाने, वह दिगम्बर! यहाँ नहीं आया? ज्ञान में मैं हूँ; राग में मैं नहीं, अचेतन में मैं नहीं, आहा...हा...! मैं तो मेरे त्रिकाली ज्ञान चेतन द्रव्य, उसका त्रिकाली भेदरूप गुण और वर्तमान पर्याय उतने में मैं हूँ। यह दिगम्बर धर्म की सम्यक् दृष्टि! समझ में आया? क्या हो? लोगों ने मार्ग को कुछ का कुछ रीति से बदल डाला है। फिर कहते हैं, अभी यह करते हैं, भविष्य में क्या होगा? होना होगा वह होगा। क्या होगा? बापू! भविष्य में भी रहनेवाला तो तू है या नहीं? तो जहाँ तूने माना है, वहाँ तू भविष्य में रहेगा परन्तु जिसका ठिकाना नहीं, राग और पर का (कर्ता हूँ) उसका कर्ता हूँ और यह करूँ... आहा...हा...! इस मिथ्याभाव में रहेगा। इस मिथ्याभाव में तो नरक-निगोद के भव करने की ताकत है। भव के अभाव की इसमें ताकत नहीं है। स्वर्ग के भव या नरक के भव में भव के अभाव की ताकत नहीं है। आहा...हा...! सम्यग्दर्शन और ज्ञान में वह ताकत है। ये चारों (गति के) भव के अभाव-स्वभाव स्वरूप इनमें ताकत है। आहा...हा...! समझ में आया? **इसलिए मुझे पर के प्रति मोह नहीं है;....** इस कारण **स्व-पर का भेद है।** आहा...हा...! ●

गाथा - १५५

अथात्मनोऽत्यन्तविभक्तत्वाय परद्रव्यसंयोगकारणस्वरूपमालोचयति -

अप्पा उवओगप्पा उवओगो णाणदंसणं भणिदो।
सो वि सुहो असुहो वा उवओगो अप्पणो हवदि।।१५५।।

आत्मा उपयोगात्मा उपयोगो ज्ञानदर्शनं भणितः।
सोऽपि शुभोऽशुभो वा उपयोग आत्मनो भवति।।१५५।।

आत्मनो हि परद्रव्यसंयोगकारणमुपयोगविशेषः। उपयोगो हि तावदात्मनः स्वभावश्चैतन्यानुविधायिपरिणामत्वात्। स तु ज्ञानं दर्शनं च, साकारनिराकारत्वेनोभयरूपत्वाचैतन्यस्य। अथायमुपयोगो द्वेधा विशिष्यते शुद्धाशुद्धत्वेन। तत्र शुद्धो निरूपरागः, अशुद्धः सोपरागः। स तु विशुद्धिसंक्लेशरूपत्वेन द्वैविध्यादुपरागस्य द्विविधः शुभोऽशुभश्च।।१५५।।

एवं नरनारकादिपर्यायैः सह परमात्मनो विशेषभेदकथनरूपेण प्रथमस्थले गाथात्रयं गतम्। अथात्मनः पूर्वोक्तप्रकारेण नरनारकादिपर्यायैः सह भिन्नत्वपरिज्ञानं जातं, तावदिदानीं तेषां संयोगकारणं कथ्यते - **अप्पा** आत्मा भवति। कथंभूतः। **उवओगप्पा** चैतन्यानुविधायी योऽसावुपयोगस्तेन निर्वृत्तत्वादुपयोगात्मा। **उवओगो णाणदंसणं भणिदो** स चोपयोगः सविकल्पं ज्ञानं निर्विकल्पं दर्शनमिति भणितः। **सो वि सुहो** सोऽपि ज्ञानदर्शनोपयोगो धर्मानुरागरूपः शुभः, **असुहो** विषयानुरागरूपो द्वेषमोहरूपश्चाशुभः। **वा** वा शब्देन शुभाशुभानुरागरहितत्वेन शुद्धः। **उवओगो अप्पणो हवदि** इत्थंभूतस्त्रिलक्षण उपयोग आत्मनः संबन्धी भवतीत्यर्थः।।१५५।।

अब, आत्मा को अत्यन्त विभक्त करने के लिए परद्रव्य के संयोग के कारण का स्वरूप कहते हैं —

उपयोग आत्मक आत्मा, उपयोग दर्शन-ज्ञान है।
आत्मा का उपयोग वह, शुभ या अशुभरूप होय है॥

अन्वयार्थ - **[आत्मा उपयोगात्मा]** आत्मा उपयोगात्मक है; **[उपयोगः]** उपयोग **[ज्ञानदर्शनं भणितः]** ज्ञान-दर्शन कहा गया है; **[अपि]** और **[आत्मनः]** आत्मा का **[सः उपयोगः]** वह उपयोग **[शुभः अशुभः वा]** शुभ अथवा अशुभ **[भवति]** होता है।

टीका - वास्तव में आत्मा को परद्रव्य के संयोग का कारण उपयोगविशेष[१] है। प्रथम तो उपयोग वास्तव में आत्मा का स्वभाव है क्योंकि वह चैतन्य-अनुविधायी (उपयोग, चैतन्य का अनुसरण करके होनेवाला) परिणाम है। और वह उपयोग ज्ञान तथा दर्शन है, क्योंकि चैतन्य साकार[२] और निराकार[३] ऐसा उभयरूप है। अब इस उपयोग के शुद्ध और अशुद्ध ऐसे दो भेद किये गये हैं। उसमें, शुद्ध उपयोग निरुपराग (निर्विकार) है; और अशुद्ध उपयोग सोपराग (सविकार) है। और वह अशुद्ध उपयोग शुभ और अशुभ ऐसे दो प्रकार का है, क्योंकि उपराग विशुद्धिरूप और संक्लेशरूप — ऐसा दो प्रकार का है (अर्थात् विकार मन्दकषायरूप और तीव्रकषायरूप — ऐसा दो प्रकार का है)।

भावार्थ - आत्मा उपयोगस्वरूप है। प्रथम तो उपयोग के दो भेद हैं — शुद्ध और अशुद्ध। और फिर अशुद्ध उपयोग के दो भेद हैं, शुभ तथा अशुभ ॥१५५॥

प्रवचन नं. १६३ का शेष आषाढ़ शुक्ल १ तथा २ गुरुवार, १० जुलाई १९७५

अब, आत्मा को अत्यन्त विभक्त करने के लिए परद्रव्य के संयोग के कारण का स्वरूप कहते हैं — परपदार्थ का सम्बन्ध किस भाव से होता है ? बन्धन होता है न ? वह किस भाव से होता है ? पर का संयोग होता है, वह किस भाव से होता है ? — इसका विचार करते हैं। आहा...हा... !

अप्पा उवओगप्पा उवओगो णाणदंसणं भणिदो।
सो वि सुहो असुहो वा उवओगो अप्पणो हवदि।।१५५।।

---

१. उपयोगविशेष = उपयोग का भेद, प्रकार या अमुक प्रकार का उपयोग। (अशुद्धोपयोग परद्रव्य के संयोग का कारण है; यह १५६ वीं गाथा में कहेंगे।)

२. साकार = आकारवाला या भेदवाला; सविकल्प; विशेष।

३. निराकार = आकाररहित; भेदरहित; निर्विकल्प; सामान्य।

उपयोग आत्मक आत्मा, उपयोग दर्शन-ज्ञान है।
आत्मा का उपयोग वह, शुभ या अशुभरूप होय है॥

(पहले) जानने-देखने के उपयोग की बात की है। वहाँ आचरण का अशुद्ध उपयोग और आचरण की व्याख्या साथ की है, जो कि नये बन्ध का कारण है।

टीका - वास्तव में आत्मा को परद्रव्य के संयोग का कारण... कर्म के सम्बन्ध का कारण **उपयोगविशेष है।...** उपयोगविशेष (अर्थात्) विशिष्ट उपयोग ऐसा। शुभ-अशुभ (उपयोग) (मूल ग्रन्थ में नीचे फुटनोट में) स्पष्टीकरण है। ***उपयोगविशेष = उपयोग का भेद, प्रकार या अमुक प्रकार का उपयोग।(अशुद्धोपयोग परद्रव्य के संयोग का कारण है; यह १५६ वीं गाथा में कहेंगे।)*** आहा...हा...!

प्रथम तो उपयोग वास्तव में आत्मा का स्वभाव है क्योंकि वह चैतन्य-अनुविधायी (उपयोग, चैतन्य का अनुसरण करके होनेवाला) परिणाम है। और वह उपयोग ज्ञान तथा दर्शन है,... उपयोग के दो प्रकार (कहे हैं)। **क्योंकि चैतन्य साकार और निराकार ऐसा उभयरूप है।....** साकार अर्थात् ज्ञान। आकारोंवाला, भेदोंवाला, सविकल्प विशेष। निराकार = आकाररहित; भेदरहित; निर्विकल्प; सामान्य। पहला ज्ञान और दूसरा दर्शन — ऐसा।

अब इस उपयोग के शुद्ध और अशुद्ध ऐसे दो भेद किये गये हैं।.... पहले जानने के थे, अब इसके आचरण के (भेद) कहते हैं। वरना तो ज्ञान के मति-श्रुत आदि पाँच भेद हैं। दर्शन के चार — ऐसा चाहिए। इसके उपयोग के भेद करना हो तो (ऐसे भेद पड़ते हैं) परन्तु इस उपयोग में जिसका आचरण अशुद्ध है, जो कि नये कर्म का कारण है — ऐसा आचरणवाला उपयोग इसमें डाला है।

द्रव्यसंग्रह में लिया है कि यह उपयोग है, वह क्या है? और शुद्ध-अशुद्ध उपयोग क्या? उपयोग है, वह तो पाँच ज्ञान, चार दर्शन और तीन ज्ञान उसमें वह जाता है और यह जो शुद्ध-अशुद्ध — शुभ-अशुभ और शुद्ध, आचरण की अपेक्षा से जाता है। समझ में आया? पाँच ज्ञान, चार दर्शन और तीन ज्ञान — ये बारह उपयोग (के भेद कहे)। वह तो एक जानने-देखने की अपेक्षा रही, बस! और जो शुभ-अशुभ तथा शुद्ध (कहा),

इस उपयोग के आचरण की अपेक्षा के भेद हैं। बारह प्रकार के भेद (पहले कहे) वे (यह) भेद नहीं।

अब इस उपयोग के शुद्ध और अशुद्ध ऐसे दो भेद किये गये हैं।... आचरण की अपेक्षा से (भेद किये गये हैं) । बात चलती है, चैतन्य उपयोग — ज्ञान-दर्शनमय की (बात), परन्तु वह ज्ञान-दर्शन; ज्ञान जो है, वह कहाँ अटकता है ? शुभ-अशुभ उपयोग में अटकता है और या शुद्ध में अटकता है। शुद्ध में अटकता है अर्थात् लीन होता है और उसमें अटकता है, वह इसमें अटकता है, रहता है। आहा...हा... !

उसमें, शुद्ध उपयोग निरुपराग (निर्विकार) है;... आहा...हा... ! यहाँ उपयोग के शुद्ध और शुभ-अशुभ तीन भेद हैं। शुद्ध और अशुद्ध कहे न ? उसमें शुद्ध है वह तो निरुपराग-रागरहित है। भगवान आत्मा चैतन्यस्वभाव का जो शुद्ध उपयोग (हुआ), जिसे जैनशासन कहा है। लोग वहाँ पढ़ते हैं, कल पत्र आया था। तुलसी तेरापंथी पढ़ता है। यह जँचे तब तो सब छोड़ देना पड़े।

मुमुक्षु : पढ़ने का फल क्या आये इसका....

पूज्य गुरुदेवश्री : इसका कहाँ पता है ? यह वस्तुस्थिति है और दिगम्बर सन्तों ने तो बेहद का काम किया है !! यह अन्यत्र कहीं है ही नहीं। अन्यमत में तो नहीं परन्तु श्वेताम्बर में भी यह बात (नहीं है) । आहा...हा... ! यह तो वस्तु की स्थिति ! आहा...हा... !

यहाँ तो अशुद्ध उपयोग बन्ध का कारण है — ऐसा सिद्ध करना है। अशुद्ध उपयोग में शुभभाव भी आया। शुभ और अशुभ दोनों (आये) । शुभ भी बन्ध का कारण है। शुद्ध (उपयोग) है, वह निर्विकार-निरुपराय है, उसमें राग का कण नहीं है। जैसा शुद्धद्रव्य और गुण का स्वरूप है, उस ओर के आचरणवाला उपयोग, वह निरुपराग शुद्ध उपयोग है, आहा...हा... ! वह धर्म है। **'पस्सदि जिणसासणं सव्वं'** जिसने शुद्ध उपयोग द्वारा अबद्धस्पृष्ट भगवान आत्मा को जाना, वह शुद्ध उपयोग है, वही जैनशासन है; महाव्रत के परिणाम और यह सब जैनशासन नहीं है। आहा...हा... ! शुद्ध उपयोग !

देखो न ! द्रव्यसंग्रह में भी (कैसी बात की है) ! दिगम्बर कोई भी आचार्य की बात लो, सब चारों ओर से अविरोध बात है। आहा...हा... ! वस्तु की स्थिति ही यह है। जो

आत्मा द्रव्य और गुण शुद्ध है, उसकी ओर का व्यापार जिस पर्याय में (होता है), वह शुद्ध उपयोग है। शुद्ध का उपयोग, वह शुद्ध उपयोग है; शुद्ध का व्यापार, वह शुद्ध उपयोग है। आहा...हा...! द्रव्य और गुण तो अत्यन्त शुद्ध पवित्र पिण्ड प्रभु है, उसका व्यापार वह शुद्ध उपयोग है। आहा...हा...!

और अशुद्ध उपयोग सोपराग (सविकार) है।... पहला (शुद्ध उपयोग) रागरहित है। इसलिए पहले सिद्ध करते हैं। **अशुद्ध उपयोग सोपराग (सविकार) है। और वह अशुद्ध उपयोग शुभ और अशुभ ऐसे दो प्रकार का है,...** लो...! आहा...हा...! यह तो साधारण बात है। परन्तु कहाँ डाली? ज्ञान की पर्याय ने चेतन के द्रव्य-गुण-पर्याय को जाना — ऐसी जो पर्याय (हुई), वह शुद्ध है — ऐसी ज्ञान की प्रधानता से बात की है; इसलिए पर को जाने — ऐसा वहाँ लिया (कि) यह मेरे अस्तित्व में नहीं है — ऐसा जाना परन्तु वह पर्याय स्वसन्मुख ढली है। वह ज्ञान की पर्याय है और वह ज्ञान की पर्याय शुद्ध है। आहा...हा...! परन्तु जिसके उपयोग में अशुद्धपना आया, स्व का आश्रय छूट गया... अनादि से छूटा है।

अशुद्ध उपयोग शुभ और अशुभ ऐसे दो प्रकार का है,.... आहा...! **क्योंकि उपराग, विशुद्धिरूप और संक्लेशरूप....** लो, यह आया। विशुद्धि आया। वह कहता है न? शुभभाव में विशुद्धि है — ऐसा लिखा है; इसलिए उसमें धर्म का अंश है, निर्जरा का कारण है। आहा...हा...! पदार्थ की अवस्था क्रमबद्ध है, व्यवस्थित है, इसका जिसे पता नहीं, वे सब गड़बड़ करते हैं और व्यवस्थित निर्णय करने जाये तो उसे क्रमबद्ध (निर्णित) हो जाये और उसे निश्चय हो जाये। स्वयं को करना, बदलना कुछ नहीं रहता। आहा...हा...! परन्तु क्रमबद्ध का निर्णय करने जाये, (वह) क्रमबद्ध की पर्याय के आश्रय से (निर्णय) नहीं होता... आहा...हा...! ज्ञायकभाव के आश्रय से होता है। उसका जहाँ आश्रय हो तो जो पर्याय जहाँ होती है, उसे जानता है, बस! फिर तो अपनी पर्याय को भी बदलना नहीं। दिशा बदली; इसलिए जो दशा हुई, उसे अब बदलना नहीं। आहा...हा...! समझ में आया? पर्याय की दिशा बदली (अर्थात्) दिशा ऐसी (अन्तर्मुख हुई तो) अब जिस काल में जिस प्रकार से (पर्याय होती है) उसे जानता है, बस! उसे परिणाम को बदलना नहीं है। आहा...हा...!

मुमुक्षु : दिशा बदली वह परिणाम बदला न?

पूज्य गुरुदेवश्री : ऐसा परिणाम (अन्तर्मुख) हुआ; इसलिए परिणाम शुद्ध हुआ परन्तु अब इस शुद्ध पर्याय के साथ अशुद्ध (पर्याय) है, उसे फेरफार नहीं करना। वह जानता है कि यह है... है... है... है... बस! आहा...हा...!

(समयसार में) सर्वविशुद्धज्ञान अधिकार में नहीं आया? ३२० (गाथा)! बन्ध को जानता है, मोक्ष को जानता है, उदय को जानता है, निर्जरा को जानता है, जानता... जानता... जानता... है। ज्ञानस्वभाव क्या जानता है? क्या करता है? उदय को जानता है। खिरे उसे जाने, बन्ध हो उसे जाने, मोक्ष हो उसे जाने। आहा...हा...! जिसका जानने का स्वभाव है, वह दूसरा क्या करेगा?

प्रश्न : व्रत प्रतिमा आदरे या न आदरे?

समाधान : कौन आदरता था? वह तो स्व का विशेष आश्रय होवे, तब ऐसी निर्मल दशा प्रतिमा में आती है। विकल्प भी उस काल में हो, व्रत लेना है कहाँ? आदरना है कहाँ? एक व्यक्ति उस दिन वहाँ कहता था, राजकोट! कि आठ प्रतिमा में लोग अभी हमको मानते नहीं हैं, ग्यारह लेनी पड़ेगी तब (मानेंगे)। क्षुल्लक होंगे तो लोग मानेंगे, आहार-पानी देने में मानेंगे। आठ प्रतिमावाला कोई अलग नहीं पड़ता, सात प्रतिमावाला और (दूसरे सब) होते हैं, यह सब खिचड़ी होती है। उसे बहुमान नहीं मिलता कि मेरे यहाँ पधारना। क्षुल्लक हो, वहाँ तुरन्त आदर मिलता है, एक बेचारा ऐसा कहता था, आठ प्रतिमावाला था, उस समय, हाँ! राजकोट (संवत् २००६) के साल! (एक मुमुक्षु के) यहाँ आहार करने गये तब (आया था)। अरे... उसे क्षुल्लकपना लेकर लोग ऐसे आहार दें (ऐसा भाव रहता है)। यहाँ सब त्यागी एक पाटे पर बैठें तो सबको आहार का आमन्त्रण दे, इसके लिए सब एक पाटे पर साथ में बैठते हैं। दो प्रतिमावाले, सात प्रतिमावाले, दस प्रतिमावाले, (साथ में बैठते हैं)। रोटी के व्यापारी हैं न! यह (कुछ) कल कहता था कि इन सबने रोटी की दुकानदारी लगायी है, मैंने भी दुकानदारी लगायी है, इस प्रकार सब दुकानदारी चलाने की है। अरे...रे! क्या करता है यह? क्या कहता है यह? अरे...रे! फिर दाँत निकालकर करे न... आहा...हा...!

यहाँ तो कहते हैं कि उपयोग के दो प्रकार — शुद्ध और अशुद्ध। अशुद्ध है, वह उपराग — वह उपराग विशुद्धिरूप होता है और संक्लेशरूप होता है। वह राग, मन्दरागरूप विशुद्धि हो; वह है तो अशुद्ध; संयोग का कारण है। देखा? वह नये बन्ध का कारण है। निर्जरा-फिर्जरा का कारण वह विशुद्धिभाव नहीं है। विशुद्धि शब्द पड़ा है, इसलिए (मानो) अन्दर से विशुद्धि है (— ऐसा मान लेता है)। आहा...हा...!

ऐसा दो प्रकार का है (अर्थात् विकार मन्दकषायरूप...) (अर्थात्) विशुद्धि **(और तीव्रकषायरूप...)** (अर्थात्) संक्लेश। आहा...हा..! परन्तु वह बन्ध का ही कारण है। यह तो यहाँ सिद्ध करना है। नये कर्म के संयोग का कारण कौन सा उपयोग है? — उसका यहाँ वर्णन है। विशुद्धि परिणाम तो कर्म के संयोग का कारण है; वह निर्जरा का कारण होगा? आहा...हा...!

मुमुक्षु : काल की निर्जरा का कारण है!

पूज्य गुरुदेवश्री : काल तो जाता है न?

भावार्थ - आत्मा उपयोगस्वरूप है। प्रथम तो उपयोग के दो भेद हैं — शुद्ध और अशुद्ध। और फिर अशुद्ध उपयोग के दो भेद हैं, शुभ तथा अशुभ। अब कौन-सा उपयोग बन्ध का, संयोग का (कारण है वह कहेंगे।)

प्रवचन नं. १६४ असोज शुक्ल १५ शुक्रवार, ५ अक्टूबर १९७९

प्रवचनसार, १५५ गाथा। **अब, आत्मा को अत्यन्त विभक्त करने के लिए परद्रव्य के संयोग के कारण का स्वरूप कहते हैं —** परद्रव्य का संयोग कैसे होता है? किस उपयोग से (होता है)? और पर से भिन्न करने के लिए, संयोग का कारण बतलाते हैं। संयोग का कारण बतलाने का हेतु तो उससे पृथक् बतलाना है। समझ में आया? है?

आत्मा को अत्यन्त विभक्त करने के लिए.... बात तो यह है। इसे पर से, संयोग से रहित होने के लिए (बात करते हैं)। **परद्रव्य के संयोग के कारण का स्वरूप कहते हैं।** आहा...हा...! आज पहले १५९ (गाथा लेने का) विचार था। (उसमें) उपयोग की व्याख्या है न?

अप्पा उवओगप्पा उवओगो णाणदंसणं भणिदो।
सो वि सुहो असुहो वा उवओगो अप्पणो हवदि।।१५५।।

उपयोग आत्मक आत्मा, उपयोग दर्शन-ज्ञान है।
आत्मा का उपयोग वह, शुभ या अशुभरूप होय है॥

टीका - वास्तव में आत्मा को परद्रव्य के संयोग का कारण उपयोगविशेष है।.... (मूल ग्रन्थ में उपयोगविशेष का अर्थ फुटनोट में है।) ***उपयोगविशेष = उपयोग का भेद, प्रकार या अमुक प्रकार का उपयोग। (अशुद्धोपयोग परद्रव्य के संयोग का कारण है; यह १५६ वीं गाथा में कहेंगे।)*** **संयोग का कारण उपयोगविशेष है।....** अर्थात् क्या कहते हैं? नये कर्म के संयोग का कारण उपयोगविशेष है, अर्थात् अशुद्ध उपयोग विशेष है। शुभ उपयोग और अशुभ उपयोग, दोनों अशुद्ध उपयोग हैं। यह नये कर्म के संयोग का कारण है। आहा...हा...!

प्रथम तो उपयोग वास्तव में आत्मा का स्वभाव है.... अब ज्ञान त्रिकाल की बात है। **क्योंकि वह चैतन्य-अनुविधायी (उपयोग चैतन्य का अनुसरण करके होनेवाला) परिणाम है।....** लो, यह आया! नियमसार में आता है न? नियमसार में उपयोग की बात आती है, वहाँ यह परिणाम आता है, यह शब्द आता है। **चैतन्य-अनुविधायी (उपयोग चैतन्य का अनुसरण करके होनेवाला) परिणाम....** अब वह स्वभाव कहा — वह त्रिकाली स्वभाव तो ठीक परन्तु यहाँ तो (कहते हैं कि) चेतन को अनुविधायी परिणाम है, वह उपयोग है, वह पर्याय है। चैतन्य को अनुसरण करके होनेवाले परिणाम, वह उपयोग है। सहज ही यह गाथा आयी है! यह उस उपयोग की व्याख्या करते हैं। क्या हो? भाई!

वास्तव में उपयोग, आत्मा का स्वभाव है। अब स्वभाव है वह त्रिकाली है परन्तु यहाँ तो पर्याय लेनी है। **क्योंकि वह चैतन्य-अनुविधायी (उपयोग चैतन्य का अनुसरण करके होनेवाला) परिणाम है।** अर्थात् क्या? चैतन्यस्वरूप जो त्रिकाल है, उसका अनुसरण करके होनेवाला उपयोग का परिणाम है। आहा...हा...! **और वह उपयोग ज्ञान तथा दर्शन है,....** जानना और देखना, वह उपयोग है। आहा...हा...! ज्ञान-दर्शन तो

त्रिकाल है परन्तु उसे अनुसरण करके होनेवाले परिणाम को भी यहाँ उपयोग कहा जाता है। आहा...हा...! **(उपयोग चैतन्य का अनुसरण करके होनेवाला) परिणाम है।...** कहा न? यहाँ परिणाम की बात है, त्रिकाली की नहीं। **वह उपयोग ज्ञान तथा दर्शन है,...**

क्योंकि चैतन्य साकार और निराकार — ऐसा उभयरूप है।.... चैतन्य साकार अर्थात् ज्ञान। साकार अर्थात् आकारवाला या भेदवाला; सविकल्प; विशेष। निराकार = आकार रहित; भेदरहित; निर्विकल्प; सामान्य। (यह) दर्शन और ज्ञान का अर्थ हुआ। साकार अर्थात् ज्ञान, निराकार अर्थात् दर्शन। उभयरूप है।

अब इस उपयोग के शुद्ध और अशुद्ध ऐसे दो भेद किये गये हैं।.... वह उपयोग जो चैतन्य का अनुसरण करके होनेवाला परिणाम है — ऐसे उपयोग के अब दो भेद करके समझाते हैं। आहा...हा...! **उसमें, शुद्ध उपयोग निरुपराग (निर्विकार) है;...** लो देखा? आया! चैतन्य का अनुसरण करके होनेवाला शुद्ध उपयोग (का परिणाम), वह चैतन्य का परिणाम है परन्तु शुद्ध उपयोग है। आहा...हा...! यह तो १५९ (गाथा) पढ़ी थी न? उसमें शुद्ध उपयोग (की बात थी), यहाँ वह १५५ में (बात) आ गयी।

उपयोग के दो भेद हैं, उनमें शुद्ध उपयोग... शुद्ध उपयोग का अर्थ परिणाम, हाँ! त्रिकाली नहीं। **निरुपराग (निर्विकार) है;...** और **अशुद्ध उपयोग सोपराग (सविकार) है।....** दो भेद (कहे) हैं। दोनों चैतन्य को अनुसरण करके होनेवाले (परिणाम हैं)। आहा...हा...! अशुद्ध है, वह चैतन्य को अनुसरण करके होनेवाला (परिणाम है)। इसके (जीव के) परिणाम है न? (इसलिए ऐसा कहा है) और शुद्ध है, वह तो चैतन्य को अनुसरण करके होनेवाला (परिणाम है) यह तो ठीक है। शुद्ध उपयोग और अशुद्ध — ये दोनों चैतन्य को अनुसरण करके होनेवाले परिणाम हैं।

उसमें, शुद्ध उपयोग निरुपराग (निर्विकार) है;.... देखा? शुद्ध उपयोग निर्विकार है। यह ज्ञेय का अविकार है। ज्ञेय जो आत्मा चैतन्यस्वरूप है, उसे अनुसरण करके होनेवाले परिणाम-उपयोग है, उस उपयोग के दो प्रकार हैं। स्वज्ञेय में... (यह) ज्ञेय अधिकार है न? स्वज्ञेय ऐसा चैतन्यस्वभाव भगवान, उसे अनुसरण करके होनेवाले उपयोग के दो प्रकार हैं। एक शुद्ध उपयोग, एक अशुद्ध उपयोग। आहा...हा...! अशुद्ध उपयोग विकार है।

और वह अशुद्ध उपयोग शुभ और अशुभ ऐसे दो प्रकार का है,.... एक तो पहले यह कहा कि चेतनस्वरूप है, उसे अनुसरण करके होनेवाला उपयोग परिणाम है। उस उपयोग के दो प्रकार — शुद्ध और अशुद्ध — है तो दोनों अनुसरण करके होनेवाले उपयोग परिणाम है। उस उपयोग के दो प्रकार — शुद्ध और अशुद्ध; हैं दोनों (चैतन्य को) अनुसरण करके होनेवाले (परिणाम)। उनमें शुद्ध उपयोग है, वह तो निर्विकारी उपयोग है। वह कर्म के संयोग का कारण नहीं है। आहा...हा...! समझ में आया? सहज ही आया है भाई!

अशुद्ध उपयोग शुभ और अशुभ ऐसे दो प्रकार का है, क्योंकि उपराग विशुद्धिरूप और संक्लेशरूप.... क्या कहा? अशुद्ध उपयोग की जो मलिनता है, उसके दो प्रकार — शुभ और अशुभ, क्योंकि उपराग विशुद्धिरूप (अर्थात्) वह राग **विशुद्धिरूप और संक्लेशरूप ऐसा दो प्रकार का है....** समझ में आया? है अशुद्ध, परन्तु अशुद्ध के दो प्रकार — एक विशुद्धिरूप वह विशुद्ध, शुभ (भाव है)। वह विशुद्धि (अर्थात्) शुद्ध (उपयोग) नहीं। समझ में आया? विशुद्धिरूप और संक्लेशरूप। यह संक्लेश अशुभ (भाव) है। **ऐसा दो प्रकार का है (अर्थात् विकार मन्दकषायरूप...)** विशुद्ध अर्थात् मन्दकषाय। **(और तीव्रकषायरूप....)** संक्लेश **(ऐसा दो प्रकार का है)**। आहा...हा...!

यह ज्ञेय तत्त्व की व्याख्या है और वास्तव में यह सम्यग्दर्शन की व्याख्या है। भाई! यह सम्यग्दर्शन (का अधिकार) है न? पहला ९२ (गाथा) तक ज्ञान अधिकार है। ९३ से २०० (गाथा) तक ज्ञेय अधिकार है। २०१ से २७५ (तक) चरणानुयोग अधिकार है। दर्शन अधिकार में यह डाला है कि चैतन्य का अनुसरण करके-स्व को अनुसरण करके जो (परिणाम) होता है, वह परिणाम है, वह उपयोग है और उस उपयोग के दो प्रकार हैं — शुद्ध और अशुद्ध। (उसमें) शुद्ध वह निर्विकारी शुद्ध उपयोग है और अशुद्ध (उपयोग) दो प्रकार का है — विशुद्धिरूप और संक्लेशरूप। विशुद्धिरूप वह मन्दराग है; संक्लेशरूप, वह तीव्र राग है; शुद्ध (उपयोग) है, वह रागरहित है। आहा...हा...!

भावार्थ - आत्मा उपयोगस्वरूप है। प्रथम तो उपयोग के दो भेद हैं — शुद्ध और अशुद्ध। और फिर अशुद्ध उपयोग के दो भेद हैं, शुभ तथा अशुभ। ●

गाथा – १५६

अथात्र क उपयोगः परद्रव्यसंयोगकारणमित्यावेदयति -

उवओगो जदि हि सुहो पुण्णं जीवस्स संचयं जादि।
असुहो वा तध पावं तेसिमभावे ण चयमत्थि।।१५६।।

उपयोगो यदि हि शुभः पुण्यं जीवस्य संचयं याति।
अशुभो वा तथा पापं तयोरभावे न चयोऽस्ति।।१५६।।

उपयोगो हि जीवस्य परद्रव्यसंयोगकारणमशुद्धः। स तु विशुद्धिसंक्लेशरूपोपरागवशात् शुभाशुभत्वेनोपात्तद्वैविध्यः, पुण्यपापत्वेनोपात्तद्वैविध्यस्य परद्रव्यस्य संयोगकारणत्वेन निर्वर्तयति। यदा तु द्विविधस्याप्यस्याशुद्धस्याभावः क्रियते तदा खलूपयोगः शुद्ध एवावतिष्ठते। स पुनरकारणमेव परद्रव्यसंयोगस्य।।१५६।।

अथोपयोगस्तावन्नरनारकादिपर्यायकारणभूतस्य कर्मरूपस्य परद्रव्यस्य संयोगकारणं भवति। तावदिदानीं कस्य कर्मणः क उपयोगः कारणं भवतीति विचारयति-**उवओगो जति हि सुहो** उपयोगो यदि चेत् हि स्फुटं शुभो भवति। **पुण्णं जीवस्स संचयं जादि** तदा काले द्रव्यपुण्यं कर्तृ जीवस्य संचयमुपचयं वृद्धिं याति बध्यत इत्यर्थः। **असुहो वा तह पावं** अशुभोपयोगो वा तथा तेनैव प्रकारेण पुण्यवद्द्रव्यपापं शुद्धोपयोगबलेन यदा तयोर्द्वयोः शुभाशुभोपयोगयोरभावः क्रियते तदोभयः संचयः कर्मबन्धो नास्तीत्यर्थः।।१५६।।

अब, यह कहते हैं कि इनमें कौन सा उपयोग परद्रव्य के संयोग का कारण है —

उपयोग यदि शुभ होय जीव के, पुण्य का संचय वहाँ।
पाप-संचय अशुभ से, नहीं दोनों, संचय नहीं वहाँ॥

अन्वयार्थ – [**उपयोगः**] उपयोग [**यदि हि**] यदि [**शुभः**] शुभ हो [**जीवस्य**] तो जीव के [**पुण्यं**] पुण्य [**संचयं याति**] संचय को प्राप्त होता है [**तथा वा अशुभः**]

और यदि अशुभ हो **[पापं]** तो पाप संचय होता है। **[तयोः अभावे]** उनके (दोनों के) अभाव में **[चयः नास्ति]** संचय नहीं होता।

टीका – जीव को परद्रव्य के संयोग का कारण अशुद्ध उपयोग है और वह विशुद्धि तथा संक्लेशरूप उपराग के कारण शुभ और अशुभरूप से द्विविधता को प्राप्त होता हुआ, जो पुण्य और पापरूप से द्विविधता को प्राप्त होता है ऐसा जो परद्रव्य, उसके संयोग के कारणरूप से काम करता है। (उपराग मन्दकषायरूप और तीव्रकषायरूप से दो प्रकार का है, इसलिए अशुद्ध उपयोग भी शुभ-अशुभ के भेद से दो प्रकार का है; उसमें से शुभोपयोग पुण्यरूप परद्रव्य के संयोग का कारण होता है और अशुभोपयोग पापरूप परद्रव्य के संयोग का कारण होता है।) किन्तु जब दोनों प्रकार के अशुद्धोपयोग का अभाव किया जाता है, तब वास्तव में उपयोग शुद्ध ही रहता है; और वह तो परद्रव्य के संयोग का अकारण ही है। (अर्थात् शुद्धोपयोग परद्रव्य के संयोग का कारण नहीं है) ॥१५६॥

प्रवचन नं. १६४ का शेष असोज शुक्ल १५ शुक्रवार, ५ अक्टूबर १९७९

अब यह कहते हैं कि इनमें कौन सा उपयोग परद्रव्य के संयोग का कारण है— यह सिद्ध करना है। आहा...हा...! आचार्यों ने तो बहुत काम (किया है)! बहुत स्पष्ट किया है!!

शुद्ध उपयोग और अशुद्ध उपयोग। यह आहा...हा...! इस अशुद्ध उपयोग के दो प्रकार हैं। अब, कौन सा उपयोग परद्रव्य के संयोग का कारण है? शुद्ध उपयोग और अशुद्ध उपयोग। अशुद्ध उपयोग मन्द कषायरूप और तीव्र कषायरूप है। अब उसमें कौन-सा उपयोग कर्म के संयोग का कारण है?

उवओगो जदि हि सुहो पुण्णं जीवस्स संचयं जादि।
असुहो वा तध पावं तेसिमभावे ण चयमत्थि।।१५६।।

आहा...हा...! नीचे हरिगीत!

उपयोग यदि शुभ होय जीव के, पुण्य का संचय वहाँ।
पाप-संचय अशुभ से, नहीं दोनों, संचय नहीं वहाँ॥

तीनों उपयोग की व्याख्या की है। आहा...हा... ! १५६ (गाथा की) टीका।

टीका - जीव को परद्रव्य के संयोग का कारण अशुद्ध उपयोग है.... भगवान स्वत: ज्ञायकस्वरूप चैतन्य है, तथापि उसे परद्रव्य के संयोग का कारण उसका अशुद्ध उपयोग है। आहा...हा... ! **और वह (अशुद्ध उपयोग) विशुद्धि तथा संक्लेशरूप उपराग के कारण....** उपराग अर्थात् मलिनता। विशुद्ध-कषाय की मन्दतारूप मलिनता और तीव्र (संक्लेशरूप) मलिनता। है तो दोनों उपराग। उपराग का अर्थ किया है न? भाई ! प्रवचनसार ! आहा...हा... !

विशुद्धि तथा संक्लेशरूप उपराग के कारण शुभ और अशुभरूप से द्विविधता को प्राप्त होता हुआ,... जो पुण्य और पापरूप से द्विविधता को प्राप्त होता है ऐसा जो परद्रव्य.... परद्रव्य पुण्यरूप और पापरूप जो संयोगपने पाता है। आहा...हा... ! **उसके संयोग के कारणरूप से काम करता है।...** पुण्य और पाप के जो परमाणु आते हैं... आहा...हा... ! समझ में आया ? **पुण्य और पापरूप से द्विविधता को प्राप्त होता है ऐसा जो परद्रव्य....** ऐसा कहना है न अभी ? साता बँधती है और असाता बँधती है, इत्यादि — शुभकर्म बँधता है और अशुभ (कर्म) बँधता है (ऐसा जो) **परद्रव्य उसके संयोग के कारणरूप से काम करता है।....** आहा...हा... ! कौन ? उपयोग। आहा...हा... !

अशुद्ध उपयोग — मन्दकषायरूप और तीव्रकषायरूप (— ऐसे) दो प्रकार के परिणाम। आहा...हा... ! परमाणु में जो दो प्रकार पड़ते हैं — साता-असाता, पुण्य-पाप इत्यादि; उनके संयोग के कारणरूप से पुण्य-पाप, शुभ-अशुभभाव काम करता है। आहा...हा... ! अब यहाँ शुभ से पुण्य का संयोग कारण होता है — ऐसा कहते हैं। (अज्ञानी) कहता है कि शुभ उपयोग साधन है और उससे धर्म होता है। ऐसी बात है, कठिन पड़ेगा ! अमृतचन्द्राचार्यदेव कहते हैं कि पाठ के अर्थ में भरा है, उसमें से कहते हैं। उसे उड़ा देना है और जयसेनाचार्यदेव का साधक, साधक जहाँ आता है — व्यवहार साधन और निश्चय साधन (ऐसा आवे उसे पकड़ना है)।

मुमुक्षु : बहुत से (ऐसा) अर्थ करते हैं कि व्यवहार हो, वहाँ निश्चय होता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : वह तो होता है, जिसे निश्चय हुआ है, उसे व्यवहार साधनरूप

से होता है, उसका ज्ञान कराया है परन्तु अब क्या हो ? आहा...हा... ! अरे ! केवली प्रभु नहीं मिलते, अवधिज्ञानी नहीं मिलते, इसका फैसला कौन दे ? आहा...हा... !

यहाँ तो कहते हैं कि प्रभु ! तुझे नये कर्म के संयोग का कारण तेरा अशुद्ध उपयोग है, उस अशुद्ध उपयोग के दो प्रकार — राग की मन्दता (अर्थात्) दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजा इत्यादि। राग की तीव्रता (अर्थात्) भोग, क्रोध, मान, विषयवासना इत्यादि। ये दोनों शुभ-अशुभ परिणाम-उपयोग, नये संयोग-कर्म का कारण है। आहा...हा... !

एक तो यह सिद्ध किया कि विशुद्धि परिणाम (अर्थात्) कषाय की मन्दता-शुभ (भाव), वह पुण्य के संयोग का कारण है। पुण्य, नया पुण्य बाँधते हैं न ? उसके संयोग का कारण है, वह धर्म का कारण है — ऐसा नहीं कहा। आहा...हा... ! इन अमृतचन्द्राचार्यदेव को उड़ाना !

मुमुक्षु : उन्हें काष्ठासंघी कहा न ?

पूज्य गुरुदेवश्री : अरे... वे तो परमात्मा संघी थे ! कुन्दकुन्दाचार्य के अनुयायी थे। अरे... प्रभु ! क्या करना ? भाई ! इसमें तुझे क्या लाभ है ? भाई ! इसका परिणाम कठोर आयेगा, बापू ! आहा...हा... ! ऐसे मिथ्या अभिप्राय से महा दुःख के भव में जाना पड़ेगा, प्रभु ! यह दुःखी होगा, प्रभु ! यह ठीक नहीं होगा। आहा...हा... ! अरे... भव-भ्रमण में प्रभु ! ऐसी विपरीत दृष्टि से मिथ्यात्व के परमाणुओं का संयोग होगा। आहा...हा... ! जिससे नरक और निगोद के भव (आयेंगे) प्रभु ! या तिर्यंच के भव (आयेंगे)। अरे... ! प्रभु ! क्या हो ? भाई ! आहा...हा... ! जिसके भव का अन्त नहीं — ऐसे मिथ्यात्व के भाव को सेवन करते हुए, प्रभु ! भव-भ्रमण का अन्त नहीं — ऐसे भव को पायेगा। भाई ! दुनिया बाहर की बातें मानेगी परन्तु प्रभु का सत्यमार्ग है, वह विरुद्ध नहीं होगा। दुनिया तो सामान्य प्राणी बेचारे जी... हाँ, जी... हाँ ! करते हैं, भाई !

यहाँ कहते हैं, अशुद्ध उपयोग परद्रव्य के संयोग के कारणरूप से काम करता है अर्थात् शुभ उपयोग, पुण्य के परमाणु के संयोग के कारणरूप है और अशुभ उपयोग, पाप के परमाणु के संयोग के कारणरूप है। है ? इसमें शुभभाव से धर्म हो (ऐसा) कहीं (आता है ?) जयसेनाचार्यदेव ने अन्यत्र कहा है, व्यवहार साधन है, निश्चय साध्य है। भाई ! वह

तो निमित्त का ज्ञान कराया है, प्रभु! मुनियों को झूठा सिद्ध करे ऐसा अर्थ होता है? अरे...! कुन्दकुन्दाचार्यदेव का अभिप्राय यह है। यह देखो न! गाथा क्या है? यह कुन्दकुन्दाचार्यदेव का पाठ है, वह क्या है? **उवओगो जदि हि सुहो पुण्णं जीवस्स संचयं जादि।** लो? है **उवओगो जदि हि सुहो पुण्णं जीवस्स संचयं जादि। संयोग... असुहो वा तध पावं तेसिमभावे ण चयमत्थि।।** ऐसी तो स्पष्ट बात है, भगवान! आहा...हा...! यह कुन्दकुन्दाचार्य कहते हैं, उसका अमृतचन्द्राचार्यदेव ने अर्थ किया है। कुन्दकुन्दाचार्यदेव को मिथ्या सिद्ध करना है? अमृतचन्द्राचार्यदेव को मिथ्या सिद्ध करना है? प्रभु... प्रभु...! क्या करता है? भाई! दुनिया में चलेगा बापू! सत्य में यह नहीं चलेगा। आहा...हा...! क्या करेगा? आहा...हा...!

उनके **संयोग के कारणरूप से काम करता है। (उपराग मन्दकषायरूप...)** दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजा आदि का भाव मन्दकषायरूप है। आहा...हा...! वह नये कर्म के संयोग का कारण है। आहा...हा...! यह तो शुद्ध उपयोग से लिया था, भाई! वहाँ फिर यह आया।

कहते हैं कि जितना तेरा शुभ उपयोग है — दया का, दान का, व्रत का, तप का, भक्ति का, पूजा का यह शुभ उपयोग नये पुण्य के परमाणु, जड़ के संयोग का कारण है। आहा...हा...! यह स्वभाव का कारण नहीं है। आ...हा...! आहा...हा...! ऐसी बात है।

(अशुद्ध उपयोग भी शुभ-अशुभ के भेद से दो प्रकार का है; उसमें से शुभोपयोग पुण्यरूप परद्रव्य के संयोग का कारण होता है....) देखा? स्पष्टीकरण किया है। जो शुभराग है, वह पुण्यरूप कर्म जो है, (उसके) संयोग का कारण होता है। आहा...हा...! दूसरे कहते हैं, पुण्य-निर्जरा का कारण है। प्रभु... प्रभु...! आहा...हा...! सत्य तो सत्य रहेगा, प्रभु! भले जगत् विरोध करे, विरोध की संख्या बढ़ जाये, इससे सत्य कहीं असत्य नहीं होगा। आहा...हा...!

शुभभाव... है? **(शुभ उपयोग...)** वापस उपयोग कहा है! **(पुण्यरूप परद्रव्य के संयोग का कारण होता है...)** आहा...हा...! पाठ में भी है, उसे (टीका में) स्पष्ट किया है। ऊपर आया है न? **जो पुण्य और पापरूप से द्विविधता को प्राप्त होता है....**

कौन ? कि जो उपयोग **शुभ और अशुभरूप से द्विविधता को प्राप्त होता हुआ, जो पुण्य और पापरूप से द्विविधता को प्राप्त होता है ऐसा जो परद्रव्य उसके संयोग के कारणरूप से काम करता है।....** इसका यह अर्थ है। भाषा जरा ऐसी हो तो (जल्दी समझ में नहीं आती)। आहा... ! **किन्तु जब दोनों प्रकार के अशुद्धोपयोग का अभाव किया जाता है....** आहा...हा... ! जब इन दोनों प्रकार के अशुद्ध उपयोग का अभाव किया जाता है, **तब वास्तव में उपयोग शुद्ध ही रहता है;....** आहा...हा... ! वास्तव में तो राग का उपयोग है, उसे बदलकर जहाँ द्रव्य पर उपयोग जाता है, भले वहाँ वह पूर्ण शुद्ध कहते हैं, इतना नहीं परन्तु वह जितना अन्दर झुका, (उतना) शुद्ध उपयोग है। आहा...हा... ! समझ में आया ? ज्ञायक द्रव्यस्वभाव शुद्ध चैतन्यघन प्रभु की ओर झुका हुआ उपयोग — स्वद्रव्य की ओर झुका हुआ उपयोग, शुद्ध है; नवीन कर्म के संयोग का कारण वह नहीं है। आहा...हा... !

मुमुक्षु : यहाँ तो शुभ और अशुभ उपयोग ज्ञानी का कहा।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह तो सम्यग्ज्ञानी को और अज्ञानी को भी होता है। यहाँ समुच्चय बात है। आहा...हा... ! ज्ञानी को भी अशुभ उपयोग होता है। अशुभ और शुभ उपयोग भी होता है। दोनों अशुद्ध हैं। नवीन संयोग का कारण है, नये कर्म के संयोग का कारण है और दोनों का अभाव... आहा...हा... ! **अशुद्धोपयोग का अभाव किया जाता है....**

किन्तु जब दोनों प्रकार के अशुद्धोपयोग का अभाव किया जाता है.... किया जाता है.... अर्थात् पुरुषार्थ से (अभाव किया जाता है ऐसा) कहते हैं। आहा...हा... ! **तब वास्तव में उपयोग शुद्ध ही रहता है;....** भले यहाँ विशेषरूप से मुनिपने की बात ली है परन्तु उसमें गौणरूप में शुभ-अशुभराग का लक्ष्य छूटकर द्रव्य के सम्मुख उपयोग जाता है, वह वास्तव में तो यह उपयोग शुद्ध का ही अंश है परन्तु (लोग) सच्चा स्पष्ट आधार माँगते हैं, उसका क्या करना ? आहा...हा... !

यहाँ तो कहते हैं कि भले सातवें में शुभाशुभरहित अत्यन्त उपयोग होता है परन्तु नीचे भी शुभ-अशुभराग से, अशुद्ध उपयोग में से रुचि छोड़कर शुद्धस्वभाव की ओर

उपयोग जाता है तो वह उपयोग उतना कर्म के संयोग का अकारण है। समझ में आया? इसलिए सम्यग्दृष्टि को निर्जरा कही है, वह इस अपेक्षा से (कही है)। सम्यग्दृष्टि का भोग निर्जरा का हेतु (है क्योंकि) सम्यग्दर्शन का उपयोग अन्दर जाता है। आहा...हा...! उसका कदाचित् अशुद्ध उपयोग आ गया... आहा...हा...! परन्तु उसका झुकाव वहाँ (स्वभाव की ओर) है। इसलिए उसे बन्ध का कारण नहीं गिना है। है तो बन्ध, अल्पबन्ध तो है। आहा...हा...! यहाँ तो शुभभाव है, अशुभभाव है, वे दोनों बन्ध का कारण है। ज्ञानी को भी बन्ध का कारण है। आहा...हा...! निर्जरा का हेतु है, वह दृष्टि के जोर की अपेक्षा से बात की है, वरना भोग कहीं निर्जरा का हेतु होता है? वह तो यहाँ अशुभ उपयोग है। आहा...हा...!

यह तो ज्ञेय का, समकित का अधिकार है। आहा...हा...! ज्ञायक और (ज्ञेय का) ज्ञान दोनों की अन्दर में यथार्थ प्रतीति वह सम्यग्दर्शन है — ऐसा आता है न? भाई! अन्त में... अन्त में... २४२ (गाथा) है न? आहा...हा...! ज्ञायकस्वरूप पूर्ण भगवान और ज्ञेय का ज्ञान-स्व का और पर का ज्ञान, इन दोनों की प्रतीति, (वह सम्यग्दर्शन है)। आहा...हा...!

यहाँ कहते हैं कि **जब दोनों प्रकार के अशुद्धोपयोग का अभाव किया जाता है.... अशुद्धोपयोग का अभाव किया जाता है** — ऐसा कहा है न? आहा...हा...! पर का लक्ष्य छोड़कर, अशुभ उपयोग को छोड़ने का करे, तब इसे शुद्ध उपयोग द्रव्य में जाये। आहा...हा...! कुछ इसमें थोड़ी झलक तो निकलती है, हाँ! नहीं?

मुमुक्षु : जयसेनाचार्यदेव की टीका की पाँचवीं लाईन है।

पूज्य गुरुदेवश्री : है न, अन्दर पाठ है। आहा...हा...!

वह **उपयोग शुद्ध ही रहता है;...** देखा? **शुद्ध ही** (रहता है) **और वह तो परद्रव्य के संयोग का अकारण ही है।...** द्रव्य की ओर ढला हुआ जितना शुद्ध उपयोग है, (वह बन्ध का अकारण है) आहा...हा...! परद्रव्य की ओर ढला हुआ उपयोग, बन्ध का कारण है। यह तो मोक्षपाहुड़ में (तेरहवीं गाथा में) कहा न? 'परद्रव्यरत: बध्यते', (१६ वीं गाथा में) 'परदव्वादो दुग्गई' (कहा है)। इसका अर्थ कि परद्रव्य की ओर का उपयोग है, वह अशुद्ध है। चाहे तो देव-शास्त्र-गुरु की ओर का हो या चाहे तो स्त्री-कुटुम्ब, की ओर का हो, परन्तु वह अशुद्ध है और वह दुर्गति है अर्थात् चैतन्य की गति

से विरुद्ध गति का कारण है। आहा...हा...! 'सद्दव्वादो सुग्गई परदव्वादो दुग्गई' — पहला शब्द 'परदव्वादो' है। 'परदव्वादो दुग्गई सद्दव्वादो सुग्गई' आहा...हा...!

शुद्ध उपयोग **परद्रव्य के संयोग का अकारण ही है। (अर्थात् शुद्धोपयोग परद्रव्य के संयोग का कारण नहीं है)।** आहा...हा...! वास्तव में तो सूक्ष्म बात पड़ती है परन्तु अब क्या हो ? भूतार्थ जो ज्ञायकभाव त्रिकाल है, उसका जो आश्रय होता है, वह उपयोग शुद्ध है परन्तु अब क्या हो ? आहा...हा...! क्योंकि ज्ञायकभाव शुभ-अशुभरूप नहीं हुआ। आया है न इसमें ? भाई ! (समयसार में) छठी गाथा में ! (ज्ञायकभाव शुभाशुभभावरूप होवे तो) वह जड़ हो जाये। आहा...हा...! इसका अर्थ यह हुआ कि ज्ञायक चैतन्यस्वरूप ज्ञायकस्वरूप... आहा...हा...! उसका जो उपयोग हुआ, वह शुभ-अशुभरहित है, क्योंकि ज्ञायकभाव शुभ-अशुभभावरूप होवे तो वह जड़ हो जाये। भाई ! छठी गाथा में है न ? आहा...हा...! शुभ-अशुभभावरूप होवे तो शुभ-अशुभभाव में चैतन्य का भाव नहीं, अचेतन है। आहा...हा...! भले वह चैतन्य का अनुसरण करके हुआ है। आहा...हा...! यहाँ तो यह कहा न ? आहा...हा...!

आहा...हा...! भगवान तो सब जानते हैं। अरे... किसी को भेजें न यहाँ ! कहाँ से भेजे ? आहा...हा...!

मुमुक्षु : आप ही पधारे !

पूज्य गुरुदेवश्री : उनके ज्ञान में आया था न ! कि यह जायेगा। इसलिए वास्तव में तो उन्होंने भेजा है, इस अपेक्षा से, हाँ ! आहा...हा...! कहते हैं कि अशुद्ध उपयोग और शुद्ध उपयोग दोनों चैतन्य को अनुसरण करके हुए हैं और तेरे पुरुषार्थ से हुए हैं; किसी कर्म के कारण नहीं — ऐसा पहले सिद्ध किया। भाई ! शुद्ध और अशुद्ध (उपयोग) चैतन्य को अनुसरण करके हुआ, उसमें सिद्ध क्या किया ? एक तो कर्म के कारण नहीं, निमित्त के कारण नहीं; कर्म का उदय आया, इसलिए शुभ-अशुभ-अशुद्ध हुआ और उसका अभाव हुआ, इसलिए शुद्ध हुआ — ऐसा नहीं है। भाई ! आहा...हा...! वह शुभ और अशुभ और अशुद्ध उपयोग चैतन्य का अनुसरण करके हुआ - ऐसा कहा; कर्म को अनुसरण करके हुआ है — ऐसा नहीं कहा, प्रभु ! आहा...हा...! वह शुभ-अशुभ भी कर्म को अनुसरण

करके हुआ — ऐसा नहीं कहा, भाई! आहा...हा...! गजब बात है! कितना समेटा है इसमें! पार नहीं! आहा...हा...!

शुभ और अशुभभाव कर्म के निमित्त से हुआ (ऐसा नहीं कहा) क्योंकि (वह ऐसे तो) निमित्त के लक्ष्य से होते हैं और शुद्ध है, वह स्व के लक्ष्य से होता है, तथापि यहाँ यह बात नहीं ली है। आहा...हा...! ज्ञेय की पर्याय की स्वतन्त्रता बतलाने के लिए (— ऐसा कहते हैं)। यह ज्ञेय का अधिकार है तो ज्ञेय में शुभाशुभ परिणाम होते हैं, वे भी चैतन्य को अनुसरण करके हुए हैं। कर्म को अनुसरण करके हुए हैं — ऐसा नहीं है। आहा...हा...! समझ में आया? और वे (चैतन्य को) अनुसरण करके हुए अशुद्ध उपयोगरूपी शुभाशुभभाव नये संयोग का कारण है। संयोग तो उसके कारण आता है परन्तु यह निमित्त है। क्या कहा यह? समझ में आया?

जो कर्म का संयोग है, वह तो उसकी पर्याय की योग्यता से वहाँ आया है परन्तु उसका निमित्तकारण, अशुद्ध उपयोग है। आहा...हा...! समझ में आया? अशुद्ध उपयोग है; इसलिए कर्म को आना पड़ा — ऐसा वह पराधीन द्रव्य नहीं है। आहा...हा...! उस समय परमाणु की पर्याय में कर्मरूप होने की योग्यतावाले परमाणु आये परन्तु उनका कारण कौन? यहाँ ऐसा कहा न? यह शुभ-अशुभ उपयोग, संयोग का कारण है — ऐसा कहा न? संयोग का कारण है। आहा...हा...! इसमें से निकालते हैं कि देखो! संयोग का कारण है या नहीं? परन्तु यह क्या कहते हैं? आहा...हा...! शुभ और अशुभ उपयोग, तेरे चैतन्य को अनुसरण करके हुआ अशुद्ध उपयोग है और वह संयोग का कारण है। संयोग है, वह उस समय उस कर्मरूप होने की योग्यतावाले होनेवाले परमाणु आये, इसने अशुद्ध उपयोग किया, इसलिए आये हैं — ऐसा भी नहीं है। अरे... अरे...! ऐसी बात है। इसके क्रमबद्ध में... आहा...हा...! संयोगी चीज जो कर्म का आना हुआ, वह उसका उस समय का वह जन्मक्षण है, कर्मरूप होने का जन्मक्षण है। यह इसमें आ गया न? प्रवचनसार, १०१ (गाथा)। आहा...हा...! गजब काम किया है! प्रभु! क्या सत् का ढिंढोरा पीटा है! आहा...! यहाँ से कोई ऐसा निकाले कि देखो! अशुद्ध उपयोग हुआ तो संयोग आया न? वरना नहीं आता न? परन्तु यह प्रश्न ही यहाँ नहीं है। यहाँ तो

अशुद्ध उपयोग हुआ, बस! नये कर्म आये, उसके कारण वह संयोग आया, बस! इसमें समझ में आया? आहा...हा...!

प्रश्न : न किया होता तो?

समाधान : न किया होता का प्रश्न ही यहाँ कहाँ है? हुआ है, (तब) वहाँ (संयोग) हुआ है। आहा...हा...! इसलिए उसे संयोग का कारण कहा गया है। आहा..हा..! प्रभु! प्रभु! इसकी बलिहारी है!! सन्तों की शैली अलौकिक है! दिगम्बर सन्तों की शैली से केवलज्ञान को खड़ा किया है!! आहा...हा...! समय-समय की पर्याय स्वतन्त्र सिद्ध की है। आहा...हा...!

यह तो प्रश्न क्या उठा कि यह संयोग का कारण है न? यह कारण है तो संयोग आया न? ऐसा नहीं है, प्रभु! यहाँ तो उसका निमित्तपना है, यह सिद्ध किया है। उस समय परमाणु की पर्याय क्रमबद्ध में कर्मरूप परिणमित होने की योग्यतावाली (पर्याय से) उस जन्मक्षण में वह कर्म हुआ है। समझ में आया? आहा...हा...! गजब बात करते हैं! इसलिए वह संयोग का कारण है — ऐसा कहा है।

वास्तव में उपयोग शुद्ध ही रहता है;... ये दोनों (शुभाशुभभाव) रहित **और वह तो परद्रव्य के संयोग का अकारण ही है।...** इसलिए कर्म नहीं आये। वे भी कर्म आनेवाले थे और नहीं आये — ऐसा नहीं है। आहा...हा...! उस समय ही कर्म की पर्याय वहाँ संयोगरूप होनेवाली थी ही नहीं — ऐसी बातें हैं। आहा...हा...! समझ में आया?

अशुद्धोपयोग का अभाव किया जाता है... दोनों अशुद्ध हैं, उनके उपयोग का अभाव किया जाता है। आहा...हा...! **तब वास्तव में उपयोग शुद्ध ही रहता है;....** आहा...हा...! **और वह तो परद्रव्य के संयोग का अकारण ही है।...** शुद्ध उपयोग हुआ; इसलिए कर्म नहीं आये — ऐसा कथन है, वरना तो उस समय कर्म होनेवाले ही नहीं थे। आहा...हा...! अरे...रे! ऐसी सूक्ष्म बातें! आहा...हा...! सत् का ढिंढोरा है, प्रभु! आहा...हा...! उस समय संयोगी चीज कर्मरूप होनेवाली ही नहीं थी; इसलिए संयोग का अकारण है — ऐसा कहा गया है।

मुमुक्षु : पर में योग्यता नहीं थी।

पूज्य गुरुदेवश्री : पर में योग्यता नहीं थी, बापा! आहा...हा...! प्रभु! प्रभु! तेरी बलिहारी, नाथ!

तू तो स्वतन्त्र है प्रभु! शुभ-अशुभ करने में भी स्वतन्त्र; शुद्ध (उपयोग) करने में भी एक तो यह कहा कि शुभ-अशुभरूप अशुद्ध (भाव) चेतन का अनुसरण करके हुए कहा अर्थात् कर्म को अनुसरण करके हुए यह निकाल दिया — एक बात; वह अशुद्ध परिणाम तूने किये, इसलिए संयोग आया, यह भी निमित्त से कथन है। उस समय कर्म के पर्याय की संयोगी दशा जो होनेवाली थी, उसमें यह निमित्त हुआ। आहा...हा...! समझ में आया? दूसरी (बात) — जो शुभ-अशुभ (का) अभाव किया, वह तेरा उपयोग अन्दर में गया, इसलिए शुभ-अशुभ (का) अभाव किया। आहा...हा...! ऐसा आया न? **किन्तु जब दोनों प्रकार के अशुद्धोपयोग का अभाव किया जाता है...** आहा...हा...! आहा...हा...! उस क्षण में इसे शुभ और अशुभ का अभाव करने का क्षण है। अरे...! प्रभु... प्रभु... प्रभु...! समझ में आया?

वह परद्रव्य के लक्ष्य में से हुआ यह तो नहीं कहा परन्तु जो अशुद्ध परिणाम हुए, वह संयोग का कारण है- ऐसा कहा। उसमें भी अशुद्ध परिणाम के कारण संयोग आया — ऐसा नहीं है। निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध की व्याख्या की है। अरे...रे...रे...! निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध की व्याख्या करे, वहाँ (ऐसा कहते हैं) कि देखो! निमित्त था तो आया न? और कर्म का उदय था, तब यहाँ शुभाशुभभाव हुआ न? यहाँ तो यह बात नहीं की है। ज्ञेय का अधिकार स्वतन्त्र सिद्ध किया है। ज्ञेय अधिकार है न? समकित का अधिकार है न? आहा...हा...! यह कहीं पण्डिताई की चीज नहीं है, प्रभु! समझाना आवे नहीं, इससे क्या वस्तु दूसरी हो जाएगी? आहा...हा...! **अशुद्धोपयोग का अभाव किया जाता है तब वास्तव में उपयोग शुद्ध ही रहता है;....** आहा...हा...! **और वह तो परद्रव्य के संयोग का अकारण ही है।....** इस कारण परद्रव्य का संयोग नहीं हुआ परन्तु संयोग होनेवाला ही नहीं था। आहा...हा...! इसके पास कर्म होने की योग्यतावाले परमाणु नहीं थे। थे (वे) दूसरे के पास थे। आहा...हा...! शुभाशुभ अशुद्धभाव किया, उसके पास वहाँ कर्म होने की योग्यतावाले परमाणु थे। अरे...रे...! ऐसी बातें! वीतराग के अतिरिक्त यह कौन कहे? वीतराग के सिवाय यह कौन माने? आहा...हा...!

यह प्रश्न एक बार हुआ था, राजकोट! कि राग नहीं किया होता, तब तो कर्म नहीं आते परन्तु यह प्रश्न ही नहीं है, प्रभु!

मुमुक्षु : उसे नहीं हुआ होता तो ऐसा होता ही नहीं।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह प्रश्न ही क्या परन्तु? स्व को अनुसरण करके राग हुआ है, कर्म को अनुसरण करके नहीं... आहा...हा...! दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजा, आदि का शुभराग हुआ है, वह चैतन्य को अनुसरण करके (हुआ है)। उसमें तेरा अनुसरण है, उसमें कर्म का अनुसरण नहीं है। आहा...हा...! और वहाँ जो कर्म, संयोग होता है, उस संयोग की पर्याय का - कर्म की पर्याय का उसे काल था। प्रभु... प्रभु...! बहुत कठिन काम! १०१ गाथा में ऐसा कहते हैं कि कर्म संयोग होने का जन्मक्षण था। इसका अशुद्ध उपयोग हुआ, इसलिए वहाँ कर्म की पर्याय हुई — ऐसा नहीं है। आहा...हा...!

मुमुक्षु : उपादान का काल स्वयं का होता है न?

पूज्य गुरुदेवश्री : यह वस्तु की स्थिति है। यह ज्ञेय अधिकार है न? आहा...हा...! ज्ञेय की समय-समय की पर्याय स्वयं से स्वतन्त्र होती है, वह यहाँ सिद्ध करना है। आहा...हा...! परन्तु वहाँ ऐसा कहते हैं कि अशुद्ध उपयोग न होता तो कर्म नहीं होते? (अशुद्ध उपयोग हुआ), इसलिए कर्म हुए न? परन्तु प्रभु...! तू क्या (कहता है) ? भाई! आहा...हा...!

मुमुक्षु : उसका महत्त्व दर्शाने के लिए बात करे न?

पूज्य गुरुदेवश्री : अर्थात् निमित्त को सिद्ध करे कि निमित्त के कारण वहाँ आया... भगवान! यह तो तीन लोक के नाथ... आहा...हा...! यह ध्वनि तो देखो! उत्तर डाले अन्दर से! आहा...हा...! अज्ञान उतार डाले और ज्ञान में ले जाये — ऐसी यहाँ बात है! आहा...हा...! यह तेरे अधिकार की बात है। आहा...हा...! यह ज्ञेय का स्वभाव है, ज्ञेय का अधिकार है न? और ऐसा स्वरूप है, उसकी यथार्थ श्रद्धा वह सम्यग्दर्शन है। शुभ-अशुभ स्व को अनुसरण करके हो — ऐसी श्रद्धा, वह यथार्थ है। आहा...हा...! कर्म को अनुसरण करके होता है, यह श्रद्धा यथार्थ नहीं है। आहा...हा...! यह सहज ही आया! १५५, १५६ (गाथा)! वरना १६० (गाथा) लेनी थी। आना हो, वह आता है न बापू! ●

गाथा - १५७

अथ शुभोपयोगस्वरूपं प्ररूपयति -

जो जाणादि जिणिंदे पेच्छदि सिद्धे तहेव अणगारे।
जीवेसु साणुकंपो उवओगो सो सुहो तस्स।।१५७।।

यो जानाति जेनेन्द्रान् पश्यति सिद्धांस्तथैवानागारान्।
जीवेषु सानुकम्प उपयोगः स शुभस्तस्य।।१५७।।

विशिष्टक्षयोपशमदशाविश्रान्तदर्शनचारित्रमोहनीयपुद्गलानुवृत्तिपरत्वेन परिगृहीतशोभनोपराग-त्वात् परमभट्टारकमहादेवाधिदेवपरमेश्वरार्हत्सिद्धसाधुश्रद्धाने समस्तभूतग्रामानुकम्पाचरणे च प्रवृत्तः शुभ उपयोगः।।१५७।।

एवं शुभाशुभशुद्धोपयोगत्रयस्य सामान्यकथनरूपेण द्वितीयस्थले गाथाद्वयं गतम्। अथ विशेषेण शुभोपयोगस्वरूपं व्याख्याति - **जो जाणादि जिणिंदे** यः कर्ता जानाति। कान्। अनन्तज्ञानादि-चतुष्टयसहितान् क्षुधाद्यष्टादशदोषरहितांश्च जिनेन्द्रान्। **पेच्छदि सिद्धे** पश्यति। कान्। ज्ञानावरणाद्यष्टकर्मरहितान्सम्यक्त्वाद्यष्टगुणान्तर्भूतानन्तगुणसहितांश्च सिद्धान्। **तहेव अणगारे** तथैवानागारान्। अनागारशब्दवाच्यान्निश्चयव्यवहारपञ्चाचारादियथोक्तलक्षणा-नाचार्योपाध्यायसाधून्। **जीवेसु साणुकंपो** त्रसस्थावरजीवेषु सानुकम्पः सदयः। **उवओगो सो सुहो** स इत्थंभूत उपयोगः शुभो भण्यते। स च कस्य भवति। **तस्स** तस्य पूर्वोक्तलक्षणजीवस्येत्यभिप्रायः।।१५७।।

अब, शुभोपयोग का स्वरूप कहते हैं—

जो जानता अरु श्रद्धता, जिनदेव-सिद्ध-अनगार को।
जो सानुकम्प जीवों प्रति, उपयोग शुभ उस आत्म को॥

अन्वयार्थ - **[यः]** जो **[जिनेन्द्रान्]** जिनेन्द्रों को **[जानाति]** जानता है, **[सिद्धान् तथैव अनागारान्]** सिद्धों तथा अनागारों की (आचार्य, उपाध्याय और सर्व

साधुओं की) **[पश्यति]** श्रद्धा करता है, **[जीवेषु सानुकम्पः]** और जीवों के प्रति अनुकम्पायुक्त है, **[तस्य]** उसके **[सः]** वह **[शुभः उपयोगः]** शुभ उपयोग है।

टीका – विशिष्ट (विशेष प्रकार की) क्षयोपशमदशा में रहनेवाले दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीयरूप पुद्गलों के अनुसार परिणति में लगा होने से शुभ उपराग[१] का ग्रहण किया होने से, जो (उपयोग) परम भट्टारक महा देवाधिदेव, परमेश्वर ऐसे अरहन्त, सिद्ध और साधु की श्रद्धा करने में तथा समस्त जीवसमूह की अनुकम्पा का आचरण करने में प्रवृत्त है, वह शुभोपयोग है ॥१५७॥

प्रवचन नं. १६४ का शेष असोज शुक्ल १५ शुक्रवार, ५ अक्टूबर १९७९

अब, शुभोपयोग का स्वरूप कहते हैं— (अर्थात्) शुभ किसे कहना?

जो जाणादि जिणिंदे पेच्छदि सिद्धे तहेव अणगारे।
जीवेसु साणुकंपो उवओगो सो सुहो तस्स।।१५७।।

जो जानता अरु श्रद्धता, जिनदेव-सिद्ध-अनगार को।
जो सानुकम्प जीवों प्रति, उपयोग शुभ उस आत्म को॥

परद्रव्य! आहा...हा...! '**वंदित्तु**' में तो ऐसा कहा, प्रभु! अनन्त सिद्धों को स्थाप! यह विकल्पसहित की बात है, फिर इसकी दृष्टि जब (द्रव्य) पर जाती है अर्थात् निर्विकल्प होता है। परद्रव्य को स्थापता है, वहाँ अभी लक्ष्य पर के ऊपर है। आहा...हा...! परन्तु उन्हें स्थापकर, अल्पज्ञ में सर्व सिद्धों को जहाँ पधराया... आहा...हा...! वह पर्याय द्रव्य के प्रति ढल जाती है। आहा...हा...! है विकल्पसहित; परद्रव्य का स्थापन है न? स्वद्रव्य का स्थापन नहीं। आहा...हा...! यहाँ यह कहते हैं न? 'जिनों को जाने, सिद्धों को जानें...' यह आया या नहीं? पर्याय में सिद्ध को स्थापित करे। आहा...हा...! **वंदित्तु** (कहा) यह आदर किया। अनन्त सिद्धों को पर्याय में स्थापित करता है, वहाँ आदर किया। आहा...हा...! परन्तु है वह विकल्प। आहा...हा...! अनन्त सिद्ध को पर्याय में स्थापित किया! अब तू सिद्ध समान समदृष्टि कर और अब सुन! आहा...हा...!

१. उपराग का अर्थ गाथा १२६ के टिप्पण में देखें।

यहाँ कहते हैं कि जो जिनों को जाने, सिद्ध को श्रद्धे; पहले जाने लिया। भाषा तो वह की वही है, **श्रद्धे सिद्ध को, अनगार को** (अर्थात्) मुनियों को — निर्ग्रन्थ मुनियों की श्रद्धा करे। लो! देव, गुरु और शास्त्र की श्रद्धा! अरिहन्त को, सिद्ध को, और अनगार को। अनगार में आचार्य, उपाध्याय, साधु सब आ जाते हैं और **सानुकम्पा जीवो प्रति** — जीव के प्रति अनुकम्पा का विकल्प उत्पन्न होना। आहा...हा...! **उपयोग है शुभ उसको।** उसे शुभ उपयोग है। वह शुभ उपयोग नये पुण्यबन्ध के संयोग का कारण है। गजब बात भाई! यह वार्ता नहीं प्रभु! यह कथा नहीं! यह तो तीन लोक के नाथ का हृदय है!! आहा...हा...! आज शुरुआत से गाथा ली, तब से अन्दर से यह आया!

टीका - विशिष्ट (विशेष प्रकार की) क्षयोपशमदशा में रहनेवाले दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीयरूप पुद्गलों के अनुसार परिणति में लगा होने से शुभ उपराग का ग्रहण किया होने से,.... यहाँ जरा डाला, देखा? **विशिष्ट (विशेष प्रकार की) क्षयोपशमदशा में रहनेवाले दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीयरूप पुद्गलों के अनुसार परिणति में लगा होने से शुभ उपराग का ग्रहण....** है। पहले में इनकार किया था। चैतन्य का अनुसरण करके (कहा था), अब यहाँ यह कहा। ज्ञान कराते हैं।

क्षयोपशमदशा में रहनेवाले दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीयरूप पुद्गलों के अनुसार परिणति में लगा होने से.... पुद्गल अनुसार परिणति में लगा हुआ होने से। (पहले में कहा) चैतन्य को अनुसरण कर होनेवाला शुभ उपयोग। आहा...हा...! शुभ उपयोग ग्रहण किया है। उपराग का अर्थ २४८ वें पृष्ठ पर पद टिप्पण में देखो।

जो (उपयोग) परम भट्टारक महा देवाधिदेव, परमेश्वर ऐसे अरहन्त,... आहा...हा...! पाठ में **जाने जिनों को** ऐसा था। इसमें लिया - श्रद्धा करे। है? **परम भट्टारक महा देवाधिदेव, परमेश्वर ऐसे अरहन्त, सिद्ध और साधु की श्रद्धा करने में....** देखा? पहले ऐसा कहा था। **जाने जिनों को जो श्रद्धे सिद्ध को पेच्छदि... पेच्छदि** शब्द (है न)? मूल तो यह कहना है। परद्रव्य है, उसे श्रद्धता है! आहा...हा...! **वह शुभोपयोग है।** विशेष कहेंगे।●

गाथा - १५८

अथाशुभोपयोगस्वरूपं प्ररूपयति -

विसयकसाओगाढो दुस्सुदिदुच्चित्तदुट्ठगोट्ठिजुदो।
उग्गो उम्मग्गपरो उवओगो जस्स सो असुहो।।१५८।।

विषयकषायावगाढो दुःश्रुतिदुश्चित्तदुष्टगोष्ठियुतः।
उग्र उन्मार्गपर उपयोगो यस्य सोऽशुभः।।१५८।।

विशिष्टोदयदशाविश्रान्तदर्शनचारित्रमोहनीयपुद्गलानुवृत्तिपरत्वेन परिगृहीताशोभनोपरात्वात्परमभट्टारकमहादेवाधिदेवपरमेश्वरार्हत्सिद्धसाधुभ्योऽन्यत्रोन्मार्गश्रद्धाने विषयकषायदुःश्रवणदुराशयदुष्टसेवनोग्रताचरणे च प्रवृत्तोऽशभोपयोगः।।१५८।।

अथाशुभोपयोगस्वरूपं निरूपयति-**विसयकसाओगाढो** विषयकषायावगाढः। **दुस्सुदिदुच्चित्तदुट्ठगोट्ठिजुदो** दुःश्रुतिदुश्चित्तदुष्टगोष्ठियुतः। **उग्गो** उग्रः। **उम्मग्गपरो** उन्मार्गपरः। **उवओगो** एवं विशेषणचतुष्टययुक्त उपयोगः परिणामः **जस्स** यस्य जीवस्य भवति **सो असुहो** स उपयोगस्त्वशुभो भण्यते, अभेदेन पुरुषो वा। तथाहि - विषयकषायरहितशुद्धचैतन्यपरिणतेः प्रतिपक्षभूतो विषयकषायावगाढो विषयकषायपरिणतः। शुद्धात्मतत्त्वप्रतिपादिका श्रुतिः सुश्रुतिस्त-द्विलक्षणा दुःश्रुतिः मिथ्याशास्त्रश्रुतिर्वा; निश्चिन्तात्मध्यानपरिणतं सुचितं, तद्विनाशकं दुश्चित्तं, स्वपरनिमित्तेष्टकामभोगचिन्तापरिणतं रागाद्यपध्यानं वा; परमचैतन्यपरिणतेर्विनाशिका दुष्टगोष्ठी, तत्प्रतिपक्षभूतकुशीलपुरुषगोष्ठी वा। इत्थंभूतदुःश्रुतिश्चित्तदुष्टगोष्ठीभिर्युतो दुःश्रुतिदुश्चित्तदुष्टगोष्ठियुक्तः। परमोशमभावपरिणतपरमचैतन्यस्वभावात्प्रतिकूलः उग्रः। वीतरागसर्वज्ञप्रणीतनिश्चयव्यवहारमोक्षमार्गा-द्विलक्षण उन्मार्गपरः। इत्थंभूतविशेषणचतुष्टयसहित उपयोगः परिणामः तत्परिणतपुरुषो वेत्यशुभोपयोगो भण्यत इत्यर्थः।।१५८।।

अब, अशुभोपयोग का स्वरूप कहते हैं —

कुविचार-कुश्रुत-कुसंग अरु, जो विषय-कषाय निमग्न है।
जो उग्र अरु उन्मार्गगामि, उसका अशुभ उपयोग है॥

अन्वयार्थ - [**यस्य उपयोगः**] जिसका उपयोग [**विषयकषायावगाढ़ः**] विषय-कषाय में अवगाढ़ (मग्न) है, [**दुःश्रुतिदुश्चित्तदुष्टगोष्टियुतः**] कुश्रुति, कुविचार और कुसंगति में लगा हुआ है, [**उग्रः**] उग्र है तथा [**उन्मार्गपरः**] उन्मार्ग में लगा हुआ है, [**सः अशुभः**] उसका वह अशुभोपयोग है।

टीका - विशिष्ट उदयदशा में रहनेवाले दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीयरूप पुद्गलों के अनुसार परिणति में लगा होने से अशुभ उपराग को ग्रहण करने से, जो (उपयोग) परम भट्टारक, महा देवाधिदेव, परमेश्वर ऐसे अरहन्त, सिद्ध और साधु के अतिरिक्त अन्य - उन्मार्ग की — श्रद्धा करने में तथा विषय, कषाय, कुश्रवण, कुविचार, कुसंग और उग्रता का आचरण करने में प्रवृत्त है, वह अशुभोपयोग है ॥१५८॥

प्रवचन नं. १६५ असोज कृष्ण १ शनिवार, ६ अक्टूबर १९७९

प्रवचनसार, १५८ (गाथा)। **अब, अशुभोपयोग का स्वरूप....** (प्ररूपित करते हैं)।

विसयकसाओगाढो दुस्सुदिदुच्चित्तदुट्ठगोट्ठिजुदो।
उग्गो उम्मग्गपरो उवओगो जस्स सो असुहो।।१५८।।

कुविचार-कुश्रुत-कुसंग अरु, जो विषय-कषाय निमग्न है।
जो उग्र अरु उन्मार्गगामि, उसका अशुभ उपयोग है॥

पहले शुभ उपयोग की व्याख्या आ गयी। वस्तुतः तो इस शुभ उपयोग और अशुभ उपयोग से रहित, वही भूतार्थ का आश्रय है परन्तु अब सीधी बात करते हैं, क्योंकि ज्ञायकभाव है, वह किसी शुभ-अशुभरूप नहीं हुआ है और जब ज्ञायकभाव की दृष्टि होती है, तब शुभ-अशुभभाव है नहीं, क्योंकि ज्ञायकभाव, शुभ-अशुभरूप हुआ नहीं; इसलिए जहाँ ज्ञायकभाव की दृष्टि हुई, तब दृष्टि में शुभ-अशुभ (भाव) नहीं रहते। ऐसी बात है परन्तु अब क्या हो ? आहा...हा... !

तीन (प्रकार का) उपयोग है तो शुभ-अशुभ उपयोग है, उसरूप ज्ञायक त्रिकाली

स्वभाव को हुआ नहीं। जब ज्ञायक की दृष्टि होती है, तब कौन सा उपयोग है ? ऐसा है परन्तु अब क्या हो ? लोग विवाद करते हैं न ! आहा...हा... ! वस्तुस्थिति ऐसी है, भाई ! न्याय से इसे पकड़ना चाहिए न ? क्योंकि यह शुभ और अशुभ की व्याख्या है। उस शुभ-अशुभ उपयोगस्वरूप, ज्ञायकभाव-चैतन्यस्वरूप नहीं है; अतः जब चैतन्यस्वरूप की दृष्टि होती है, तब शुभ-अशुभ तो पर्याय में नहीं रहते। आहा...हा... ! वास्तव में तो वह शुद्ध उपयोग भले ही जघन्य हो। सातवें में विशेष है, पाँचवें में है (उससे) सातवे (गुणस्थान में) विशेष है। ऐसा है परन्तु अब.... यहाँ तो शुभ और अशुभ उपयोग की व्याख्या करते हैं। फिर १५९ (गाथा में) शुभ-अशुभरहित की व्याख्या आयेगी।

टीका - विशिष्ट उदयदशा में रहनेवाले दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीयरूप पुद्गलों के अनुसार परिणति में लगा होने से.... आहा...हा... ! पहले ऐसा कहा था कि चैतन्य-अनुसारी परिणाम। शुभ, अशुभ और शुद्ध तीनों ही (चेतन-अनुसारी परिणाम कहे थे)। चैतन्य को अनुसरण करके होनेवाले (कहे थे), यह निश्चय सिद्ध किया। अब यहाँ आगे पुद्गल का आश्रय है, यह व्यवहार से बात करते हैं। आहा...हा... ! है ?

विशिष्ट उदयदशा में रहनेवाले दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीयरूप पुद्गलों के अनुसार.... है न भाषा ? उसमें भी चैतन्य-अनुसारी परिणाम ऐसा था। समझ में आया ? कहाँ ? १५५ (गाथा) **उसमें, शुद्ध उपयोग निरुपराग (निर्विकार) है; अशुद्ध उपयोग सोपराग (सविकार) है।** है न ? १५५ में है। **अशुद्ध उपयोग सोपराग (सविकार) है।** है न ? आहा... ! और १५६ (गाथा में) ऐसा कहा कि **जहाँ उभय नहीं संचय नहीं** (अर्थात्) शुभ-अशुभ नहीं, वहाँ कर्म का आना नहीं। अतः इसका अर्थ यह कि जितने अंश में शुद्ध (उपयोग) है, उतने अंश में कर्म का आवरण नहीं है। यह मार्ग न्याय (युक्त) है परन्तु अब क्या हो ? आहा...हा... ! और १५६ में आ गया न ? कि **अशुद्ध उपयोग का अभाव किया जाता है, तब वास्तव में उपयोग शुद्ध ही रहता है...** १५६ (गाथा की) अन्तिम से तीसरी लाईन। आहा...हा... ! १५६ !

अशुद्ध उपयोग का अभाव... अशुद्ध अर्थात् शुभ-अशुभ। उनका **अभाव किया जाता है, तब वास्तव में उपयोग शुद्ध ही रहता है और वह तो परद्रव्य के**

संयोग का अकारण ही है (अर्थात् शुद्धोपयोग परद्रव्य के संयोग का कारण नहीं है) लो, परन्तु वह शुद्ध उपयोग ऊँचे सातवें (गुणस्थान का) लिया है।

प्रश्न : जितने अंश हो उतने अंश में....

पूज्य गुरुदेवश्री : यह नहीं (लिया)। (वरना) जितने (अंश में) शुद्ध है, उतने अंश में कर्म का संचय नहीं है। शुभाशुभभाव है, वह अशुद्ध उपयोग है। उस अशुद्ध उपयोगरहित शुद्ध उपयोग (हुआ), उतना द्रव्य में जाता है। आहा...! इसलिए उसे आंशिक बँधन नहीं है। इस कारण उसे अध्यात्म ग्रन्थ में सम्यग्दृष्टि को बंध नहीं है — ऐसा कहा है, वह इस अपेक्षा से (कहा है)। क्या अपेक्षा से (बात) है? मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी का जो बन्ध था, उस शुभाशुभभाव में मिथ्यात्व था परन्तु शुभाशुभभावरहित हुआ (वहाँ फिर वह बन्ध नहीं रहता) आहा...हा...! ज्ञायक चैतन्य शुद्धस्वरूप है और जिस उपयोग का शुद्ध (स्वरूप) ध्येय है, जिस उपयोग का शुद्ध ध्रुव आवलम्बन है; वह कारण है - शुद्ध उपयोग का वह द्रव्य कारण है। आहा...हा...! इसलिए वह शुद्ध उपयोग बन्ध का कारण नहीं है।

यहाँ कहते हैं कि **विशिष्ट उदयदशा में रहनेवाले दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीयरूप पुद्गलों के अनुसार परिणति....** देखा? आहा...हा...! १५५ (गाथा में) आया था — **चैतन्य अनुविधायी परिणाम...** है? यह तो शान्ति से समझने जैसी बात है, बापू! है? १५५ (गाथा की टीका की) दूसरी लाईन। **चैतन्य अनुविधायी परिणाम...** (अर्थात् शुभ-अशुभ और शुद्ध) ये तीनों। है? यह पुस्तक अलग प्रकार की है? यह भगवान की बहियाँ हैं! चैतन्य अनुविधायी परिणाम उपयोग (कहा) तो वहाँ तो शुद्ध और अशुद्ध दोनों चैतन्य को अनुसरण करके होनेवाले कहा है। यह निश्चय से है।

अब यहाँ कहा है कि **(विशिष्ट उदयदशा में रहनेवाले) दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीयरूप पुद्गलों के अनुसार परिणति में लगा होने से....** अपने यह चलता है। यह... १५८ (गाथा) आहा...हा...! किस अपेक्षा से है (उसे) जानना चाहिए न? दोनों वचन अमृतचन्द्राचार्यदेव के हैं। आहा...! आहा...हा...! **दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीयरूप पुद्गलों के अनुसार....** देखा? उसमें चैतन्य-अनुसारी परिणाम

कहा था। शुभ-अशुभ को भी (चैतन्य अनुसारी कहा था वह) निश्चय से था। यहाँ तो उसका लक्ष्य पुद्गल को अनुसरण करता है, इस बात को लेकर अशुभ परिणाम कहे। आहा...हा...! ऐसी बातें अब!

पुद्गलों के अनुसार परिणति में लगा होने से अशुभ उपराग को ग्रहण करने से,.... अशुभ-मलिनता होने से... आहा...हा...! **जो (उपयोग) परम भट्टारक, महा देवाधिदेव, परमेश्वर ऐसे अरहन्त, सिद्ध और साधु के अतिरिक्त अन्य - उन्मार्ग की — श्रद्धा करने में....** देखा? मिथ्यात्व अशुभ है न? आहा...हा...! **परम भट्टारक,** देवाधिदेव **महा देवाधिदेव, परमेश्वर ऐसे अरहन्त, सिद्ध और साधु....** अर्थात् पाँच परमेष्ठी। इनके अतिरिक्त **अन्य - उन्मार्ग की — श्रद्धा करने में....** आहा...हा...! **तथा विषय,...** यह अशुभ की बात करते हैं। आहा...हा...! मिथ्यात्वसहित के अशुभ की बात होती है। समझ में आया?

उसमें कहा न? वह पहले बताया कि जघन्य अन्तरात्मा सम्यग्दृष्टि अशुभलेश्यावाला। अशुभलेश्या है परन्तु उसे जघन्य में गिना। जरा शुभलेश्या और शुभभाव होवे तो जघन्य से जरा आगे है — ऐसा कि शुभभाव में थोड़ा आश्रय बढ़ा है। भाई! समझ में आया? आहा...हा...! सम्यग्दृष्टि है, उसका आश्रय तो द्रव्य है परन्तु अशुभलेश्या के समय जो आश्रय है, उसकी अपेक्षा शुभभाव के समय आश्रय थोड़ा बढ़ा है। शुभभाव के कारण नहीं परन्तु शुभभाव में अशुभपना नहीं, इतना जरा आश्रय बढ़ा है। इस कारण उसे-अशुभलेश्यावाले समकिती को जघन्य अन्तरात्मा कहा है। आहा...हा...! वीतराग ज्ञान बहुत सूक्ष्म, बापू! आहा...हा...!

यहाँ यह कहते हैं कि परम त्रिलोकनाथ, परम भट्टारक पूज्य प्रभु **महा देवाधिदेव, परमेश्वर ऐसे अरहन्त, सिद्ध और साधु के अतिरिक्त अन्य - उन्मार्ग की — श्रद्धा करने में....** आहा...हा...! **तथा विषय, कषाय, कुश्रवण,...** आहा...हा...! कुश्रवण यह अशुभ उपयोग का कारण (कहा)। आहा...हा...! है? १५८ (गाथा) **दुःश्रुति** (अर्थात्) मिथ्याशास्त्र श्रुति। संस्कृत (गाथा में) है। आहा...हा...! **कुविचार,...** अपने स्वभाव का विचार छोड़कर कुविचार। मिथ्याश्रद्धा और फिर कुश्रवण तथा कुविचार! आहा...हा...! और **कुसंग।**

और उग्रता का आचरण करने में प्रवृत्त है,.... उग्रता आचरण में प्रवृत्त है। **वह अशुभोपयोग है।** आहा... ! आहा...हा... ! यहाँ मिथ्यादृष्टि का लिया है। समझ में आया ? जघन्य अन्तरात्मा है, वहाँ अशुभलेश्या ली है परन्तु वहाँ कुदेव-कुगुरु की श्रद्धा नहीं है, वहाँ समकितसहित है परन्तु समकिती को भी जरा अशुभलेश्या आती है।

मुमुक्षु : अशुभलेश्या के अन्तिम भाग में सम्यग्दर्शन होता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : वह अशुभलेश्या है तो शुभ; अन्तिम भाग है वह (शुभ है)। (अशुभ) कहा है परन्तु अन्तिम भाग शुभ है — ऐसा कहा जाता है। वहाँ नारकी में तीन लेश्याएँ हैं न ? नारकी में तीन बुरी लेश्याएँ हैं और समकित होता है। सातवें नरक में ! अन्तिम जरा मन्दभाव होता है। सातवें नरक में, हाँ ! वहाँ तो अत्यन्त कृष्ण लेश्या है, तथापि वह परमात्मस्वरूप ज्ञायकभाव की अन्तर्दृष्टि करता है, जरा लेश्या में है, तथापि सम्यग्दर्शन होता है। आहा...हा... ! उससे (अशुभ से) लक्ष्य हट जाता है, उसकी भूमिका में भले हो परन्तु लक्ष्य हट जाता है। लक्ष्य जाता है पूर्ण स्वरूप भगवान पूर्णानन्द का नाथ है, वहाँ लक्ष्य-दृष्टि जाती है। इस कारण उसे ऐसी लेश्या के स्थान में भी सम्यग्दर्शन होता है। आहा...हा... ! अरे...रे... !

इतने बोल लिये (हैं) पंच परमेष्ठी के सिवाय अन्य मार्ग की श्रद्धा **विषय-कषाय, कुश्रवण, कुविचार, कुसंग और उग्रता का आचरण करने में प्रवृत्त है, वह अशुभोपयोग है।** सम्यग्दृष्टि (को) अशुभ (उपयोग) है, वह यहाँ नहीं गिना है। भाई ! क्या कहा ? समझ में आया ? आहा...हा... ! क्योंकि सम्यग्दृष्टि को चौथे से छठवें तक शुभ की प्रधानता गिनी है। पहले (गुणस्थान से) तीन तक शुभ की तारतम्यता से (पहले में) मिथ्यात्व में अशुभ है, उससे कुछ कम अशुभ दूसरे में और (उससे) कम अशुभ तीसरे में (गिनने में आया है) और चौथे में शुभ गिना है। आहा...हा... ! इस कारण (लोग) कहते हैं न कि वहाँ शुद्ध उपयोग नहीं होता... परन्तु यह तो मुख्यता से बात की है प्रभु ! आहा...हा... ! पहले गुणस्थान में अशुभ कहा है तो (क्या वहाँ) शुभ नहीं है ? दृष्टि मिथ्या है तो इस अपेक्षा से उसे मुख्यरूप से अशुभ कहा गया है। आहा...हा... ! उसी प्रकार चौथे, पाँचवें में उपयोग अन्दर में होता है, फिर भी उसकी मुख्यता न गिनकर शुभ

उपयोग की मुख्यता करके (सम्यग्दृष्टि) शुभ में है — ऐसा कहा है। आहा...हा...!

यहाँ तो अशुभ को इसमें ही (मिथ्यादृष्टि में ही) डाला है। सम्यग्दृष्टि का अशुभ उपयोग इसमें नहीं डाला है। भाई! आहा...हा...! क्योंकि मुख्य शुभ गिना है न? (इसलिए) आहा...हा...! वरना तो रौद्रध्यान भी होता है परन्तु दृष्टि का जोर है न, और भगवान पूर्णानन्द का जहाँ आश्रय है न, और... आहा...हा...! परमात्मा के पक्ष में चढ़ा है न, और इस कारण उसके अशुभ को भी शुभ में गिन लिया है और दूसरे प्रकार से सम्यग्दृष्टि को अशुभ आने पर भी भविष्य की आयु (अशुभ में) नहीं बँधती। तिर्यंच, मनुष्य समकिती होवे तो उसे वैमानिकदेव की ही आयु बँधती है, शुभभाव आवे तब बँधती है। आहा...हा...! समझ में आया? सूक्ष्म बहुत! इसके पहलू इतने अधिक जानना पड़ेंगे न प्रभु! आहा...हा...! संसार की पढ़ाई के और इसके (उसके) सब ज्ञान तो किया है। आहा...हा...! यह भगवान का-वस्तु का स्वरूप है, इसका ज्ञान कोई अलौकिक है। आहा...हा...!

मुमुक्षु : वस्तु के स्वरूप का अभ्यास करने से कोई वेतन नहीं देता।

पूज्य गुरुदेवश्री : बात सत्य है (दूसरे नौकरी में वेतन देते हैं) इसका वेतन कोई नहीं देता। आहा...हा...! अरे! इसके आत्मा को लाभ होता है, यह बड़ा वेतन है! बड़े से बड़ा लाभ है!! (दूसरा लाभ) कहाँ... धूल में महीने में दस हजार का वेतन-पन्द्रह हजार का वेतन... धूल है। अरे...रे...! बेचारे करोड़पति... भाई! जिसे सम्यग्दर्शन का भी पता नहीं और सत्संग आदि में जो सच्चा शुभभाव चाहिए, वह भी जिसे नहीं, एकाध घण्टे कुछ बात सुनने मिले और पुण्य बँधे परन्तु वह तो ऐरन की चोरी और सुई का दान है। कठिन काम, प्रभु! आहा...हा...!

अरे... यहाँ से कहाँ जाना है? भाई! यह देह तो छूट जायेगी। देह का काल-अवधि होती है, उतनी रहेगी और छूट जायेगी। तेरी अवधि कहीं इतनी नहीं है; तू तो अनादि अनन्त है न प्रभु! आहा...हा...! तो तुझे यहाँ से कहाँ जाना है? आहा...हा...! आहा...! इसे आत्मा की ओर के विचार (लेना) चाहिए। समझ में आया? फिर भले इसके विचार में किसी समय अशुभ भी हो।

एक तो यह गिना है, भाई! यह द्रव्यसंग्रह में! कि मुनि है न? प्रमत्तदशा में जब निद्रा

हो न, तो दु:स्वप्न भी आ जाये। द्रव्यसंग्रह में है भाई! समझ में आया? आहा...हा...! मुझे तो ऐसा विचार (आया) कि ऐसी दशा है परन्तु कोई मुनि है, छठवें गुणस्थान में है और चौथे से क्षायिक समकित हो परन्तु निद्रा में... सातवें में कितनी निद्रा होगी? थोड़ी। आहा...हा...! फिर भी द्रव्यसंग्रह में दु:स्वप्न गिना है! कोई दु:स्वप्न आवे। आहा...हा...! समझ में आया? उसमें कहीं है। द्रव्यसंग्रह में है। जहाँ प्रमत्त की व्याख्या की है न? (वहाँ है)। प्रमत्तपना है न? आत्मज्ञान है, अतीन्द्रिय आनन्द का अनुभव है, निरन्तर वेदन चालू है... आहा...हा...! परन्तु प्रमत्तयोग में निद्रा आ जाये, उसमें दु:स्वप्न आ जाता है। आहा...हा...! तथापि उसे वहाँ शुभयोग ही गिना है। छठवें को अशुभ नहीं गिना है। है न? मोक्षमार्गप्रकाशक में नहीं कहा? मुनि को अशुभ तो नहीं परन्तु धर्म के लोभी को देखकर जरा शुभभाव आता है, वह स्वयं के कारण (आता है।) आहा...हा...! यहाँ तो कहते हैं कि प्रमत्त में दु:स्वप्न आ जाता है। आहा...हा...! अन्दर कोई पूर्व के संस्कार हों (तो आ जाता है)।

छठवाँ गुणस्थान है, तीन कषाय का अभाव है, वीतरागता तो वर्तती है, तथापि जब प्रमत्त गुणस्थान में जरा खड़ा हो, तब निद्रा में आवे तब उसमें कोई दु:स्वप्न आ जाता है। आहा...हा...! जागृत (दशा में) तो अशुभ आने नहीं दे, अशुभ हो नहीं — ऐसा कहते हैं। भाई! आहा...हा...! परन्तु जरा निद्रा हो गयी और (दु:स्वप्न आ जाये) आहा...हा...! अरे! अन्दर कोई संस्कार है न! उसमें — द्रव्यसंग्रह में कहीं है... परन्तु उसे यहाँ अशुभ में नहीं गिना है — ऐसा मेरा कहना है। यहाँ तो कुदेव, कुगुरु, कुशास्त्र, की श्रद्धावाले को, उन्मार्ग की श्रद्धावाले को **विषय, कषाय, कुश्रवण, कुविचार, कुसंग और....** इस अशुभ में **उग्रता का आचरण करने में प्रवृत्त है, वह अशुभोपयोग है।** आहा...हा...!

●

गाथा - १५९

अथ परद्रव्यसंयोगकारणविनाशमभ्यस्यति -

असुहोवओगरहिदो सुहोवजुत्तो ण अण्णदवियम्हि।
होज्जं मज्झत्थोऽहं णाणप्पगमप्पगं झाए।।१५९।।

अशुभोपयोगरहितः शुभोपयुक्तो न अन्यद्रव्ये।
भवन्मध्यस्थोऽहं ज्ञानात्मकमात्मकं ध्यायामि।।१५९।।

यो हि नामायं परद्रव्यसंयोगकारणत्वेनोपन्यस्तोऽशुद्ध उपयोगः स खलु मन्दतीव्रोदयदशाविश्रान्तपरद्रव्यानुवृत्तितन्त्रत्वादेव प्रवर्तते, न पुनरन्यस्मात्। ततोऽहमेष सर्वस्मिन्नेव परद्रव्ये मध्यस्थो भवामि। एवं भवंश्चाहं परद्रव्यानुवृत्तितन्त्रत्वाभावात् शुभेनाशुभेन वाशुद्धोपयोगेन निर्मुक्तो भूत्वा केवलस्वद्रव्यानुवृत्तिपरिग्रहान् प्रसिद्धशुद्धोपयोग उपयोगात्मनात्मन्येव नित्यं निश्चलमुपयुक्तस्तिष्ठामि। एष मे परद्रव्यसंयोगकारणविनाशाभ्यासः।।१५९।।

अथ शुभाशभरहितशुद्धपयोगं प्ररूपयति-**असुहोवओगरहिदो** अशुभोपयोगरहितो भवामि। स कः **अहं** अहं कर्ता। पुनरपि कथंभूतः। **सुहोवजुत्तो ण** शुभोपयोगयुक्तः परिणतो न भवामि। क्व विषयेऽसौ शुभोपयोगः। **अण्णदवियम्हि** निजपरमात्मद्रव्यादन्यद्रव्ये। तर्हि कथंभूतो भवामि। **होज्जं मज्झत्थो** जीवितमरणलाभालाभसुखदुःखशत्रुमित्रनिन्दाप्रशंसादिविषये मध्यस्थो भवामि। इत्थंभूतः सन् किं करोमि। **णाणप्पगमप्पगं झाए** ज्ञानात्मकमात्मानं ध्यायामि। ज्ञानेन निवृत्तं ज्ञानात्मकं केवलज्ञानान्तर्भूतानन्तगुणात्मकं निजात्मानं शुद्धध्यानप्रतिपक्षभूत-समस्तमनोरथरूपचिन्ता-जालत्यागेन ध्यायामीति शुद्धोपयोगलक्षणं ज्ञातव्यम्।।१५९।।

अब, परद्रव्य के संयोग का जो कारण (अशुद्धोपयोग) उसके विनाश का अभ्यास बतलाते हैं —

मध्यस्थ हो परद्रव्य में अरु, शुभ-अशुभ से रहित मैं।
शुद्धोपयोग से युक्त हो, आत्मा-ज्ञानात्मक ध्याऊँ मैं।।

अन्वयार्थ - [**अन्यद्रव्ये**] अन्य द्रव्य में [**मध्यस्थः**] मध्यस्थ [**भवन्**] होता हुआ [**अहम्**] मैं [**अशुभोपयोगरहितः**] अशुभोपयोग रहित होता हुआ तथा [**शुभोपयुक्तः न**] शुभोपयुक्त नहीं होता हुआ [**ज्ञानात्मकम्**] ज्ञानात्मक [**आत्मकं**] आत्मा को [**ध्यायामि**] ध्याता हूँ।

टीका - जो यह, (१५६ वीं गाथा में) परद्रव्य के संयोग के कारणरूप में कहा गया अशुद्धोपयोग है, वह वास्तव में मन्द-तीव्र उदयदशा में रहनेवाले परद्रव्यानुसार परिणति के आधीन होने से ही प्रवर्तित होता है, किन्तु अन्य कारण से नहीं। इसलिए यह मैं समस्त परद्रव्य में मध्यस्थ होऊँ और इस प्रकार मध्यस्थ होता हुआ मैं परद्रव्यानुसार परिणति के आधीन न होने से शुभ अथवा अशुभ ऐसा जो अशुद्धोपयोग, उससे मुक्त होकर, मात्र स्वद्रव्यानुसार परिणति को ग्रहण करने से जिसको शुद्धोपयोग सिद्ध हुआ है — ऐसा होता हुआ, उपयोगात्मा द्वारा (उपयोगरूप निज स्वरूप से) आत्मा में ही सदा निश्चलरूप से उपयुक्त रहता हूँ। यह मेरा परद्रव्य के संयोग के कारण के विनाश का अभ्यास है ॥१५९॥

प्रवचन नं. १६५ का शेष असोज कृष्ण १ शनिवार, ६ अक्टूबर १९७९

अब, परद्रव्य के संयोग का जो कारण (अशुद्धोपयोग), उसके विनाश का अभ्यास बतलाते हैं। लो! आहा...हा...! यह तो बहुत निवृत्तिवालों का काम है, बापू! आहा...हा...! निवृत्ति लेकर उसका अभ्यास (करना चाहिए)। (अभी तो) बाहर की निवृत्ति, हाँ! अन्दर की निवृत्ति अलग बात है। बाहर की प्रवृत्ति में यह विचार कहाँ करे? आहा...हा...! १५९ (गाथा)

असुहोवओगरहिदो सुहोवजुत्तो ण अण्णदवियम्हि।
होज्जं मज्झत्थोऽहं णाणप्पगमप्पगं झाए।।१५९।।

मध्यस्थ हो परद्रव्य में अरु, शुभ-अशुभ से रहित मैं।
शुद्धोपयोग से युक्त हो, आत्मा-ज्ञानात्मक ध्याऊँ मैं॥

(मध्यस्थ हो परद्रव्य में) ऐसे परद्रव्य में मध्यस्थ होता हुआ, स्वद्रव्य में लीन होने पर-इसका अर्थ आया न? भाई! आहा...हा...!

टीका - जो यह, (१५६ वीं गाथा में) परद्रव्य के संयोग के कारणरूप में कहा गया अशुद्धोपयोग है, वह वास्तव में मन्द-तीव्र उदयदशा में रहनेवाले परद्रव्यानुसार परिणति के आधीन होने से ही प्रवर्तित होता है,.... पहले ऐसा कहा कि चैतन्य को अनुसरकर प्रवृत्त होता है। यहाँ बतलाया कि परद्रव्य का लक्ष्य (करता) है न? आहा...हा...! जितना शुभ-अशुभ होता है, वह परद्रव्य का लक्ष्य है। स्वद्रव्य के लक्ष्य से वे नहीं होते। आहा...हा...! ऐसा उपदेश! गजब बात है! प्रभु! वीतराग सर्वज्ञ परमेश्वर की शैली ही कोई अलौकिक है! उसकी शुभ-अशुभ को समझाने की शैली भी अलग!! आहा...हा...!

कहते हैं कि **अशुद्धोपयोग है, वह वास्तव में मन्द-तीव्र उदयदशा में रहनेवाले....** मन्द में शुभ और तीव्र में अशुभ **परद्रव्यानुसार....** परद्रव्य अनुसार (होता है), स्वद्रव्य अनुसार तो शुभ-अशुभ होता नहीं। पहले यह तो कहा कि चैतन्य के आश्रय से चैतन्य में होता है, उसमें पर का कोई कारण नहीं। यह बतलाने के लिए चैतन्य अनुविधायी परिणाम उपयोग (कहा था)। आहा...!

यहाँ कहते हैं कि शुभ और अशुभभाव, परद्रव्य का अनुसरण करते हैं। स्वद्रव्य भगवान आत्मा का अनुसरण छोड़कर... आहा...हा...! **परद्रव्यानुसार परिणति के आधीन होने से....** उस पर्याय को **आधीन होने से ही प्रवर्तित होता है,....** शुभाशुभभाव। आहा...हा...! दूसरे प्रकार से कहें तो परद्रव्य से शुभाशुभ नहीं होता परन्तु परद्रव्य का अनुसरण करने से होता है। आहा...हा...!

यह तो अपने आ गया न? भाई! (समयसार गाथा २६५) **वत्थुं पडुच्च** अध्यवसाय का आश्रय वस्तु है परन्तु वस्तु बन्ध का कारण नहीं है। आहा...हा...! क्या शैली! समझ में आया? शुभाशुभपरिणाम की एकताबुद्धि का आश्रय परद्रव्य है, वहाँ लक्ष्य जाता है, तथापि उस परद्रव्य का आश्रय होने पर भी परद्रव्य बन्ध का कारण नहीं है। परद्रव्य का आश्रय भी बन्ध का कारण और परद्रव्य (भी) बन्ध का कारण (ऐसे) दो बन्ध के कारण — ऐसा नहीं हैं। आहा...हा...!

यह बात यहाँ कहते हैं। **परद्रव्यानुसार परिणति के आधीन होने से....** यह शुभाशुभभाव (की) जो परिणति (है वह) परद्रव्य के आश्रय से (होती) है। **किन्तु अन्य कारण से नहीं।....** आहा...! यह परद्रव्य के आश्रय से है, दूसरा कोई कारण नहीं है। आहा...हा...! अस्ति-नास्ति की है, यह अनेकान्त है। आहा...हा...!

इसलिए यह मैं समस्त परद्रव्य में मध्यस्थ होऊँ... आहा...हा...! धर्मात्मा ऐसा कहता है, मुनिराज ऐसा कहते हैं कि मैं तो समस्त परद्रव्यों में मध्यस्थ हूँ, चाहे तो अरिहन्त और सिद्ध परमेश्वर हो परन्तु वे परद्रव्य हैं। आहा...हा...! उसमें मैं तो मध्यस्थ होता हूँ। मध्यस्थ (अर्थात्) वीतरागभावरूप होता हूँ। प्रतिकूल चीजों का लक्ष्य करके अशुभ हो — ऐसा परद्रव्य का मेरा लक्ष्य नहीं है। परद्रव्य का लक्ष्य छोड़कर... आहा...हा...! मैं शुभ-अशुभ में मध्यस्थ हूँ। आहा...हा...! अभ्यस्त होऊँ। **यह मैं मध्यस्थ होऊँ....** आहा...हा...! **और इस प्रकार मध्यस्थ होता हुआ मैं....** और इस प्रकार शुभाशुभ से मध्यस्थ होता हुआ मैं परद्रव्य अनुसार से रहित होता हुआ। आहा...हा...! **परद्रव्यानुसार परिणति के...** यह परद्रव्यानुसार (होनेवाली) जो शुभाशुभभाव की परिणति, आहा...हा...! (उसके) **आधीन न होने से....** धीरे से समझना, बापू! यह तो वीतराग का — तीन लोक के नाथ का उपदेश है, भाई! आहा...हा...! एक बारोठ बातें करे तो भी सुनने के लिए कितने लोग इकट्ठे होते हैं! (उसमें तो) विकथा और पाप होता है।

'मूली' में एक मकान में थे, वहाँ साथ में बारोठ (रहता था वह) रात में बराबर माँडता था बहुत लोग इकट्ठे होते ऐसी लगाता... ऐसी लगाता... ऐसी! उसे फिर (किसी ने) कहा कि बापू! हम यहाँ हैं, हम किसी दिन आते हैं (तो बन्द रखो) परन्तु उसे तो यह पैसे के लिए करना होता है। ठीक से ऐसे इकट्ठे करे बजाये, आहा...हा...!

यहाँ कहते हैं... आहा...हा...! परद्रव्य के अनुसार होनेवाले परिणाम से मैं मध्यस्थ होता हूँ, उससे रहित होता हूँ। आहा...हा...! ऐसा आधीन नहीं होने से — पर के आधीन नहीं होने से — **परद्रव्यानुसार परिणति के आधीन न होने से....** शुभाशुभ परिणाम के आधीन नहीं होने से **शुभ अथवा अशुभ ऐसा जो अशुद्धोपयोग...** शुभ अथवा अशुभ — ऐसा जो अशुद्धोपयोग **उससे मुक्त होकर,....** आहा...हा...! **मात्र स्वद्रव्यानुसार**

परिणति को ग्रहण करने से.... आहा...हा...! भले है परिणति, परन्तु है वह शुद्ध उपयोग। दो भाषा ली है न? देखो! केवल स्वद्रव्य-भगवान पूर्ण प्रभु! ऐसा ज्ञायक और पूर्णानन्द प्रभु! द्रव्यस्वभाव जो शुद्ध चैतन्यघन, शुद्धात्म ध्रुव, शुद्धात्म ध्रुव! आहा...हा...! उत्पाद-व्यय रहित... आहा...हा...! ऐसा शुद्धात्म ध्रुव... **मात्र स्वद्रव्यानुसार परिणति को ग्रहण करने से...** केवल स्वद्रव्य के अनुसार... आहा...हा...! मूल तो यहाँ मुनि है और इसलिए मुनिपने की सब बात की है। आहा...हा...!

यह तो सबेरे नहीं आया था? अध्यवसाय है, वह एकत्वबुद्धि है, वह मुनि को नहीं — ऐसा आया था। वह तो समकिती को (भी) नहीं है परन्तु यह बात वहाँ गौण है। मुनि है तो मुनिपने की मुख्यता से बात की है। अरे...रे! क्या हो परन्तु अब! समझ में आया? वरना पर की एकत्वबुद्धि मुनि को नहीं, वैसे ही समकिती को नहीं। पर की एकत्वबुद्धि, राग की एकत्वबुद्धि को मिथ्यात्व है। वहाँ तो बहुत (परिणाम) लिए थे। हिंसा के परिणाम, झूठ के परिणाम, चोरी के परिणाम, विषय के परिणाम, परिग्रह के परिणाम; फिर अहिंसा के परिणाम, सत्य के परिणाम, व्रत के परिणाम, ब्रह्मचर्य के परिणाम... आहा...हा...! शुभ, हाँ! और अपरिग्रह के परिणाम-ये दोनों शुभाशुभ परिणाम... आहा...हा...! (उनकी) एकत्बबुद्धि नहीं, वह मैं मुनि हूँ — ऐसा वहाँ लिया है। वास्तव में तो चौथे गुणस्थान में एकत्वबुद्धि है ही नहीं परन्तु मुख्यरूप से मुनि की व्याख्या की है।

इस प्रकार यहाँ दर्शन, ज्ञान और चारित्र प्राप्त मुनि की मुख्यता से बात की है। आहा...हा...! अरे...रे! ऐसा उपदेश! पहले तो ऐसा था - उपवास करो, रात्रिभोजन मत करो, व्रत करो, छह पर्व की ब्रह्मचर्य पालो, दूज-पंचमी-अष्टमी-ग्यारस — सीधासट था, भटकने का था, वह सब तो राग था। आहा...हा...!

यहाँ तो कहते हैं कि यह परद्रव्यानुसार होनेवाला जो राग, उससे हट जाना है और **स्वद्रव्यानुसार परिणति को ग्रहण करने से...** है तो पर्याय। स्वद्रव्य, केवल स्वद्रव्य, अकेला स्वद्रव्य। आहा...हा...! जहाँ परद्रव्य की लेश भी गन्ध नहीं है। तीन लोक के नाथ अरिहन्त और सिद्ध उनका भी जहाँ लक्ष्य नहीं है। आहा...हा...! **मात्र स्वद्रव्य....** ऐसा लिया न? इसलिए कोई अरिहन्त परद्रव्य, परमेष्ठी का परद्रव्य भी नहीं। आहा...हा...!

उसमें ऐसा कहा है, दोनों जगह (कहा है कि) सभी द्रव्य शुद्ध हैं, इस अपेक्षा से उपादेय है। दूसरे में आया है न? द्रव्यसंग्रह में भी आया है और दूसरे में भी आया है और उसमें से भी पाँच परमेष्ठी वे उपादेय हैं; उनमें भी अरिहन्त और सिद्ध उपादेय हैं; उनमें भी सिद्ध उपादेय हैं, उनमें भी आत्मा उपादेय है, अन्त में ऐसा लिया है। उसमें आता है — द्रव्यसंग्रह में आता है (और) परमात्मप्रकाश में कहीं आता है। आहा...हा...! समझ में आया?

भगवान आत्माएँ सब परमात्मस्वरूप हैं! शुद्ध चैतन्यघन वह आत्मा है। रागादि है, वे तो पुण्य-पाप, आस्रव और बन्धतत्त्व हैं, वे आत्मतत्त्व नहीं हैं। आहा...हा...! सब परमात्मतत्त्व हैं। यह द्रव्यदृष्टि से द्रव्यस्वभाव को देखने पर समस्त द्रव्यस्वभाव उपादेय है, वे मेरे साधर्मी हैं। आहा...हा...! अभव्य का जीव भी द्रव्यस्वभाव से परमात्मा है, वह भी मेरा साधर्मी है। आहा...हा...! और सब भगवान-सभी आत्माएँ — ऐसे शुद्ध स्वरूप का श्रद्धा-ज्ञान करके पूर्णानन्द को पायें!! सभी आत्माएँ पायें!! आहा...हा...! भाई ने लिखा है न? आहा...हा...! कहते हैं यह पुस्तक तो स्थानकवासी में पढ़ा है। दशलक्षण की पुस्तक! सबेरे कोई कहता था। पढ़े... पढ़े, बेचारे पढ़े तो सही। अरे...रे! ऐसा कहाँ मिले? बापू! और इसे कहाँ जाना है? भाई! आहा...! कोई सहारा, कोई सखा कोई नहीं। आहा...हा...! शरण तो भगवान स्वद्रव्य के अनुसार (होना वह) शरण है। आहा...हा...!

टीका तो देखो! **मात्र स्वद्रव्य....** इसमें अब अरिहन्त और सिद्ध भी नहीं। उसमें ऐसा कहा है कि समस्त द्रव्य, भगवान है; इसलिए उपादेय है। वह तो द्रव्यस्वभाव शुद्ध चैतन्य है वह। समझ में आया? आहा...हा...! उसमें से निकालकर अन्त में आत्मा-शुद्ध आत्मा है, वह उपादेय है। आहा...हा...! **मात्र स्वद्रव्यानुसार....** वरना वहाँ तो चैतन्य अनुविधायी परिणाम — ऐसा कहा था। शुभाशुभ और शुभ तीनों में कहा था। भाई! किस अपेक्षा से कहा है? प्रभु! तेरी चैतन्य की लीला कोई अलौकिक है। आहा...हा...! कहाँ प्रसन्न होकर रुकना? आहा...हा...! कहाँ इसे परपदार्थ की विस्मयता लगकर रुक जाता है? इसका इसे पता नहीं है। आहा...हा...! विस्मयता तो परमात्मा स्वयं अनन्त गुण का नाथ, स्वयं अनन्त गुण का भण्डार, निधान (है, उसकी करने योग्य है) आहा...हा...!

मात्र स्वद्रव्य... अकेला स्वद्रव्य शब्द नहीं लिया। आहा...हा... ! परन्तु यह द्रव्य क्या है ? — इसका माहात्म्य नहीं आता। बाहर के माहात्म्य के समक्ष... आहा...हा... ! बाहर में नजर से दिखता है, दूसरे को भी दिखता है कि यह त्यागी है, इसने ऐसा किया है, इसने यह छोड़ा है परन्तु मिथ्यात्व छोड़ा है — इसका पता... आहा...हा... ! साधारण (लोगों को) नहीं पड़ता। इसलिए यह कठिन बात है।

यहाँ कहते हैं, **मात्र स्वद्रव्यानुसार परिणति को ग्रहण करने से जिसको शुद्धोपयोग सिद्ध हुआ है....** ठीक ! आहा...हा... ! पंचम काल के प्राणी भी ऐसा कहते हैं कि केवल शुद्ध उपयोग सिद्ध हुआ है ! ! आहा...हा... ! भले ही मुनि की प्रधानता से बात है परन्तु ऐसा नहीं कहते कि हमारे शुभ उपयोग ही है। आहा...हा... ! हम परद्रव्य के अनुसार (होनेवाले) शुभाशुभ परिणति से निवृत्त हुए हैं और स्वद्रव्य को अनुसरण कर — केवल स्वद्रव्य को अनुसरण कर हमारी परिणति है। आहा...हा... ! अरे...रे ! ऐसी बातें हैं।

भगवान विराजमान हैं, सर्वज्ञ परमात्मा त्रिलोकनाथ वीतराग, महाविदेह में साक्षात् विराजमान हैं। प्रभु ! आहा...हा... ! यह सब बातें प्रभु जानते हैं। आहा...हा... ! अकेली यह बात (आती है ऐसा) नहीं; तीन काल-तीन लोक की बात में यह सभी आती है। आहा...हा... !

प्रश्न : आप अभी व्याख्यान पढ़ते हो वह जानते हैं ?

समाधान : वे जानते हैं, भगवान जानते हैं। ज्ञान में तीन काल-तीन लोक ज्ञात हो, उसमें फिर यह बात तो कहाँ रह गयी ! आहा...हा... !

सर्वज्ञदेव परमेश्वर अरिहन्त त्रिलोकनाथ समवसरण में विराजमान हैं। आहा...हा... ! तीन काल-तीन लोक को जानते हैं, वे ऐसा कहते हैं कि तुझे जब ऐसा शुद्ध होना तो केवल स्वद्रव्य का आश्रय ले तो शुद्ध उपयोग होगा। आहा...हा... ! परद्रव्य का आश्रय लेगा तो शुभ-अशुभ होंगे। स्त्री, परिवार का आश्रय ले तो अशुभ (होगा), देव-गुरु-शास्त्र का आश्रय ले तो शुभ (होगा)। समझ में आये उतना समझना भाई ! ऐसा अवसर फिर से मिलना मुश्किल है भाई ! आहा...हा... ! सब अवसर आ गया है। आहा... ! दुनिया-दुनिया की जाने, तुझे कहाँ उसकी पड़ी है ! भूख लगी हो तो पहले स्वयं खा ले, फिर परोसने

निकले। पहले नाश्ता कर ले। घर का मालिक — ऐसा कहता है, थोड़ा ले लो फिर परोसना। आहा...हा...! यहाँ कहते हैं कि स्वद्रव्य के अनुसार तेरा भोग ले ले! अनुभव कर ले। आहा...हा...! जिसमें आनन्द की रकम पड़ी है! जिसमें शान्ति का सागर उछलता है! प्रभु में शान्ति (उछलती है) भाई! आहा...हा...! आहा...हा...! (यह भाई) दीक्षा लेनेवाले थे न? रह गये, बच गये। क्या हो?

वह बेचारा एक साधु आया था न? महाराष्ट्र का आया था न? (वह कहता था) अरे...रे! आप कहते हो तद्नुसार (हमारा साधुपना नहीं है) भाई! हम कहीं पर की बात नहीं (करते)। बापू! यह तो वस्तु का स्वरूप है। 'हम मुनि नहीं, हिन्दुस्तान में भावलिंगी मुनि नहीं' ऐसा वे कहते थे और ऐसा कहते थे कि अरे...रे! द्रव्यलिंग ले लिया (यह) हमारे पाप का उदय है, अब हमें सुनने के लिए रुकना हो तो रुक नहीं सकते, क्योंकि उन्हें व्यवस्था कौन दे? कौन दे? आहा...हा...! प्रतिबन्ध में पड़ गये। यहाँ बेचारे कहते थे। आहा...हा...! गृहस्थों को तो निवृत्ति लेकर सुनने का योग है या नहीं? उनको बेचारों को तो महीने-दो महीने रहना हो तो (रह नहीं सकते)। आहा...हा...!

यहाँ कहते हैं कि **मात्र स्वद्रव्यानुसार परिणति...** (परिणति अर्थात्) पर्याय, हाँ! (उसे) **ग्रहण करने से जिसको शुद्धोपयोग सिद्ध हुआ है....** देखो, यहाँ परिणति को शुद्धोपयोग कहा है। शुभ-अशुभ परिणति है, उससे रहित होकर केवल स्वद्रव्य के अनुसार परिणति है। परद्रव्य के अनुसार परिणति है, वह अशुद्ध उपयोग है। आहा...हा...! तो स्वद्रव्य के अनुसार है, (वह) भले थोड़ा है परन्तु शुद्ध उपयोग है। आहा...हा...! प्रभु!

(एक मुमुक्षु ने) बेचारे ने मँगाया था। (एक मुमुक्षु ने) मँगाया है कि आपको बहुत याद है इसलिए लिखो। पण्डितजी ने कहा हमें बहुत याद नहीं है (ऐसा लिखा था कि) चौथे (गुणस्थान में शुद्ध) उपयोग होता है — ऐसा लिखो। हमें तो याद नहीं, हमें तो याद भी नहीं, यह तो न्याय से कहते हैं। किस जगह है इतनी सब याद कहाँ है (कि) किस शास्त्र में है? न्याय में है। आहा...हा...! न्याय को समझे नहीं तो फिर उसे शास्त्राधार दो। शास्त्राधार में प्रभु! मुनि की प्रधानता से व्याख्यान है परन्तु चौथे-पाँचवें में कहाँ मुनिपने की व्याख्या है। लो न! (समयसार की) चौदह गाथा और पन्द्रह गाथा। **पस्सदि जिणसासणं**

सव्वं — शुद्ध उपयोग में गिना जाता है या अशुभ में गिना जाता है ? आहा...हा... ! पूर्णानन्द का नाथ अबन्धस्वरूप प्रभु अर्थात् मुक्तस्वरूप। यह तो फिर प्रश्न आया है न ? भाई ! मुक्तस्वरूपपना अनुभव करते हैं और बन्ध है, उसे भी अनुभव करते हैं। पीछे है, पीछे अन्त में कलश आता है। आहा...हा... ! भगवान मुक्तस्वरूप है, वैसे पर्याय में मुक्तरूप हम जानते हैं और ऐसा देखते हैं तो जरा भव का राग भी है, वह भी जानते हैं। आहा...हा... ! अमृतचन्द्राचार्यदेव के कलश में है। ओ...हो... ! अमृतचन्द्राचार्यदेव ने तो गजब काम किया है ! गजब काम किया है !! उन भाई ने कलश का नाम नहीं दिया ? अध्यात्म अमृत कलश ! लो ! अध्यात्म अमृत कलश ! वे फिर (वर्तमान मुनि को) मानते हैं और (वे मुनि) अमृतचन्द्राचार्यदेव को काष्ठासंघी कहते हैं। अरे...रे ! प्रभु... प्रभु ! क्या करता है ? क्योंकि परम सत्य को प्रसिद्ध करने की कड़क भाषा है, ढीली पोची (भाषा) वहाँ नहीं, आहा...हा... ! इस कारण उन्हें दूसरे संघ में डाल देना और उनके गुरु ने तो जयसेनाचार्यदेव (की टीका में से) समयसार बनाया है। अमृतचन्द्राचार्य में से नहीं। आहा...हा... ! वहाँ अपनी दृष्टि को पोषण मिले कि व्यवहार साधक है, निश्चय साध्य है। आहा...हा... ! अरे भगवान ! शुभ-अशुभ स्वयं साधक है ? शुभ साधक है, वह कहाँ आया ? आहा.. ! यह तो साधकपना प्रगट हुआ है, स्वद्रव्यानुसार परिणति हुई, पहले शुद्ध उपयोग (हुआ है) फिर भले शुद्ध परिणति रही उसमें जो कुछ शुभभाव होता है, उसे व्यवहार साधक का आरोप दिया है परन्तु अब करना क्या ? भाषा बोलती नहीं। भाषा में क्या भाव है ? — वह भाषा बोलती नहीं; इसलिए जिसका जो अभिप्राय हो, तद्नुसार भाषा का अर्थ करते हैं। आहा...हा... ! उसकी दृष्टि के अनुसार अपनी बुद्धि को ले जाना चाहिए। उसके बदले अपनी बुद्धि के अनुसार शास्त्र का अर्थ (करते हैं)। ऐसी बातें हैं भाई ! अनन्त काल से ऐसा (अर्थ) किया है। आहा...हा... !

यहाँ कहते हैं **स्वद्रव्यानुसार परिणति को ग्रहण करने से जिसको शुद्धोपयोग सिद्ध हुआ है....** आहा...हा... ! **ऐसा होता हुआ,....** (अर्थात्) शुद्ध उपयोगरूप होता हुआ। कौन ? मुनि कहते हैं, पंचम काल के साधु ! हजार वर्ष पहले ! आहा...हा... ! (कितने ही ऐसा कहते हैं कि) अभी पंचम काल में शुभ उपयोग ही है, शुद्ध (उपयोग)

नहीं। प्रभु! तुझे क्या होता है? **उपयोगात्मा द्वारा (उपयोगरूप निज स्वरूप से) आत्मा में ही सदा निश्चलरूप से....** आहा...हा...! भगवान शुद्ध चैतन्य भगवान पूर्ण पूर्णानन्द प्रभु! उस उपयोग द्वारा **(निज स्वरूप से) आत्मा में ही.... आत्मा में ही सदा निश्चलरूप से....** आहा...हा...! **सदा निश्चलरूप से....** आहा...हा...! **उपयुक्त रहता हूँ।....** आहा...हा...! धन्य मुनि! आहा...हा...! परन्तु लिखने के समय विकल्प है न प्रभु! (परन्तु) मेरा जोर शुद्ध उपयोग में है। आहा...हा...! समझ में आया?

सदा.... सदा में तो किसी समय भी मैं विकल्प में नहीं आता। आहा...हा...! मेरा ध्येय है, वहाँ मेरी दृष्टि लगी है। आहा...हा...! पूर्णानन्द का नाथ प्रभु! उसकी दृष्टि में — अनुभव में आया है तो **सदा निश्चलरूप से उपयुक्त रहता हूँ।....** आहा...हा...!

यह मेरा परद्रव्य के संयोग के कारण के विनाश का अभ्यास है। आहा...हा...! देखा? आहा...हा...! स्वद्रव्यानुसार होनेवाली परिणति — ऐसा जो शुद्ध उपयोग, वह परद्रव्य के संयोग के कारण के विनाश का अभ्यास है। आहा...हा...! शुभाशुभ में तो परद्रव्य की उत्पत्ति संयोग में स्वतन्त्र थी। यहाँ तो कहते हैं, परद्रव्य के विनाश का उस समय (काल है)। आहा...हा...! परद्रव्य बँधनेयोग्य ही नहीं है। आहा...हा...! भाषा तो क्या करे? **यह मेरा परद्रव्य के संयोग के कारण के विनाश का अभ्यास है।** आहा...हा...!

विशेष कहेंगे। ●

मूल वस्तु तो अन्दर में अलग है

चैतन्यदेव का सम्यग्दर्शन प्रगट करने के लिए पहले द्वार के रूप में अर्थात् निमित्तरूप में व्यवहाररूप में नव तत्त्व की श्रद्धा होती है, तथापि परमार्थ सम्यग्दर्शन तो एक अभेद तत्त्व की श्रद्धा से ही होता है, व्यवहारश्रद्धा तो वारदान के समान है; मूल वस्तु तो अन्दर में अलग है। *- पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी*

गाथा - १६०

अथ शरीरादावधि परद्रव्ये माध्यस्थं प्रकटयति -

णाहं देहो ण मणो ण चेव वाणी ण कारणं तेसिं।
कत्ता ण ण कारयिदा अणुमंता णेव कत्तीणं।।१६०।।

नाहं देहो न मनो न चैव वाणी न कारणं तेषाम्।
कर्ता न न कारयिता अनुमन्ता नैव कर्तृणाम्।।१६०।।

शरीरं च वाचं च मनश्च परद्रव्यत्वेनाहं प्रपद्ये; ततो न तेषु कश्चिदपि मम पक्षपातोऽस्ति, सर्वत्राप्यहमत्यन्तं मध्यस्थोऽस्मि। तथाहि - न खल्वहं शरीरवाङ्गनसां स्वरूपा-धारभूतमवेचेतनद्रव्यमस्मि; तानि खलु मां स्वरूपाधारमन्तरेणाप्यात्मनः स्वरूपं धारयन्ति। ततोऽहं शरीरवाङ्मनःपक्षपातम-पास्यात्यन्तं मध्यस्थोऽस्मि। न च मे शरीरवाङ्मनःकारणा-चेतनद्रव्यत्वमस्ति; तानि खलु मां कारणमन्तरेणापि कारणवन्ति भवन्ति। ततोऽहं तत्कारणत्वपक्षपातमपास्यास्म्यवमत्यन्तं मध्यस्थः। न च मे स्वतन्त्रशरीरवाङ्गनःकारकाचेतन-द्रव्यत्वमस्ति; तानि खलु मां कर्तारमन्तरेणापि क्रियमाणानि। ततोऽहं तत्कर्तृत्वपक्षपात-मपास्यास्म्ययमत्यन्तं मध्यस्थः। न च मे स्वतन्त्रशरीर-वाङ्मनःकारकाचेतनद्रव्यप्रयोजकत्व-मस्ति; तानि खलु मां कारकाप्रयोजकमन्तरेणापि क्रियमाणानि। ततोऽहं तत्कारकप्रयोजक-त्वपक्षपातमपास्यास्म्ययमत्यन्तं मध्यस्थः। न च मे स्वतन्त्रशरीर-वाङ्मनःकारकाचेतनद्रव्या-नुज्ञातृत्वमस्ति; तानि खलु मां कारकानुज्ञातारमन्तरेणापि क्रियमाणानि। ततोऽहं तत्कारकानुज्ञातृत्वपक्षपातमपास्यास्म्ययमत्यन्तं मध्यस्थः।।१६०।।

एवं शुभाशुभशुद्धोपयोगविवरणरूपेण तृतीयस्थले गाथात्रयं गतम्। अथ देहमनोवचनविषये-ऽत्यन्तमाध्यस्थ्यमुद्योतयति - **णाहं देहो ण मणो ण चेव वाणी** नाहं देहो न मनो न चैव वाणी। मनोवचनकायव्यापाररहितात्परमात्मद्रव्याद्भिन्नं यन्मनोवचनकायत्रयं निश्चयनयेन तन्नाहं भवामि। ततः कारणात्तत्पश्चातं मुक्त्वात्यन्तमध्यस्थोऽस्मि। **ण कारणं तेसिं** न कारणं तेषाम्। निर्विकार-परमाह्लादैकलक्षणसुखामृतपरिणतेर्यदुषादानकारणभूतमात्मद्रव्यं तद्विलक्षणो

मनोवचनकायानामुपादान-कारणभूतः पुद्‌गललपिण्डो न भवामि। ततः कारणात्तत्पक्षपातं मुक्त्वात्यन्तमध्यस्थोऽस्मि। **कत्ता ण हि कारइदा अणुमंता णे कत्तीणं** कर्ता न हि कारयिता अनुमन्ता नैव कर्तृणाम्। स्वशुद्धात्मभावनाविषये यत्कृतकारितानुमतस्वरूपं तद्विलक्षणं यन्मनोवचनकायविषये कृतकारितानु-मतस्वरूपं तन्नाहं भवामि। ततः कारणात्तत्पक्षपातं मुक्त्वात्यन्तमध्यस्थोऽस्मीति तात्पर्यम्।।१६०।

अब, शरीरादि परद्रव्य के प्रति भी मध्यस्थपना प्रगट करते हैं।

मैं देह नहीं, वाणी नहीं अरु, मन नहीं, कारण नहीं।
कर्ता नहीं, कारयिता नहीं, कर्तानुमन्ता मैं नहीं॥

अन्वयार्थ - [**अहं न देहः**] मैं न देह हूँ, [**न मनः**] न मन हूँ, [**च एव**] और [**न वाणी**] न वाणी हूँ; [**तेषां कारणं न**] उनका कारण नहीं हूँ [**कर्ता न**] कर्ता नहीं हूँ, [**कारयिता न**] करानेवाला नहीं हूँ; [**कर्तृणां अनुमन्ता न एव**] (और) कर्ता का अनुमोदक नहीं हूँ।

टीका - मैं शरीर, वाणी और मन को परद्रव्य के रूप में समझता हूँ, इसलिए मुझे उनके प्रति कुछ भी पक्षपात नहीं है। मैं उन सबके प्रति अत्यन्त मध्यस्थ हूँ। वह इस प्रकार—

वास्तव में मैं शरीर, वाणी और मन के स्वरूप का आधारभूत ऐसा अचेतनद्रव्य नहीं हूँ, मैं स्वरूपाधार (हुए) बिना भी वे वास्तव में अपने स्वरूप को धारण करते हैं। इसलिए मैं शरीर, वाणी और मन का पक्षपात छोड़कर अत्यन्त मध्यस्थ हूँ।

और मैं शरीर, वाणी तथा मन का कारण ऐसा अचेतनद्रव्य नहीं हूँ। मैं कारण (हुए) बिना भी वे वास्तव में कारणवान् हैं। इसलिए उनके कारणपने का पक्षपात छोड़कर यह मैं अत्यन्त मध्यस्थ हूं।

और मैं स्वतन्त्ररूप से शरीर, वाणी तथा मन का कर्ता ऐसा अचेतनद्रव्य नहीं हूँ; मैं कर्ता (हुए) बिना भी वे वास्तव में किये जाते हैं। इसलिए उनके कर्तृत्व का पक्षपात छोड़कर यह मैं अत्यन्त मध्यस्थ हूँ।

और मैं, स्वतन्त्ररूप से शरीर, वाणी तथा मन का कारक (कर्ता) ऐसा जो अचेतनद्रव्य

है, उसका प्रयोजक नहीं हूँ; मैं कर्ता–प्रयोजक बिना भी (अर्थात् मैं उनके कर्ता का प्रयोजक – उनका करानेवाला — हुए बिना भी) वे वास्तव में किये जाते हैं। इसलिए यह मैं उनके कर्ता के प्रयोजकपने का पक्षपात छोड़कर अत्यन्त मध्यस्थ हूँ।

और मैं स्वतन्त्ररूप से शरीर, वाणी तथा मन का कारक जो अचेतन द्रव्य है, उसका अनुमोदक नहीं हूँ; मैं कर्ता — अनुमोदक बिना भी (मैं उनके कर्ता का अनुमोदक हुए बिना भी) वे वास्तव में किये जाते हैं। इसलिए उनके कर्ता के अनुमोदकपने का पक्षपात छोड़कर यह मैं अत्यन्त मध्यस्थ हूँ॥ १६० ॥

प्रवचन नं. १६६ असोज कृष्ण २ रविवार, ७ अक्टूबर १९७९

प्रवचनसार, १६० गाथा। **अब, शरीरादि परद्रव्य के प्रति भी मध्यस्थपना प्रगट करते हैं।**

णाहं देहो ण मणो ण चेव वाणी ण कारणं तेसिं।
कत्ता ण ण कारयिदा अणुमंता णेव कत्तीणं।।१६०।।

नीचे हरिगीत —

मैं देह नहीं, वाणी नहीं अरु, मन नहीं, कारण नहीं।
कर्ता नहीं, कारयिता नहीं, कर्तानुमन्ता मैं नहीं॥

आहा...हा...! ऐसी बात है। **टीका – मैं...** धर्मी – सम्यग्दृष्टि – धर्म की पहली सीढ़ी – सम्यग्दर्शन (जिन्हें प्रगट हुआ है) वे ऐसा जानते हैं कि **मैं शरीर, वाणी और मन को परद्रव्य के रूप में समझता हूँ,....** यह समीप (में रहे पदार्थ की बात करते हैं)। दूर की बात तो सबेरे बहुत आ गयी। यह तो समीप (में जो) शरीर, वाणी और मन (है), उसे मैं परद्रव्य के रूप में समझता हूँ क्योंकि वह तो जड़ है, अजीव है। आहा...हा...! तो इस शरीर की जो क्रिया होती है, वह भी जड़ है; मैं नहीं। आहा...हा...! भक्ति में, भगवान की पूजा आदि में स्वा...हा... आदि होता है तो कहते हैं कि समीप में (रहा हुआ) शरीर जड़, वाणी जड़, मन जड़ (अर्थात्) अन्दर परमाणु (है वह), उसे **परद्रव्य के रूप में समझता हूँ,....** धर्मी तो ऐसा मानते हैं कि यह तो परद्रव्य है, मेरी चीज नहीं। ओ...हो...हो...!

धर्म की पहली सीढ़ी — धर्म का पहला सोपान सम्यग्दर्शन! तो सम्यग्दृष्टि ऐसा मानते हैं कि शरीर, वाणी, और मन जो समीप में हैं, उन्हें मैं परद्रव्य के रूप में समझता हूँ। आहा...हा...! **इसलिए मुझे उनके प्रति कुछ भी पक्षपात नहीं है।** आहा...हा...! शरीर कैसे रहे? वाणी कैसे बोली जाये? मन के परमाणु (जो) विचार में निमित्त (है), वह कैसे रहे? — (उसका) मुझे पक्षपात नहीं। बहुत सूक्ष्म बात है, भाई!

जिनेश्वरदेव ने केवलज्ञानपने में जो कहा, उसे दिगम्बर सन्त जगत के सामने जाहिर करते हैं। प्रभु! तुम ज्ञायक हो न! तू जाननस्वभावी प्रभु है न! (तो) परद्रव्य तेरा कैसे हो? आहा...हा...! **मैं उन सबके प्रति....** वाणी, शरीर और मन। यहाँ छाती में खिले हुए कमल के आकार में (बना हुआ) अनन्त परमाणु का मन है, वह मैं नहीं। आहा...हा...! **वह इस प्रकार**– है।

वास्तव में मैं शरीर, वाणी और मन के स्वरूप का आधारभूत ऐसा अचेतन द्रव्य नहीं हूँ,.... शरीर, वाणी और मन उसके आधार से रहा है; मेरा आधार उसे नहीं। आ...हा...हा...! यहाँ आत्मा है (तो) शरीर, आत्मा के आधार से रहा है — ऐसा नहीं। आहा...हा...! बहुत सूक्ष्म बात है, भाई! धर्म की पहली शुरुआत यहाँ से होती है।

शरीर, वाणी और मन। बाह्य पैसा आदि तो (पर हैं ही)। आत्मा ज्ञायक (है और) शरीर आदि पर (पदार्थ) ज्ञेय (हैं), इतना जानने लायक है। परन्तु वह चीज मेरी (है), मैं उसका (हूँ), यह दृष्टि अत्यन्त मिथ्या, विपरीत है। आहा...हा...! यहाँ तो समीप की बात करते हैं। यह शरीर, वाणी और मन रजकण हैं, परमाणु हैं, अजीव पदार्थ है। वह अजीव पदार्थ मेरे आधार से है — ऐसा नहीं। उसका आधार उसमें है। आहा...हा...हा...!

यह अंगुली, यह नाक, यह बाल, यह चमड़ी, आत्मा के आधार से है — ऐसा नहीं। अरे...! ऐसी सूक्ष्म बात! उस अजीव जड़ परमाणु का आधार वह (द्रव्य) है; मेरे आधार से वह चीज रही है — ऐसा है नहीं। आहा...हा...! क्योंकि उस परमाणु में – जड़ में कर्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान, अधिकरण — आधार (आदि) गुण हैं, तो जड़ अपने आधार से रहा है। आहा...हा...! अरे...रे...! यहाँ तो मैं करूँ... मैं करूँ... परपदार्थ प्राप्त करना, यह बात तो यहाँ है ही नहीं। अरे...! परपदार्थ मैं प्राप्त करूँ (— ऐसा जो मानता

है) वह मिथ्यादृष्टि है, अज्ञानी है। आहा...हा... ! परन्तु यह चीज जो समीप में है, उसका भी मैं आधार नहीं। आहा...हा... !

मन के स्वरूप का, वाणी के स्वरूप का, देह के स्वरूप का **आधारभूत ऐसा अचेतनद्रव्य....** उसका आधार तो अचेतनद्रव्य जड़ है; मैं नहीं। आहा...हा... ! आ...हा... ! इस नाक के परमाणु जड़ हैं तो आत्मा के आधार से यहाँ नाक रहा है — ऐसा नहीं। यह कान जड़ - मिट्टी — पुद्गल परमाणु है, वह अन्दर आत्मा है तो आत्मा के आधार से वह रहा है — ऐसा है नहीं। ऐसा मार्ग ! है ?

...ऐसा अचेतनद्रव्य नहीं हूँ, मैं स्वरूपाधार (हुए) बिना भी... मेरे स्वरूप के आधार बिना भी। **वे वास्तव में अपने स्वरूप को धारण करते हैं।** आहा...हा... ! उस शरीर, वाणी, मन को मेरी कोई अपेक्षा नहीं। मेरी अपेक्षा बिना शरीर, वाणी और मन (के) जड़ परमाणु अपना स्वरूप धारण करते हैं। आ...हा...हा... ! कठिन काम !

सारा दिन शरीर, वाणी, मन के काम में जुड़े और कहे कि मेरा नहीं। (यहाँ) कहते हैं कि जुड़ता है, वही झूठ बात है। परद्रव्य के साथ जुड़ान होता ही नहीं। आहा...हा... ! सूक्ष्म बात है, प्रभु ! तुम तो ज्ञायकभाव हो न, प्रभु ! ज्ञायकभाव, अचेतन का रहने का आधार कैसे हो ? आहा...हा... ! मैं ध्यान रखूँ तो शरीर ठीक रहे और ध्यान नहीं रखूँ तो शरीर ठीक नहीं रहे — ऐसी चीज नहीं। आहा...हा...हा... !

भगवान आत्मा ! यह शरीर, वाणी और मन से अत्यन्त निर्लेप, भिन्न है। राग से निर्लेप है, उसे एक ओर रखो। शरीर, वाणी और मन... आहा...हा... ! मैं उसका आधार (हुए) बिना, मेरे स्वरूप के आधार बिना भी **वे वास्तव में अपने स्वरूप को धारण करते हैं; इसलिए मैं शरीर, वाणी और मन का पक्षपात छोड़कर अत्यन्त मध्यस्थ हूँ।** आहा...हा... ! सूक्ष्म बात है, भगवान ! यह तो 'प्रवचनसार' है ! भगवान की दिव्यध्वनि ! त्रिलोकनाथ जिनेश्वरदेव सर्वज्ञ परमात्मा की दिव्यध्वनि (है), वह भी निमित्त से कथन है। उस दिव्यध्वनि के कर्ता भगवान नहीं। वाणी है न ? आहा...हा... ! उस दिव्यध्वनि का आधार आत्मा नहीं। आहा...हा... !

मेरे आधार बिना वाणी उसके स्वरूप को धारण करती है, उसके स्वरूप को वह

धारण करती है। आहा...हा...! मैं वाणी बोलता हूँ और वाणी मुझ से बोली जाती है — ऐसा नहीं। वाणी अपने स्वरूप को अपने से धारण करती है; मेरे स्वरूप के आधार बिना। अर...र...र...! ऐसी बात है, प्रभु!

सबेरे तो बात आयी थी — ज्ञायक और ज्ञेय। वह तो सम्पूर्ण - सभी द्रव्य की (बात थी), यहाँ तो अब समीप की बात ली। आहा...हा...! जैसे अंगुली को हिलाये, वैसे हिले — ऐसा है नहीं। आहा...हा...! जीभ को जैसे मोड़ुँ वैसे मूडे, उस अजीव के स्वरूप को मैंने धारण नहीं किया। अजीव का स्वरूप अजीव ने धारण किया है। आहा...हा...! यह अभिमान उतर जाना, प्रभु! जड़ के स्वामीपने, उसके आधार में मैं — (यह) मिथ्या भ्रान्ति है। आ...हा...!

और मैं शरीर, वाणी तथा मन का कारण — ऐसा अचेतनद्रव्य नहीं हूँ।.... आहा...हा...! कारण तो कहो, निमित्तकारण तो कहो। यह शरीर - जड़, मिट्टी, वाणी — यह आवाज, धूल और मन - परमाणु... आहा...हा...! **और मैं शरीर, वाणी तथा मन का कारण — ऐसा अचेतनद्रव्य नहीं हूँ।....** उसका कारण तो अचेतनद्रव्य है; मैं कारण नहीं। यह कारण का बड़ा प्रश्न होता है न? (कि) दो कारण होते हैं। आहा...हा...! उपादान और निमित्तकारण — दो से कार्य होता है।

यहाँ तो प्रभु ऐसा कहते हैं, प्रभु! सुन न, भाई! जगत का परमाणु जगत की चीज है, उसका कारण अचेतन द्रव्य (है), उसका कारण वह द्रव्य है। उसका कारण तू है — ऐसा नहीं है। आहा...हा...! अरे...! ऐसी बातें! स्त्री, कुटुम्ब, धन्धा हमें करना या नहीं? धन्धा नहीं करे तो खाना कैसे? आहा...हा...! कहते हैं कि शरीर की क्रिया शरीर के आधार से होती है; मेरे आधार से नहीं और शरीर की क्रिया शरीर के कारण से होती है; मेरे कारण से नहीं। अरे...रे...! यह किसे बैठे?

(अज्ञानी कहते हैं) दो कारण चाहिए, दो कारण चाहिए... आहा...हा...! दिव्यध्वनि निमित्तकारण है, उसे नहीं माने तो निमित्त-नैमित्तिक (सम्बन्ध) नहीं मानते। प्रभु... प्रभु! सुन न, भाई! भगवान! तू भी भगवान है, भाई! आहा...हा...! तुझे भगवान बनना है, प्रभु! स्वरूप से भगवान हो, पर्याय में भगवान बनना है!! तो वह भगवान कब बने? कि पर

शरीर, वाणी, मन (जो) समीप में एकक्षेत्रावगाह में रहे हुए (हैं), उनका भी कारण तू नहीं (ऐसा माने तब)। आहा...हा...! तू तो प्रभु! ज्ञायकस्वभाव है न! आहा...हा...! जाननस्वभावी तेरा तत्त्व (है), वह अजान-अज्ञानतत्त्व का कारण कैसे हो? आहा...हा...! सूक्ष्म बातें हैं, भाई!

(लोग) बाहर की धमाधम करे, रथयात्रा निकाले, गजरथ निकाले, भगवान की प्रतिमा विराजमान की... वह बात तो बाहर रह गयी। उनका कारण तो तू नहीं परन्तु उसमें जो शरीर, वाणी निमित्त है, उसका भी तू कारण नहीं। भाई! आहा...हा...! भाई! तुझे शान्ति में रहना है या नहीं? भाई! तुझे शान्ति में रहना हो तो शरीर, वाणी, मन का कारण मैं नहीं, उसका कारण वह (है — ऐसा मान)... आहा...हा...! तो तुझे शान्ति रहेगी। वरना तो, मैं उसका कारण हूँ, (— ऐसा मानेगा) तो मिथ्यात्व होगा, अशान्ति होगी, प्रभु! आहा...हा...! गाथा तो यह लेनी थी, लेकिन फिर तो १५५ ली न? आहा...हा...!

अजीव-पुद्गल तत्त्व है या नहीं? जीव है, सत्, अहेतुक, ज्ञायकस्वभाव (है) तो परमाणु सत्, अहेतुक, जड़ स्वभाव (है)। आहा...हा...! वह तो सबेरे आ गया न? आत्मा सत् है, अहेतुक (है अर्थात्) कोई हेतु नहीं, उसका (कोई) कारण नहीं। ज्ञायकस्वभाव! वैसे यह शरीर, वाणी, मन सत् — है, जगत के रजकण सत् अहेतुक (हैं)। आत्मा उसका कारण — हेतु है नहीं। वह जड़स्वभाव है। सत् अहेतुक जड़स्वभाव। भगवान सत् अहेतुक ज्ञायकस्वभाव। आहा...हा...! भगवान अर्थात् आत्मा। कठिन काम! यहाँ तो सारा दिन मैं करूँ... मैं करूँ... अभिमान में मिथ्यात्व का पार नहीं। प्रभु! तुझे कहाँ जाना है? आहा...हा...!

देह तो छूट जाएगी और छूटने के कारण छूटेगी। उसे तू दवा-दारू से रखना चाहे तो तीन काल में नहीं रहेगी। आहा...हा...! क्योंकि उसका कारण तू नहीं है तथा उस शरीर का आधार भी तू नहीं है। आहा...हा...! यह सिर ऐसा रहा है (और) आत्मा (उसमें से) छूटे तो सिर ऐ...सा हो जाये। तो आत्मा का देह को आधार है या नहीं? नहीं...। समझ में आया? प्रभु! आहा...हा...!

प्रभु! तू तो ज्ञायकस्वभाव है न! इस जड़स्वभाव का कारण तू कैसे हो? भाई! और

इसे इसके कारण रहने दे, पक्षपात छोड़ दे! आहा...हा...! कि मैं शरीर की अवस्था — व्यवस्था भलीभाँति करूँ, वाणी की व्यवस्था भी ठीक से करूँ। जोर से बोलना हो तो जोर से बोलूँ, धीमे बोलना हो तो धीमे बोलूँ। अरे... प्रभु! यह बोलने की वाणी, वह वाणी के आधार से होती है। आहा...हा...!

मुमुक्षु : मुर्दा तो नहीं बोलता।

पूज्य गुरुदेवश्री : मुर्दा जड़ है तो जड़ की पर्याय जड़ से होती है। यह शरीर अभी मुर्दा है। यह तो (समयसार) ९६ गाथा में नहीं कहा? मृतक कलेवर है, प्रभु! यह मृतक कलेवर है, यह तो मुर्दा है। अन्दर भगवान चैतन्य तो भिन्न है। ज्ञानानन्द सहजानन्द प्रभु, इस मुर्दे से चैतन्य अमृत का सागर... आहा...हा...! भिन्न है। इस मृतक कलेवर में अमृत सागर मूर्छित हो गया है। ९६ गाथा में है। आहा...हा...!

अरे... उत्साह का पार नहीं पड़ता, बाहर की शरीर की अनुकूलता और निरोगता और उसमें युवापन... और उत्साह... उत्साह... उसका ऐसा करूँगा... उसका ऐसा करूँगा... प्रभु! तू किसका करेगा? तेरा तत्त्व भिन्न, वह तत्त्व भिन्न। आहा...हा...! शरीर की कुछ भी क्रिया - चेष्टा हो, वह शरीर के आधार से होती है; आत्मा के आधार से नहीं — ऐसी वीतराग की बातें हैं। बापू!

आहा...हा...! तीन लोक के नाथ जिनेश्वरदेव परमेश्वर ऐसा फरमाते हैं। अरे... भाई! प्रभु! प्रभुरूप से बुलाते हैं। प्रभु! तू तेरी प्रभुता में तुझमें है परन्तु पर में कुछ करने जाये (तो) प्रभु! वह तेरा अधिकार नहीं है। आहा...हा...!

मुमुक्षु : प्रमुख पद में तो पर का अधिकार है।

पूज्य गुरुदेवश्री : प्रमुख-वमुख धूल में भी नहीं है। आहा...हा...!

यहाँ तो कहते हैं, प्रभु! वाणी से यह लेखन होता है न? यह लेखन होता है, उसका आधार वाणी नहीं है, यह शरीर की क्रिया है और अक्षर हैं, वह पर की क्रिया है। आहा...हा...! यह शरीर की क्रिया जो ऐसे... ऐसे... हो, कलम चले, यह शरीर (ऐसा हो) उस क्रिया का आधार तो शरीर है। कलम चलती है, उसका आधार कलम है और अन्दर

अक्षर लिखते हैं, उसका आधार वे अक्षर के परमाणु हैं। अरे...रे! कलम भी नहीं। भगवान! मार्ग कोई अलग है प्रभु!

वीतराग सर्वज्ञ परमेश्वर (के अतिरिक्त) यह बात कहीं नहीं है। वीतराग के अलावा (कहीं नहीं है)। आहा...हा...! क्योंकि उन्होंने अनन्त द्रव्य देखे हैं, तो अनन्त द्रव्य में तेरा तत्त्व और दूसरा तत्त्व अलग देखा है; अत: दूसरे तत्त्व की किसी भी दशा का आधार तू है — ऐसा भगवान ने देखा नहीं है, इसलिए ऐसा नहीं है। आहा...हा...! ऐसा उपदेश! व्रत करना, उपवास करना, सीधा सरल था, यह... प्रभु! सुन तो सही, भाई! आहा...हा...!

तीन लोक के नाथ तीर्थंकरदेव सीमन्धर परमात्मा महाविदेह में विराजमान हैं। वहाँ संवत् ४९ में कुन्दकुन्दाचार्यदेव गये थे। दिगम्बर सन्त! वहाँ से यह सन्देश आया! आहा...हा...! भगवान ऐसा कहते हैं कि शरीर और वाणी तेरे नजदीक एकक्षेत्रावगाहरूप है, उसका भी उस क्षेत्र में रहनेवाला आधार तू नहीं है। आहा...हा...! आत्मा के प्रदेश पर कर्म के परमाणु हैं, शरीर के परमाणु हैं परन्तु उन प्रदेश का उसे आधार नहीं है।

अरे...! यह क्या बात!... अरे! भगवान! बेचारे पूरी जिन्दगी संसार के काम में रचे-पचे (रहें), उसमें यह बात सुनने को मिले नहीं। आहा...हा...! वह कब भिन्न करे? भाई! चार गति के दु:ख मिथ्यात्व के कारण से तूने (खड़े किये हैं), प्रभु! मैंने शरीर का किया, मैं वाणी बोलता हूँ, मन मेरा है... आहा...हा...! ऐसा मिथ्यात्वभाव अनन्त संसार में भटकने का कारण है। आहा...हा...! समझ में आया? आहा...! सूक्ष्म बात है प्रभु!

वीतराग सर्वज्ञ परमेश्वर त्रिलोकनाथ ऐसा फरमाते हैं। आहा...! आहा...हा...! प्रभु! यह शरीर है, वह तो ज्ञान में पररूप से ज्ञेय है न! और उस ज्ञेय का रहना, वह तेरे ज्ञान के आधार से नहीं है। आहा...हा...! अरे...! एक बात भी यथार्थ बैठे तो दूसरे सब भाव बैठ जायें (जम जायें)। आहा...हा...!

आत्मा के प्रदेश में कर्म रजकण-शरीर के परमाणु रहे हैं? यहाँ प्रदेश है, वहाँ इस शरीर के परमाणु रहे हैं? तो कहते हैं, नहीं। आहा...हा...! आत्मा के आधार से वे परमाणु नहीं रहे हैं। वह अचेतन द्रव्य इसके — अचेतन के आधार से यहाँ रहा है। भाई! ऐसा प्रभु

का मार्ग है! आहा...हा...! 'हरि का मारग है सूरों का' ऐसे त्रिलोकनाथ जिनेश्वरदेव का मार्ग वीरों का है, कायर का वहाँ काम नहीं है। आ...हा...! हम करते हैं... हम करते हैं... नजर से (दिखता है) और तुम इनकार करते हो कि कुछ नहीं करते। क्या करता है ? प्रभु! आहा...हा...! पूरे दिन इस शरीर से काम करते हैं, वाणी से काम करते हैं... आहा...हा...! दूसरे को गाली देना हो तो वाणी से; भगवान की महिमा करना हो तो वाणी से (करते हैं) और तुम कहते हो कि वाणी का आधार मैं नहीं हूँ। भगवान की स्तुति वाणी से करते हैं। आहा...हा...!

मुमुक्षु : अभी थोड़ी देर में भगवान की भक्ति होगी।

पूज्य गुरुदेवश्री : अभी होगी। भाई! तो बहुत अच्छी (भक्ति) करते हैं, वैराग्य से करते हैं। भाई भक्ति बहुत अच्छी करते हैं। बहिन के स्थान पर अभी वैराग्य से (करते हैं।) आहा...हा...! 'तारक विरुध सुणी करि, प्रभु आवियो तारे दरबार'। प्रभु तिराना पड़ेगा — ऐसे पुरुषार्थ की स्वयं की जागृति है! आहा...हा...! कल आया था। 'तारक विरुध सुणी करि प्रभु आवियो उभो दरबार...'। मैं (अर्थात्) आत्मा, हाँ! शरीर (नहीं)। आहा...हा...! प्रभु! आप तारक विरुध हो न! आप तारणतरण हो न! यह व्यवहार का वचन है। आहा...हा...! वरना अपने तारने के उपाय में पर कारण नहीं है। ऐ..ई...! आहा...हा...!

अरे... ऐसी बात कहाँ है ? प्रभु! जहाँ-तहाँ हम करते हैं... हम करते हैं... हम करते हैं... अरे... प्रभु! तूने क्या किया ? भाई! यहाँ तो (शरीर, वाणी का) कारण मैं नहीं हूँ — ऐसा सिद्ध करना है। आधार तो नहीं परन्तु कारण भी नहीं। आहा...हा...! अभी पुकार यह है कि दो कारण होते हैं। प्रभु! यहाँ तो एक ही कारण है कि उसके आधार से वह उसका कारण वह है, मैं नहीं। मैं निमित्त हूँ परन्तु निमित्तकारण नहीं। यह (बात) तो ज्ञान करने के लिए है। आहा...हा...! ऐसा उपदेश! पूरी दुनिया व्यापार धन्धा, स्त्री-पुत्र, पाप के कारण बेचारे निवृत्त नहीं हैं। बापू! वीतराग का मार्ग तो यह है, भाई! आहा...हा...! तीन लोक के नाथ अरिहन्तदेव जिनेश्वरदेव की यह वाणी है।

आहा...हा...! प्रभु तू कौन है ? तू ज्ञानस्वरूप है न प्रभु! तू ज्ञानस्वरूप, जड़ का

कारण होता है या जड़ को जानता है ? जिस क्षण में जिस जड़ की मन, वाणी, देह की क्रिया होती है, उसे जाने या उसे करे ? उसे जाने (— ऐसा कहना), वह भी अभी व्यवहार है। आहा...हा...! ऐसी बातें हैं, प्रभु! आहा...हा...! गाथाएँ बहुत (अच्छी हैं)। सबेरे यह आया था।

प्रभु! तू तो जगत् का ज्ञाता है न! जगत् की चीज उस ज्ञाता का परज्ञेय है न, वह भी व्यवहार है। आहा...हा...! यहाँ तो कहते हैं कि शरीर, वाणी और मन के स्वरूप का कारण तू नहीं। आहा...हा...! है ?

शरीर, वाणी... यह वाणी। आत्मा के कारण वाणी निकलती है — ऐसा नहीं है। अर...र..! ऐसी बातें गले उतरना (कठिन पड़ती है) । भाई! तेरे स्वरूप में स्थिति ऐसी है, प्रभु! तुझे बैठाना पड़ेगा, प्रभु! तुझे भगवान कराने के लिए यह बात है!! आहा...हा...! पामरता में कर्तापने की बुद्धि में पड़ा, प्रभु! पामररूप से मिथ्यात्व में रहा, यह कलंक है। आहा...हा...! यह स्वरूप को कलंक है। इस कलंक को मिटाने के लिए प्रभु का यह वचन है। आहा...हा...! प्रभु का वचन कहना, यह भी व्यवहार से कथन है। वचन, वचन का है। आहा...हा...! यह तो चलता है।

सम्यग्दृष्टि धर्म की पहली शुरुआतवाला चौथे गुणस्थान में, श्रावक तो पंचम (गुणस्थान में) होता है (परन्तु) वह तो (अभी) कहाँ है ? आहा...हा...! नजदीक में रहनेवाले-एक क्षेत्र में रहनेवाले-क्षेत्र में रहे होने पर भी मैं उसका आधार नहीं, उसका आधार वह। एक क्षेत्र में शरीर, वाणी, मन रहा, उसका मैं कारण नहीं, उसके कारण वह रहा है। आहा...हा...! आहा...हा...! बापू! वीतराग का मार्ग कोई अलौकिक है! वीतराग के अतिरिक्त, सर्वज्ञ के अतिरिक्त ऐसा कहीं नहीं है। अभी तो सम्प्रदाय में भी वीतराग की बात मार डाली है! आहा...हा...! यह दया पालो, यह व्रत करो, अमुक छोड़ो और चतुर्विध रात्रि आहार का त्याग करो, छह परखी पालो... ये सब राग की क्रियाएँ हैं। पर का करना, वह मिथ्यात्व है। आहा...हा...! आहा...हा...! कठिन काम भाई! इसलिए सोनगढ़वालों को एकान्त कहते हैं न ? कहे, प्रभु! तू कह। प्रभु! तुझमें ताकत उलटी करके तू कहे, बाकी तेरे स्वरूप में वह नहीं है। आहा...हा...! कहो भाई! ऐसी बातें हैं।

सुने तो सही! भगवान है। पुत्र, युवा, वृद्ध यह तो देह की जड़ की दशाएँ हैं। प्रभु! यह तेरी दशा कहाँ है? बालक, युवा, वृद्ध यह तो जड़ की-मिट्टी की-धूल की दशा है। प्रभु! ये तेरी दशा कहाँ है और तेरे आधार से यह दशा कहाँ रही है! आहा...हा...! युवापने की शरीर की दशा... आहा...हा...! ऐसे धम... धम... धम... धम... चले, धरती कंपे! भाई! यह शरीर तेरा नहीं। इस धरती को शरीर स्पर्श भी नहीं करता, प्रभु! कठिन काम है। क्योंकि शरीर के परमाणु अलग और धरती के परमाणु अलग, यह तो बाह्य की बात है। यहाँ तो नजदीक की बात है। आहा...हा...! जवानी झोला खायेगी, बापू! एक बार वृद्धावस्था होकर एकदम गिरेगा, श्मशान की राख है, यह तो राख है, जड़ है। आहा...! तू इसे तेरा कारण है (ऐसा मानकर) ध्यान (रखे तो) रहे, सम्हाल रखे तो निरोगता रहे, सम्हाल न रखे तो रोग हो — ऐसा है नहीं, ऐसा कहते हैं। आहा...हा...!

बहुत सरस गाथा! कारण नहीं, कारण नहीं... आहा...हा...! शरीर, वाणी, मन का मैं कारण नहीं। (तो) मुर्दे में वाणी क्यों नहीं निकलती? प्रभु! वह तो वहाँ वाणी का योग नहीं है। परमाणु की भाषा के क्रम में आनेवाली भाषा हो, तब भाषा होती है। आहा...हा...! भाषा में भी क्रमबद्ध है। आहा...हा...! उस समय भाषा निकलने का क्रम हो, तब वह भाषा निकलती है। तथापि उस भाषा का कारण आत्मा नहीं है, प्रभु! तेरी प्रभुता वहाँ रूक गयी है। मैं कारण हूँ और मैं बोलता हूँ, मैं ऐसा हूँ... आहा...हा...! उपदेशक भी बड़े जोरदार होकर बोलकर एकदम जोर करें! धीर हो... प्रभु! धीर हो... इस वाणी का भी कारण नहीं न, प्रभु!

आहा...हा...! शरीर वाणी और मन... गजब बात की है न! एक क्षेत्र में! आत्मा का असंख्य प्रदेशी क्षेत्र, उसमें शरीर के परमाणु एक क्षेत्र में रहे, मन का भी वह क्षेत्र, वाणी है वह... आहा...हा...! भाषावर्गणा आत्मा के क्षेत्र में पड़ी है। आहा...हा...! समझ में आया? भाषावर्गणा भी आत्मा के क्षेत्र में है परन्तु वह भिन्न है, उससे भाषा होती है। भाषा का कारण आत्मा नहीं है। अरे...रे...! कैसे जँचे? (तो फिर) मुर्दा क्यों नहीं बोलता? अरे...! सुन न प्रभु! उस समय भाषा की पर्याय का क्रम नहीं है, इसलिए नहीं। आहा...हा...! भाषा बोलने का क्रम हो, तब आती है। उसका मैं कारण नहीं हूँ। गजब काम किया है।

अभी तो बहुत गड़बड़ उत्पन्न हुई है। आहा...हा... ! परद्रव्य को प्राप्त किया जा सकता है (ऐसा लोग मानते हैं)। यहाँ तो कहते हैं कि स्वद्रव्य-जो यहाँ तेरे द्रव्य पर (एकक्षेत्र में) रहा हुआ है, उसका भी तू कारण नहीं है। आहा...हा... ! उसकी निरोगता रखना, ध्यान रखे तो निरोगता रहे, ध्यान न रखे अपथ्य आहार करे तो रोग हो जाये, भाई ! यह तो जड़ की अवस्था है। तेरे कारण वह निरोगता और सरोगता नहीं हो सकती। आहा...हा... ! समझ में आया ? तेरे कारण ऐसा नहीं होता। आहा...हा... ! ऐसी बात है। कठिन बात !

ऐसे शीघ्रता से चले, जल्दी चलो शीघ्र, आधे घण्टे में एक गाँव जाना है, धीरे-धीरे चलकर थोड़े ही जाना है। कौन धीमे चले ? प्रभु ! कौन शीघ्रता से चले ? वह तो शरीर की क्रिया है। आत्मा की प्रेरणा से होता है — ऐसा भी नहीं है। अरे ! भगवान ! अजीवद्रव्य से जीवद्रव्य भिन्न है। भगवान ने दो द्रव्य कहे हैं न ? जीवद्रव्य और अजीवद्रव्य। जीवतत्त्व और अजीवतत्त्व। वे दूसरे अजीवतत्त्व एक ओर रखो। धर्मास्ति, अधर्मास्ति अजीवतत्त्व है, यह (शरीर) अजीवतत्त्व है, वाणी अजीवतत्त्व है, यहाँ हृदय में अनन्त परमाणुओं का (बना हुआ) मन है, वह अजीवतत्त्व है। उस अजीवतत्त्व का कारण तू नहीं है; तेरे कारण वहाँ आया है — ऐसा नहीं है, उसके कारण रहा है, और उसके कारण आता है। आहा...हा... ! बहुत कठिन काम है।

अरे... ! इसने अनन्त काल परिभ्रमण किया, चौरासी के अवतार ! चौरासी लाख योनियाँ ! प्रभु ! एक-एक योनि में तूने अनन्त अवतार किये। भूल गया, प्रभु ! भूल गया तो नहीं था — ऐसा कैसे कहा जाये ? तेरी स्थिति में तूने मिथ्यात्व को सेवन किया। जगत् के काम (वे) मेरे काम, मैं व्यवस्था करनेवाला हूँ (— ऐसा माना)। यहाँ पर की व्यवस्था को एक ओर रखो, शरीर की जो अवस्था होती है, उस काल में व्यवस्था होती है, वह उसकी है। उसके बदले (ऐसा माने कि) मेरे कारण शरीर की अवस्था रही है, बहुत सम्हाला इसलिए निरोगता रही है, सौंठ भी नहीं लगानी पड़ी — ऐसा कितने ही कहते हैं न ? भाई ! यह शरीर, वाणी, और मन के परमाणु उसका (मैं) कारण नहीं। है ? आहा...हा... !

और मैं शरीर, वाणी तथा मन का कारण ऐसा अचेतनद्रव्य नहीं हूँ।...

उसका कारण वह है, उसका कारण मैं नहीं हूँ। आहा...हा...! उपादानकारण के कारण से कार्य होता है, कहते हैं। आहा...हा...! ऐसी बातें! लोग होश करते हैं — पैसे में, भोग में, इज्जत में, होश-हर्ष... हर्ष... हर्ष... (करते हैं)। उसमें पाँच-पच्चीस लाख मिलें हों तो मानो मैं चौड़ा और गली सकरी। कहाँ है? प्रभु! पैसा तो जड़ है, वह आत्मा का है? शरीर जड़ है तो फिर पैसे कहाँ रहे? आहा...हा...! समझ में आया? यह श्लोक बहुत ऊँचा है!

शरीर, वाणी तथा मन का कारण ऐसा अचेतन द्रव्य.... उनका कारण तो अचेतन है, मैं नहीं। आहा...हा...! मैं निमित्त हूँ, इसलिए होता है — ऐसा कारण नहीं। निमित्त भले हो, आहा...हा...! जैसा बोलने का विकल्प आवे, वैसा ही बोला जाता है — ऐसा नहीं। समझ में आया? वीतराग का मार्ग बहुत अलग, बापू! आहा...हा...! ऐसा सूक्ष्मता का मार्ग सर्वज्ञ वीतराग के अतिरिक्त कहीं नहीं है। आहा...हा...! दूसरे सबने सर्वत्र गप्प मारी है। आहा...हा...! देश की सेवा करो, देश के लिए... वह क्या कहलाता है? मर जाये वह... शहीद... शहीद... शहीद... होओ! अरे भगवान! यह तू क्या कहता है? किसका देश? किसका शरीर? हमारा देश। मुम्बई में बोलते हैं... क्या कहलाता है वह? 'अमची मुम्बई!' 'अमची मुम्बई!' अरे प्रभु! शरीर तेरा नहीं, (वहाँ) फिर मुम्बई (तेरी) कहाँ से आयी? हमारा गाँव, हमारे सगे, हमारे प्रिय, हमारे दामाद... प्रभु! उनकी बात तो दूर रही परन्तु यह तो शरीर, वाणी, मन नजदीक है, (एक) क्षेत्र में रहे... आहा...हा...! एक क्षेत्र में रहे (तो भी) उनका कारण मैं नहीं। आहा...हा...! अन्दर स्वभाव में यह श्रद्धा बिठाना बापू! यह कोई साधारण बात नहीं है। धारणा में आ जाये परन्तु अन्दर श्रद्धा में बैठाना... आहा...हा...! यह स्वसन्मुख हुए बिना परसन्मुख की क्रिया का मैं कर्ता और कारण नहीं हूँ, यह नहीं जमता। आहा...हा...! समझ में आया? आहा...हा...!

मैं कारण (हुए) बिना भी.... अब देखो आया! क्या कहते हैं? **मैं कारण (हुए) बिना भी वे वास्तव में कारणवान् हैं।** वास्तव में वे कारणवान हैं, शरीर, वाणी, मन कारणवान हैं। मेरे कारण बिना भी उनके कारणवान हैं। आहा...हा...! जीते जी मर जाना है! पर से मरे बिना इसका जीवन-सम्यग्दर्शन नहीं होता। आहा...हा...! और सम्यग्दर्शन के बिना भव का अन्त नहीं आता प्रभु! आहा...हा...! समझ में आया?

कहते हैं कि इस अचेतन में मैं कारण (हुए) बिना। पहले इतना कहा कि अचेतन का कारण अचेतन है, मैं नहीं। अब **मैं कारण (हुए) बिना....** ऐसा सिद्ध करते हैं। मेरे कारण बिना भी, कारण बिना भी **वे वास्तव में कारणवान् हैं।** वे परमाणु भी कारणवान् हैं। आहा...हा... ! अपनी पर्याय होने में कारणवान् वे परमाणु हैं। आहा...हा... ! कठिन काम है।

सलाह देना, ऐसा करना, वैसा करना, भाषा अच्छी प्रयोग करना, तुम्हारे आधीन भाषा है, भाषा कैसे बोलना, वह तेरे आधीन है... यहाँ कहते हैं (वह तेरे आधीन) नहीं है। आहा...हा... ! भाषा की पर्याय का क्रम है, उस काल में भाषा होगी, उसका कारण वह भाषा है; उसका कारण तू नहीं है।

इसी प्रकार शरीर की अवस्था जिस काल में ऐसे होने की... आहा...हा... ! उस अवस्था का कारण वह द्रव्य है; उस अवस्था का कारण तू नहीं है। आहा...हा... ! शरीर का हिलना हो, पढ़ना हो... आहा...हा... ! विषय-वासना के समय शरीर की क्रिया हो... सूक्ष्म बात, प्रभु ! उस क्रिया का कारण वह जड़ है, तू नहीं। आहा...हा... ! आहा...हा... ! शरीर के अवयव कठिन हो तो कहते हैं कि उनका कारण वह है, तू नहीं। तुझे विकल्प आया कि विषय-सेवन करूँ तो इन्द्रिय कठिन हुई — ऐसा नहीं है। अरे...रे... ! ऐसी बातें ! भाई ! मोक्षमार्गप्रकाशक में हैं। मोक्षमार्गप्रकाशक। आहा...हा... ! उसमें नाक फूलाते हैं... आहा...हा... ! यह सब क्रियाएँ परमाणु की है, मेरे कारण बिना वे क्रियाएँ होती हैं।

नाक फूलाओ, लो ! श्वाँस लो, वैद्य नहीं कहते ? गहराई से श्वाँस लो, गहराई से ! (श्वाँस) ऐसी चलती है या नहीं ? ऐसे देखना हो (तो देखे)। यह गहरी श्वाँस ले सकता है ? परन्तु वह गहराई से (लेने का) कहे तब गहराई से आती है न ? आहा...हा... ! अरे... ! ऐसा मार्ग ! जगत् का उत्साह मिटा डाले, जगत का उत्साह ! आहा...हा... ! अन्दर भगवान का उत्साह करे। मैं तो ज्ञायक हूँ; मैं इस वाणी और शरीर की क्रिया का आधार नहीं हूँ, उसका कारण नहीं हूँ। आहा...हा... ! साराँश यह लिया है। एक क्षेत्र है अवश्य न (इतना) आहा...हा... !

वे वास्तव में कारणवान् हैं। कारणवान् वह चीज ही है। वाणी, शरीर और मन

कारणस्वरूप है, उसका कार्य उसके कारण से होता है, वह कारणवान् है। मेरे कारण उनमें — शरीर में वाणी निकली – ऐसा नहीं है, भाई! धीर हो... धीर हो... भाई! आहा...हा...! इस अजीव का अभिमान छोड़ दे! अजीव की क्रियाएँ मैं करना चाहूँ वैसे होती है — ऐसा छोड़ दे! आहा...हा...!

विषय-वासना न करूँ, अर्थात् शरीर विषय-सेवन न करे तो वह क्रिया नहीं की (तो ऐसा मानता है कि) मैंने सेवन की (क्रिया) नहीं की। अरे...रे...! गजब है! आहा...हा...! विषय सेवन की शरीर की क्रिया मैंने नहीं की। तो वह शरीर की क्रिया तो उसके कारण वहाँ हुई है। उसका कारण वह है, तू कारण नहीं। तुझे ब्रह्मचर्य का भाव आया इसलिए वैसी शरीर की क्रिया न हुई (ऐसा नहीं है)। अरे...रे...! ऐसी बातें! दृष्टान्त कठिन! समझ में आया? आहा...हा...!

आ...हा...! **इसलिए...** किसलिए? शरीर, वाणी, मन का मैं कारण नहीं। पहले कहा कि आधार नहीं, फिर कहते हैं कारण नहीं। **मैं अचेतनद्रव्य नहीं हूँ, कारण (हुए) बिना भी वे वास्तव में कारणवान् हैं।** वे कारणवान् हैं। आहा...हा...! उनमें कर्ता, कर्म आदि गुण हैं। उसके कारण वह पर्याय उनमें कारण है, उससे होती है। आहा...हा...! करण नाम का गुण है न? कर्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान, अधिकरण। (मैं उसका) आधार नहीं हूँ। उनमें आधार नाम का गुण है, (इसलिए) उसके कारण है। वैसे ही उनका कारण नहीं, करण नहीं। मैं करण नहीं, उनमें करण, कारक है। वे कारणवान् ही हैं। भाई! थोड़ी बात परन्तु सत्य होनी चाहिए। बड़ी लम्बी-लम्बी बातें करे, उसमें सत्य की गन्ध न आवे... आहा...हा...! वह धर्मकथा किस काम की? भाई! आहा...हा...!

इसलिए उनके कारणपने का पक्षपात.... देखो! शरीर, वाणी कैसे होती है? उसका मैं कारण नहीं हूँ। इसलिए **कारणपने का पक्षपात छोड़कर....** आहा...हा...! **यह मैं अत्यन्त मध्यस्थ हूँ।** मध्यस्थ हूँ; जैसे हो वैसे हो; उसके कारण (हो), मुझे कोई पक्षपात उसमें है नहीं। आहा...हा...!

विशेष कहेंगे।

प्रवचन नं. १६७ असोज कृष्ण ३ सोमवार, ८ अक्टूबर १९७९

प्रवचनसार, १६० गाथा। तीसरा बोल है न? **और मैं स्वतन्त्ररूप से शरीर, वाणी तथा मन का कारण ऐसा अचेतन द्रव्य....** विशिष्टता क्या है? कि शरीर-वाणी-मन, आत्मा के क्षेत्र में है, तथापि मैं कर्ता नहीं — ऐसा पहले सिद्ध न करके **मैं स्वतन्त्ररूप से शरीर, वाणी तथा मन का....** करनेवाला ऐसा अचेतनद्रव्य — ऐसा सिद्ध किया है। मैं कर्ता नहीं — ऐसा पहले सिद्ध नहीं (किया)। आहा...हा...!

शरीर, वाणी और मन — उसके समय में उसकी पर्याय का कर्ता वे हैं। वह अचेतनद्रव्य ही उसका कर्ता है — ऐसा पहले सिद्ध किया। मैं कर्ता नहीं हूँ — ऐसा सिद्ध न करके... आहा...हा...! आत्मा के क्षेत्र में रही हुई चीज — शरीर, वाणी, मन। दूसरी चीज — पैसा, लक्ष्मी, मकान, वह धूल तो कहीं बाहर रही। आहा...हा...! कहो, यह हीरा-माणिक का कुछ नहीं करता — ऐसा कहते हैं?

प्रश्न : ज्ञान में पता नहीं होता न?

समाधान : यहाँ नहीं, सब जगह होता है न! सिद्धान्त तो सब क्षेत्र में, काल में लागू पड़ता है न! यहाँ तो दूसरा कहना है। शैली ऐसी ली है, पहले (शैली) ऐसी ली है। पहली (बात) ऐसी ली है कि शरीर, वाणी, मन के स्वरूप का आधारभूत अचेतनद्रव्य ऐसा लिया; मैं आधार नहीं — ऐसा नहीं। पहले तो अचेतनद्रव्य आधार है। आहा...हा...! क्या कहा प्रभु! समझ में आता है?

यह शरीर, वाणी (और) मन (के) परमाणु यहाँ हैं, उनका आधार वह अचेतनद्रव्य है, मैं आधार नहीं — ऐसा पहले नहीं लिया। वह अचेतनद्रव्य... आहा...हा...! अन्तिम लिया न? वे **अपने स्वरूप को धारण करते हैं।** धारणा में। पहला बोल — वे स्वरूप को धारण करते हैं। आहा...हा...! शरीर, वाणी और मन के परमाणु, उसके स्वरूप को आधार करके धारण करते हैं। इसलिए मैं उनका धारक नहीं हूँ। आहा...हा...! इसमें कुछ समझ में आता है? यह अचेतनद्रव्य आधार है। आहा...हा...! मेरे प्रदेश में शरीर, वाणी, मन रहे हैं, यह पहले नहीं कहकर, वह शरीर, वाणी, मन के परमाणु उनके आधार से वह

अचेतनद्रव्य रहा है। वे अपने स्वरूप के आधार से धारक हैं, इस कारण (मुझे) उनका पक्षपात नहीं है कि मैं आधार हूँ — ऐसा नहीं है। आहा...हा...! बहुत सूक्ष्म बापू! आहा...! भाई! समझ में आया?

यह शरीर, वाणी, मन मिट्टी है न? पुद्गल। यह वाणी मिट्टी है। इसकी वर्गणा आत्मा के प्रदेशों में रही है और मन भी यहाँ आत्मा के प्रदेश में (एक क्षेत्र में) रहा है। अनन्त परमाणुओं का पिण्ड यहाँ (रहा है)। कहते हैं कि उस स्वरूप का आधारभूत ऐसा अचेतनद्रव्य है, पहले से लिया। उसका आधार वह है। अचेतनद्रव्य है — ऐसा अचेतनद्रव्य है। आहा...हा...! मैं नहीं। उसका आधार अचेतनद्रव्य है। आहा...हा...! मैं नहीं। एक बात।

शरीर, वाणी, मन का कारण अचेतनद्रव्य है। आहा...हा...! है? कारण — ऐसा अचेतनद्रव्य (कहा), इसके बाद कहा कि मैं (कर्ता) नहीं हूँ। सूक्ष्म बात है भाई! शरीर, वाणी और जगत् के ये जड़ परमाणु हैं, वस्तु है, उसका कारण वह अचेतनद्रव्य है, मैं नहीं। यह बाद में लिया। आहा...हा...! कठिन काम! यह तो पूरे दिन हम करते हैं, शरीर का करते हैं, भाषा बोलते हैं। यहाँ तो एक क्षेत्र में रहे हुए की बात है। क्षेत्र से बाहर रहे हुए स्त्री, कुटुम्ब, परिवार, लक्ष्मी, मकान की यहाँ बात ही नहीं है। वे तो उनके आधार से रहे हैं और उनके कारण होते हैं। आहा...हा...!

मुमुक्षु : यह तो बाबा होना पड़े।

पूज्य गुरुदेवश्री : बाबा ही है। आहा...हा...! भगवान तेरा द्रव्य तो विश्व से भिन्न है न! विश्व अर्थात् परमाणु से लेकर महा अचेतन स्कन्ध, जीव, और राग आदि... आहा...हा...! यह सब विश्व है। इससे तेरा स्वरूप तो भिन्न है। पहले ऐसा न लेकर यह शरीर, वाणी, मन जो क्षेत्र में देश-प्रदेश में रहे हैं, उनका कारण वह द्रव्य है। उनका कारण वह द्रव्य है। आहा...हा...! मैं नहीं। मैं नहीं — ऐसा कहा। है?

मैं शरीर, वाणी तथा मन का कारण ऐसा अचेतनद्रव्य.... (नहीं हूँ —ऐसा) सिद्ध किया। आहा...हा...! वीतराग जिनेश्वर का तत्त्व बहुत सूक्ष्म है भाई! परमात्मा वीतराग सर्वज्ञदेव का कहा हुआ तत्त्व बहुत सूक्ष्म है। आहा...हा...!

कहते हैं कि दूसरा बोल : **मैं...** इतना। **शरीर, वाणी तथा मन का कारण ऐसा**

अचेतनद्रव्य.... ऐसा। 'मैं' एक ओर रखा। फिर **शरीर, वाणी तथा मन का कारण ऐसा अचेतनद्रव्य....** ऐसा सिद्ध किया। वह मैं नहीं अर्थात् वह अचेतनद्रव्य उसके कारण उस (रूप) होता है। आहा...हा...! ऐसा सूक्ष्म! तुम्हारे तो पूरे दिन धमाल चलती है, हीरा-माणिक को घिसनेवाले बीस-पच्चीस लोग (होते हैं)। एक-एक को पाँच सौ-सात सौ रुपये महीने की आमदनी, ऐसे बीस-पच्चीस (लोग), उनके ये सेठिया कहलाते हैं। आहा...हा...!

आहा...हा...! यहाँ तो प्रभु! तेरी प्रभुता तुझमें रही है और यह शरीर, वाणी, मन एकक्षेत्र में रहे हैं... आहा..हा..! तथापि उस अचेतन का कारण वह द्रव्य है। इस शरीर, वाणी का कारण वह द्रव्य है; मैं नहीं — ऐसा बाद में कहा। आहा...हा...! बहुत सूक्ष्म! ऐसा मार्ग है। आहा...हा...! यह अपने आ गया है।

अब यहाँ कर्ता (लेते हैं)। तीसरा बोल है। **मैं स्वतन्त्ररूप से शरीर, वाणी तथा मन का कर्ता....** भाषा यह है। शरीर, वाणी, मन का करनेवाला वह द्रव्य है। आहा...हा...! शरीर, वाणी, मन की पर्याय का करनेवाला वह द्रव्य है — ऐसा सिद्ध करके और फिर कहा कि मैं (करनेवाला) नहीं हूँ। आहा...हा...! समझ में आया? अन्तर कहाँ डाला?

पहले यह सिद्ध किया कि शरीर, वाणी, मन के परमाणु स्वतन्त्ररूप से कर्ता होकर कर्ता हैं; वह मैं नहीं, उनमें मैं नहीं। आहा...हा...! समझ में आया? भाषा तो सादी है परन्तु भाव तो बहुत (गम्भीर है)। भगवान तीन लोक के नाथ सर्वज्ञदेव परमेश्वर की वाणी है बापू! आहा...हा...!

कहते हैं कि यह शरीर, वाणी, मन स्वतन्त्ररूप से होते हैं। इस शरीर, वाणी, मन का कर्ता — स्वतन्त्ररूप से कर्ता (होकर) उनका कार्य होता है। आहा...हा...! शरीर की चेष्टा होना... आहा...हा...! मेरी प्रेरणा है, इसलिए शरीर की चेष्टा होती है (ऐसा नहीं है)। इस शरीर की चेष्टा का स्वतन्त्ररूप से कर्ता शरीर है। आहा...हा...! समझ में आया? यह तो ज्ञेय अधिकार है और यह सम्यग्दर्शन का अधिकार है। आहा...हा...!

शरीर, वाणी और मन। हृदय में अनन्त परमाणुओं का (बना हुआ मन है), उसका स्वतन्त्ररूप से कर्ता वह अचेतनद्रव्य है — ऐसा पहले सिद्ध करके, (उसका) कर्ता

(वह) स्वतन्त्ररूप से है; मैं नहीं। आहा...हा...! समझ में आया? वीतरागमार्ग अलौकिक मार्ग है प्रभु! आहा...हा...! एक-एक द्रव्य को उस-उस काल में उस-उस पर्याय का स्वतन्त्र कर्ता (सिद्ध किया है)। आहा...हा...! आत्मा ने प्रेरणा की और इच्छा हुई, इसलिए शरीर चला; इच्छा हुई, इसलिए भाषा बोली गयी (ऐसा नहीं है)। आहा...हा...!

मुमुक्षु : डॉक्टर का साथ हो तब तो ऑपरेशन करता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : धूल भी ऑपरेशन नहीं करता। आहा...हा...!

यहाँ तो कहते हैं प्रभु! सन्त कहते हैं वे प्रभु के आढ़तिया हैं। सर्वज्ञ त्रिलोकनाथ परमेश्वर के ये सन्त आढ़तिया हैं। इसे माल बताते हैं प्रभु! सर्वज्ञदेव ऐसा कहते हैं कि शरीर, वाणी और मन के परमाणुओं (से) स्वतन्त्ररूप से उनकी पर्याय की जाती है, कर्ता होकर की जाती है — यह पहले सिद्ध किया। आहा...हा...! उसमें मैं नहीं। समझ में आया? आ...हा...! मैं हूँ तो इस ज्ञायकभाव में हूँ। मैं हूँ वह ज्ञायकभाव में हूँ। इस शरीर, वाणी, मन के कारणरूप-कर्तारूप स्वतन्त्ररूप से हो, उसमें मैं नहीं। आहा...हा...! क्या शैली! अमृतचन्द्राचार्यदेव की गजब शैली! दिगम्बर मुनि! है कहीं ऐसी बात?

ओहो...हो...! ढिंढोरा पीटकर कहते हैं कि शरीर, वाणी, मन के परमाणु स्वतन्त्ररूप से, मेरी अपेक्षा रखे बिना, इच्छा और प्रेरणा की अपेक्षा रखे बिना... आहा...हा...! यह शरीर और वाणी के परमाणु स्वतन्त्ररूप से किये जाते हैं। स्वतन्त्ररूप से किये जाते हैं, यह बात पहले सिद्ध की; इसलिए वे मैं नहीं हूँ। आहा...हा...! भाषा तो सादी है, प्रभु! तेरी बात तो अलौकिक है! आहा...हा...! आहा...! प्रभु है यह तो! आत्मा ज्ञायकभाव में रहा है। ये शरीर, वाणी, मन के परमाणु भले एक क्षेत्र में हों परन्तु स्वयं तो अपने ज्ञायकक्षेत्र में रहा है। आहा...हा...! और वे एक क्षेत्र में रहनेवाले शरीर, मन, वाणी के रजकण, भाषावर्गणा के रजकण, शरीर के, मन के (रजकण) कहते हैं कि **स्वतन्त्ररूप से शरीर, वाणी तथा मन का कर्ता ऐसा अचेतनद्रव्य...** ऐसा लिया। शरीर, वाणी, मन का करनेवाला अचेतन द्रव्य — ऐसा पहले कहा। फिर कहा (वह) मैं नहीं, उनमें मैं नहीं। आहा...हा...! है? आहा...हा...! अगम-निगम की बात है! तुम्हारे मुम्बई की उपाधि का पार नहीं पड़ता, पूरी उपाधि! यह बात ऐसी है। आहा...हा...! गजब बात! क्या इनकी शैली!! भिन्नपने को बतलानेवाली शैली!

कहते हैं प्रभु ! शरीर के रजकण, मन के रजकण, वाणी के रजकण, स्वतन्त्ररूप से उसरूप किये जाते हैं — ऐसा वह तो अचेतनद्रव्य है। उसमें मैं नहीं और वे किये जाते हैं, उनमें मेरा जरा भी पक्षपात नहीं है कि मैंने ऐसा विकल्प किया, इसलिए ऐसा हुआ; मेरे ज्ञान में ऐसा आया कि ऐसा बोलना चाहिए इसलिए ऐसा हुआ — ऐसा मेरा शरीर, वाणी, मन के कर्तापने के कार्य में जरा भी पक्षपात नहीं है। आहा...हा... ! दिगम्बर मुनि के अतिरिक्त ऐसी वाणी कहाँ है ? आहा...हा... !

वह भगवान (रजनीश) ! कल सब बड़े आये हैं। आहा...हा... ! अरे... प्रभु ! यह बात अलग, प्रभु ! आहा...हा... ! वह तो (ऐसा) कहता है कि भोगानन्द में जोगानन्द है। अरे... प्रभु ! सुन न प्रभु ! तेरे प्रदेश में जो शरीर का भोग होता है... आहा...हा... ! वह स्वतन्त्ररूप से शरीर के परमाणु उसके कर्ता हैं, तू नहीं। आहा...हा... !

पहले आधार सिद्ध किया था कि शरीर, मन और वाणी (इसके) क्षेत्र में है न, इसलिए आधार सिद्ध किया था। आधार पहले क्यों सिद्ध किया ? क्योंकि (इसके) क्षेत्र में है न (इसलिए)। दूसरी (चीजें) पैसा, लक्ष्मी, स्त्री, कुटुम्ब, मकान तो बाहर हैं परन्तु इस क्षेत्र में है न, इसलिए पहले आधार सिद्ध किया। आहा...हा... ! यह शरीर, वाणी, और मन का आधार, वह अचेतनद्रव्य है। ऐसा कहकर फिर कहा कि मैं नहीं। अचेतनद्रव्य (उसका आधार) है, मैं नहीं। आहा...हा... ! अरे... ! ऐसी बात।

फिर कहा कि शरीर, वाणी और मन... आहा...हा... ! उनके कारण वास्तव में वे कारणवाले हैं। शरीर, मन और वाणी कारणवाले हैं। आहा...हा... ! इसलिए शरीर और मन कारणवाले होने से उनका कारण वह अचेतनद्रव्य है। 'है' — ऐसी पहले अस्ति सिद्ध की। वह मैं नहीं। आहा...हा... ! समझ में आया ? अब ऐसा उपदेश ! वीतरागमार्ग-जिनेश्वरमार्ग बहुत सूक्ष्म है। आहा...हा... !

अभी तो सब गड़बड़ चलती है। परद्रव्य को प्राप्त कर सकते हैं (ऐसा) न माने तो मिथ्यात्वी है – ऐसा कहा ! प्रभु... प्रभु... ! भाई ! प्रभु ! तेरी प्रभुता को कलंक लगता है। भाई ! तुझे दुःख होता है। आहा...हा... ! परद्रव्य प्राप्त कर सकते हैं ? परद्रव्य उसके आधार से रहा है, उसके कारण से कारणवाला, उसे तू कारण दे तो तेरे पास आये... आहा...हा... !

ऐसा नहीं है। समझ में आये उतना समझना प्रभु! वीतराग परमेश्वर, उसमें भी जैन परमेश्वर...! सन्त... दिगम्बर सन्तों ने तो गजब काम किया है!! आहा...हा...! केवली का विरह भुलाया है — ऐसी यह बात रखी है। आहा...! उसके ख्याल में आ जाये, बैठ जाये — ऐसी बात है। आहा...हा...! कहो भाई! ऐसी बात है!

मेरी कोई अपेक्षा (नहीं), यह मैं पहले नहीं कहता। यह शरीर, वाणी, मन के परमाणु स्वतन्त्ररूप से कारक — ऐसा जो अचेतनद्रव्य... शरीर, वाणी, मन का करनेवाला — ऐसा अचेतनद्रव्य। आहा...हा...! (उसकी) पर्याय का करनेवाला अचेतनद्रव्य। आ...हा...! पागल लगे पागल! बोले और कहे कि यह मुझसे नहीं होता! कौन बोले? प्रभु! बोले वह दूसरा, वह आत्मा नहीं। आहा...हा...!

आहा...हा...! भगवान का पेट (हृदय) खोला है! आहा...हा...! कहते हैं कि स्वतन्त्ररूप से वे रजकण कर्ता हैं न? स्वतन्त्ररूप से अर्थात् कर्ता। आहा...हा...! इसलिए मेरी किसी इच्छा और ज्ञान की कोई अपेक्षा रखकर शरीर और मन के परमाणु परिणमित होते हैं — ऐसा नहीं है। आहा...हा...! यह शरीर, मन, और वाणी भले तेरे प्रदेश में रहे, तेरे प्रदेश की क्रिया और उनकी क्रिया (भिन्न-भिन्न है)। (उनकी क्रिया) वह स्वतन्त्ररूप से अचेतनद्रव्य कर्ता होकर करता है। आहा...हा...! समझ में आया? बात है थोड़ी परन्तु बात है गम्भीर! आहा...हा...! अभी तो देश सेवा करो (ऐसा चलता है)।

मुमुक्षु : आत्मा के देश की सेवा या बाहर के देश की सेवा?

समाधान : बाहर की (सेवा)। जहाँ रहा है, वहाँ नजर जाये तो वह तो पर में है नहीं। उस पर में है नहीं, पर से है नहीं। आहा...हा...! यह तो सबेरे आ गया है — ज्ञप्तिक्रिया, सत् अहेतुक है। आहा...हा...! जो आनन्द और शान्ति की ज्ञान की क्रिया — परिणमन (हुआ), वह स्वतन्त्ररूप से कर्ता होकर करे — ऐसा भी नहीं लिया। वह पर्याय स्वतन्त्ररूप से होकर ज्ञप्तिक्रिया होती है, धार्मिकक्रिया (होती है)। भले उसका लक्ष्य द्रव्य पर होता है परन्तु फिर भी वह धार्मिकक्रिया स्वयं ज्ञप्ति सत् है और सत् होने से अहेतुक है, उसे कोई कारण नहीं है। आहा...हा...! अहेतुक होने से... आहा...हा...! सत् अहेतुक ज्ञप्तिक्रिया! आहा...हा...! जानने-देखने के (भाव और) श्रद्धा — ऐसी जो

परिणमन की क्रिया भले स्वलक्ष्य से हो परन्तु पर्याय-ज्ञप्तिक्रिया स्वतन्त्ररूप से परिणमित होती है। आहा...हा...! इसका नाम परमात्मा धर्म कहते हैं। आहा...हा...!

यहाँ तो प्रभु ऐसा कहते हैं। आ...हा...! कि प्रभु! तेरे प्रदेश में रहनेवाले-तेरे क्षेत्र में रहे हुए... यह सब बाहर के स्त्री, पुत्र, परिवार की बात तो क्या करना, वे तो उनके स्वतन्त्ररूप से कर्ता, स्वतन्त्ररूप से आधार और स्वतन्त्ररूप से वे कारणपने हैं। वे सभी द्रव्य उनके कारणपने हैं। तेरा कारण उनमें बिल्कुल नहीं है। आहा...हा...! परन्तु तेरे प्रदेश में रहे हुए असंख्य प्रदेश! आहा...हा..! उनमें परमाणु के अनन्त रजकण, भाषावर्गणा के अनन्त रजकण, अनन्त रजकण मन के-यहाँ हृदय में मन है, वे अनन्त रजकण तेरे प्रदेश और क्षेत्र में रहे हैं — ऐसा नहीं है। वे तो उनके आधार से रहते हैं, उनके आधार से रहे हैं। आहा...हा...! उनमें मैं आधार नहीं हूँ। आहा...हा...!

यह शरीर, वाणी, और मन कारणवाला द्रव्य है, उसके कारण वह अचेतनद्रव्य वहाँ परिणमित होता है। कारणवाला होने से परिणमित होता है, उसमें मैं नहीं हूँ। आहा...हा...! ऐ...ई...! कभी सुना नहीं ऐसी बातें हैं यह! आहा...हा...! वीतराग परमेश्वर...

यह हाथ ऐसे-ऐसे होता है, कहते हैं कि यह शरीर के परमाणु स्वतन्त्ररूप से इस प्रकार परिणमित होकर किया जाता है, उनमें मैं नहीं हूँ, उनमें आत्मा नहीं है। भाषारूप जो परिणमन किया जाता है वह भाषावर्गणा के परमाणु कर्ता होकर भाषारूप कार्य होता है। वह अचेतनद्रव्य का कार्य अचेतन से होता है। मैं (कर्ता) नहीं हूँ। आहा...हा...! अब ऐसी बातें सूक्ष्म लगे! (परन्तु) क्या हो? प्रभु!

भगवान ने तो अनन्त द्रव्य कहे हैं न? तो अनन्त द्रव्य कब रहते हैं? कि अपने-अपने क्षेत्र में अपने-अपने स्वतन्त्र कर्तारूप का कार्य करे तो अनन्त द्रव्य भिन्न-भिन्न रहें परन्तु दूसरे की अपेक्षा रहे तो भिन्नपना नहीं रहता। आहा...हा...! समझ में आया? आहा...हा...!

मैं... इतना। मैं (अर्थात्) एक ज्ञायकभाव। **स्वतन्त्ररूप से शरीर, वाणी तथा मन का कारक (कर्ता) ऐसा अचेतनद्रव्य....** उनका करनेवाला अचेतनद्रव्य — ऐसा सिद्ध किया। तत्पश्चात् कहा कि मैं (उनका कर्ता) नहीं। आहा...हा...! अस्ति-नास्ति

की है। उनका करनेवाला वह; उसमें मैं नहीं। आहा...हा... ! क्या टीका ! आहा...हा... ! तीन खण्ड में अभी ऐसी टीका नहीं, मार्ग को ऐसा खुला-प्रगट कर दिया है। आहा...हा... !

कहते हैं कि उस-उस समय की शरीर, वाणी, मन की तुझे भिन्न-भिन्न परिणति दिखती है, इसलिए तुझे ऐसा लगता है कि भिन्न-भिन्न है, इसलिए मेरा इसमें कुछ आधार, कारण और कर्तापने का कोई अंश है — ऐसा तुझे लगे तो प्रभु ! ऐसा नहीं है। जब भिन्न-भिन्न इच्छा हुई तो शरीर ऐसे चलने लगा, इसलिए तुझे ऐसा लगता है कि शरीर के चलने में इच्छा का कारण है। (तो) ऐसा नहीं है। उस समय शरीर के परमाणु स्वतन्त्ररूप से कर्ता होकर करते हैं। यह सिद्ध करके कहा कि मैं उसमें नहीं हूँ। आहा...हा... ! अरे ! अब ऐसी बातें ! यहाँ तो अभी पर की दया पालो और... (ऐसा सब चलता है)। है ?

मैं स्वतन्त्ररूप से.... कर्ता शब्द है न ? कर्ता उसे कहते हैं, जिसे स्वतन्त्ररूप से करे। वाणी, मन और शरीर का परिणमन जो समय-समय में भिन्न-भिन्न दिखता है... आहा...हा... ! इस कारण उसमें मेरा कुछ अधिकार है... आहा...हा... ! खाने के समय ऐसे अंगुली से रोटी के टुकड़े होते हैं, इसलिए उस क्रिया के अधिकार में मेरा जरा अधिकार है — ऐसा नहीं है। आहा...हा... ! समझ में आया ? आहा...हा... !

प्यास लगी हो और हाथ ऊँचा करके ऐसे पानी गटक... गटक... (पीवे उसमें), वह हाथ की क्रिया तेरे प्रदेश में होने पर भी, उस हाथ की क्रिया का कर्ता स्वतन्त्ररूप से वह परमाणु करता है। आहा...हा... ! उसमें मैं नहीं, उसमें मैं — आत्मा नहीं। आहा...हा... ! गले उतारना बहुत कठिन !

मुमुक्षु : भेदज्ञान करे उसे...

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ यह तो भेदज्ञान (करे उसे उतरे)। वस्तु भिन्न है न, भाई ! भिन्न वस्तु (है तो) उसका कार्य भिन्न है। उस-उस समय में भिन्न-भिन्न लगे कि यह भिन्न-भिन्न है, इसलिए मेरे राग की और मेरे ज्ञान की किसी अपेक्षा से इसमें परिणति होती होगी ? कि नहीं। आहा...हा... !

कहो, हाथ से ऐसे टोपी लेकर पहने (तो) कहते हैं कि उसमें कुछ मेरी इच्छा की अपेक्षा होगी और मेरे ज्ञान में था कि यह टोपी यहाँ लगाऊँ — ऐसी कोई अपेक्षा शरीर की

क्रिया होने में होगी ? (कहते हैं) कि नहीं; वह तो स्वतन्त्ररूप से अचेतनद्रव्य कर्ता है न ? आ...हा... ! आहा...हा... !

बालक हो या युवक हो, यह सबको समझने की बात है, प्रभु ! आत्मा बालक नहीं, युवक नहीं, वृद्ध नहीं। आत्मा शरीर, वाणी, और मन नहीं फिर प्रश्न (कहाँ रहा) ? आहा...हा... ! शरीर, वाणी, और मन के रजकणों का उस-उस समय में स्वतन्त्ररूप से क्रमबद्ध में करना होता है। आहा...हा... ! परमाणु की वह-वह पर्याय उस प्रकार से स्वतन्त्ररूप से होती है, वह अचेतन से होती है। उससे होती है, मैं (करनेवाला) नहीं हूँ। आहा...हा... ! ऐसा (गले) उतरना...

अकर्तापने की वीतरागी दृष्टि कोई अलौकिक है। आहा...हा... ! किसी द्रव्य का कोई ईश्वर आदि कर्ता तो नहीं परन्तु तेरे क्षेत्र में रहनेवाले परमाणु का परिणमन है, वह उस समय उस प्रकार के परिणमन का कर्ता (वह) स्वतन्त्र द्रव्य है, वह तेरे कारण नहीं; तू उसका कर्ता नहीं, आहा...हा... ! अकर्तापने की पराकाष्ठा।

फिर, (ऐसा) **अचेतनद्रव्य नहीं.... शरीर, वाणी तथा मन का कारक (कर्ता) ऐसा अचेतनद्रव्य....** बस इतना ! करनेवाला ऐसा अचेतनद्रव्य वह मैं नहीं। पहले मैं नहीं — ऐसा है। आहा...हा... ! आहा...हा... ! **मैं कर्ता (हुए) बिना भी....** अब सिद्धान्त (बतलाते हैं।) **वे वास्तव में किये जाते हैं। वे वास्तव में किये जाते हैं।** यह सिद्धान्त है। उसमें ऐसा था कि अपने स्वरूप को धारण करता है। उसमें ऐसा था कि वे वास्तव में कारणवाले हैं। यहाँ कहते हैं कि वे वास्तव में किये जाते हैं। आहा...हा... ! समझ में आया ? (यह तो) समझ में आये ऐसा है। आहा...हा... ! और समझता है, उसे समझाते हैं न ? यह कहीं जड़ तो नहीं कहते। प्रभु ! तू ज्ञानस्वरूप है न ! तुझे कहते हैं।

तू तुझमें है, उस समय दूसरे की जो भिन्न-भिन्न क्रिया होती है (उसमें) तुझे (ऐसा) लगे कि मौन था और वाणी हुई। अरे... ! कुछ मेरी प्रेरणा और मेरी अपेक्षा वाणी में है - ऐसा मानना मत। आ...हा... !

वे... वे अर्थात् शरीर, वाणी, और मन के रजकण वास्तव में स्वतन्त्ररूप से कर्ता होकर **किये जाते हैं।** किये जाते हैं, उसमें तेरा क्या अधिकार ? आहा...हा... ! जो किये

जाते हैं, उसमें तेरा क्या अधिकार, पक्षपात? (तुझे ऐसा लगता है कि) नहीं... नहीं। इसमें कुछ न कुछ अन्तर था — ऐसी ही वाणी क्यों निकली? आहा...हा...! कि ऐसी (वाणी) निकलने का उसका स्वतन्त्ररूप से उस कार्य का वह कर्ता है। इस कारण **वे वास्तव में किये जाते हैं।** वाणी का वाणी कर्ता होने से, अचेतनद्रव्य होने से, उससे वह की जाती है। आहा...हा...! थोड़ा भी सत्य होना चाहिए, प्रभु! बड़ी बातें करे और उसमें सत्य का अंश न आवे तो हो गया। यह क्या चीज है? भाई! आहा...हा...! कहो भाई! यह तो पहले जड़ के तुम्हारे ऐसा आया! वस्तु ऐसी है। आहा...हा...!

खाने के समय ऐसी ही इच्छा होती है कि इस रोटी के टुकड़े करूँ और खाऊँ और उसमें कंकरी आ गयी हो तो थू... करूँ — ऐसी ही इच्छा होती है तो तद्नुसार वहाँ होता है। आहा...हा...! यह स्वतन्त्ररूप से उस परमाणु की पर्याय उस प्रकार से उससे होती है। उसमें मेरा कुछ अधिकार, पक्षपात है नहीं। आहा...हा...! अधिकार नहीं, आ...हा...! वाह प्रभु वाह! आहा...हा...!

पर्याय में प्रभु स्वयं स्वतन्त्ररूप से जानने-देखने की क्रिया करे, उसका कर्ता और कारण वह मैं हूँ परन्तु शरीर, वाणी और मन की भिन्न-भिन्न क्रिया में कुछ न कुछ आत्मा की अपेक्षा है — ऐसा बिल्कुल नहीं है। आहा...हा...! तो फिर इस (लड़के को) सम्हालना और दुकान पर जाना, यह (सब कार्य) कहाँ गया? ऐसी बातें हैं, भगवान! आहा...हा...! दुनिया से अलग है प्रभु! आहा...हा...! यह कोई उतावल से पकड़ में आये ऐसा नहीं है। प्रभु! अन्दर में धीरज चाहिए-शान्ति (चाहिए)। जरा स्वलक्ष्य में आवे तो बात जँचे। आहा...हा...!

मैं कर्ता (हुए) बिना.... देखा? किये जाते हैं? (ऐसा कहा) फिर मैं कर्ता हुए बिना भी (ऐसा कहा)। आहा...हा...! शरीर, वाणी, मन की पर्याय उसके कारण से उस-उस काल में क्रमबद्ध में उस प्रकार की होती है तो **मैं कर्ता (हुए) बिना भी वे वास्तव में किये जाते हैं।** कहो भाई! आहा...हा...! ऐसा है। वीतराग त्रिलोकनाथ की पुकार (यह है)। इन्द्रों और गणधरों के बीच यह कहते थे। आहा...हा...! परमात्मा विराजमान हैं, भगवान! महाविदेह में प्रभु विराजते हैं, वे यह बात कहते थे, वह कुन्दकुन्दाचार्यदेव लाये। आहा...हा...! आहा...हा...!

मुमुक्षु : आप लाये और हम सुनते हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : बहुत सरस मीठी बात है, प्रभु! भाग्यशाली, बापू! अरे... ऐसी परम सत्य की बात (सुनने को मिली) 'भवि भागन वच' आता है न? परम सत्य!

वे वास्तव में किये जाते हैं। मैं कर्ता बिना भी, मेरी अपेक्षा बिना भी... आहा...हा...! मेरी उसमें उपस्थिति बिना भी... आहा...हा...! शरीर, वाणी, मन की पर्याय क्षण-क्षण में की जाती है न? **इसलिए उनके कर्तृत्व का पक्षपात छोड़कर...** है? आहा...हा...! कर्तृत्व का पक्षपात छोड़कर... भाई! यह सब करते हैं न? आहा...हा...! प्रमुख होकर नहीं करते? वहाँ प्रमुख है ऐसा (लोग) कहते हैं। आहा...हा...! बहुत कठिन काम! आहा...हा...!

यह उपदेश करते हैं या नहीं? प्रभु! सुन! आहा...हा...! अरे... प्रभु! किये जाते हैं, उसमें तुझे कर्ता होना है? यह सिद्धान्त है। किये जाते हैं, उसमें तुझे कर्ता होना है? आहा...हा...! ऐसी बातें भाग्यशाली को कान में पड़े — ऐसी बात है! आहा...हा...!

इसलिए उनके कर्तृत्व का.... स्वतन्त्ररूप से शरीर, वाणी, मन के परमाणु परिणमित होते हैं। कर्ता होकर स्वतन्त्रपने, जिन्हें पर की कोई अपेक्षा नहीं है; इसलिए **उनके कर्तृत्व का पक्षपात छोड़कर यह मैं अत्यन्त मध्यस्थ हूँ।** आहा...हा...! अत्यन्त मध्यस्थ हूँ। जानने-देखनेवाला कहते हैं तो भी वह व्यवहार मध्यस्थ है। आहा...हा...! आहा...हा...! यह कर्ता की व्याख्या (हुई)।

अब कराना, प्रयोजक... योजक-प्रयोजक। कर्ता भले ही वे, परन्तु मैं करानेवाला हूँ, योजना की, प्रयोजना-योजना शोधी और शरीर, वाणी, मन का मेरे ऐसे करना है; इस प्रकार मैं उसकी योजना से करानेवाला हूँ — ऐसा नहीं है। आहा...हा...! भाई! ऐसी बात है बापू! भाग्यशाली बापू! यह कहाँ था कहीं? किसान में से आये हैं। आहा...हा...! अरे... ऐसी (बात) कहाँ है? बापू! यह तो परम अमृत सत्य है। आहा...हा...!

और मैं, स्वतन्त्ररूप से शरीर, वाणी तथा मन का कारक (कर्ता) ऐसा जो अचेतनद्रव्य.... पहले यह (सिद्ध किया) शरीर, वाणी, और मन का करनेवाला अचेतनद्रव्य है। आहा...हा...! करनेवाला तो वह है। **उसका प्रयोजक नहीं हूँ;....** उसकी योजना करके मैं करनेवाला नहीं हूँ। आहा...हा...! व्यवस्था करता हूँ...

मुमुक्षु : मकान-वकान का नक्शा तो करता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : नक्शा करें ये, (इन भाई को) पता पड़े। उसकी तो यहाँ बात है ही नहीं, नक्शा की और बाहर की बात तो (है ही नहीं)। आहा...हा...!

यहाँ तो आत्मप्रदेश में रहनेवाले जड़ परमाणुओं की अवस्था की बात प्रभु फरमाते हैं। आहा...हा...! तुझे ऐसा लगता हो कि मेरी अन्दर अस्ति है, इसलिए इसकी — शरीर, वाणी, मन की अस्ति है — ऐसा नहीं है प्रभु! और मैं कारणपने हूँ, इसलिए यह शरीर, वाणी, मन की पर्याय होती है — ऐसा नहीं है। वे कारणपने सहित ही हैं। कारणपने सहित हैं, उन्हें दूसरा कारण है, वह कारण है ही नहीं। आहा...हा...! गजब बात है।

मुमुक्षु : दो कारण होवे तो कार्य होता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : दो कारण की यहाँ बात ही नहीं है। आहा...हा...! ऐ...ई...! वे दो कारण कहते हैं न?

यहाँ तो कारणपने कहा न? वह वास्तव में... आहा...हा...! कारणवाले हैं न? प्रभु! शरीर, वाणी, और मन के वे परमाणु कारणवाले हैं न? कारणवाले हैं, उन्हें तू कारण किस प्रकार हो सकेगा? आहा...हा...! ऐसी बात है।

यह तो जिसे आत्मा की गरज हो, भव-भ्रमण से डरता हो... आहा...हा...! उसके लिए यह बात है। अभी तो पहली दर्शनशुद्धि की बात है। चारित्र तो बापू! यह चारित्र कहाँ रहा?! ओ...हो...हो...! वह तो कोई अलौकिक बातें हैं! आहा...हा...! यहाँ तो अभी दर्शनशुद्धि की बात है, अथवा तो सम्यग्दर्शन-ज्ञानसहित की बात है। आहा...हा...!

दर्शनशुद्धि (हुई है ऐसा) समकिती जीव अपने ज्ञान में शरीर, वाणी, मन का आधार (मैं हूँ) — ऐसा नहीं मानता। उसे उसका आधार है (ऐसा मानता है), उसका कारण मैं हूँ — ऐसा नहीं मानता क्योंकि वे सभी द्रव्य कारणवाले हैं। मैं कर्ता नहीं हूँ, क्योंकि वे कर्तावाले हैं। हैं न? आहा...! **वास्तव में किये जाते हैं।** ऐसा आया न? वे किये जाते हैं। आहा...हा...! किये जाते हैं, उसमें तुझे करना है? प्रभु! आहा...हा...!

यहाँ प्रयोजक (कहते हैं)। भले किये जाते हैं उनसे, परन्तु मैं योजना करनेवाला,

करानेवाला हूँ। योजक हूँ, प्रयोजक हूँ। प्रयोजक है न? प्र=विशेष योजक। यह वाणी, मन का ऐसा होना चाहिए। कर्ता भले वे (हो) परन्तु करानेवाला मैं! आहा...हा...!

ऐसी वाणी! दिगम्बर सन्त के सिवाय कहीं नहीं है। श्वेताम्बर में भी यह वस्तु नहीं है। आहा...हा...! अन्यमत में तो है ही नहीं परन्तु श्वेताम्बर, स्थानकवासी और मन्दिरमार्गी (में) भी यह बात नहीं है। प्रभु! क्योंकि सब शास्त्र कल्पित बनाये हैं। प्रभु! कठोर लगेगा, दुःख लगेगा, दुःख लगेगा, प्रभु! तुझे दुःख नहीं लगे, तुझे भ्रम छोड़ने के लिए बात ऐसी बात है। भाई! गोम्मटसार में संशय मिथ्यादृष्टि कहा है न? और इसमें-द्रव्यसंग्रह में भी कहा है। संशय (अर्थात्) ऐसा होगा या ऐसा होगा? श्वेताम्बर को संशय मिथ्यादृष्टि में डाला है। कठोर बात है। आहा...हा...! बड़ा पंथ और उसे मिथ्यादृष्टि सिद्ध करना! कठिन काम, भाई! ये (दिगम्बर सन्त) तो स्वतन्त्र चीज को बतलानेवाले हैं।

यहाँ तो कहते हैं... आहा...हा...! शरीर, वाणी, मन के परमाणु स्वतन्त्ररूप से वे करनेवाले-कर्ता हों — ऐसा जो अचेतनद्रव्य, कर्ता हो ऐसा जो अचेतनद्रव्य अर्थात् ऐसा सिद्ध करते हैं। **उसका प्रयोजक नहीं हूँ;** मैं उनका प्रयोजक नहीं हूँ। आहा...हा...! शस्त्र की ऐसी योजना करना, मकान की ऐसी योजना करना, यह तो बाहर की (बात) रही परन्तु शरीर, वाणी, मन की योजना ऐसी रखना... आहा...हा...! कर्ता नहीं परन्तु करानेवाला हूँ — ऐसा भी नहीं। आहा...हा...!

मैं... इतना। **स्वतन्त्ररूप से शरीर, वाणी तथा मन का कारक (कर्ता) — ऐसा जो अचेतनद्रव्य....** ऐसा पहले सिद्ध किया है। इस समय वाणी, मन, शरीर का पर्यायरूपी कार्य होता है। होता है ऐसा तो सिद्ध किया परन्तु उसका प्रयोजक मैं हूँ — ऐसा नहीं है। प्र = विशेष योजक = योजना करनेवाला। आहा...हा...! वाणी ऐसी होनी चाहिए और शरीर को ऐसा रहना चाहिए। आहा...हा...! उसका मैं कर्ता तो नहीं परन्तु करानेवाला भी नहीं। आहा...हा...! ऐसा है।

भाई ने कहा न? बाबा हो (तब यह समझ में आये)। बाबा ही है, भाई! तेरा तत्त्व जगत् से भिन्न है, विश्व से भिन्न है, यह पहले कहा। अब यहाँ शरीर, मन, वाणी (के) नजदीक के परमाणुओं की भी स्वतन्त्ररूप से पर्याय हो, उसका करनेवाला वह अचेतनद्रव्य

(है ऐसा कहते हैं)। उसका प्रयोजक मैं हूँ — ऐसा नहीं है। इस प्रकार वाणी होनी चाहिए और ऐसा शरीर का रहना चाहिए, चलते (समय) पैर ऐसा ऊँचा रखना, (जिससे) नीचे जीव न आ जाये। आहा...हा...! गजब बात है! मुनि ईर्यासमिति से चलते हैं — ऐसा शास्त्र में आता है। नीचे कोई जीव हो तो पैर को ऊँचा रखना। यहाँ कहते हैं कि पैर की क्रिया उस समय की जाती है, उसमें मैं क्या करूँ? आहा...हा...! पानी उतर जाये ऐसा है। आहा...हा...!

आ...हा...! **मैं कर्ता-प्रयोजक बिना भी....** अब (कहते हैं कि) मेरी योजना बिना भी **(अर्थात् मैं उनके कर्ता का प्रयोजक — उनका करानेवाला...)** प्रयोजक अर्थात् करानेवाला। पहले कर्ता था। उनका रखनेवाला **(— हुए बिना भी...)** अब सिद्धान्त यहाँ है। **वे वास्तव में किये जाते हैं।** मेरी योजना बिना भी वे वास्तव में किये जाते हैं। आहा...हा...! वाणी और मन के रजकण... आहा...हा...! मेरी योजना बिना भी, मेरी व्यवस्था के भाव बिना भी वे वहाँ किये जाते हैं। आहा...हा...! **किये जाते हैं...** इसमें वजन है। **वे वास्तव में किये जाते हैं।** यहाँ वजन है। किये जाते हैं न! आहा...हा...!

इसलिए यह मैं उनके कर्ता के प्रयोजकपने.... कर्ता के **करानेवालेपने का पक्षपात छोड़कर....** आहा...हा...! भले करें वे परन्तु मैं कराता हूँ! आहा...हा...! बाहर के पदार्थों की बात तो यहाँ की नहीं। आहा...हा...! वे तो उस समय में स्वतन्त्ररूप से कर्ता होकर वहाँ कार्य होता है परन्तु तेरे प्रदेश में रहनेवाले और प्रदेश की प्रेरणा मिले तो वहाँ वाणी और शरीर की पर्याय होती है — ऐसा नहीं है। आहा...हा...! मेरे कर्ता बिना भी वास्तव में किये जाते हैं।

उनके कर्ता के प्रयोजकपने का पक्षपात छोड़कर.... ऐसी ही वाणी निकलनी चाहिए। कर्ता भले वह (हो) परन्तु शरीर को ऐसा ही चलना चाहिए। आहा...हा...! एक ओर प्रभु ऐसा कहे कि ईर्यासमिति (में) नीचे देखकर जीव-जन्तु (न आ जाये इसलिए) पैर को ऊँचा करना। यह सब चरणानुयोग के कथन हैं। आहा...हा...! कहते हैं वह पैर ऊँचा होता है — ऐसा जो कार्य है, वह उससे किया जाता है, उसमें (मैं) योजक नहीं हूँ

— ऐसा विकल्प आया कि इसे ऐसा ऊँचा (करूँ), इसलिए हुआ है — ऐसा नहीं है। ऐसी बात! ऐ...ई...! आता है या नहीं? **पक्षपात छोड़कर अत्यन्त मध्यस्थ हूँ।**

विशेष कहेंगे।

प्रवचन नं. १६८ असोज कृष्ण ४ मंगलवार, ९ अक्टूबर १९७९

प्रवचनसार, १६० गाथा। अन्तिम बोल। ऐसा कहते हैं कि प्रभु! तू आत्मा ज्ञायक है न! तेरा अस्तित्व तुझमें है। तेरा अस्तित्व शरीर, वाणी, मन में नहीं है। आहा...हा...! भले तेरे आत्मप्रदेश में शरीर, वाणी, मन के परमाणु हों परन्तु उनका अस्तित्व तेरे कारण नहीं है। आ...हा...! शरीर, वाणी, मन आत्मा के प्रदेश में रहे हैं, इसलिए तू आधार है — ऐसा नहीं है। वे स्वयं आधारवाले हैं। स्वयं (अपने) आधार से रहे हुए हैं। आ...हा...! यह, हाँ! दूर की बात तो कहीं रह गयी।

और यह शरीर, वाणी, मन कारणवाले हैं। उनके कारण से उनकी परिणति होती है, वे कारणवाले हैं; तेरे कारण उनमें कुछ होता है — ऐसा नहीं है। आहा...हा...! और कर्ता — यह शरीर, वाणी, मन के परमाणु स्वतन्त्ररूप से कर्ता होकर परिणमित होते हैं। तेरा अस्तित्व उनमें नहीं आता; उनका अस्तित्व उनमें रहकर कर्तारूप से होकर परिणमित होता है। वह कर्तापना स्वयं... आहा...हा...! है? **वास्तव में किये जाते हैं...** परमाणु — शरीर की पर्याय उस समय की जाती है। उसमें तेरा अधिकार नहीं है। आहा...हा...!

इसी प्रकार प्रयोजक — शरीर, वाणी, मन के परमाणु हैं, उनकी योजना करके (कार्य) करे वह भी तू करानेवाला है — ऐसा अस्तित्व उनमें नहीं है। उनका करना, कराना... आहा...हा...! वास्तव में वे प्रयोजक होने से वास्तव में किये जाते हैं। ओ...हो...!

जहाँ आत्मा के प्रदेश पर-एक क्षेत्र में रहनेवाली चीज, है तो उसके क्षेत्र में वह... आहा...हा...! परन्तु बाह्य ऐसा — (आत्मा के) प्रदेश के क्षेत्र में दिखती है, तथापि उसका कर्ता और प्रयोजक तू नहीं है। इस प्रकार शरीर और वाणी की योजना करना और इस प्रकार करूँ तो ठीक पड़े — ऐसी योजना का करनेवाला तू नहीं है। योजक — यह करनेवाली क्रिया उसमें उससे है। आहा...हा...! कठिन काम, आहा...हा...! यहाँ तक आया है।

अब यहाँ **मैं...** इतना। **स्वतन्त्ररूप से शरीर, वाणी तथा मन का कारक (कर्ता) ऐसा जो अचेतनद्रव्य है,...** अचेतनद्रव्य यह मन, वाणी और देह... आहा...हा...! जड़-मिट्टी-पुद्गल, यह अचेतनद्रव्य, इसका कर्ता अचेतनद्रव्य है। अचेतनद्रव्य से इन मन, वाणी, देह की क्रिया होती है... आहा...हा...! **उसका अनुमोदक नहीं हूँ;...** आधार नहीं, कारण नहीं, कर्ता नहीं, प्रयोजक नहीं, अनुमोदक नहीं। आहा...हा...! एक भाव भी (यदि) बराबर जाने तो उसमें सब न्याय आ जाते हैं। आहा...हा...!

निकट रहनेवाले, व्यवहार से प्रदेश में रहनेवाले; वे हैं उनके प्रदेश में-उनके क्षेत्र में-स्वक्षेत्र में उनका अभाव है, परक्षेत्र में उनकी अस्ति है। आहा...हा...! तथापि यहाँ दिखता है कि आत्मा के प्रदेश में रहे हैं, उनका जो होना — उस जड़ की किया का (होना) उसका करनेवाला वह अचेतनद्रव्य है, उसका करनेवाला अचेतनद्रव्य है। होता है... होता है। मैं अनुमोदक नहीं। ठीक हुआ — ऐसा अनुमोदक नहीं। आहा...हा...!

मुमुक्षु : शरीर अच्छा हो तो क्रिया ठीक होती है।

पूज्य गुरुदेवश्री : धूल भी नहीं।

जीव ऊपर पैर आने पर पैर उठता है तो कहते हैं कि वह करनेवाला अचेतनद्रव्य है। मैं उसका अनुमोदक नहीं कि यह ठीक हुआ। आहा...हा...! गजब बात है प्रभु! वीतरागमार्ग... आहा...हा...!

प्रत्येक द्रव्य स्वतन्त्र! उसका कर्तापना उसमें, उसके कारणवाले वे द्रव्य हैं, इसलिए कारणवाले द्रव्यों को तू कारण हो तो (वहाँ कार्य) हो — ऐसा उनमें नहीं है। थोड़ी बात है परन्तु मूल मुद्दे की बात है। आहा...हा...! समझ में आया?

कहते हैं कि शरीर, वाणी, मन किये जाते हैं। जिस समय उनकी पर्याय होती है, वह की जाती है, वह अचेतनद्रव्य उसका कारण है। अचेतनद्रव्य से की जाती है। आहा...हा...! उसका मैं अनुमोदक नहीं कि ठीक। वाणी ऐसे बोली, ठीक; शरीर ऐसा रहा... आहा...हा...! जीव पर शरीर नहीं पड़ा, इसलिए जीव नहीं मरा — ऐसी जो शरीर की क्रिया का-अचेतनद्रव्य वह उसका करनेवाला है; मैं उसका अनुमोदक नहीं हूँ। यह ठीक हुआ (कि) शरीर ऊँचा रहा और जीव नहीं मरा... आहा...हा...! प्रभु... प्रभु! तेरी

बात... ! समझ में आया ? यह तो मुद्दे के रकम की बात है। जिसको अभी मूल श्रद्धा का ठिकाना नहीं, उसे चारित्र और व्रत आये कहाँ से ? आहा...हा... !

भगवान आत्मा ज्ञायक और उसका ज्ञानरूप, आनन्दरूप, शान्तरूप, स्वच्छतारूप है, उसका कार्य जानना-देखना-श्रद्धा करना वह उसका कार्य है, उसके द्रव्य और गुण — द्रव्य है ज्ञायकभाव; गुण है ज्ञान, आनन्दरूप; उसकी पर्याय जानना, देखना, श्रद्धा करना — ऐसी उसकी पर्याय है। उसमें उसे पर का कोई सहारा, पर की कोई अपेक्षा उसमें है नहीं। आहा...हा... !

यहाँ तो पर के साथ यह कहा कि शरीर की क्रिया हो... आहा...हा... ! वाणी की क्रिया में कुछ (ठीक) हुआ, भाषा की क्रिया में सत्य बोला गया... आहा...हा... ! प्रभु... प्रभु ! तेरी बात तो देख ! सत्य बोला गया, उसमें मैं अनुमोदक नहीं; वह तो अचेतनद्रव्य की क्रिया है। आहा...हा... ! समझ में आया ?

इसी प्रकार शरीर से विषय-सेवन नहीं हुआ, ब्रह्मचर्य (पालन हुआ), शरीर से विषय नहीं हुआ, इसलिए मैं उसका अनुमोदक हूँ - यह ठीक हुआ — ऐसा नहीं है, कहते हैं। आहा...हा... ! गजब बात है प्रभु ! आ...हा... ! इसमें समझ में आया ? आहा...हा... ! इस जड़ शरीर की स्त्री के विषय की क्रिया नहीं हुई, शुभ (भाव) हुआ और ब्रह्मचर्य (रहा) । वह शरीर की क्रिया का संग नहीं हुआ, इसलिए ठीक हुआ — ऐसा मैं मानूँ — ऐसा नहीं है, कहते हैं। आहा...हा... ! प्रभु... प्रभु... ! तेरी बात... आहा...हा... ! लोगों को तो विरोध लगता है। आहा...हा... ! इस प्रकार शरीर की विषय की क्रिया नहीं हुई... आहा...हा... ! और शरीर की विषय की क्रिया हुई परन्तु उसका मैं अनुमोदक नहीं हूँ। आ...हा... ! यह ठीक हुआ (—ऐसा अनुमोदक नहीं हूँ) । आहा...हा... !

पूरा शरीर अनन्त परमाणुओं का पिण्ड और शरीरपरिणाम को प्राप्त इन्द्रियाँ; यह इन्द्रिय जो है, वह शरीरपरिणाम को प्राप्त है। शरीरपरिणाम को प्राप्त इन्द्रियाँ... आहा...हा... ! इनसे — इन्द्रियों से मुझे दिखा, यह ठीक हुआ (ऐसा उसका अनुमोदक मैं नहीं हूँ) आहा...हा... ! गजब है प्रभु ! प्रभु को कहाँ ले जाना है ? प्रभु ! तुझे ले जाना है ज्ञायकभाव में ! आहा...हा... ! दुनिया के साथ मेल नहीं खाता, प्रभु ! आहा...हा... !

कहते हैं कि वाणी में सत्य बोला गया तो यह ठीक हुआ — ऐसा अनुमोदन मैं नहीं करता। वह तो अचेतन की क्रिया ऐसी हुई। आहा...हा...! क्या प्रभु की गम्भीरता!! आ...हा...! आहा...हा...! वाणी से सत्य बोलने का हुआ, शरीर से विषय-सेवन का नहीं हुआ, चोरी करने का नहीं हुआ... आहा...हा...! और परिग्रह नहीं रखा, शरीर ढँकने का वस्त्र छोड़ दिया - वस्त्र नहीं रखा — ऐसी जो शरीर की क्रिया, उसे मैं अनुमोदन नहीं करता। यह करनेवाला उस द्रव्य की पर्याय है न! आहा...हा...!

मुनिपना लेते समय वस्त्र जो ऐसे उतरता है तो कहते हैं यह शरीर की जो नग्न क्रिया होती है, उस क्रिया का उस समय उसका कर्ता वह अचेतनद्रव्य है। आहा...हा...! अरे...! ऐसी बातें! उसका मैं अनुमोदक नहीं। अरे...रे...! आहा...हा...! शरीर की अवस्था नग्न हुई, उस समय अचेतनद्रव्य का उस प्रकार कार्य हुआ। आहा...हा...! गजब बात है।

(यह) प्रवचनसार है! प्रवचन = वीतराग की दिव्यध्वनि। प्र अर्थात् विशेष वचन, दिव्यध्वनि! तीन लोक के नाथ की दिव्यध्वनि! परमात्मा सर्वज्ञ महाविदेह में विराजमान हैं, उनकी दिव्यध्वनि! 'ओंकार दिव्यध्वनि सुनि अर्थ गणधर विचारै, आगम रचि...' निमित्त से कथन है... 'भविक जीव संशय निवारै।' आहा...हा...! यह देह की क्रिया और वाणी की क्रिया में सत्य बोला गया... आहा...हा...! ऐसा इसमें आता होगा? उस समय उस वाणी की क्रिया उस अचेतन से हुई है न, प्रभु! आहा...हा...! उसका मैं अनुमोदक नहीं। आहा...हा...! मैं उसका धारक नहीं, करनेवाला नहीं, योजक नहीं परन्तु होती है, उस क्रिया का अनुमोदक (मैं) नहीं। आहा...हा...! समझ में आया? आहा...हा...! ऐसी बातें हैं प्रभु! अरे...! जगत् को ऐसा सत्य-परम सत्य जँचना कठिन पड़ता है। आहा...हा...!

सम्यग्दृष्टि है — धर्मी है, (उसे) शरीर से विषय की क्रिया होती है, उस क्रिया को मैं अनुमोदन नहीं करता — ऐसा कहते हैं। वह क्रिया अचेतनद्रव्य से हुई है। ऐसी बात है प्रभु! मार्ग... ओ...हो...हो...! सन्तों ने तो गजब काम किया है! दुनिया की परवाह छोड़कर, दुनिया मानेगी या नहीं मानेगी, समाज संगठित रहेगी या नहीं रहेगी —(इसकी) कुछ दरकार नहीं है; सत्य को सत्यरूप से प्रसिद्ध करके ढिंढोरा पीटा है! आहा...! भाई! आहा...हा...!

शरीर और वाणी; मन के परमाणु तो दिखते नहीं, वह अलग बात है। आहा...हा...! परन्तु यह वाणी और शरीर की होनेवाली क्रिया — विषय की और अटकने की क्रिया (अर्थात्) विषय की नहीं होने की... आहा...हा...! प्रभु... प्रभु... प्रभु...! प्रभु! तू ज्ञायक है न! होती है, उसे जाननेवाला है न! होती है, उसे करनेवाला और अनुमोदक तू नहीं है, प्रभु! आहा...हा...! ऐसी बात कहाँ मुम्बई में थी ? आहा...हा...! भगवान तीन लोक के नाथ! आहा...हा...! (कुन्दकुन्दाचार्यदेव) सीमन्धर भगवान के पास गये थे, वहाँ से लेकर आये। आहा...हा...! यह भगवान की वाणी है भाई! आहा...हा...!

मैं अनुमोदक नहीं हूँ। पहले तो भाषा क्या की? आहा...हा...! **मैं...** इतना। **स्वतन्त्ररूप से शरीर, वाणी तथा मन का कारक (कर्ता) ऐसा जो अचेतनद्रव्य है,...** आहा...हा...! उस-उस समय स्वतन्त्ररूप से परमाणु की पर्याय का करनेवाला वह-वह अचेतनद्रव्य है। आहा...हा...! उसका मैं अनुमोदक नहीं हूँ। मैं, अचेतनद्रव्य — मन, वाणी, देह की जो क्रिया जिस काल में जिस समय में क्रमबद्ध में होती है... आहा...हा...! उसका मैं अनुमोदक नहीं हूँ। आहा...हा...! कहो, ऐसी बात कहाँ है ? प्रभु! प्रभु! तेरी महत्ता की बातें हैं। इसमें, तेरी महत्ता को हीनता लगती है (कि) यह जड़ की क्रिया मैंने की, मैंने करायी और अनुमोदन किया (ऐसी मान्यता में) प्रभु! तेरी महत्ता को कलंक लगता है। आहा...हा...! यह तेरा कलंक उतारने के लिये यह बात करते हैं। आहा...हा...!

प्रभु! तेरी प्रभुता... भले शरीर बालक हो, वृद्ध हो; आत्मा तो प्रभु परमात्मस्वरूप ही है। आहा...हा...! सहजात्मस्वरूप पूर्णानन्द प्रभु! वह क्या करे ? कहते हैं। उसे शरीर मन, वाणी की क्रिया होती हो, सत्य की या झूठ बोलने की, आहा...हा...! बस, झूठ बोलना हो, तब (झूठ बोले)। अरे... प्रभु! आहा...हा...! बोल नहीं सकता। प्रभु! सत्य की भाषा भी तू नहीं कर सकता। आहा...हा...! यहाँ तो सत्य वस्तु का ढिंढोरा है, बापू! यहाँ कोई पक्ष को समाज को प्रसन्न रखना और समाज ठीक रहे (— ऐसा नहीं है)। यह समाज तो इस प्रकार प्रसन्न होगी। आहा...हा...! इस प्रकार प्रसन्न-सुखी होगी। प्रसन्न अर्थात् सुखी होगी। आहा...हा...!

जीव — भगवान आत्मा! मैं ऐसा जो मेरा अस्तित्व, वह मन-वचन और काया के

कार्य हो, उसका कर्ता अचेतनद्रव्य है। होते हैं, वह ठीक हुआ — ऐसा मैं अनुमोदक नहीं हूँ। आहा...हा...! गजब बात है! बहुत गम्भीर बात है!! थोड़ी निकलती है, वरना जितना भासित होता है, उतना सब (वाणी में नहीं आता)। आहा...हा...! क्या कहना चाहते हैं? आहा...हा...!

क्रमबद्ध में शरीर की क्रिया उस समय करनेवाला, वह अचेतनद्रव्य है, उसमें मेरा कुछ भी अनुमोदन नहीं है। जहाँ होती है, वहाँ अनुमोदन क्या? आहा...हा...! आहा...हा...!

यह प्रश्न किया था। पहले कहा न? ६९ की साल में! संवत् ६९! कहा - यह मकान होता है, उसे साधु प्रयोग करे तो कौन सी कोटि टूटती है? ६९! ६६ वर्ष हुए। ६६! गुरु को प्रश्न किया था। उसमें (मुँहपट्टी में) थे न? उन्हें मैंने प्रश्न किया कि महाराज! यह मकान बनाया हो, (उसे) प्रयोग करे; किया नहीं, कराया नहीं मात्र प्रयोग करे तो उसे नौ कोटि में से कौन सी कोटि टूटती है? नौ कोटि समझ में आता है? मन, वचन और काया, करना, कराना और अनुमोदन करना।

गुरु ने तो यह जबाव दिया, मिथ्या जबाव (दिया कि) आपके भाई ने मकान बनाया हो, उसे आप प्रयोग करो तो उसमें क्या आया? मेरे मन में था कि वह प्रयोग करे तो यह अनुमोदन है। भले ही बनाया न हो, कराया न हो परन्तु उसके लिए बनाया उसे प्रयोग करता है, वह नौ कोटि में से अनुमोदन की कोटि टूटती है और अनुमोदन की कोटि टूटने से नौ कोटि टूटती है। आहा...हा...! एक भी कोटि नहीं रहती। आहा...हा...! यह तो ६६ वर्ष पहले की बात है। 'राणपुर' में प्रश्न किया था। राणपुर है न? इसी प्रकार यह अध:कर्मी! उसके लिये उद्देशिक आहार बनावे, उसने बनाया न हो, बनवाया न हो, परन्तु (आहार) ले, वह उसे अनुमोदन है। आहा...हा...!

जो सच्चे धर्मी मुनिराज हैं, (वे) उनके लिये (आहार) बनाया हो, उसे नहीं लेते। बनाया नहीं, बनवाया नहीं। ख्याल आया कि यह इतना सब किया है, (इसलिए) मेरे लिए किया है (ऐसा लगता है) उसे नहीं लेते-अनुमोदन नहीं करते। आहा...हा...!

मुमुक्षु : विकल्प उठ जाये कि मेरे लिये बनाया होगा तो लेते ही नहीं।

पूज्य गुरुदेवश्री : जानने में आया है कि यह मेरे लिए बनाया है। (ख्याल में) आ

गया है। किया नहीं, कराया नहीं। दस सेर पानी, मौसम्बी, आम का रस, यह निकालकर रखा है, बर्तन भरा है, और यह देना चाहते हैं। भगवान! मार्ग ऐसा अलग है, भाई! आहा...हा...! यह अनुमोदन है। उसे एक (भी) कोटि नहीं रहती। नौ कोटि में से अनुमोदन की कोटि टूटती है। आहा...हा...! हिंसा-पाप का अनुमोदन है। अरे...! प्रभु... प्रभु... प्रभु...! आहा...हा...! समझ में आया? (अभी तो) निश्चित करके रखते हैं कि आप इसके घर आहार लेना, कल इसके घर लेना, परसों इसके घर लेना...! अरे... प्रभु! आहा...हा...! प्रभु! तेरी आलोचना नहीं, प्रभु! यह तो दोष है, उसका नुकसान है, वह नुकसान टाल, प्रभु! तुझे लाभ होगा, प्रभु! आहा...हा...!

आहा...हा...! यहाँ यह कहते हैं। मन, वचन, काया, मेरे मन, वचन, काया। मेरे अर्थात् इस प्रदेश में रहे हुए। दूसरे शरीर, वाणी और मन से करे, उसका तो मेरा किया है ही नहीं। आहा...हा...!

इसलिए यह प्रश्न उठा। जयपुर में! (एक विद्वान ने) प्रश्न रखा था। दो प्रश्न रखे थे कि इस राग को पुद्गल क्यों कहा? दया, दान के परिणाम को पुद्गल कहा, पुद्गल के परिणाम (कहा है)। बापू! यह जीव चैतन्य आनन्दस्वरूप, उसमें यह विकार परिणाम नहीं होते, इस आनन्द के नाथ के परिणाम आनन्द होते हैं; इसलिए इस राग को पुद्गल के परिणाम कहकर निकाल दिया है। जयपुर में वे (विद्वान्) आये थे।

दूसरा प्रश्न यह हुआ था कि यह आहार है, वह गृहस्थ बनाते हैं, उसमें लेनेवाले को क्या? यदि ऐसा स्पष्टीकरण आपसे हो तो बहुत लाभ होगा। (उन्हें ऐसा कहलवाना था कि) वह कोई उद्देशिक (आहार) नहीं है।

अरे...प्रभु! भगवान का विरह पड़ा और विरह के पीछे ऐसा उद्देशिक आहार का दोष नहीं — ऐसा सिद्ध करना, प्रभु! यह हमारा काम नहीं है, भाई! समझ में आया? परमात्मा का विरह पड़ा... परमात्मा के विरह में परमात्मा ऐसा फरमाते हैं कि उसका अनुमोदन है। आहा...हा...! उसे अनुमोदन नहीं और पाप नहीं लगता (— ऐसा कहना) प्रभु! प्रभु के विरह में यह बात नहीं होती। आहा...हा...! भाई! ऐसी बहुत बीत गयी है न! आहा...हा...!

यहाँ कहते हैं... आहा...हा... ! यहाँ जरा गजब (बात की) है ! आहा...हा... ! भाव है, वह भले उसके पास हो परन्तु किसी ने ऐसे थप्पड़ मारी, वह क्रिया मुझसे हुई है — ऐसा नहीं है। आहा...हा... ! सम्यग्दृष्टि युद्ध में जुड़ता है — बाहुबलीजी और भरत समकिती थे, (भरत ने) चक्र फैंका परन्तु वह क्रिया मैंने की — ऐसा वे नहीं मानते थे। अरे...रे... ! कैसी बातें हैं। समझ में आया ? आ...हा... ! युद्ध में जुड़े, फिर भी वह शरीर की क्रिया होती है, उसका मैं अनुमोदक नहीं हूँ। आ...हा... ! (ऐसा सुनकर कोई यह कहता है कि) तब ठीक, होने दो जैसा होता है – ऐसा ! अरे... प्रभु ! सुन न भाई ! आहा...हा... ! जिसे निवृत्तभाव है, उसे शरीर की ऐसी क्रिया होती ही नहीं। वह उसके अचेतन के कारण से नहीं होती। आहा...हा... ! समझ में आया ?

यहाँ कहते हैं कि स्वतन्त्ररूप से उसे अचेतन करता है। वाणी बोली जाती है, शरीर की क्रिया होती है, वह स्वतन्त्ररूप से होती है, शरीर और वाणी से स्वतन्त्ररूप से होती है, मेरा अधिकार बिलकुल नहीं है। आहा...हा... ! सत्य बोलने का विकल्प आया, इसलिए सत्य भाषा हुई, वह मुझसे हुई (— ऐसा नहीं है)। ऐसा विभाजन कठिन पड़ता है, प्रभु ! आहा...हा... !

भेदज्ञान की बातें हैं, आहा... ! भेदज्ञान की पराकाष्ठा है ! आहा...हा... ! **भेदविज्ञानतः सिद्धाः ये किल केचन।** जो कोई मुक्ति को प्राप्त हुए, वे भेदज्ञान से प्राप्त हुए हैं (समयसार में) संवर अधिकार में (कलश १३४ में) है। **भेदविज्ञानतः सिद्धाः ये किल केचन। अस्यैवाभावतो बद्धा...** (अर्थात्) भेदविज्ञान के अभाव से बँधे हुए हैं। संसार (में) भटकते हैं, (वे) भेदज्ञान के अभाव से। आहा...हा... ! जहाँ–तहाँ परमाणु तथा शरीर और वाणी का कर्ता हो जाता है होता है उससे; उसका कर्ता होकर मिथ्यात्व का सेवन करता है। अरे... प्रभु... प्रभु... !

मैं, स्वतन्त्ररूप से शरीर, वाणी तथा मन का कारक (कर्ता)... भाषा क्या है ? इस वाणी, मन का कर्ता अचेतनद्रव्य है, पहले यह सिद्ध किया है, आहा...हा... ! **उसका अनुमोदक नहीं...** आहा...हा... ! करनेवाला अचेतनद्रव्य है। मन, वाणी और देह के परमाणु की पर्याय उनसे की हुई है, उसका मैं अनुमोदक नहीं हूँ। आहा...हा... ! सन्तों

की वाणी गजब है! बहुत संक्षिप्त में बहुत भर दिया है!! आहा...हा...! निकट के प्रदेश में (रहनेवाले हैं, उनकी यह स्थिति है)। उसके बदले (ऐसा) कहे कि पर का ऐसा करना, पर का ऐसा करना... आहा...हा...!

एक बार पचास पण्डित एकत्रित हुए थे। इन्दौर... इन्दौर... न? इन्दौर में पचास पण्डित एकत्रित हुए थे और पण्डितों ने ऐसा (निर्णय) किया कि जो पर का कर्ता नहीं मानता, वह दिगम्बर नहीं है। अरे...रे...! प्रभु! क्या करता है तू? – ऐसी बात आयी है। बहुत वर्ष हुए पचास पण्डित एकत्रित हुए और यहाँ का विरोध करना, यहाँ का विरोध करना। यहाँ (हम) कर्ता नहीं मानते और कर्ता मनवाना था। प्रभु! ऐसा नहीं होता। प्रभु! उसमें तुझे नुकसान का कारण है, भाई! तुझे लोग स्वीकारेंगे, लोग प्रसन्न भी होंगे परन्तु प्रभु! तुझे दुःख होगा। आहा...हा...! समझ में आया? ऐसी बात आयी थी।

मैं कर्ता-अनुमोदक बिना भी... भाषा देखो! मेरे अनुमोदन बिना भी... आहा...हा...! मैं कर्ता का अनुमोदक बिना भी **(अर्थात् मैं उनके कर्ता का अनुमोदक - हुए बिना भी) वे वास्तव में किये जाते हैं।...** आहा...हा...! (मैं) कर्ता का अनुमोदक नहीं होने पर भी वे उससे किये जाते हैं। आहा...हा...! ऐसा समयसार है। अपने आप पढ़े तो भाव पकड़ में नहीं आते। बात बहुत सूक्ष्म है, भाई! परमात्मा! उनका हृदय... ओ...हो...हो...! गजब बात है!

यह तो सन्त कहते हैं! परमात्मा के आढतिया! आहा...हा...! कि **मैं कर्ता-अनुमोदक बिना भी...** मैं कर्ता-अनुमोदक बिना भी **वे वास्तव में किये जाते हैं।...** उसी समय वह देह और वाणी की क्रिया की जाती है। आहा...हा...! क्रमबद्ध भी सिद्ध किया, भाई! गजब बात है! क्रमबद्ध भी सिद्ध किया! जिस समय वह अचेतन की क्रिया होती है, वह की जाती है; होती है वह होती है। आहा...हा...! उसे आगे-पीछे करने की तेरी ताकत नहीं है। आहा...हा...! समझ में आया? आहा...हा...!

मैं कर्ता बिना भी, मैं अनुमोदक के कर्ता बिना भी (वे) **वास्तव में किये जाते हैं।...** निश्चय से उस समय जो मन, वाणी के देह के परमाणु की वह पर्याय जो होनेवाली है, उसे करती है। आहा...हा...! वास्तव में से परमाणु की जाती है। आहा...हा...! यहाँ तो

अभी बाहर का झगड़ा (चलता है)। आहा...हा...! महाव्रत पालना और महाव्रत अर्थात् पर को न मारना, पर को जिलाना, पर को अभयदान देना... अभी तो इस पर की क्रिया का स्वामी होकर करता है। वह तो देह, वाणी, मन की क्रिया विषय से रुके तो भी कहते हैं कि वह मेरे अनुमोदन के बिना हुई है। आहा...हा...! विषय की क्रिया होती है, वह भी मेरे अनुमोदन के बिना हुई है। आहा...हा...!

प्रभु...प्रभु...! तू और (पर) दो के बीच (सांध है)। आहा...हा...! शरीर, वाणी, मन की क्रिया उस समय होती है, इसलिए तेरा नाथ ज्ञायकभाव है, वह भिन्न है, उसे करता नहीं है, कराता नहीं है, अनुमोदन नहीं करता (इस प्रकार दो के) बीच में दरार पाड़, मार प्रज्ञाछैनी! आह...हा...! प्रज्ञाछैनी! आहा...हा..!

इसलिए यह मैं उनके कर्ता के अनुमोदकपने का पक्षपात छोड़कर... ओहो...हो...! ठीक, शरीर ऐसा रहा; ठीक, वाणी में ऐसा नहीं बोला गया.. आहा...! अरे... अरे...! कठिन काम, प्रभु! **इसलिए यह मैं उनके कर्ता के अनुमोदकपने का पक्षपात छोड़कर अत्यन्त मध्यस्थ हूँ।** होवे न होवे उसमें मैं मध्यस्थ हूँ। आहा...हा...! मैं तो ज्ञायक हूँ, उस होनेवाली क्रिया का जाननेवाला-भिन्न रहकर जाननेवाला हूँ। आहा...हा...! मध्यस्थ हूँ कि ऐसा होवे तो ठीक और ऐसा न होवे तो ठीक — ऐसा मुझे जड़ में नहीं है। समझ में आया? इसमें यह भरा है, हाँ! उसमें बहुत गम्भीरता भरी है! आहा...हा...! कुन्दकुन्दाचार्य, अमृतचन्द्राचार्य ने गजब काम किया है! केवली के पथानुगामी! केवली को खड़ा रखा है! आहा...हा...! केवली का पेट (हृदय) खोला है। आहा...हा...! और केवली होनेवाले हैं। आहा...हा...! अल्प काल में केवली होनेवाले हैं, एक दो भव में मोक्ष जानेवाले हैं। आहा...हा...! समझ में आया?

मैं यह... मैं यह... (अर्थात्) प्रत्यक्ष। यह ज्ञायक... मैं यह... पर की क्रिया के काल में तो मध्यस्थ हूँ। गजब काम किया है न! आहा...हा...! ●

गाथा - १६१

अथ शरीरवाङ्गनसां परद्रव्यत्वं निश्चिनोति -

देहो य मणो वाणी पोग्गलदव्वप्पग त्ति णिद्दिट्ठा।
पोग्गलदव्वं हि पुणो पिंडो परमाणुदव्वाणं।।१६१।।

देहश्च मनो वाणी पुद्गलद्रव्यात्मका इति निर्दिष्टाः।
पुद्गलद्रव्यमपि पुनः पिण्डः परमाणुद्रव्याणाम्।।१६१।।

शरीरं च वाक् च मनश्च त्रीण्यपि परद्रव्यं, पुद्गलद्रव्यात्मकत्वात्। पुद्गलद्रव्यत्वं तु तेषां पुद्गलद्रव्यस्वलक्षणभूतस्वरूपास्तित्वनिश्चितत्वात्। तथाविधपुद्गलद्रव्यं त्वनेकपरमाणु-द्रव्याणामेकपिण्डपर्यायेण परिणामः, अनेकपरमाणुद्रव्यस्वलक्षणभूतस्वरूपास्तित्वानामनेकत्वेऽपि कथंचिदेकत्वेनावभासनात्।।१६१।।

अथ कायवाङ्गनसां शुद्धात्मस्वरूपात्परद्रव्यत्वं व्यवस्थापयति - **देहो य मणो वाणी पोग्गलदव्वप्पग त्ति णिद्दिट्ठा** देहश्च मनो वाणी तिस्रोऽपि पुद्गलद्रव्यात्मका इति निर्दिष्टाः। कस्मात्। व्यवहारेण जीवेन सहेकत्वेपि निश्चयेन परमचैतन्यप्रकाशपरिणतेर्भिन्नत्वात्। पुद्गलद्रव्यं किं भण्यते। **पोग्गलदव्वं हि पुणो पिंडो परमाणुदव्वाणं** पुद्गलद्रव्यं हि स्फुटं पुनः पिण्डः समूहो भवति। केषाम्। परमाणुद्रव्याणामित्यर्थः।।१६१।।

अब, शरीर, वाणी और मन का परद्रव्यपना निश्चित करते हैं —

देह-मन-वाणी हैं पुद्गल, जिनेन्द्र का निर्देश है।
अरु ये सब पुद्गलद्रव्य तो, परमाणुओं के पिण्ड हैं॥

अन्वयार्थ - [**देहः च मनः वाणी**] देह, मन और वाणी [**पुद्गलद्रव्यात्मकाः**] पुद्गलद्रव्यात्मक [**इति निर्दिष्टाः**] हैं, ऐसा (वीतरागदेव ने) कहा है [**अपि पुनः**]

और **[पुद्‌गल द्रव्यं]** वे पुद्‌गलद्रव्य **[परमाणुद्रव्याणां पिण्डः]** परमाणुद्रव्यों का पिण्ड है।

टीका - शरीर, वाणी और मन तीनों ही परद्रव्य हैं, क्योंकि वे पुद्‌गल-द्रव्यात्मक हैं। उनके पुद्‌गलद्रव्यपना है, क्योंकि वे पुद्‌गलद्रव्य के स्वलक्षणभूत स्वरूपास्तित्व में निश्चित (रहे हुए) हैं। उस प्रकार का पुद्‌गलद्रव्य[१] अनेक परमाणुद्रव्यों का एक पिण्ड पर्यायरूप से परिणाम है, क्योंकि अनेक परमाणुद्रव्यों के स्वलक्षणभूत स्वरूपास्तित्व अनेक होने पर भी कथंचित् (स्निग्धत्व-रूक्षत्वकृत बंध परिणाम की अपेक्षा से) एकत्वरूप अवभासित होते हैं ॥१६१॥

प्रवचन नं. १६८ का शेष   असोज कृष्ण ४   मंगलवार, ९ अक्टूबर १९७९

अब, शरीर, वाणी और मन का परद्रव्यपना निश्चित करते हैं - तीनों जड़ हैं; तेरा द्रव्य नहीं, परद्रव्य है। इसलिए इसके कर्ता, करानेवाले, अनुमोदन का निषेध किया। आहा...हा...! क्योंकि वह परद्रव्य है, परद्रव्य की पर्याय का समय हो (तब) वह पर्याय वहाँ होती है; तेरा अधिकार उसमें नहीं है। आहा...हा...! १६१ (गाथा)

देहो य मणो वाणी पोग्गलदव्वप्पग त्ति णिद्दिट्ठा।
पोग्गलदव्वं हि पुणो पिंडो परमाणुदव्वाणं।।१६१।।

णिद्दिट्ठा देखा? भगवान ने कहा है, भगवान ने ऐसा कहा है। आहा...हा...!

देह-मन-वाणी हैं पुद्‌गल, जिनेन्द्र का निर्देश है।
अरु ये सब पुद्‌गलद्रव्य तो, परमाणुओं के पिण्ड हैं॥

आहा...हा...! **शरीर, वाणी और मन तीनों ही परद्रव्य हैं,...** लड्डू ऐसे होते हैं, उसमें जो हाथ ऐसे होते हैं, कहते हैं कि उस क्रिया का कर्ता तो वह परमाणु है। आहा...हा...! यह लड्डू! उस समय इस देह की क्रिया जो (हुई) है, वह लड्डूओं से नहीं हुई, वैसे ही आत्मा की इच्छा से नहीं हुई; वह परमाणु की उस समय की वह पर्याय होने की हुई है; तू मध्यस्थ है। आहा...हा...! ऐसी बातें! इसमें हजारों लोगों में यह कठिन

१. शरीरादिरूप।

बात (किसी को) जँचती है। यह तो विरले जीव को जँचती है, बापू! आहा...हा...! 'विरला जाने तत्त्व को, विरला सुनते कोई, विरले श्रद्धे कोई...' विरला जाने तत्त्व को, विरले श्रद्धे कोई.. आहा...हा...! श्रद्धा कोई करते हैं, आहा...हा...! यह तो इसमें आया न? मुनि कुंजर! कोई वीर, कोई वीर मुनि! आहा...हा...! कोई वीर समकिती, ऐसा। आहा...हा...!

टीका - शरीर, वाणी और मन तीनों ही परद्रव्य हैं, क्योंकि वे पुद्गल-द्रव्यात्मक हैं।... वे तीनों पुद्गल द्रव्यस्वरूप हैं, वे आत्मस्वरूप नहीं। आहा...हा...! **उनके पुद्गलद्रव्यपना है,...** देखो, दो बातें की हैं। वे पुद्गल द्रव्यस्वरूप हैं, इसलिए उनके पुद्गलद्रव्यपना है, वे पुद्गल द्रव्यस्वरूप हैं। आहा...हा...!

शरीर, वाणी और मन तीनों ही परद्रव्य हैं, क्योंकि वे पुद्गलद्रव्यात्मक हैं। उनके पुद्गलद्रव्यपना है,... आहा...हा...! **क्योंकि वे पुद्गलद्रव्य के स्वलक्षणभूत...** पुद्गलद्रव्य के स्वलक्षणभूत **स्वरूपास्तित्व में निश्चित (रहे हुए) हैं।...** उस पुद्गलद्रव्य के स्वरूपास्तित्व में वे मन, वाणी, देह रहे हुए हैं। तेरे अस्तित्व में नहीं और तेरे अस्तित्व के कारण नहीं। आहा...हा...! ऐसी बातें (सुनकर) सोनगढ़वालों को बेचारे ऐसा कहते हैं न ए... एकान्त है, ए... निश्चयाभास है। प्रभु! सुन, भाई! भगवन्त एक बार सुन, भाई! तू क्या कहता है, वह हमें पता नहीं? आहा...हा...! (लोग ऐसा कहते हैं) यहाँ तो अकेली निश्चय... निश्चय... निश्चय की बातें हैं। अरे...! परन्तु व्यवहार तो कथनमात्र, बोलनेमात्र है। आहा...हा...! आहा...हा...!

अब समयसार में निश्चय की गाथा आयेगी। समयसार में! **सर्वत्र अध्यवसाय अखिलं** परद्रव्य की एकताबुद्धि का तो प्रभु ने निषेध किया है। शरीर, वाणी, मन परद्रव्य की एकताबुद्धि का तो निषेध किया है; अतः अमृतचन्द्राचार्यदेव ऐसा कहते हैं कि मैं तो ऐसा कहता हूँ — मैं इसमें से ऐसा निकालता हूँ कि जितना परद्रव्य का आश्रय होता है, वह सब निषेध किया है। जैसे कि एकत्वबुद्धि का निषेध किया है तो उसमें से परद्रव्य के आश्रय से जितने भाव होते हैं, उनका प्रभु ने निषेध किया है — ऐसा मैं जानता हूँ। आहा...हा...! कल सबेरे आयेगा। समझ में आया? आहा...हा...!

तीन बातें ली हैं, वह परद्रव्य है क्योंकि वह पुद्गलद्रव्यस्वरूप है। **उनके**

पुद्गलद्रव्यपना है,... कारण? **पुद्गलद्रव्यपना है, क्योंकि वे पुद्गलद्रव्य के स्वलक्षणभूत स्वरूपास्तित्व में निश्चित (रहे हुए) हैं।...** पुद्गल का स्वलक्षण जड़पना है, उसमें वे रहे हुए हैं। आहा...हा...! वर्ण, गंध, रस, स्पर्श आदि जड़पना है, उसमें वे रहे हुए हैं। आहा...हा...! यह शरीर, वाणी, मन, हाँ!

अभी एक बार यह शरीर अच्छा लगता है (परन्तु) यहाँ से अग्नि निकलेगी, अग्नि! देह छूटेगी तो मृतक कलेवर को जलाने से अग्नि निकलेगी परन्तु शरीर की स्थिति है, तद्नुसार होगी, उसमें पर के कारण क्या है। आहा...हा...! आहा...हा...!

पुद्गलद्रव्य का स्वलक्षणपना स्वरूप-अस्तित्व (अर्थात्) अचेतन जिसका अस्तित्व है, उसका स्वरूपलक्षण है। आहा...हा...! वर्ण, गंध, रस, स्पर्श उसका स्वरूप-अस्तित्व है, हाँ! वरना तो धर्मास्ति, अधर्मास्ति है, उसमें यह स्वलक्षण नहीं, तथापि वे अचेतन हैं, और यहाँ तो वर्ण, गंध, रस, स्पर्श आदि स्वलक्षणभूत अस्तित्व है। आहा...हा...! समझ में आया? **पुद्गलद्रव्य के स्वलक्षणभूत...** यह शरीर, वाणी और मन **स्वरूपास्तित्व में...** इनके स्वरूप — वर्ण, गंध, रस, स्पर्श के अस्तित्व में वे **(रहे हुए) हैं।** आहा...हा...!

उस प्रकार का... (अर्थात्) उसी प्रकार अर्थात् शरीरादिरूप **पुद्गलद्रव्य अनेक परमाणुद्रव्यों का एक पिण्ड पर्यायरूप...** है। वह एक परमाणु नहीं, कहते हैं। शरीर, वाणी, मन एक परमाणु नहीं है। आहा...! **पुद्गलद्रव्य अनेक...** है न? एक नहीं, आहा...हा...! **पुद्गलद्रव्य अनेक परमाणुद्रव्यों का एक पिण्ड पर्यायरूप...** है। शरीर, वाणी, और मन व अनेक प्रकार के पुद्गलद्रव्य का अनेक परमाणु द्रव्यों का एक पिण्ड पर्यायरूप है। **पर्यायरूप से परिणाम है,...** आहा...हा...! दो बातें (की हैं)। पर्यायरूप से परिणाम हैं। पर्याय वही परिणाम है, पर्यायरूप से परिणाम है। आहा...हा...! यह क्या कहा? कि पुद्गलद्रव्य का जो अस्तित्व-वर्ण, गंध, रस, स्पर्श आदि जो है, उसमें वह रहा हुआ है। आहा...हा...! (इससे अनेक) **परमाणुद्रव्यों का एक पिण्ड...** (है)। वह तो परमाणुओं का एक पिण्ड है। मन-एक पिण्ड। ऐसे वाणी भी, हाँ! ऐसे मन भी।

परमाणुद्रव्यों का एक पिण्ड पर्यायरूप से परिणाम है,... यह परिणाम है न? यह शरीर की पर्याय है न? यह परमाणु की पर्याय है, यह मूल परमाणु नहीं, यह उसकी

पर्याय है। यह शरीर है, वह परमाणु के पिण्ड की पर्याय है। द्रव्य ? द्रव्य तो त्रिकाल है। वैसे ही वाणी भी परमाणुद्रव्य की पर्याय है, द्रव्य नहीं। वह द्रव्य है, परन्तु वह पुद्गलद्रव्य की पर्याय में है। आहा...हा... ! तीन बातें की — एक तो पुद्गलद्रव्य, उसका स्वलक्षण वर्ण, गंध, रस, स्पर्श आदि; उसमें रहा हुआ है; इसलिए वह पुद्गल की पर्यायरूप है। आहा...हा... ! है ? एक पिण्डरूप अखण्ड है। आहा...हा... ! (यह परमाणु) बिखर जानेवाले हैं। देह छूटने से जलायेंगे तब इतनी (भी) राख नहीं होगी; थोड़ी राख होगी। 'रजकण तारा रखड़से, जैम रखड़ती रेत' जैसे रेत भटकती है, प्रभु ! 'रजकण तारा रखड़से, जेम रखड़ती रेत, पछी नरतन पामिशक्यां ?' प्रभु ! वहाँ तुझे कब मिलेगा ? दूसरे भव में ऐसी बात तुझे कहाँ मिलेगी ? आहा...हा... ! 'पछी नर तन पामीशक्यां ? चेत चेत नर चेत।' जाग रे जाग, नाथ ! आहा...हा... ! आहा...हा... ! राग की एकता में और पर की एकता में सो रहा प्रभु ! स्व से जागना चाहिए, उसमें सो रहा है। आहा...हा... !

मूल पहली (चीज) — सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान कठिन चीज है। फिर सम्यक्चारित्र तो देखी हुई चीज है, उसमें स्थिरता वह चारित्र है। चारित्र कोई दूसरी चीज नहीं है। आहा...हा... ! परन्तु जो चीज जानकर मानने में आयी नहीं, जानने में आयी नहीं, उसमें स्थिरता किस प्रकार ? आहा...हा... !

यह शरीर आदि तो **परमाणुद्रव्यों का...** परमाणुद्रव्यों का ! शरीर, वाणी, मन **परमाणुद्रव्यों का एक पिण्ड पर्यायरूप से परिणाम है,...** पर्याय है, यह तो परिणाम है। यह दिखता है, वह द्रव्य नहीं, उसके गुण नहीं; द्रव्य और गुण तो ध्रुव हैं, उनकी यह पर्याय है। पुद्गलद्रव्य की यह पिण्डरूप पर्याय है, पर्यायरूप परिणाम है। आहा...हा... ! तो फिर आपके पैसे का क्या करना ? यह तो दृष्टान्त है। आहा...हा... ! पैसा वह पुद्गलद्रव्य की पिण्डरूप पर्याय है। पुद्गलद्रव्य की पिण्डरूप पर्याय है। आहा...हा... ! आहा...हा... !

शरीर स्त्री का हो या पावैया — नपुंसक का हो या पुरुष का हो परन्तु है तो पुद्गलद्रव्य के एक पिण्ड पर्यायरूप परिणाम। आहा...हा... ! पाँच इन्द्रियों को प्राप्त शरीर है। यह पाँच इन्द्रियाँ हैं, वह पर्याय है। आहा...हा... ! गुण और द्रव्य तो ध्रुव है। आहा...हा... ! समझ में आया ?

क्योंकि अनेक परमाणुद्रव्यों के स्वलक्षणभूत स्वरूपास्तित्व अनेक होने पर भी.... आहा...हा...! अन्दर अलग-अलग परमाणु होने पर भी। वाणी के, शरीर के, मन के (परमाणु) अलग-अलग होने पर भी **कथंचित् (स्निग्धत्व-रूक्षत्वकृत बंध परिणाम की अपेक्षा से) एकत्वरूप अवभासित होते हैं।** स्निग्धत्व-रूक्षत्व के बंध परिणाम की अपेक्षा से एकरूप अवभासित होते हैं। हैं तो भिन्न-भिन्न — परमाणु भिन्न-भिन्न हैं। उनकी यह पर्याय है। एकरूप क्यों भासित होती है ? कि उसमें स्निग्धता और रूक्षत्व की योग्यता से पिण्डरूप ज्ञात होती है। आहा...हा...! समझ में आया ?

अनेक होने पर भी कथंचित् (स्निग्धत्व-रूक्षत्वकृत...) (अर्थात्) स्निग्ध और रूक्षत्व से हुए **(बंध परिणाम की अपेक्षा से) एकत्वरूप अवभासित होते हैं।** परमाणु की दो गुण स्निग्धता हो, दूसरे में चार गुण स्निग्धता हो तो पिण्डरूप भासित होता है। आहा...हा...! है तो स्वतन्त्र। इस स्कन्ध में भी परमाणु पर्यायरूप से स्वतन्त्र है। द्रव्य-गुण तो ध्रुव है परन्तु इसमें अन्दर एक परमाणु जो है, वह स्वतन्त्र है। उसकी पर्यायरूप से स्वतन्त्र है परन्तु स्निग्धत्व-रूक्षत्व की एकतारूप से एकरूप से भासित होता है। आहा...हा...! है ? १६१ (गाथा पूरी हुई)

विशेष कहेंगे। ●

सत्शास्त्रों की रचना की है

जो जीव, आत्मा की रुचि और मिठास छोड़कर धन, शरीर तथा भोग की रुचि और मिठास करता है, वह जीव, आत्मस्वभाव की हत्या और भावमरण करता है। ऐसे भावमरण का अभाव करने के लिए करुणा करके आचार्यदेव ने सत्शास्त्रों की रचना की है। *- पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी*

गाथा - १६२

अथात्मनः परद्रव्यत्वाभावं परद्रव्यकर्तृत्वाभावं च साधयति -

णाहं पोग्गलमइओ ण ते मया पोग्गला कया पिंडं।
तम्हा हि ण देहोऽहं कत्ता वा तस्स देहस्स।।१६२।।

नाहं पुद्गलमयो न ते मया पुद्गलाः कृताः पिण्डम्।
तस्माद्धि न देहोऽहं कर्ता वा तस्य देहस्य।।१६२।।

यदेतत्प्रकरणनिर्धारितं पुद्गलात्मकमन्तर्नीतवाङ्गनोद्वैतं शरीरं नाम परद्रव्यं न तावदहमस्मि, ममापुद्गलमयस्य पुद्गलात्मकशरीरत्वविरोधात्। न चापि तस्य कारणद्वारेण कर्तृद्वारेण कर्तृप्रयोजकद्वारेण कर्त्रनुमन्ततृद्वारेण वा शरीरस्य कर्ताहममस्मि, ममानेकपरमाणु-द्रव्यैकपिण्डपर्यायपरिणामस्याकर्तृरनेकपरमाणुद्रव्यैकपिण्डपर्यायपरिणामात्मकशरीरकर्तृत्वस्य सर्वथा विरोधात्।।१६२।।

अथात्मनः शरीररूपपरद्रव्याभावं तत्कर्तृत्वाभावं च निरूपयति - **णाहं पोग्गलमइओ** नाहं पुद्गलमयः। **ण ते मया पोग्गला कया पिंडा** न च ते पुद्गला मया कृताः पिण्डाः। **तम्हा हि ण देहोऽहं** तस्माद्देहो न भवाम्यहं। हि स्फुटं। **कत्ता वा तस्स देहस्स** कर्ता वा न भवामि तस्य देहस्येति। अयमत्रार्थ :- देहोऽहं न भवामि। कस्मात्। अशरीरसहजशुद्धचैतन्यपरिणत्वेन मम देहत्वविरोधात्। कर्ता वा न भवामि तस्य देहस्य। तदपि कस्मात्। निःक्रियपरमचिज्ज्योतिः -परिणतत्वेन मम देहकर्तृत्वविरोधादिति।।१६२।।

अब, आत्मा के परद्रव्यत्व का अभाव और परद्रव्य के कर्तृत्व का अभाव सिद्ध करते हैं —

मैं नहीं पुद्गलमयी रु, पुद्गलपिण्ड मुझकृत नहीं।
इस हेतु से मैं देह नहीं, अरु देह का कर्ता नहीं॥

अन्वयार्थ – [**अहं पुद्गलमयः न**] मैं पुद्गलमय नहीं हूँ और [**ते पुद्गलाः**] वे पुद्गल [**मया**] मेरे द्वारा [**पिण्डं न कृताः**] पिण्डरूप नहीं किये गये हैं, [**तस्मात् हि**] इसलिए [**अहं न देहः**] मैं देह नहीं हूँ, [**वा**] तथा [**तस्य देहस्य कर्ता**] उस देह का कर्ता नहीं हूँ।

टीका – प्रथम तो, जो यह प्रकरण से निर्धारित पुद्गलात्मक शरीर नामक परद्रव्य है – जिसके भीतर वाणी और मन का समावेश हो जाता है – वह मैं नहीं हूँ; क्योंकि अपुद्गलमय ऐसा मैं पुद्गलात्मक शरीररूप होने में विरोध है और इसी प्रकार उस (शरीर) के कारण द्वारा, कर्ता द्वारा, कर्ता के प्रयोजक द्वारा या कर्ता के अनुमोदक द्वारा शरीर का कर्ता मैं नहीं हूँ, क्योंकि मैं अनेक परमाणुद्रव्यों के एक पिण्ड पर्यायरूप परिणाम का अकर्ता ऐसा मैं अनेक परमाणु द्रव्यों के एक पिण्ड–पर्यायरूप परिणामात्मक[१] शरीर का कर्तारूप होने में सर्वथा विरोध है ॥१६२॥

प्रवचन नं. १६९ असोज कृष्ण ५ बुधवार, १० अक्टूबर १९७९

प्रवचनसार, १६२ गाथा। **अब, आत्मा के परद्रव्यत्व का अभाव...** एक (बात) **और परद्रव्य के कर्तृत्व का अभाव सिद्ध करते हैं –**

णाहं पोग्गलमइओ ण ते मया पोग्गला कया पिंडं।
तम्हा हि ण देहोऽहं कत्ता वा तस्स देहस्स।।१६२।।

मैं नहीं पुद्गलमयी रु, पुद्गलपिण्ड मुझकृत नहीं।
इस हेतु से मैं देह नहीं, अरु देह का कर्ता नहीं॥

टीका – प्रथम तो,.... १६२ (गाथा) **यदेतत्प्रकरणनिर्धारितं** मूल बात यह है कि **जो यह प्रकरण...** अधिकार है, उसमें निश्चय किया है कि **पुद्गलात्मक शरीर....** पुद्गलस्वरूप शरीर **नामक परद्रव्य है – जिसके भीतर वाणी और मन का समावेश हो जाता है — वह मैं नहीं हूँ;...** मन्दिर है, भगवान की प्रतिमा है, मन्दिर है तो शरीर

१. शरीर अनेक परमाणुद्रव्यों का एकपिण्डपर्यायरूप परिणाम है।

की क्रिया निमित्त है। दर्शन करने आवे तो होते हैं, निमित्त न हो तो होता? मन्दिर नहीं होता तो दर्शन करने आते थे? आहा...हा...! सूक्ष्म बात बहुत, भाई! गम्भीर! आहा...हा...!

कहते हैं कि प्रभु! उस समय दर्शन करनेवाले का आत्मा, उसकी पर्याय उस प्रकार से शुभ की होने का काल और शरीर की पर्याय भी उस प्रकार से यहाँ आने का (काल था)। आत्मा के कारण नहीं। सूक्ष्म बात, भाई! शरीर के कारण, शरीर की पर्याय (होती है) यह यहाँ सिद्ध करते हैं कि शरीर मैं नहीं, उसकी होनेवाली क्रिया मैं नहीं और उसका मैं कर्ता नहीं।

भगवान! यह मन्दिर नहीं था, तब यह कोई आता था? (तो) निमित्त के कारण आते हैं या नहीं? प्रत्यक्ष दिखायी देता है और इंकार (करना)? यहाँ पहले कुछ नहीं था और फिर यह आया। (यह भाई) मोटर में बैठते हैं तो मोटर के कारण ये चलते हैं? या नहीं? वरना अन्दर क्यों बैठें? सूक्ष्म बात, भाई! गम्भीर तत्त्व है! इस मोटर की पर्याय उस काल में उस प्रकार होने की और शरीर की पर्याय इस प्रकार वहाँ आगे (होने की थी)। शरीर मोटर में बैठा भी नहीं, शरीर को मोटर का आधार भी नहीं है; शरीर को शरीर का आधार है। यह आ गया है, यह आ गया। शरीर को शरीर का आधार है। शरीर को शरीर का कर्तापना और उसके कारण है, उसके कारण शरीर वहाँ गति करता है, मोटर के कारण नहीं। यह गले उतरना...! भाई! आहा...हा...! यहाँ भैंसे बैठते थे, इतना पता नहीं? आहा...हा...! भाई! शरीर की पर्याय उस काल में उसी प्रकार होने की थी, वह इस निमित्त के कारण नहीं। बहुत कठिन काम जगत को कठिन काम लगता है। आहा...हा...!

शास्त्र में ऐसा आता है कि मन्दिर होवे तो दर्शन हो, पूजा हो, लोग शास्त्र पढ़ें-तो वहाँ निमित्त है तो होता है - ऐसा आया या नहीं? आहा...हा...! वह तो स्वयं के कारण होता है। यहाँ कहा न! शरीर पुद्गल है और उसकी पर्याय उस क्षण में उसके कारण, मैं कर्ता (हुए) बिना, मेरे कारण बिना, अनुमोदक बिना, प्रयोजक-योजना बिना, वह पर्याय उस प्रकार से वहाँ होती है। अरे...! प्रभु! जगत् को जँचना कठिन (पड़ता है)। कठिन काम! आहा...हा...! कहो, समझ में आया? भाई!

भावनगर से आये तो यह (मन्दिर) था तो आये (न)? प्रत्यक्ष दिखता है कि यहाँ

भैंसे बैठते थे और अभी मनुष्य (बैठते हैं)। उद्घाटन के समय २६,००० (लोग) थे... बड़ा महोत्सव! भाई! शान्ति से, गम्भीरता से विचार कर, भाई! उस-उस काल में उस-उस शरीर की उस प्रकार का जन्मक्षण है, इसलिए वह पर्याय (होती है)। आत्मा के कारण नहीं। आहा...हा...! और आत्मा का भी उसी प्रकार का, उस समय की पर्याय का जन्मक्षण है, इसलिए वह पर्याय होती है। आहा...हा...!

अक्षर अपने आप लिखे जाते हैं? होशियार व्यक्ति हो तो कैसे अक्षर लिखता है? मोती के दाने जैसे! हमारा भाई था न? बड़ा भाई! नामा लिखते, मोती के दाने जैसे (अक्षर)! बहुत नामा (लिखते थे), भाई-बड़े भाई थे (वे) पालेज दुकान में बहुत नामा लिखते। वे लिखने के अक्षर आत्मा न हो तो लिखे जायेंगे? नहीं? बापू! उन अक्षरों के परमाणुओं के पिण्ड की उस पर्याय का उस काल में जन्मक्षण है; इसलिए वे अक्षर उसकी पर्याय में होते हैं। आहा...हा...! अरे...रे...! बहुत कठिन काम!

गम्भीर तत्त्व है! भिन्न-भिन्न तत्त्व है, उसमें भिन्न-भिन्न तत्त्व का भिन्न-भिन्न तत्त्व (कर्ता नहीं होता)। एक तो यह बात आयी थी कि भगवान आत्मा शुद्ध चैतन्यघन है, अनन्त गुण का पवित्र पिण्ड है तो उसके आश्रय से पवित्रता प्रगटे। धर्म कहो, सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र कहो, वह निर्मल के आश्रय से प्रगटते हैं और व्यवहार है, वह पर के आश्रय से प्रगटता है, वह मलिनता है। ऐसी बात है। परन्तु अब क्या हो? संयोग से देखता है, उसके स्वभाव से नहीं देखता कि यह संयोग में मन्दिर है, इसलिए आये ऐसा कहा परन्तु उसकी अपनी पर्याय-शरीर का स्वभाव और आत्मा का उस समय का, उस पर्याय का स्वभाव है — ऐसा न देखकर यह इसके कारण आया वह संयोग से देखनेवाला है। आहा...हा...!

यह तिनका (अथवा) लौकी की शाक है और छुरी है। उस लौकी पर छुरी पड़े और टुकड़े होते हैं तो लोग संयोग से देखते हैं कि छुरी से टुकड़े हुए। प्रभु कहते हैं कि वह टुकड़े होने की पर्याय का, उस परमाणु का स्वयं का; छुरी की अपेक्षा बिना टुकड़े होने का उस पर्याय का उस समय का स्वभाव है। अरे...रे! ऐसी बात! दुनिया से उल्टी कहलाती है। आहा...हा...! दुनिया का सब पता है, नहीं पता (ऐसा नहीं है)। आहा...हा...!

यहाँ कहते हैं कि शरीर है, वह पुद्‌गल है और उसका पुद्‌गल का पिण्ड मैंने नहीं किया। आहा...हा... ! तो फिर पिण्ड की जिस क्षण में जो अवस्था होती है, उसे मैं नहीं करता। आहा...हा... ! पूजा में चावल लेकर ऐसे स्वाहा करे तो कहते हैं कि वह परमाणु की क्रिया की उस समय की वह पर्याय हुई है, वह आत्मा की इच्छा से नहीं हुई और वे चावल पड़े वे इससे ऐसे पड़े (तो उस प्रकार) पड़े नहीं। वह चावल की पर्याय उस प्रकार वहाँ होनेवाली थी, वह हुई है। यह कौन माने ? वीतराग का मार्ग पूरे जगत से उल्टा है।

उल्टे घड़े पर उल्टे ही घड़े रहते हैं। घड़ा उल्टा हो उस पर उल्टा ही रहता है। ऐसे ही जिसके तत्त्व ही विपरीत हैं, तत्त्व की दृष्टि और तत्त्व की पर्याय उस काल में है — ऐसी जिसकी दृष्टि नहीं है, वह सब बातें उल्टे तर्क से करता है। आहा...हा... ! सूक्ष्म बात है भाई ! आहा...हा... !

इस दाढ़ से रोटी के टुकड़े नहीं होते, कौन माने ? इस रोटी के टुकड़े की पर्याय का उस काल में उत्पाद का जन्म-क्षण है, इसलिए हुए हैं। दाढ़ ने तो उन्हें स्पर्श भी नहीं किया है। एक द्रव्य को दूसरा द्रव्य स्पर्श ही नहीं करता, क्योंकि एक द्रव्य में दूसरे द्रव्य का अत्यन्त अभाव है। अभाव है तो एक द्रव्य दूसरे को स्पर्श नहीं करता। अरे...रे... !

पानी अग्नि को स्पर्श नहीं करता, अग्नि पानी को स्पर्श नहीं करती और (पानी) गर्म होता है। अरे... प्रभु ! क्या हो ? यह बात किसे जँचे ? आहा...हा... ! समझ में आया ? यह पानी की स्पर्श गुण की ठण्डी अवस्था में से उष्ण होने का उसका काल था, उस स्वकाल में (उष्ण) हुआ है। अग्नि से गर्म नहीं हुआ, अग्नि ने उसे स्पर्श नहीं किया। क्यों ? कि पानी के परमाणु और अग्नि के परमाणु दोनों के बीच अत्यन्त अभाव है। अभाव है तो (एक-दूसरे को) स्पर्श का भाव कहाँ से रहे ? ऐसी बातें हैं।

यह यहाँ कहते हैं। आहा...हा... ! इस अधिकार में निश्चय किया हुआ पुद्‌गलस्वरूप शरीर... यह तो पुद्‌गलस्वरूप शरीर है, प्रभु ! आहा...हा... ! इस **नामक परद्रव्य है...** पुद्‌गलस्वरूप शरीर नाम का परद्रव्य और उसमें वाणी तथा मन दोनों समा जाते हैं। उसकी — परद्रव्य की पर्याय जिस समय जो होती है... आहा...हा... ! क्रमबद्ध में उसकी जिस

समय जो पर्याय होती है, उसका मैं कर्ता नहीं हूँ, क्योंकि उस काल में भी मुझे उसके और स्व के जानने की पर्याय की उत्पत्ति का काल है, वह जानने की पर्याय उत्पन्न होती है। आहा...हा...! ऐसा गले उतरना!

करौंत से लकड़ी नहीं कटती; तिनके के दो टुकड़े आत्मा नहीं कर सकता; शाक अग्नि से (पकती) नहीं; रोटी तवे से सिंकती नहीं क्योंकि तवे के परमाणु और रोटी के परमाणु भिन्न हैं। भिन्न हैं, इसलिए तीसरे श्लोक में (गाथा में) कहा है — समयसार में तीसरी (गाथा में)! कि एक द्रव्य अपने गुण और पर्याय को चुम्बन करता है, स्पर्श करता है; परद्रव्य को स्पर्श नहीं करता। तीसरी गाथा है। आहा...हा...! यह वीतराग का सिद्धान्त! एक द्रव्य दूसरे द्रव्य को स्पर्श नहीं करता। गजब बात है! अग्नि के परमाणु, पानी को स्पर्श नहीं करते और पानी गर्म होता है, कौन माने यह? (ऐसा लगता है) पागल लोग हैं! बापू! ऐसा है, प्रभु! (तू) जैसा माने वैसा मान परन्तु वस्तु तो ऐसी है। आहा...हा...! भाई! शरीर को यहाँ पुद्गलद्रव्य निर्धार किया है। आहा...हा...! और उसके साथ मन तथा वाणी भी पुद्गल है — ऐसा सिद्ध किया है, तो उस-उस समय की जो अवस्था (होती है)... यह कहेंगे। **वह मैं नहीं हूँ; क्योंकि अपुद्गलमय ऐसा मैं...** मैं तो अपुद्गलमय — ऐसा मैं; पुद्गलमय ऐसा शरीर... अपुद्गलमय — ऐसा मैं।

भगवान! यह बात तो परमात्मा के घर की है! आहा...हा...! उसका निषेध नहीं होता, प्रभु! आहा...हा...! जैसा है, वैसा उसका स्वीकार होना चाहिए। आहा...हा...! यह साधारण भाषा करनेवाला है, इसलिए यह होता है — ऐसा नहीं लेना, प्रभु! तीन लोक के नाथ सर्वज्ञदेव की भाषा में-दिव्यध्वनि में यह पुकार है! यह प्रवचनसार है! प्रवचन है— दिव्यध्वनि है। आहा...हा...!

एक व्यक्ति ने कहा था। बढ़वानवाले (एक भाई थे), उन्हें दूसरे ने कहा था कि आप निमित्त को नहीं मानते हो तो वहाँ (सोनगढ़) बारम्बार क्यों जाते हो? निमित्त से तो होता नहीं तो आप वहाँ क्यों जाते हो? तो उन्होंने उत्तर दिया कि प्रभु! निमित्त से नहीं होता, इसका विशेष निर्णय करने के लिए हम जाते हैं! निर्मलानन्द प्रभु! आहा...हा...! जगत का साक्षी प्रभु! इस जगत के किसी पदार्थ की पर्याय को किस प्रकार करे? आहा...हा...!

ऐसा जवाब दिया था। अब तो लाखों लोग विचार में चढ़े हैं, सत् विचार में चढ़े हैं। बापू! विचार तो कर, बापू! अरे... ऐसा समय मिला, देह चला जाएगा, भाई! आहा...हा...!

आहा...हा...! शरीर पुद्गल है और मैं अपुद्गल हूँ – ऐसा कहा न? **अपुद्गलमय — ऐसा मैं पुद्गलात्मक शरीररूप होने में विरोध है...** मैं अपुद्गलस्वरूप (का) इस पुद्गलस्वरूप शरीर होने में विरोध है। आहा..हा...! क्या वाणी? **और इसी प्रकार उस (शरीर) के कारण द्वारा,...** आहा...हा...! उसके–शरीर के कारण द्वारा मैं उसका कर्ता नहीं, कारण तो उससे होता है। आहा...हा...!

शरीर यहाँ भगवान के मन्दिर के पास आता है तो कहते हैं कि वह तो शरीर के कारण द्वारा शरीर आता है; मेरे कारण नहीं, वैसे ही भगवान के कारण नहीं। आहा...हा...! पागल जैसी बातें लगें! प्रत्यक्ष दिखता है और आप कहते हो (ऐसा नहीं)। भाई! तू प्रत्यक्ष किसे कहता है? तेरी दृष्टि संयोग से देखती है, इसलिए तुझे प्रत्यक्ष दिखता है परन्तु उस –उस द्रव्य के स्वभाव से देख तो वह पर्याय उससे हुई है, संयोग से नहीं हुई। आहा...हा...! न्याय समझ में आया?

एकान्त है... एकान्त है... ऐसा लोग (कहते हैं)। (ऐसा) जैनदर्शन (नामक पत्रिका में) आता है। प्रभु! क्या करें? अभी सर्वज्ञ परमात्मा रहे नहीं, किससे निर्णय कराना? आहा...हा...! भाई! तू भी प्रभु है न! तू सीमन्धरनाथ है! (अर्थात्) तेरे स्वभाव में सीमा – मर्यादा से रहा हुआ है। तेरी मर्यादा छोड़कर पुद्गल में नहीं रहा है। आहा...हा...!

पुद्गल की–शरीर की जिस क्षण में अवस्था होनी है, उस क्षण में उसमें हो वह पुद्गलात्मक है। अपुद्गलात्मक मैं, उसमें मेरा कुछ नहीं है। आहा...हा...! मेरा निमित्त है, इसलिए हुआ? तो कहते हैं नहीं। (उसका) कारण उसमें है। अरे...रे...! ऐसी बातें! भगवान परम सत्य तो यह है! जँचे न जँचे, एकान्त लगे... कहो, वस्तु बदले ऐसी नहीं है। आहा...हा...! क्या कहा?

(शरीर) के कारण द्वारा,.... आहा...हा...! शरीर के कारण द्वारा उसकी पर्याय होती है। आहा...हा...! भगवान की भक्ति में वाणी निकले और भगवान के सामने शरीर की कुछ चेष्टा हो तो कहते हैं कि शरीर के कारण द्वारा वह पर्याय होती है। आहा...हा...!

यह सुजान है! आहा...हा...! बड़ी-बड़ी बातें करके लोगों को प्रसन्न करे, और लोग प्रसन्न हों... प्रभु! वहाँ सत्य लुटता है। आहा...हा...! भाई! तुझे पता नहीं है।

प्रभु! तू तो अबपुद्गल है न! इस पुद्गल की कोई भी अवस्था जिस क्षण में होती है, उसका कारण वह है - ऐसा आया न? आहा...हा...! सिद्धान्त की एक भी गाथा मध्यस्थता से समझे... आहा...हा...! तो उसका हल हो जाये परन्तु ऐसे का ऐसा वाद -विवाद कर-करके (सत्य से वंचित रह गया है)। प्रभु! इस वाद-विवाद से कहीं निर्णय हो — ऐसा नहीं है। आहा...हा...! कहते हैं कि शरीर, वाणी और मन उसके **कारण द्वारा,...** शरीर, वाणी और मन उसके **कर्ता द्वारा...** आहा...हा...! शरीर, वाणी और मन **कर्ता के प्रयोजक द्वारा...** (अर्थात्) योजक, कर्ता, कराना, योजक-कराना, इसके द्वारा **कर्ता के अनुमोदक द्वारा शरीर का कर्ता मैं नहीं हूँ,....** आहा...हा...! उसके कारण में मैं नहीं, उसके कर्तापने में मैं नहीं, उसके कार्यपने में नहीं, उसके अनुमोदकपने में मैं नहीं। आहा...हा...! कहो भाई! कहीं ऐसा कभी सुना है? आहा...हा...!

यह तो परमात्मा सर्वज्ञदेव सीमन्धर परमात्मा की वाणी है, प्रभु! कुन्दकुन्दाचार्यदेव वहाँ गये थे, आठ दिन रहे थे। आहा...हा...! वह वाणी है। आहा...हा...! शरीर, मन, और वाणी; उसकी जिस समय पर्याय होती है, उसके कारण में मैं नहीं, उसके कर्ता में मैं नहीं, उसके योजक में मैं नहीं, उसके अनुमोदन में मैं नहीं कि ठीक, ऐसी देह की क्रिया हुई। आहा...हा...!

यह कहीं वेदान्त नहीं कि एक व्यापक द्रव्य है। इसमें तो ऐसा कहते हैं कि सर्व व्यापक एक है। (वह) अत्यन्त मिथ्यादृष्टि है, पर्याय को नहीं मानता, अनन्त द्रव्य को भिन्न नहीं मानता। आहा...हा...! कितने ही ऐसा कहते हैं कि यहाँ निश्चय की बात है न, वह वेदान्त जैसी है! वेदान्त जैसी नहीं, प्रभु! वेदान्त में अनन्त आत्माएँ और उन्हें गुण और उनकी पर्याय और अनुभव — ऐसी बात कब है? उनमें छह द्रव्य ही कहाँ हैं? आहा...हा...! यह तो तीन लोक के नाथ जिनेश्वरदेव का पंथ और मार्ग है।

कहते हैं कि (जीव को ऐसा होता है कि) चलो मैं मन्दिर-आगम मन्दिर जाऊँ, इसलिए शरीर की अवस्था को मैं चलाऊँ और यहाँ लाऊँ (परन्तु) यह मेरा अधिकार नहीं

है। आहा...हा...! कहो भाई! ऐसी बातें हैं। आपके कपास के बड़े-बड़े धन्धे! (उसमें ऐसा नहीं आता)। आहा...हा...! कहते हैं कि क्षेत्र में-आत्मा के क्षेत्र में रहा हुआ... तीन प्रकार हैं - एक तो आत्मा के क्षेत्र से बाहर रहे हुए पदार्थ; आत्मा के क्षेत्र में रहे हुए शरीर, वाणी, मन और आत्मा की पर्याय में रहा हुआ राग, द्वेष, विकार, आहा...हा...! इन तीनों का मैं कर्ता नहीं हूँ। इनमें मैं कारणपने भी नहीं, आहा...हा...! इनके योजकपने भी मैं नहीं तथा वह भाव हुआ, इसलिए ठीक हुआ - ऐसा अनुमोदक भी मैं नहीं हूँ। आहा...हा...! समझ में आये ऐसा है, हाँ! भाषा सादी है, वस्तु तो जैसी है वैसी है, भाई!

आहा...हा...! भगवान ने तो जैसा है, वैसा जाना है, किया नहीं। भगवान ने किसी का कुछ किया नहीं। आहा...हा...! जैसा है वैसा जाना है और जाना है वैसा भाषा में भाषा के कारण आ गया है। उस भाषा के कर्ता भगवान नहीं हैं। आहा...हा...! दिव्यध्वनि के कर्ता वीतराग नहीं हैं। आ...हा...! और ऐसी ही बात आती है। सर्वज्ञ (ज्ञान में जैसी) बात देखी है, वैसी ही बात उसमें आती है। वाणी में निमित्त है न, इस कारण ऐसी ही बात आती है परन्तु निमित्त है; अतः उसमें ऐसी बात आती है — ऐसा नहीं है। उस वाणी में स्व-पर प्रकाशक (कहने का) स्वभाव है। स्व-पर कहने का स्वभाव है। भगवान आत्मा में स्व-परप्रकाशक जानने का स्वभाव है। भगवान आत्मा में स्व-पर जानने का स्वभाव है, वाणी में स्व-पर को कहने का स्वभाव है। (वह) आत्मा के कारण नहीं। आहा...हा...! अरे...! यह किसे जँचे? कठिन लगता है! पूरे दिन मैं करूँ... मैं करूँ... आहा...हा...! गजब काम किया है न!

कहते हैं कि इस शरीर की पर्याय जिस क्षण होती है, वह पुद्गलात्मक है। मैं तो अपुद्गलात्मक हूँ; इसलिए उसके कारणपने मैं नहीं हूँ; उसके कारणपने वह है। यह शरीर ऐसा चलता है, उसके कारणपने वह शरीर है। आहा...हा...! इसी प्रकार मन और वाणी, उनके कर्तापने मैं नहीं हूँ। कर्ता के प्रयोजक-योजना-व्यवस्था करनेवाला मैं नहीं हूँ कि ऐसी ही वाणी निकलनी चाहिए या (ऐसे) ही शरीर को चलना चाहिए। आहा...हा...! भगवान के पास जाना है तो शरीर को भली-भाँति विनयसहित चलना चाहिए। प्रभु... प्रभु... प्रभु...! ऐसा मैं कर्ता का प्रयोजक नहीं हूँ। **कर्ता के अनुमोदक द्वारा शरीर का कर्ता मैं नहीं हूँ,....** आहा...हा...! गम्भीर... गम्भीर... बात है!

जगत के प्राणी पदार्थ का परिणमन संयोग देखकर देखते हैं कि यह संयोग आया, इसलिए ऐसा हुआ। यदि अग्नि आयी तो पानी गर्म हुआ, छुरी आयी तो टुकड़े हुए, दाँत थे तो रोटी के टुकड़े हुए। आहा...हा...! वह संयोग से देखता है। प्रभु कहते हैं कि तू ऐसा न देख। उस-उस काल का उस-उस द्रव्य का वह पर्यायस्वभाव है — ऐसा देख तो तुझे सत्य हाथ आयेगा। आहा...हा...!

यहाँ प्रत्यक्ष भैंसे बैठते थे। एक दरबार कहता था कि जीथरी की... क्या कहलाता है? पाँचबड़ा! ऐसा दरबार कहता था कि यहाँ भैंसे बैठते थे। आप आये तो यह सब हुआ। कहा, बापू! ऐसी गाली मत दो, बापू! २६-२६ लाख का मकान (परमागम मन्दिर) और करोड़ों रुपये! करोड़ों रुपये के मन्दिर हो गये! भाई!

प्रश्न : महाराज साहब का प्रताप कहें तो क्या बाधा है?

समाधान : किसका प्रताप? बापू! प्रताप पर्याय में होता है या प्रताप पर में जाता है? ऐसी बात है। आहा...हा...! सूक्ष्म बात है भाई! सत्य को सत्यरूप से समझना और सत्य को सत्यरूप से श्रद्धान करना, वह अलौकिक बात है! फिर बाद में लीनता करना, वह तो अलौकिक बात है! चारित्र तो अलौकिक बात, बापू! अभी तो (कहीं देखने मिलते हैं?) आहा...हा...! आहा...हा...! चारित्र तो परमेश्वर पद! वह तो अलौकिक बात है! परन्तु वह चारित्र, सम्यग्दर्शन-ज्ञान के बिना नहीं होता और सम्यग्दर्शन, ज्ञान में तो पहले यह आता है।

कहते हैं कि मैं अपुद्गल हूँ। यह (शरीर) पुद्गल है। दो चीज ही भिन्न है तो प्रतिक्षण होनेवाली पर्याय का (मैं) कर्ता नहीं हूँ, उसका मैं कारण नहीं हूँ, उसका योजक नहीं हूँ, उसका अनुमोदक नहीं हूँ। गजब बात है! आहा...हा...!

शरीर से दया पालन की (और) जीव बचा। पानी में मक्खी थी, (उसे) ऐसे (निकाल ली)... कहते हैं कि इस अंगुली की पर्याय ऐसे हुई, उसका मैं कर्ता नहीं हूँ, मैंने यह किया नहीं है, यह तो पुद्गल है; मैं तो अपुद्गल हूँ। इस शरीर की अंगुली को मक्खी को निकालने के लिए ऐसे-ऐसे कैसे करे? आहा...हा...! समझ में आया? ऐसी बात है।

पहली दर्शनशुद्धि ऐसी चीज है... आहा...हा...! जिसमें भव का अन्त आ जाये!

भव का छोर आ जाये। आहा...हा... ! यहाँ तो पहली यह बात है। दर्शनशुद्धि ! सम्यग्दर्शन की दशा ! उस दशा में पर्याय में रहा हुआ राग और इसके प्रदेश में रहे हुए शरीर, वाणी और मन तथा प्रदेश से बाहर रहे हुए स्त्री, कुटुम्ब, परिवार, पैसा, लक्ष्मी, इज्जत-कीर्ति — इन सबका मैं कारण भी नहीं, मैं कर्ता नहीं, प्रयोजक-योजक नहीं। आहा...हा... ! लड़कों को ठीक से अच्छे प्रकार से विवाहित किया, अच्छी लड़की देखकर, गृहस्थ की लड़की देखकर (विवाह किया)। आहा...हा... ! ए...ई... ! तुम्हारे तो तीनों विवाहित हो गये हैं। योजना की न ? कि अच्छी लड़की आये, कुछ लेकर आये, यह सब योजना आयी या नहीं ? पाँच-पच्चीस कन्या के (लग्न) आये हों तो जो कुछ ठीक हो, रूपवान हो, कुछ अच्छा लाये, उसे पसन्द करते हैं। आहा...हा... ! अरे ! प्रभु ! अरे...रे... ! यह कुछ तुझसे नहीं होता, भाई ! यह विकल्प भी तेरा नहीं न, प्रभु ! तो फिर इस शरीर से बाहर की क्रिया हो वह बात तो है ही नहीं। आहा...हा... ! विकल्प है, वह तो राग है, मलिन है, पराश्रय है; तू तो प्रभु ! शुद्धचैतन्यमूर्ति है न ! उसके आश्रय से कभी मलिनता होती है ?

सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान, आत्मा के आश्रय से होते हैं और रागादि, पर के आश्रय से होते हैं। दोनों चीजें ही अत्यन्त भिन्न हैं। आहा...हा... ! एक पर्याय में दो भाग ! सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की पर्याय, द्रव्य के आश्रय से होती है, वह निर्मल है और राग की-व्यवहार की पर्याय, निमित्त के आश्रय से होती है। आश्रय से, हाँ ! निमित्त से नहीं। यह बात समयसार में आ गयी है। (पर का) आश्रय हो परन्तु वह वस्तु बन्ध का कारण नहीं है। परिणाम का आश्रय परवस्तु हो परन्तु वह परवस्तु बन्ध का करण नहीं है। यह समयसार में आ गया है। आहा...हा... !

(उसका) कारण मैं नहीं। आहा...हा... ! प्रतिक्षण होनेवाली विविध और विचित्र शरीर-पर्याय, वाणी की भी विविध और विचित्र होनेवाली पर्याय... आहा...हा... ! उसका मैं धारक नहीं, उसका मैं कर्ता नहीं, उसका मैं कारण नहीं, उसका योजक नहीं। ऐसी योजना हुई, इसलिए — ऐसा हुआ (ऐसा नहीं है)। आ...हा... ! यह लोग बहुत कहते हैं कि अच्छे लोग एकत्रित होकर योजना करें कि भाई ! ऐसा करो... ऐसा करो... ऐसा करो... यह इंकार करते हैं। योजना तुझसे नहीं होती। आहा...हा... ! प्रभु ! तू तो जाननेवाला

अपुद्गलिक है न! तू अपुद्गलिक जानने-देखनेवाला है न! तेरे अस्तित्व में तू कर। वह भी तेरे अस्तित्व में राग को कर, वह भी मलिनता है और तेरे अस्तित्व में द्रव्य के आश्रय से कर, वह निर्मलता है। आहा...हा...! समझ में आया?

क्योंकि मैं अनेक परमाणुद्रव्यों के एक पिण्ड पर्यायरूप परिणाम का अकर्ता.... वाणी, मन और यह शरीर अनेक परमाणुओं का (बना हुआ है)। एक-एक परमाणु भी स्वतन्त्र है। अपनी पर्याय को करने के लिए वह स्वतन्त्र है। परमाणु में भी निज क्षण में जो पर्याय होती है, (वह) स्वयं से होती है; दूसरे परमाणु से भी नहीं। आहा...हा...!

(ऐसा सुनकर) फिर लोग विरोध करें न? विरोध न करें? मन्दिर बनाया तो कहें मन्दिर से (धर्म) नहीं होता, भगवान की प्रतिमा से नहीं होता, बाईस लाख शास्त्र बनाये उनसे ज्ञान नहीं होता। तब बनाये किसलिए? कौन बनाये? भाई! आहा...हा...! उसी काल में उन परमाणुओं की शास्त्र रचने की पर्याय उस काल में परमाणु से होती है; आत्मा उसका कर्ता नहीं है। यह तो अमृतचन्द्राचार्यदेव ने नहीं कहा? कौन बनाये? पुस्तक पुद्गलात्मक है और मैं अपुद्गलात्मक हूँ तो अपुद्गलात्मक वस्तु उस पुद्गलात्मक जड़ की पर्याय को किस प्रकार करे? आहा...हा...! प्रभु! जरा सूक्ष्म बात पड़े परन्तु सत्य तो यह है।

तीन लोक के नाथ का कथन यह है। अरे...! आहा...हा...! (हम) वहाँ थे परन्तु वहाँ से देह छूटकर यहाँ आ गये हैं। आहा...! आहा...हा...! वस्तु तो यह है, परमेश्वर!

क्योंकि मैं अनेक परमाणुद्रव्यों के एक पिण्ड पर्यायरूप.... देखा? पर्यायें (कहा), हाँ! वापस! **एक पिण्ड पर्यायरूप परिणाम का अकर्ता ऐसा मैं....** जिस-जिस क्षण में देह की और वाणी की पर्याय हो... आहा...हा...! उस एक पिण्ड पर्यायरूप परिणाम का कर्ता मैं नहीं। आहा...हा...! **अकर्ता ऐसा मैं अनेक परमाणु द्रव्यों के एक पिण्ड-पर्यायरूप परिणामात्मक शरीर का कर्तारूप होने में सर्वथा विरोध है।** आ...हा...! आहा...हा...! शरीर की पर्याय करने में विरोध है। आहा...हा...!

यहाँ तो लोग यह कहते हैं — सोनगढ़वाले, निमित्त से नहीं होता — ऐसा कहते हैं। पूरे दिन निमित्त से होता है — ऐसा तो दिखता है। भाई! तेरी दृष्टि निमित्त के ऊपर है।

आहा...हा...! और भाई ने कहा नहीं? (एक विद्वान ने) अभी निश्चित किया, पहले (उनकी मान्यता में) जरा अन्तर था। (संवत्) १९२२ के साल में (दूसरे विद्वान के) साथ चर्चा हुई तब अन्तर था, कारण कि (वे विद्वान्) कहते हैं कि निमित्त से किसी समय होता है और क्रमबद्ध नहीं है। एक के बाद एक हो परन्तु इसके बाद यही हो (ऐसा) नहीं है। ये दो चर्चा (विद्वान् के) साथ हुई थी। (उनकी) दृष्टि विशुद्ध थी।

(हमने) कहा ऐसा नहीं है। आ...हा...! निमित्त से कभी नहीं होता और क्रमबद्ध में कोई अन्तर नहीं पड़ता। जिस समय में जो पर्याय होनेवाली है, उस समय में वह होती है। इसके बाद यही होती है — ऐसा नहीं, ऐसा (वे विद्वान्) कहते थे। (हमने) कहा — इसके बाद यही होती है — ऐसा उसका नियम है। यह तो (संवत्) २०१३ के साल की बात है। आहा...हा...! (संवत्) १९८६ में व्याख्यान चलता था, तब ऐसा कहा था कि उपादान से होता है, निमित्त से नहीं होता (दूसरे विद्वान्) कहते थे कि यह बात विचार पर रही है, विचार पर रही है। मैंने कहा बात हो गयी है। उपादान से होता है, निमित्त से नहीं होता परन्तु अब उन्होंने निर्णय किया, उस समय विरोध था, सब बैठे थे। एक (विद्वान् ने) स्वीकार किया था। उन्होंने स्वीकार किया था कि स्वामीजी कहते हैं कि द्रव्य की पर्याय उस काल में उससे स्वयंसिद्ध होती है, (उसे) परकारक की अपेक्षा नहीं है। पंचास्तिकाय की ६२ गाथा देखो! ६२ गाथा देखो, कहा। देखो, शास्त्र में तो देखो!

प्रत्येक (आत्म) द्रव्य की पर्याय में आत्मा अपना कर्ता है, वह परकारक की अपेक्षा उसमें नहीं है, विकार होने में भी जीव की स्वतन्त्रता है, कर्म के कारण विकार होता है — ऐसा भी नहीं है। आहा...हा...! निर्मलानन्द प्रभु में विकार हो — ऐसा कोई गुण नहीं है। अनन्त गुण निर्मल हैं, तथापि पर्याय में होता है, वह स्वतन्त्र स्वयं (कर्ता) है। कर्म के कारक की अपेक्षा बिल्कुल नहीं है। आहा...हा...! सूक्ष्म बहुत, भाई!

मैं अनेक परमाणुद्रव्यों के एक पिण्ड-पर्यायरूप परिणामात्मक.... (परिणात्मक अर्थात्) ***शरीर अनेक परमाणुद्रव्यों का एकपिण्डपर्यायरूप परिणाम है।*** परिणाम है। उस परिणाम का अकर्ता ऐसा मैं... आहा...हा...! **अनेक परमाणुद्रव्यों के एक पिण्ड-पर्यायरूप परिणामात्मक शरीर का कर्तारूप होने में सर्वथा विरोध**

है। आहा...हा...! शरीर की जिस क्षण जो अवस्था हो, उसमें मैं कर्तापने का विरोध है। आहा...हा...!

भगवान! तू भिन्न द्रव्य है न! और शरीर भी अनन्त परमाणुओं का पिण्ड द्रव्य है या नहीं? तो द्रव्य है, वह द्रवता है या नहीं? उस-उस समय की पर्याय वह-वह द्रव्य द्रवता है। आहा...हा...! उसमें दूसरा द्रव्य उसे क्या करे? अभिमान, मिथ्यात्व-अभिमान करे। आहा...हा...!

उसके (कर्तारूप) **होने में सर्वथा विरोध है।** देखा? शरीर अनन्त पुद्गल परमाणु के पिण्ड की पर्याय है। वह पर्याय है, द्रव्य-गुण नहीं; द्रव्य-गुण तो त्रिकाल है। वह पर्याय है, परमाणु के पिण्ड की यह पर्याय है। उस पर्याय होने में मैं अकर्ता हूँ। पर्याय होने में (अकर्ता हूँ।) द्रव्य-गुण तो त्रिकाल है परन्तु उसकी पर्याय होने में मैं अकर्ता हूँ। तो यह पर्याय कैसे आ गयी? मुर्दे को क्यों नहीं होती? अरे... प्रभु! सुन न? मुर्दा भी ऊँचा होता है। यह देखा है? हमने देखा है। हमारे भाई (संवत्) १९५७ में स्वर्गस्थ हो गये थे, सुन्दर गृहस्थ थे, स्वर्गस्थ हो गये, रात्रि में निकालते नहीं, इसलिए (मुर्दे पर) लोहे की कोश रखी थी, (क्योंकि) ऐसा ऊँचा हो तो दूसरे को डर लगेगा। यह तो १९५७ की बात है। उस समय ग्यारह वर्ष की उम्र थी। वह ऊँचा हो जाता है। उसके परमाणु की पर्याय होनेवाली हो, वह होती है और कौश रखी, कौश समझे? लोहे की! इससे (मुर्दा) ऊँचा नहीं हुआ — ऐसा भी नहीं है। आहा...हा...! यह संयोग से देखता है कि इससे यह मुर्दा ऊँचा नहीं हुआ परन्तु इससे वह पर्याय उस काल में ऊँचे होने की थी ही नहीं। आहा...हा...! यह भिन्न कागज है, (इस पर) लकड़ी रखते हैं तो इतनी हवा से नहीं फिरते, इसके बिना कागज फिरते हैं, फर्र... फर्र... होता है। कहते हैं कि यह लकड़ी रखी, इसलिए फर्र... फर्र... नहीं होता — ऐसा नहीं है और लकड़ी रखी इसके अतिरिक्त का (फर्र... फर्र...) होता है (और) कपड़ा उड़ता है, वह स्वयं के कारण (होता) है। आहा...हा...! ऐसा है। यह तो जहाँ हो वहाँ कर्ता... कर्ता... कर्ता... (मिथ्यादर्शन-मिथ्यात्व है।) मिथ्यात्व में व्रत लेकर बैठे, उसके फिर अभिमान चढ़ जाये। क्या हो? भाई! आहा...हा...! ●

गाथा - १६३

अथ कथं परमाणुद्रव्याणां पिण्डपर्यायपरिणतिरिति संदेहमपनुदति -

अपदेसो परमाणू पदेसमेत्तो य सयमसद्दो जो।
णिद्धो वा लुक्खो वा दुपदेसादित्तमणुभवदि।।१६३।।

अप्रदेशः परमाणुः प्रदेशमात्रश्च स्वयमशब्दो यः।
स्निग्धो वा रूक्षो वा द्विप्रदेशादित्वमनुभवति।।१६३।।

परमाणुर्हि द्व्यादिप्रदेशानामभावादप्रदेशः, एकप्रदेशसद्भावात्प्रदेशमात्रः, स्वयमनेकपरमाणुद्रव्यात्मकशब्दपर्यायव्यक्त्यसंभवादशब्दश्च। यतश्चतुःस्पर्शपञ्चरसद्विगन्धपञ्चवर्णानामविरोधेन सद्भावात् स्निग्धो वा रूक्षो वा स्यात्, तत एव तस्य पिण्डपर्यायपरिणतिरूपा द्विप्रदेशादि-त्वानुभूतिः। अथैवं स्निग्धरूक्षत्वं पिण्डत्वसाधनम्।।१६३।।

एवं कायवाङ्मनसां शुद्धात्मना सह भेदकथनरूपेण चतुर्थस्थले गाथात्रयं गतम्। इति पूर्वोक्तप्रकारेण `अत्थित्तणिच्छिदस्स हि'' इत्याद्येकादशगाथाभिः स्थलचतुष्टयेन प्रथमो विशेषान्तराधिकारः समाप्तः। अथ केवलपुद्गलबन्धमुख्यत्वेन नवगाथापर्यन्तं व्याख्यानं करोति। तत्र स्थलद्वयं भवति। परमाणूनां परस्परबन्धकथनार्थं `अपदेसो परमाणू' इत्यादिप्रथमस्थले गाथाचतुष्टयम्। तदनन्तरं स्कन्धानां बन्धमुख्यत्वेन `दुपदेसादी खंधा' इत्यादिद्वितीयस्थले गाथापञ्चकम्। एवं द्वितीयविशेषान्तराधिकारे समुदायपातनिका। अथ यद्यात्मा पुद्गलानां पिण्डं न करोति तर्हि कथं पिण्डपर्यायपरिणतिरिति प्रश्ने प्रत्युत्तरं ददाति - **अपदेसो** अप्रदेशः। स कः। **परमाणू** पुद्गलपरमाणुः। पुनरपि कथंभूतः। **पदेसमेत्तो य** द्वितीयादिप्रदेशाभावात् प्रदेशमात्रश्च। पुनश्च किंरूपः। **सयमसद्दो य** स्वयं व्यक्तिरूपेणाशब्दः। एवं विशेषणत्रयविशिष्टः सन् **णिद्धो वा लुक्खो वा** स्निग्धो वा रूक्षो वा यतः कारणात्संभवति ततः कारणात् **दुपदेसदित्त-मणुहवदि** द्विप्रदेशादिरूपं बन्धमनुभवतीति। तथाहि - यथायमात्मा शुद्धबुद्धैकस्वभावेन बन्धरहितोऽपि पश्चादशुद्धनयेन स्निग्धस्थानीयरागभावेन रूक्षस्थानीयद्वेषभावेन यदा परिणमति तदा परमागमकथितप्रकारेण बन्धमनुभवति, तथा परमाणुरपि स्वभावेन बन्धरहितोऽपि यदा बन्धकारणभूतस्निग्धरूक्षगुणेन परिणतो भवति तदा पुद्गलान्तरेण सह विभावपर्यायरूपं बन्धमनुभवतीत्यर्थः।।१६३।।

अब सन्देह को दूर करते हैं कि 'परमाणु द्रव्यों को पिण्ड-पर्यायरूप परिणति कैसे होती है ?' —

अप्रदेश परमाणु स्वयं, प्रदेशमात्र अशब्द जो।
अनुभवे स्निग्ध या रूक्ष बनकर, द्विप्रदेशादित्व को॥

अन्वयार्थ - [**परमाणुः**] परमाणु [**यः अप्रदेशः**] जो कि अप्रदेश है, [**प्रदेशमात्रः**] प्रदेशमात्र है [**च**] और [**स्वयं अशब्दः**] स्वयं अशब्द है, [**स्निग्धः वा रूक्षः वा**] वह स्निग्ध अथवा रूक्ष होता हुआ [**द्विप्रदेशादित्वम् अनुभवति**] द्विप्रदेशादिपने का अनुभव करता है।

टीका - वास्तव में परमाणु द्वि-आदि (दो, तीन आदि) प्रदेशों के अभाव के कारण अप्रदेश हैं, एक प्रदेश के सद्भाव के कारण प्रदेशमात्र है और स्वयं अनेक परमाणुद्रव्यात्मक शब्द पर्याय की व्यक्ति का (प्रगटता का) असम्भव होने से अशब्द है। (वह परमाणु) अविरोधपूर्वक चार स्पर्श, पाँच रस, दो गन्ध और पाँच वर्णों के सद्भाव के कारण स्निग्ध अथवा रूक्ष होता है, इसीलिए उसे पिण्डपर्यायपरिणतिरूप[१] द्विप्रदेशादिपने की अनुभूति होती है। इस प्रकार स्निग्धरूक्षत्व पिण्डपने का कारण है ॥१६३॥

प्रवचन नं. १६९ का शेष   असोज कृष्ण ५   बुधवार, १० अक्टूबर १९७९

अब सन्देह को दूर करते हैं कि 'परमाणु द्रव्यों को पिण्ड-पर्यायरूप परिणति कैसे होती है ?' — परमाणु, स्कन्धरूप क्यों होते हैं ? भिन्न-भिन्न परमाणु हैं, वह भिन्नरूप से (इनकी) पर्याय क्यों होती है ? बहुत से परमाणु की यह पिण्डरूप पर्याय है, वह किस प्रकार होती है ? प्रत्येक भिन्न-भिन्न है न ?

अपदेसो परमाणू पदेसमेत्तो य सयमसद्दो जो।
णिद्धो वा लुक्खो वा दुपदेसादित्तमणुभवदि।।१६३।।

१. एक परमाणु की दूसरे एक परमाणु के साथ पिण्डरूप परिणति द्विप्रदेशीपने की अनुभूति है; एक परमाणु की अन्य दो परमाणुओं के साथ पिण्डरूप परिणति त्रिप्रदेशीपने का अनुभव है। इस प्रकार परमाणु अन्य परमाणुओं के साथ पिण्डरूप परिणमित होने पर अनेक प्रदेशीपने का अनुभव करता है।

अप्रदेश परमाणु स्वयं, प्रदेशमात्र अशब्द जो।
अनुभवे स्निग्ध या रूक्ष बनकर, द्विप्रदेशादित्व को॥

आहा...हा...! **अनुभवे** शब्द लिया है, देखा? अनुभवे अर्थात् होता है। उसको कहाँ अनुभव-ज्ञान है? पाठ है न? **मणुभवदि** देखो! **दुपदेसादित्तमणुभवदि** (यहाँ) अनुभव अर्थात् होता है, ऐसा। आत्मा का अनुभव वह तो ज्ञानसहित आनन्द का अनुभव है और यह अनुभव (अर्थात्) एक परमाणु दूसरे परमाणु के साथ स्निग्धता-रूक्षता के कारण पिण्ड होता है, उसे अनुभवे-ऐसा कहा गया है। अरे... अरे...! भाषा में अन्तर...!

टीका - वास्तव में परमाणु द्वि-आदि (दो, तीन आदि) प्रदेशों के अभाव के कारण अप्रदेश हैं,.... एक परमाणु स्वतन्त्र है। **एक प्रदेश के सद्भाव के कारण प्रदेशमात्र है...** परमाणु तो एक प्रदेशमात्र है। **और स्वयं अनेक परमाणुद्रव्यात्मक शब्दपर्याय की व्यक्ति का (प्रगटता का) असम्भव होने से अशब्द है।** परमाणु स्वयं अकेला शब्दरूप हो, (इसका) अभाव है। एक परमाणु शब्दरूप हो, इसका अभाव है। आहा...हा...!

बहुत से परमाणु की संयोगी पर्याय होती है, तब शब्दरूप पर्याय होती है। एक परमाणु की शब्दरूप पर्याय नहीं होती। भाषा है, वह अनेक परमाणु की पर्याय है। पिण्डरूप हुआ होने पर भी प्रत्येक परमाणु उसमें स्वतन्त्र है। मात्र स्निग्ध-रूक्ष के कारण उनकी एकता दिखती है; इस कारण उसे पिण्डरूप द्रव्य कहा गया है — स्कन्ध कहा गया है। स्कन्ध कहो या पिण्ड कहो। आहा...हा...!

(परमाणु) **प्रदेशमात्र है और स्वयं अनेक परमाणुद्रव्यात्मक शब्दपर्याय की व्यक्ति....** शब्द का प्रगटपना होने के **असम्भव होने से...** (अर्थात्) एक परमाणु शब्द (रूप) हो, उसका अभाव है। एक परमाणु शब्दरूप नहीं होता, बहुत से परमाणु (शब्दरूप) हों, वह पर्याय का स्वभाव है। परमाणु का अकेले का स्वभाव नहीं परन्तु बहुत से परमाणुओं की पर्याय का शब्दरूप परिणमित होने का स्वभाव है। आहा...हा...! एक परमाणु शब्दरूप परिणमित नहीं होता (क्योंकि वह) अशब्द है। बहुत परमाणुओं का स्निग्ध और रूक्ष-चिकनाई और रूखा का भेद के कारण पिण्डरूप दिखता है। आहा...हा...! यह कहेंगे।

(वह परमाणु) अविरोधपूर्वक चार स्पर्श,.... है न परमाणु में ? **पाँच रस,...** आठ नहीं एक परमाणु में आठ स्पर्श नहीं। यह क्या कहा ? पुद्गल में आठ स्पर्श है — ठण्डा, गर्म (इत्यादि), एक परमाणु में नहीं। आहा...हा... ! ठण्डा गर्म, रूखा-चिकना, भारी-हल्का... भारी-हल्का यह नहीं, रूखा-चिकना है। एक परमाणु में रूखा-चिकना है परन्तु भारी-हल्का वह नहीं। अरे... अरे... ! स्पर्श के आठ भेद हैं न ? स्पर्श के आठ भेद हैं। एक ही स्पर्श इन्द्रिय है — ऐसा नहीं है, उसमें आठ भेद हैं। ठण्डा-गर्म, रूखा-चिकना, हल्का-भारी, शीत-उष्ण, उसमें एक परमाणु में चार होते हैं। शीत-उष्ण, स्निग्ध और रूक्ष, दूसरे चार नहीं होते। समझ में आया ?

एक परमाणु में चार स्पर्श होते हैं। यह है तो बहुत एकत्रित होकर भारी-हल्का, ठण्डा और गर्म, यह अधिक हो जाता है। एक में ठण्डा-गर्म, रूखा-चिकना है। आहा...हा... ! चार स्पर्श हैं। पाँच रस हैं — गुणरूप से, दो गन्ध हैं और **पाँच वर्णों के सद्भाव के कारण....** पाँच रंग हैं। **स्निग्ध अथवा रूक्ष होता है,....** वह परमाणु स्निग्ध और रूक्षरूप होता है। आहा...हा... !

ऐसा कहने का कारण क्या है ? कि स्निग्धता और रूक्षता के कारण एक परमाणु में दो गुण स्निग्धता, रूक्षता हो, दूसरे परमाणु में चार गुण स्निग्धता और रूक्षता हो तो वह पिण्डरूप होता है। दो प्रदेशरूपी स्कन्ध होता है, अकेले परमाणु में वह नहीं। क्या कहा ? एक परमाणु में स्निग्धता-रूक्षता, शीत-उष्णता है, हल्का-भारी आदि नहीं परन्तु एक परमाणु में स्निग्धता-रूक्षता (हो), पर्याय में दो गुण स्निग्धता हो और दूसरे परमाणु में चार गुण की स्निग्धता, रूक्षता हो तो दो परमाणु स्कन्धरूप होता है। आहा...हा... ! तथापि वह स्कन्धरूप हो, उसमें स्वयं स्वतन्त्र है। सूक्ष्म बात है।

एक परमाणु में स्निग्धता और रूक्षता (की) दो गुनी पर्याय हो और दूसरे परमाणु में चार गुनी हो तो वह दो होकर परमाणु का स्कन्ध होता है, तथापि वह परमाणु जो चाररूप हुआ; वह स्वयं की स्वतन्त्रता से हुआ है। वह चारगुनी पर्याय थी, इसलिए हुआ है — ऐसा नहीं है। यह क्या कहा ? आहा...हा... ! यह तो बहुत सूक्ष्म है ! एक परमाणु में स्निग्धता, रूक्षता की दो गुनी पर्याय हो... गुण तो त्रिकाल है,... पर्याय में दो गुनी हो, दूसरे परमाणु चार गुनी

स्निग्धता-रूक्षता हो तो वे दो एकत्रित होकर यह परमाणु चार गुण स्निग्धता-रूक्षतारूप होता है। वह स्वयं से होता है। यह निमित्त मिला इसलिए होता है — ऐसा नहीं है।

यह बड़ा प्रश्न भी हो गया है, बहुत समय से यह प्रश्न चलता था। (एक भाई कहते हैं कि) देखो, परमाणु में स्निग्धता-रूक्षता हो तो दूसरे परमाणु के साथ इकट्ठा होता है। देखो! इकट्ठा नहीं होता। एक द्रव्य दूसरे द्रव्य के साथ स्पर्श भी नहीं करता। अरे...रे...! एक ओर ऐसा कहना कि प्रत्येक द्रव्य अपने गुण-पर्याय का स्पर्श करता है परन्तु दूसरे को स्पर्श नहीं करता और एक ओर कहना कि एक परमाणु की स्निग्धता-रूक्षता की दो पर्याय (हो) और दूसरे (परमाणु में) चार (गुनी) हो तो वह (दो गुणवाला) चार हो जाता है, (तथापि) स्पर्श नहीं और हो जाता है! सूक्ष्म बात है। आहा...हा...!

है न? **स्निग्ध अथवा रूक्ष होता है, इसीलिए उसे पिण्डपर्यायपरिणतिरूप द्विप्रदेशादिपने की अनुभूति होती है।....** पिण्ड अर्थात् दो परमाणुओं का पिण्ड हुआ, दो परमाणुओं का स्कन्ध हुआ, स्कन्ध! दो परमाणुओं का स्कन्ध हुआ परन्तु वह स्कन्ध क्यों हुआ? एक परमाणु में दो (गुनी) स्निग्धता, रूक्षता पर्याय थी, दूसरे में चार थी तो इस प्रकार यहाँ चार होकर एकरूप पिण्ड हुआ, वह भी स्वतन्त्र हुआ है। आहा...हा...! सामने (परमाणु की) चार पर्याय है, इसलिए इसे चार पर्याय होना पड़ी — ऐसा नहीं है। बहुत सूक्ष्म... बहुत सूक्ष्म, बापू! वीतरागमार्ग बहुत सूक्ष्म।

पिण्डपर्यायपरिणतिरूप द्विप्रदेशादिपने की अनुभूति होती है।... (अनुभूति अर्थात्) दो प्रदेशरूप भाव होता है। दो प्रदेशरूप स्कन्ध होता है। एक परमाणु में स्निग्धता -रूक्षता (की) दो (गुनी) पर्याय, दूसरे में चार (गुनी पर्याय हो), इससे दो परमाणु का स्कन्धरूप से भाव हुआ है। अनुभूति अर्थात् होता है। जड़ को कहीं अनुभव नहीं होता।

विशेष कहेंगे।

प्रवचन नं. १७० आषाढ़ शुक्ल ७ मंगलवार, १५ जुलाई १९७५

(प्रवचनसार, गाथा १६२) **अब, आत्मा के परद्रव्यत्व का अभाव....** (है), इसलिए **परद्रव्य के कर्तृत्व का अभाव...** है — ऐसा (नियम) सिद्ध किया। आत्मा को

परद्रव्य का अभाव है, अभाव है; इसलिए वह उसका कर्ता नहीं है ऐसा। आत्मा, परद्रव्य के भाववाला हो, तब तो कर्ता हो परन्तु परद्रव्य के अभाववाला है। आत्मा को परद्रव्यत्व का अभाव है और अभाव है, इसलिए कर्तृत्व का अभाव है। आहा...हा... !

यहाँ तो अभी परद्रव्य की बात चलती है परन्तु निश्चय से तो जहाँ स्वभाव है, उसमें विकार का अभाव है। समझ में आया ? पुद्गल का जीव में अभाव है, इसलिए वह उसका कर्ता नहीं है। अभाव हो उसका कर्ता कहाँ से होगा ? ऐसे (ही) जीव स्वभाव में-शुद्धता के स्वभाव में विकार का अभाव है। वह अभाव है, इसलिए उसका कर्ता नहीं है। आहा...हा... ! जड़ की-शरीर, वाणी, मन की क्रिया जड़ से होती है, क्योंकि उसका आत्मा में अभाव है। अभाव है, इसलिए उसके कर्तृत्व का भी अभाव है। आहा...हा... !

पहला पद रखा है, देखो न ! **आत्मा को परद्रव्यत्व का अभाव....** है, इसलिए, ऐसा (करके बात ली है)। और इसलिए **परद्रव्य के कर्तृत्व का अभाव है।** यह नजदीक की बात है, हाँ! बाहर की (बात) तो कहीं रह गयी। दूसरे द्रव्य का इसमें अभाव है, इसलिए उसके कर्तृत्व का अभाव है। इसी प्रकार शरीर, वाणी, मन का आत्मा में अभाव है, इसलिए उसके कर्तृत्व का अभाव है और स्वभाव में विकार का अभाव है, इसलिए उस स्वभाव-वस्तु (में) कर्तृत्व का अभाव है (अर्थात्) विकार के कर्तृत्व का अभाव है — ऐसा सूक्ष्म है। क्या यह हुआ नैरोबी में करते हैं न यह ? १६२ (गाथा)

णाहं पोग्गलमइओ... (अर्थात्) मैं पुद्गलमय नहीं हूँ। **ण ते मया पोग्गला कया पिंडं।** (अर्थात्) मैं वह नहीं तो उसका पिण्ड मैंने नहीं किया, ऐसा। आहा...हा... ! **तम्हा हि ण देहोऽहं कत्ता वा तस्स देहस्स॥** मैं पौद्गलिक नहीं हूँ, मैंने पुद्गल को पिण्डरूप नहीं किया है क्योंकि मैं पुद्गलपिण्डरूप नहीं हूँ। आहा...हा... ! इसलिए उस पुद्गल को मैंने पिण्डरूप नहीं किया है। इस कारण मैं देह नहीं हूँ और इस देह का कर्ता नहीं हूँ। आहा...हा... !

टीका - प्रथम तो, जो यह प्रकरण से... यह जो प्रकरण चालू है, वह देह, वाणी और मन का प्रकरण है। इस **प्रकरण से निर्धारित...** (अर्थात्) इस प्रकरण से निश्चित हुआ। **पुद्गलात्मक शरीर...** पुद्गलस्वरूप शरीर **नामक परद्रव्य है — जिसके**

भीतर वाणी और मन का समावेश हो जाता है... शरीर कहने से शरीर का अभाव है तथा मन और वाणी का भी (अभाव है)। शरीर में (दोनों) आ जाते हैं।

वह मैं नहीं हूँ;... शरीर मैं नहीं, इसलिए शरीर के साथ वाणी और मन भी मैं नहीं। १६२ है न? संस्कृत में यह लिया है। **अशरीरसहजशुद्धचैतन्यपरिणतत्वेन मम देहत्वविरोधात्** आहा...हा...! मैं कौन? कि अशरीरी। **अशरीरसहजशुद्धचैतन्य-परिणतत्वेन** आहा...हा...! अशरीररूप सहज शुद्ध चैतन्य के परिणमनवाला। आहा...हा...! समझ में आया? चैतन्य के-शुद्ध चैतन्य के परिणमनवाला मैं हूँ। इस देह और वाणी तथा मन का मुझमें अभाव है; इसलिए मेरी परिणति चैतन्य की है, इसलिए उनका मैं कर्ता नहीं हूँ। आहा...हा...! गजब स्पष्टता!

वाणी अपने आप निकलती है? अपने आप शरीर चलता है? आहा...हा...! कहते हैं कि मेरे कर्ता हुए बिना अपने आप (परिणमता है) क्योंकि मेरा उसमें अभाव है, और मुझमें उसका अभाव है। आहा...हा...! और मैं जो भाववाला हूँ, वह तो अशरीरी शुद्ध चैतन्यपरिणति के भाववाला हूँ। आहा...हा...! समझ में आया? अकेला द्रव्य सहज शुद्ध — ऐसा नहीं; परिणति (भी शुद्ध) क्योंकि भेदज्ञान हुआ है। सहज अशरीरी शुद्ध चैतन्य परिणमन है, वह मैं हूँ। उसने शरीर, वाणी, मन, पुद्गलस्वरूप है, उसका मेरी परिणति में अभाव है; इसलिए उस द्रव्य — मन, वाणी और देह का मैं कर्ता नहीं हूँ। आहा...हा...! कहो, समझ में आता है?

क्योंकि अपुद्गलमय ऐसा मैं.... इसमें इतना डाला है। उसमें (संस्कृत में) यह डाला — सहज अशरीरी शुद्ध चैतन्यपरिणतिवाला मैं। इसका अर्थ ही यह हुआ कि **अपुद्गलमय ऐसा मैं...** आहा...हा...! मैं चैतन्य-शुद्धपरिणति सम्पन्न ऐसा मैं — भगवान आत्मा!

प्रश्न : साधकदशा की बात है न?

समाधान : अभी साधकदशा की बात है। समझ में आया?

इसमें इतना लिया — अपुद्गलमय ऐसा मैं... उसमें (संस्कृत में) ऐसा लिया — अशरीर सहज शुद्ध चैतन्यपरिणमनवाला। स्पष्ट किया... आहा...हा...! अरे... यह तो

सच्चा अध्यात्म! इसके एक-एक बोल समझने को अन्दर में बहुत योग्यता चाहिए। यह कहीं वाणी को धार ले, इस कारण वह पर से भिन्न हुआ है, ऐसा नहीं है — ऐसा कहते हैं। आहा...हा...!

अपुद्गलमय ऐसा मैं.... अर्थात् शरीर, वाणी, मन जो पुद्गलस्वरूप है तो मैं अपुद्गलस्वरूप हूँ। आहा...हा...! अर्थात् चैतन्यस्वरूप हूँ। मैं एक चैतन्य सहजशुद्ध चैतन्यपरिणमनस्वरूप हूँ। आहा...हा...! **ऐसा मैं पुद्गलात्मक शरीररूप होने में विरोध है...** अपुद्गलात्मक ऐसा मैं, शुद्ध चैतन्य के सहज परिणमनवाला मैं, उसे पुद्गलस्वरूप शरीररूप होने में विरोध है। ओ...हो...हो...! क्या टीका तो टीका!! आहा...हा...! भेदज्ञान को ऐसे हथेली में बताया है।

अपुद्गलमय ऐसा मैं.... अपना अस्तित्व पुद्गलमय नहीं है; अपुद्गलमय है। आहा...हा...! अर्थात् चैतन्य के सहजस्वरूप परिणमनवाला, वह मैं। आहा...हा...! ऐसे पुद्गलात्मक शरीररूप, अपुद्गलस्वरूप मैं इस पुद्गलस्वरूप शरीररूप होने में विरोध है। बहुत सूक्ष्म बात है। आहा...हा...!

और इसी प्रकार.... मैं अपुद्गलस्वरूप अर्थात् चैतन्यस्वरूप सहज स्वभाव-चैतन्यस्वरूप के परिणमनस्वरूप हूँ, क्योंकि शुद्ध चैतन्यद्रव्य है, वह पर से भिन्न पड़े, तब उसका (शुद्ध) परिणमन होता है। समझ में आया? देखो, यहाँ तो पुद्गलमय मैं नहीं (— ऐसा कहा), उसमें रागवाला मैं — यह भी सिद्ध नहीं किया। रागवाला मैं नहीं — ऐसा इसमें आ गया। अपुद्गलात्मक है न? (तो) वास्तव में निश्चय से वे रागादि पुद्गलस्वरूप है और टीका में ऐसा लिया है न? सहजचैतन्य शुद्ध परिणमन — ऐसा आया न? अशरीरी सहजशुद्ध चैतन्यपरिणतपरिणाम। **मम देहत्वविरोधात्** ऐसा। आहा...हा...! अर्थात् सहजशुद्धचैतन्य अशरीरी मैं, अपुद्गलात्मक मैं, ऐसे शुद्ध चैतन्यपरिणत परिणाम।

यहाँ तो दूसरा कहना है कि शरीर मैं नहीं तो मैं सहज चैतन्य-रागवाला, वह मैं — ऐसा नहीं कहा। समझ में आया? शरीररहित हूँ तो वह रागरहित भी हूँ ही, क्योंकि ऐसा नहीं कि शरीररहित हुआ अर्थात् परद्रव्य से पृथक् पड़ा और राग से पृथक् नहीं पड़ा — ऐसा नहीं है। समझ में आया? आहा...हा...!

शरीर की क्रिया, वह पुद्गलात्मक पर्याय है, वह मैं नहीं हूँ; मैं अपुद्गलमय हूँ, इसलिए मुझमें राग का परिणमन भी नहीं है। समझ में आया? पर से भिन्न पड़ा और दृष्टि गयी द्रव्य के ऊपर। वह तो (समयसार की) छठी गाथा में आया न? पर का लक्ष्य छोड़कर स्व की सेवा-उपासना की, उसे शुद्ध कहते हैं। पर्याय में शुद्धपरिणति आयी, शुद्धपरिणति आयी, तब वह पर से भिन्न पड़ा और स्व के आश्रय में गया। आहा...हा...! यह तो मार्ग... बापू! सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र अलौकिक मार्ग है!

अशरीर अर्थात् यह शरीर है, वाणी (और) मन है; तो मैं अशरीर, अवाणी, अमन (स्वरूप हूँ)। यह तो निषेध हुआ। स्वीकार (क्या है)? सहजशुद्धचैतन्यपरिणमन; जो शुद्धचैतन्य वस्तु है, उसे जब जाना तो उसका परिणमन शुद्ध हुआ। आहा...हा...! ऐसी बात है।

इसी प्रकार उस (शरीर) के कारण द्वारा,.... अब कहते हैं कि उस शरीररूप मैं नहीं; मैं तो अपुद्गलमय हूँ। पुद्गलमय शरीररूप नहीं, इसलिए उसके **उस (शरीर) के कारण द्वारा, कर्ता द्वारा, कर्ता के प्रयोजक द्वारा या कर्ता के अनुमोदक द्वारा शरीर का कर्ता मैं नहीं हूँ,....** आहा...हा...! यह तो बहुत शान्ति की बातें हैं, बापू! आहा...हा...! यह कोई बड़ी धमाल करना और यह करे और उसमें यह हो... आहा...हा...! बाहर की चमक (दिखाये) तो कहे बहुत धर्म हुआ! ऐसा है? इसका अर्थ हुआ कि मैं तो अपुद्गलात्मक हूँ, चैतन्य के परिणमन-सहज शुद्ध चैतन्य परिणमनवाला हूँ, उसमें इस वस्तु का मैं कर्ता नहीं हूँ, क्योंकि उस वस्तु का मुझमें अभाव है। अभाव है, उसका मैं कर्ता नहीं हूँ। आहा...हा...! यह वीतराग की वाणी तो देखो! दिगम्बर सन्त वीतरागता को अनुभव करनेवाले!

मैं उसके (कारण द्वारा), मैं उसका कारण नहीं। उसके 'कर्ता द्वारा' मैं कर्ता नहीं। उसके कारण द्वारा कारण नहीं, उसके कर्ता द्वारा कर्ता नहीं। उस **कर्ता का प्रयोजक...** (अर्थात्) यह शरीर जिस प्रकार बना, यह वाणी जिस प्रकार हुई, वह मेरी नहीं है, मैं योजक नहीं हूँ, उससे हुई है। आहा...हा...! **प्रयोजक द्वारा....** अर्थात् करानेवाला। **कर्ता का अनुमोदक...** पहले में कर्ता लिया, दूसरे में करानेवाला, तीसरे में अनुमोदक — ऐसे तीन (बातें लीं)। उसके द्वारा **शरीर का कर्ता मैं नहीं हूँ,....**

क्योंकि मैं अनेक परमाणुद्रव्यों के... अनेक परमाणुद्रव्यों का यह शरीर है। आहा...हा...! **एक पिण्ड पर्यायरूप परिणाम का...** अनेक परमाणुद्रव्य के स्निग्ध (और) रूक्षत्व के कारण एक पिण्ड **परिणाम का अकर्ता ऐसा मैं....** शरीर का यह जो परिणाम है... आहा...हा...! देखा? उसमें फिर परिणाम लिया। **अनेक परमाणुद्रव्यों के एक पिण्ड पर्यायरूप परिणाम का अकर्ता ऐसा मैं....** यह शरीर, वाणी, मन अनेक परमाणुओं के एक पिण्ड पर्यायरूप (परिणाम है)। अनेक परमाणुद्रव्यों के-अनेक परमाणुपदार्थ के एक पिण्ड पर्यायरूप (परिणाम है)। एक पिण्डरूप-स्कन्धरूप ऐसा दिखता है, ऐसे परिणाम का **अकर्ता ऐसा मैं...** अर्थात् शरीर, वाणी और मन के द्रव्य-गुण का अकर्ता (हूँ), ऐसा प्रश्न नहीं लिया। उसके परिणाम का मैं अकर्ता हूँ, क्योंकि उसका जो परिणाम हुआ है, उस परिणाम का मुझमें अभाव है; इसलिए उस परिणाम का अकर्ता हूँ। आहा...हा...! समझ में आया?

वह परिणाम उसके कारण हुए, इसलिए उनका मैं कारण नहीं। उसके परमाणु की वह पर्याय कराने द्वारा उससे हुई, इसलिए मैं उसका करानेवाला प्रयोजक नहीं हूँ। उसकी अवस्था उसके कारण हुई, उसका अनुमोदन अर्थात् उसमें हुई, उसका मैं अनुमोदन करनेवाला नहीं हूँ। आहा...हा...! ठीक! यह शरीर-अवस्था ऐसी हुई न (कि) भगवान की पूजा में शरीर ऐसा लगा, अंगुलियाँ ऐसे लगी, ऐसे समय में (ऐसा हुआ यह) ठीक (हुआ) न? विनय करे, शरीर ऐसे नमें — ऐसी जो पर्याय हो, वह अच्छी है न? अनुमोदन (करना) ठीक न? आहा...हा...! कि नहीं; इस प्रकार शरीर के परिणाम अनेक परमाणुद्रव्य की पर्यायरूप पिण्ड की अवस्था में और भाषा में स्वा...हा... स्वा...हा... ऐसी भाषा की पर्याय (हो), मैं उसका कर्ता नहीं हूँ, मैं उसका कारण नहीं हूँ, मैं उसका करानेवाला नहीं हूँ, मैं उसका प्रयोजक-करानेवाला (नहीं) इस शरीर की ऐसी योजना मैंने ऐसे की, उस समय वाणी की ऐसी योजना करायी, वह भी मैं नहीं। आहा...हा...! भाई! यह सब क्या कारखाना-बारखाना चलाते हैं न?

मुमुक्षु : पूरे शरीर का तो नहीं परन्तु आवाज का पोषण तो करते हैं, यह बोला... यह बोला...

पूज्य गुरुदेवश्री : यहाँ तो राग का भी नहीं। जो मुझमें नहीं, उसका मुझमें अभाव। अभाव का भाव-कर्ता कैसे हो? कर्ता वह तो भाव हुआ। समझ में आया? मुझमें भाव हो, उसका कर्ता मैं हूँ, परन्तु मुझमें जिसका अभाव है, उसका कर्ता मैं कैसे (होऊँ)? आहा...हा...! राग हो, देह की क्रिया भी हो परन्तु वह तो उसके कारण हुई है। आहा...हा...! क्योंकि इस चीज का मुझमें अभाव है। पहले से सिद्धान्त यह सिद्ध किया है न? १६२ (गाथा) है न?

यह तो जयसेनाचार्यदेव की संस्कृत में रखा है। देखा? **अथात्मनः शरीररूपपर-द्रव्याभावं तत्कर्तृभावं** १६२ (गाथा की टीका की) पहली (लाईन) पहला शब्द है न? १६१ के बाद, **अथात्मनः शरीररूपपर-द्रव्याभावं तत्कर्तृभावं।** यह तो अमृतचन्द्राचार्यदेव ने ऊपर डाला है — **परद्रव्यत्व का अभाव और परद्रव्य के कर्तृत्व का अभाव...** आहा...हा...! कितना सरल और कितना सीधा!!

वाणी की और देह की जो क्रिया हो, वह परिणाम है। अनेक परमाणु द्रव्य के वह परिणाम है, एक पिण्डरूप पर्याय है, उस पर्याय का... द्रव्य-गुण का तो अभाव है परन्तु उस पर्याय का भी मुझमें अभाव है; अत: जिसका मुझमें अभाव हो, उसका मैं कर्ता किस प्रकार होऊँ? आहा...हा...! समझ में आया? वीतरागमार्ग बहुत गहरा और बहुत लाभदायक! बहुत लाभदायक!! यह पैसा-वैसा के लाभ की बात नहीं है। लाभ सवाया (लिखते हैं न)? वहाँ धूल में भी लाभ नहीं है। दरवाजे के ऊपर लिखते हैं, नहीं? लाभ सवाया! कंकू से लिखे लाभ (सवाया)।

यह तो भगवान आत्मा! शुद्ध परिणमन के अनुसार परिणमता-चलता, कंकू वर्ण कदम यह चलता है! चैतन्यमूर्ति भगवान! ऐसा जिसने दृष्टि में (और) ज्ञान में जाना, उसका परिणमन शुद्ध चैतन्य के परिणमन को कदम बढ़ाता है। आहा...हा...! उसे प्रति समय की शान्ति का शुद्धता का लाभ वर्तता है। उस शुद्धि की उत्पत्ति, शुद्धि का टिकना, और वृद्धि (होना), यह सब भगवान आत्मा पर से भिन्न पड़ा और अपने द्रव्यस्वभाव को संभाला... आहा...हा...! संभाला, यह परिणति शुद्ध हो गयी। इस शुद्धपरिणति का लाभ, वह लाभ है। ऐसा नहीं कहा? परमानन्द का लाभ — ऐसा मोक्ष। नियमसार में मोक्ष की

व्याख्या की है। श्रीमद् ने मोक्ष की व्याख्या यह की है — 'मोक्ष कहा निज (शुद्धता)' नहीं आता? शुद्ध... शुद्ध! मोक्ष की व्याख्या नहीं की? शुद्ध... शुद्ध? क्या कहा?

श्रोता : मोक्ष कह्यो निज शुद्धता।

पूज्य गुरुदेवश्री : बस, यह! 'मोक्ष कह्यो निज शुद्धता, यह पामे वह पंथ; समझाया संक्षेप में, सकल मार्ग निर्ग्रन्थ।'

यहाँ कहते हैं कि मोक्ष अर्थात् क्या? वहाँ तो (कहा कि) 'मोक्ष कह्यो निज शुद्धता।' अब यहाँ मोक्ष अर्थात् क्या? परम आनन्द का लाभ, वह मोक्ष। आहा...हा...! अपने पहले लाभ सवाया में डाला था न? परमानन्द का लाभ! प्रतिक्षण आनन्द की परिणति का लाभ! आहा...हा...! उस परिणति में मेरे राग का भी जहाँ अभाव है तो शरीर, वाणी, मन का तो अभाव (ही है)। मेरी परिणति में उसका अभाव है तो (उस) अभाव का भावरूप कर्ता कैसे होऊँ? कर्ता होवे तो भाव हो जाता है। समझ में आया? यदि मैं कर्ता होऊँ तो वह स्वयं का भाव हो जाये और वह भाव तो आत्मा में है नहीं। आहा...हा...!

(शरीर) के कारण द्वारा,... यह मुझसे विरोध है। **कर्ता द्वारा,...** मुझसे कर्ता विरोध है। **प्रयोजक द्वारा...** इस कर्ता के प्रयोजक (का) मुझसे विरोध है। **अनुमोदक द्वारा शरीर का कर्ता मैं नहीं हूँ,** आहा...हा...! **क्योंकि मैं अनेक परमाणुद्रव्यों के एक पिण्ड पर्यायरूप...** अनेक परमाणुद्रव्य जो वस्तु। यह परमाणु एक नहीं। **अनेक परमाणुद्रव्यों के एक पिण्ड पर्यायरूप परिणाम का अकर्ता ऐसा मैं...**

अनेक परमाणु द्रव्यों के एक पिण्ड-पर्यायरूप... आहा...हा...! उसमें कहा था न? **क्योंकि अपुद्गलमय ऐसा मैं, पुद्गलात्मक शरीररूप होने में विरोध है...** (वह) यहाँ सिद्ध किया है। **अनेक परमाणुद्रव्यों के एक पिण्ड-पर्यायरूप परिणामात्मक शरीर का कर्तारूप होने में सर्वथा विरोध है।** आहा...हा...! यह अनेक परमाणु की पिण्डरूप यह पर्याय है, उसका कर्तापना, उसका कारणपना, उसका योजकपना, उसका अनुमोदकपना, (इन सबके साथ) मुझे विरोध है। आहा...हा...! **सर्वथा विरोध है।** लो!

अपुद्गलमय ऐसा मैं, पुद्गलात्मक शरीररूप होने में... उसरूप होने में **विरोध है। और इसी प्रकार उस (शरीर) के कारण द्वारा, कर्ता द्वारा, कर्ता के प्रयोजक द्वारा या कर्ता के अनुमोदक द्वारा...** मैं (कर्ता) नहीं। इसलिए उसके कर्तारूप होने में सर्वथा विरोध है। आहा...हा...! कथंचित् व्यवहार से तो कर्ता है — ऐसा तो कहो... यहाँ तो सर्वथा विरोध है (— ऐसा कहा है)। आहा...हा...! उसके परमाणु का एकरूप परिणमन उसके कारण से, उसके कर्ता से, उसके प्रयोजक से, उसके अनुमोदक से होता है; इसलिए उस पुद्गलात्मक की पर्याय का कर्तृत्व का मुझमें सर्वथा विरोध है। आहा...हा...!

पहले तो जो कहते हैं, वह पकड़ना कठिन पड़ता है, स्थूल बुद्धिवाला पूरे दिन अकेले व्यापार में रचा-पचा हो और उसमें ऐसी बात (सुने तो उसे ऐसा लगता है कि) यह क्या कहते हैं, यह...? इस बाहर के क्रियाकाण्ड के कर्तृत्व में फँस गया है न? आहा...हा...! यह उपवास मैंने किया, आहार मैंने छोड़ा, मैंने संथारा किया-त्याग किया... आहा...हा...! इस सब परद्रव्य की पर्याय का मुझमें भाव है — ऐसा मानकर कर्तारूप कहता है। आहा...हा...! समझ में आया? आहार का ग्रहण करना और छोड़ना, वह मेरे स्वरूप में ही नहीं है। आहार को छोड़ना और ग्रहण करना, उससे तो मैं शून्य हूँ। आहा...हा...! अर्थात्? उस आहार के भाव का आना या आहार के भाव का न आना-इस भाव का मुझमें तो अभाव है, इसलिए मुझमें जिसका अभाव हो, उसका मैं (कर्ता किस प्रकार होऊँ)? इस आहार छोड़ने की पर्याय का कर्ता (मैं नहीं)। आहार नहीं आया, वह मैंने राग घटाया, इसलिए आहार नहीं आया — यह (माननेवाला) तो कर्ता हुआ। कठिन काम!

शरीर अनेक परमाणुद्रव्यों का एक पिण्ड पर्यायरूप परिणाम है। (मूल ग्रन्थ में नीचे फुटनोट में) स्पष्टीकरण किया है। १६२ (गाथा पूरी) हुई। वहाँ (जयसेनाचार्यदेव की संस्कृत टीका में) कहा है न? **अशरीरसहजशुद्धचैतन्यपरिणतत्वेन मम देहत्वविरोधात्** ऐसा **कर्ता वा न भवामि तस्य देहस्य।** क्यों? क्यों? **निःक्रियपरम-चिज्ज्योतिःपरिणतत्वेन** आहा...हा...! राग की और शरीर की क्रिया का जिसमें अभाव

है — ऐसा जो मैं निष्क्रिय चैतन्य, निष्क्रिय परम चैतन्य ज्योति! आहा...हा...! **परम-चिज्ज्योतिःपरिणतत्वेन** आहा...हा...! उसे मुझे कर्ता का विरोध है — ऐसा कहते हैं। है न? **देहकर्तृत्वविरोधा।** आहा...हा...! आचार्य भी...

आज ही प्रयोग में ला — ऐसा नहीं आता? प्रवचनसार! ऐसे सुन लिया ऐसा नहीं कहते हैं? आहा...हा...! यह सुनते समय तू तेरे आत्मा पर जा और अकर्ता है, उसे सिद्ध कर! समझ में आया? अकर्ता जिस प्रकार है, उस प्रकार परिणमन से सिद्ध कर। आ...हा...हा...! दो श्लोक आते हैं। प्रवचनसार, नहीं? पीछे दो (श्लोक आते हैं) आज ही कर! आहा...हा...! (यह) सन्तों की वाणी...! बाद में करूँगा... बाद में करूँगा... बाद में करूँगा... (जो) करने योग्य है, उसे बाद में करूँगा — ऐसा वायदा क्या? आहा...हा...! भाई! ऐसी बातें हैं। रुचिकर है? तो रुचिकर के लिये बाद में करूँगा, यह रुचिकर के लिए नहीं आता। यदि तुझे रुचि हुई और यह बात, भाव रुचा तो गोष्ठी में न आकर, गोष्ठी के बाद करूँगा, इस बात को विरोध आता है। कहते हैं। आहा...हा...! (समयसार की) पाँचवीं गाथा में भी कहा है न? प्रमाण करना। **तं एयत्तविहत्तं दाएहं अप्पणो सविहवेण। जति दाएज्ज...** प्रमाण करना! कल का वायदा मत डालना। आहा...हा...!

अब सन्देह को दूर करते हैं कि 'परमाणुद्रव्यों को पिण्ड-पर्यायरूप परिणति कैसे होती है?' - अपने आप यह कैसे हो, कहते हैं। ये सब एकत्रित हों, अंगुलीरूप हों भाषारूप हों... आहा...हा...! इन **'परमाणु द्रव्यों को पिण्ड-पर्यायरूप परिणति...'** परिणति अर्थात् अवस्था किस प्रकार होती है - ऐसे सन्देह को दूर करते हैं।

अपदेसो परमाणू पदेसमेत्तो य सयमसद्दो जो।
णिद्धो वा लुक्खो वा दुपदेसादित्तमणुभवदि।।१६३।।

मणुभवदि अपने दूसरे श्लोक में आता है न? अनुभवता है (ऐसा) आता है। अनुभव आता है (अर्थात्) प्राप्त करता है।

अप्रदेश परमाणु स्वयं, प्रदेशमात्र अशब्द जो।
अनुभवे स्निग्ध या रूक्ष बनकर, द्विप्रदेशादित्व को॥

टीका - वास्तव में परमाणु द्वि-आदि (दो, तीन आदि) प्रदेशों के अभाव के कारण... एक परमाणु में दूसरे परमाणु के प्रदेश का अभाव है। परमाणु दो प्रदेशी नहीं है। **वास्तव में परमाणु द्वि-आदि (दो, तीन आदि) प्रदेशों के अभाव....** (परमाणु के दो प्रदेश नहीं हैं।) **अप्रदेश हैं,...** दो (प्रदेश की) अपेक्षा से अप्रदेश है, दो (प्रदेश) नहीं ऐसा। एक प्रदेश का सद्‌भाव है। प्रदेशों में दो, तीन (प्रदेशों के) अभाव के कारण अप्रदेशी (कहा है) ऐसा। दो, तीन, चार इसके (अभाव के कारण) अप्रदेशी परन्तु अपने प्रदेश का सद्‌भाव है। एक प्रदेशरूप सद्‌भाव है। आ...हा...!

एक प्रदेश के सद्‌भाव के... अस्तित्व के **कारण प्रदेशमात्र है...** परमाणु प्रदेशमात्र अस्ति-तत्त्व है **और स्वयं अनेक परमाणुद्रव्यात्मक शब्दपर्याय की व्यक्ति का (प्रगटता का) असम्भव होने से...** एक परमाणु प्रदेशमात्र **स्वयं अनेक परमाणुद्रव्यात्मक शब्दपर्याय...** शब्दपर्याय की व्याख्या की है। शब्द किसे कहना? शब्द! **स्वयं अनेक परमाणुद्रव्यात्मक शब्दपर्याय...** अपने आप अनेक परमाणुओं से परिणत — ऐसी शब्द पर्याय है, उसकी व्यक्ति का असम्भव है। (अर्थात्) परमाणु में शब्द प्रगट होने का-व्यक्तपने का असम्भव है। शक्ति है, व्यक्तिरूप से उसका अभाव है। एक परमाणु में शब्द की पर्याय नहीं हो सकती। ऐसा स्वरूप!

अजीव है, वह यहाँ (जिसे) जीव का ज्ञान हुआ, उसे अजीव इस प्रकार है (ऐसा) ज्ञान उसे होता है। समझ में आया? जो चीज उसमें नहीं, तो इसमें नहीं ऐसी चीज तो है न? उसमें उसके कारण है न?

कहते हैं कि एक परमाणु शब्द होने की योग्यतावाला नहीं है। प्रगट शब्द है — प्रगट शब्द होने की पर्याय उसमें नहीं है। क्योंकि **स्वयं अनेक परमाणुद्रव्यात्मक शब्द पर्याय की....** प्रगटता का अभाव है। एक परमाणु में (शब्द पर्याय की प्रगटता का अभाव है) अनेक परमाणुद्रव्य, शब्दरूप-पर्यायरूप परिणमित होते हैं, तब उस परमाणु में शब्द की पर्याय की व्यक्तता की योग्यता आयी। वह एक परमाणु भी शब्द की पर्यायरूप अनन्त द्रव्यात्मक में नहीं परिणमा हो तो अनन्त द्रव्य शब्दरूप नहीं परिणमे। उनमें उस प्रकार की योग्यता है। अनेक द्रव्य की पर्यायरूप शब्द हुआ (तो) उसमें-परमाणु में भी उस प्रकार

की योग्यता स्कन्धपने की योग्यता के सम्बन्ध में हुई परन्तु वह स्वयं के कारण हुई। आहा...हा...! वह पर के सम्बन्ध में आया न?

(वह परमाणु) अविरोधपूर्वक चार स्पर्श,.... विरोधी न हों ऐसे। ठण्डा हो, तब गरम न हो; रूखा हो तब चिकना न हो ऐसे। परमाणु में चार स्पर्श में से विरोधरहित (होते हैं)। ठण्डा और रूखा हो सकता है परन्तु ठण्डा और गर्म नहीं हो सकता — ऐसा। रूखा और गरम हो सकता है परन्तु रूखा और चिकना नहीं हो सकता। समझ में आया? उसकी पर्याय में इस प्रकार चार स्पर्श में अविरोधी दो (स्पर्श) होते हैं, विरोधवाले नहीं होते। आहा...हा...!

पाँच रस,... में विरोधरहित होता है। एक परमाणु में एक ही रस होता है। **दो गन्ध...** में एक ही गन्ध होती है। **पाँच वर्णों के सद्भाव के कारण...** लो! अविरोधपूर्वक ऐसा। **पाँच वर्णों के सद्भाव के कारण...** जब हो तब तो एक ही हो परन्तु अकारण फेरफार से पाँचों वर्ण में से (एक) वर्ण हो सकता है।

स्निग्ध अथवा रूक्ष होता है,... उसके कारण स्निग्ध रूक्ष होता है। देखा? **स्निग्ध अथवा रूक्ष होता है, इसीलिए उसे पिण्डपर्यायपरिणतिरूप द्विप्रदेशादिपने की अनुभूति होती है।...** लो! चिकने के समय रूक्ष नहीं होता, रूक्ष के समय स्निग्ध नहीं होता परन्तु स्निग्ध, रूक्षरूप होता है। **इसीलिए उसे पिण्डपर्यायपरिणतिरूप द्विप्रदेशादिपने की अनुभूति...** अर्थात् प्राप्ति। दो पने की-प्रदेशपने की प्राप्ति होती है। दो प्रदेश से लेकर अनन्त प्रदेश की प्राप्ति होती है। अनुभूति अर्थात् प्राप्ति। इस प्रकार अनुभवता है, (अर्थात्) इस प्रकार होता है। इस प्रकार प्राप्त होता है। जड़ में अनुभव? अनुभव अर्थात् यह। इस प्रकार की पर्याय की प्राप्तरूप प्राप्ति हो, वह अनुभव, ऐसा। यहाँ अनुभव अर्थात् आत्मा का अनुभव यह (अर्थ) यहाँ नहीं है।

इस प्रकार स्निग्धरूक्षत्व पिण्डपने का कारण है। स्निग्ध और रूक्षत्व, वह पिण्डपने का कारण है। बहुत से रजकणों में एकरूप स्कन्ध होने की पर्याय को योग्य यह (स्निग्ध-रूक्षत्वपना) है। आत्मा की सूक्ष्म बात, परमाणु की सूक्ष्म बात आयी। भले ही वह स्निग्धरूक्ष हो परन्तु स्निग्ध-रूक्षत्व बंध का कारण है। अनेक परमाणु की पर्याय होने का बंध का कारण है।

(मूल ग्रन्थ में नीचे फुटनोट है) ***एक परमाणु की दूसरे एक परमाणु के साथ पिण्डरूप परिणति द्विप्रदेशीपने की अनुभूति है;....*** (अर्थात्) द्विप्रदेशीपने की प्राप्ति है। ***एक परमाणु की अन्य दो परमाणुओं के साथ पिण्डरूप परिणति त्रिप्रदेशीपने का अनुभव है।...*** प्राप्ति है। ***इस प्रकार परमाणु अन्य परमाणुओं के साथ पिण्डरूप परिणमित होने पर अनेक प्रदेशीपने का अनुभव करता है।*** अर्थात् अनेक प्रदेशीपने प्राप्त होता है। आहा...हा...! वीतराग के कहे हुए तत्त्व-जीव और पुद्गल की पर्याय का स्वरूप बहुत सूक्ष्म है। ●

चैतन्यस्वरूप की महिमा का भास होना चाहिए

हे जीव! अनन्त काल में महामूल्यवान् यह मनुष्यदेह और सत्समागम प्राप्त हुआ है; इसलिए अब तू अपने आत्मा की समझ कर। आत्मा की समझ किये बिना तूने अनन्त-अनन्त काल निगोद और चींटी इत्यादि के भव में व्यतीत किया है। अरे! वहाँ तो सत् के श्रवण का अवकाश भी नहीं था। अब यह दुर्लभ मनुष्यभव प्राप्त करके समझ का रास्ता ले। भाई! अन्तर में आत्मा की महिमा आना चाहिए। पैसा, स्त्री इत्यादि की जो महिमा है, वह मिटकर अन्तर में चैतन्यस्वरूप की महिमा का भास होना चाहिए।

- पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी

गाथा - १६४

अथ कीदृशं तत्स्निग्धरूक्षत्वं परमाणोरित्यावेदयति -

एगुत्तरमेगादी अणुस्स णिद्धत्तणं च लुक्खत्तं।
परिणामादो भणिदं जाव अणंतत्तमणुभवदि।।१६४।।

एकोत्तरमेकाद्यणोः स्निग्धत्वं वा रूक्षत्वम्।
परिणामाद्भणितं यावदनन्तत्वमनुभवति।।१६४।।

परमाणोर्हि तावदस्ति परिणामः तस्य वस्तुस्वभावत्वेनानतिक्रमात्। ततस्तु परिणामादुपात्तकादाचित्कवैचित्र्यं। चित्रगुणयोगित्वात्परमाणोरेकाद्येकोत्तरानन्तावसानाविभागपरिच्छेदव्यापि स्निग्धत्वं वा रूक्षत्वं वा भवति।।१६४।।

अथ कीदृशं तत्स्निग्धरूक्षत्वमिति पृष्टे प्रत्युत्तरं ददाति - **एगुत्तरमेगादी** एकोत्तरमेकादि। किम्। **णिद्धत्तणं च लुक्खत्तं** स्निग्धत्वं रूक्षत्वं च कर्मतापन्नम्। **भणिदं** भणितं कथितम्। किंपर्यन्तम्। **जाव अणंतत्तमणुभवदि** अनन्तत्वमनन्तपर्यन्तं यावदनुभवति प्राप्नोति। कस्मात्सकाशात्। **परिणामादो** परिणतिविशेषात्परिणामत्वादित्यर्थः। कस्य संबन्धि। **अणुस्स** अणोः पुद्गलपरमाणोः। तथाहि - यथा जीवे जलाजागोमहिषीक्षीरे स्नेहवृद्धिवत्स्नेहस्थानीयं रागत्वं रूक्षस्थानीयं द्वेषत्वं बन्धकारणभूतं जघन्यविशुद्धिसंक्लेशस्थानीयमादिं कृत्वा परमागमकथितक्रमेणोत्कृष्टविशुद्धिसंक्लेशपर्यन्तं वर्धते, तथा पुद्गलपरमाणुद्रव्येऽपि स्निग्धत्वं रूक्षत्वं च बन्धकारणभूतं पूर्वोक्तजलादितारतम्यशक्तिदृष्टान्तेनैकगुणसंज्ञां जघन्यशक्तिमादिं कृत्वा गुणसंज्ञेनाविभापरिच्छेदद्वितीयनामाभिधेयेन शक्तिविशेषेण वर्धते। किंपर्यन्तम्। यावदनन्तसंख्यानम्। कस्मात्। पुद्गलद्रव्यस्य परिणामित्वात्, परिणामस्य वस्तुस्वभावादेव निषेधितुमशक्यत्वादिति।।१६४।।

अब, यह बतलाते हैं कि परमाणु के वह स्निग्ध-रूक्षत्व किसप्रकार का होता है-

परमाणु परिणमनमयी कहा, पाता रूक्ष-स्निग्धता।
आदि एक से बढ़ते हुए, पावे जबलों अनन्ता॥

अन्वयार्थ – [**अणोः**] परमाणु के [**परिणामात्**] परिणमन के कारण [**एकादि**] एक से (एक अविभाग प्रतिच्छेद से) लेकर [**एकोत्तरं**] एक-एक बढ़ते हुए [**यावत्**] जब तक [**अनन्तत्वम् अनुभवति**] अनन्तपने को (अनन्त अविभागी प्रतिच्छेदपने को) प्राप्त हो तब तक [**स्निग्धत्वं वा रूक्षत्वं**] स्निगधत्व अथवा रूक्षत्व होता है ऐसा [**भणितम्**] (जिनेन्द्र देव ने) कहा है।

टीका – प्रथम तो परमाणु के परिणाम होता है क्योंकि वह (परिणाम) वस्तु का स्वभाव होने से उल्लंघन नहीं किया जा सकता। और उस परिणाम के कारण जो कादाचित्क[१] विचित्रता[२] धारण करता है ऐसा, एक से लेकर एक-एक बढ़ते हुए अनन्त अविभाग प्रतिच्छेदों तक व्याप्त होनेवाला स्निग्धत्व अथवा रूक्षत्व परमाणु के होता है क्योंकि परमाणु अनेक प्रकार के गुणोंवाला है।

भावार्थ – परमाणु परिणमन वाला है, इसलिए उसके स्निग्धत्व और रूक्षत्व एक अविभाग प्रतिच्छेद[३] से लेकर अनन्त अविभाग प्रतिच्छेदों तक तरतमता को प्राप्त होते हैं।

प्रवचन नं. १७० का शेष आषाढ़ शुक्ल ७ मंगलवार, १५ जुलाई १९७५

अब, यह बतलाते हैं कि परमाणु के वह स्निग्ध-रूक्षत्व किसप्रकार का होता है– स्निग्ध और रूक्षत्वरूप अनेक परमाणु के पिण्डरूप हों परन्तु कैसे स्निग्ध, रूक्षत्वपने होता है? पहले यह क्या कहते हैं? **जल-अजा? गोमहिषीक्षीरे** (जयसेनाचार्यदेव की) संस्कृत टीका में है न? **जल-अजा! अजा** (अर्थात्) बकरी? पानी, बकरी, गऊ दूध, क्षीर, पानी की चिकनाहट, अज अर्थात् बकरी के दूध की

१. कादाचित्क = किसी समय हो ऐसा; क्षणिक; अनित्य।

२. विचित्रता = अनेक प्रकारता; विविधता; अनेकरूपता (चिकनापन और रूखापन परिणाम के कारण क्षणिक अनेकरूपता – तरतमता, तारतम्यता धारण करता है)।

३. किसी गुण में (अर्थात् गुण की पर्याय में) अंशकल्पना करने पर, उसका जो छोटे से छोटा (निरंश) अंश होता है उसे उस गुण का (अर्थात् गुण की पर्याय का) अविभाग प्रतिच्छेद कहा जाता है (बकरी से गाय के दूध में और गाय से भैंस के दूध में सचिक्कणता के अविभागी प्रतिच्छेद अधिक होते हैं। धूल से राख में और राख से बालू में रूक्षता के अविभागी प्रतिच्छेद अधिक होते हैं।)

चिकनाहट कैसा है ? अजा शब्द है न ? गाय के दूध की और भैंस के दूध की चिकनाहट में अन्तर है। दृष्टान्त दिया है।

एगुत्तरमेगादी अणुस्स णिद्धत्तणं च लुक्खत्तं।
परिणामादो भणिदं जाव अणंतत्तमणुभवदि।।१६४।।

परमाणु परिणमनमयी कहा, पाता रूक्ष-स्निग्धता।
आदि एक से बढ़ते हुए, पावे जबलों अनन्ता॥

भणिदम् नहीं आया। सब शब्द कहीं आते हैं ? **परमाणु परिणमनमयी कहा, पाता रूक्ष-स्निग्धता। आदि एक से बढ़ते हुए, पावे जबलों अनन्ता॥** पाठ में ऐसा है न ? **परिणामादो भणिदं** भगवान सर्वज्ञ ने कहा है, ऐसा। सर्वज्ञ ने ऐसा कहा है, उसकी टीका।

यह क्या कहलाता है ? कि बहुत रजकण पिण्डरूप होते हैं, उसका कारण क्या ? आत्मा का कारण नहीं। आत्मा उसका कर्ता नहीं, तब अब बहुत रजकण पिण्डरूप-इस शरीररूप, वाणीरूप होते हैं, उसका कारण कौन ? आत्मा को निकाल दिया कि आत्मा कारण नहीं है। आत्मा उसका कर्ता नहीं है क्योंकि उसमें इसका अभाव है। अब इसमें जो स्निग्ध-रूक्षत्व का भाव है, वह किस प्रकार के स्निग्ध-रूक्षत्व के कारण स्कन्ध की पिण्डरूप पर्याय होती है ? — ऐसा कहते हैं।

स्निग्धता, रूक्षता से होती है परन्तु किस प्रकार की स्निग्धता, रूक्षता से होती है ? — वह यहाँ वर्णन किया जाता है। **प्रथम तो परमाणु के परिणाम होता है...** परमाणु के पर्याय होती है। परिणाम ! नित्य परिणाम, नित्य परिणामी, नित्य परिणामी ! कायम रहकर परमाणु परिणाम (रूप से) परिणमता है। आहा...हा... ! उसे ज्ञान नहीं न ? यहाँ ज्ञान का क्या काम है ? उसका स्वभाव ही जहाँ उत्पाद-व्यय-ध्रुवयुक्त है (तो) परिणमता है। जड़, जड़भाव से परिणमता है। आहा...हा... !

परमाणु के परिणाम होता है... जैसे जीव को शुभ-अशुभ और शुद्ध परिणाम होता है, वैसे परमाणु को परिणाम होता है - पर्याय होती है। **क्योंकि वह (परिणाम)**

वस्तु का स्वभाव होने से... देखा ? वह तो वस्तु का स्वभाव है। परिणमन होना, पर्याय होना वह तो वस्तु का स्वभाव है। आहा...हा... ! पर्याय हो ? परिणमे ! नित्य वस्तु फिर परिणमे ? (परिणमे) तो नित्य नहीं रहती... परन्तु नित्य नित्यरूप से रहकर पर्यायरूप से परिणमती है।

यह बाबा (लोग कहते हैं न) हैं ! आत्मा परिणमे ? उठो, नहीं सुनना। (संवत्) २००० के साल में राजकोट में एक बाबा आया था। उसे ऐसा लगा कि (एक आध्यात्मिक साधु है) वह अध्यात्म की, आत्मा की बात (करता है)। चलो, भाई ! वहाँ (सुनने) आये। (तब ऐसा आया कि) आत्मा को परिणमन है और राग-द्वेष परिणमते हैं। ओई... बापू रे... ! जैन की ऐसी छाप पड़ गयी है न ? क्रियाकाण्ड बतावे वह जैन। (वहाँ फिर यह) अध्यात्म और आत्मा (कहाँ से आये) ? आत्मा की बात (सुनने आया तो ऐसा आया कि) आत्मा अनित्य है, पर्याय से अनित्य है, ध्रुव से नित्य है (तो) उस बाबा को लगा कि (यह नहीं) दो होकर एक (वस्तु) है।

नित्य है, उसे किस पर्याय ने निर्णय किया ? निर्णय भले ही ज्ञान ने किया परन्तु नित्य से यह (नित्य है ऐसा) निर्णय किया ? इसका परिणमन है, उससे (निर्णय किया)। वह परिणमन द्रव्य का है, उससे निर्णय किया। यह परिणमन... देखो ! यह अवस्था है, वह परिणमन किसका है ? यह अवस्था रजकण-नित्य की है — ऐसा ज्ञान ने जाना। ज्ञान नित्य को सीधा जानता है ? ऐसा उसका स्वभाव है परन्तु यह जो पर्याय है, वह इस नित्य की है। यह पर्याय नित्य की है, यह परिणाम नित्य का है। यह परिणाम उत्पाद-व्यय-ध्रुव का है। आहा...हा... !

जगत् को जानने के लिए मेहनत करे, यह कुज्ञान पढ़ने — इस वकालात का और यह डाक्टरी का, यह लोहे का, कपड़े का... यह वस्तु भगवान ने कही, उसका ज्ञान करने जाये तो इसे शान्ति हो। जगत की जड़ की पर्याय उसके कारण परिणमने का स्वभाव है तो होती है। आहा...हा... !

परमाणु के परिणाम होता है... ले ! आत्मा को भी परिणाम होते हैं। पर्यायार्थिकनय से पर्याय है, द्रव्यार्थिकनय से नित्य है।

प्रश्न : शास्त्र के बिना ज्ञान किस प्रकार हो ?

समाधान : शास्त्र के बिना ज्ञान होता है, ज्ञान में से ज्ञान होता है — ऐसा (कहते हैं) कि ऐसा स्पष्ट शास्त्र के बिना कहाँ से ज्ञात हो? परन्तु यह जाननेवाला जानता किससे है? अपने ज्ञान से।

क्योंकि **(परिणाम) वस्तु का स्वभाव होने से उल्लंघन नहीं किया जा सकता।...** आहा...हा...! परमाणु, परिणामरूप से हों, वह तो उनका स्वभाव है। आहा...हा...! कैसे परिणामरूप हों, उसकी बात (आगे की गाथा में) करेंगे। पिण्डरूप हो, तब स्निग्धता, रूक्षता के कैसे परिणाम होते हैं कि जिससे पिण्डरूप होता है? इतनी बात करने के लिये पहले परिणाम सिद्ध किया। **(परिणाम) वस्तु का स्वभाव होने से उल्लंघन नहीं किया जा सकता। और उस परिणाम के कारण जो कादाचित्क विचित्रता धारण करता है...** आहा...हा...! कादाचित्क अर्थात् ***किसी समय हो ऐसा; क्षणिक; अनित्य।*** (विचित्रता अर्थात्) ***अनेक प्रकारता; विविधता; अनेकरूपता (चिकनापन और रूखापन परिणाम के कारण क्षणिक अनेकरूपता - तरतमता, तारतम्यता धारण करता है)।*** परिणाम होने पर भी स्निग्धता की किसी समय अनन्तगुणी स्निग्धता हो, रूक्षता की अनन्तगुनी रूक्षता हो, स्निग्धता की एकगुनी हो। ऐसी विचित्रतारूप (परिणमे) — ऐसा परिणाम का भी स्वरूप है। आहा...हा...! परिणमता है, तथापि वह एक रूप नहीं, अनेकरूप (परिणमता है)। एक गुण स्निग्ध, दो गुण रूक्ष, अनन्त गुण रूक्ष... ओ...हो...! विचित्रता कही न? देखो न! विचित्र है। है वह क्षणिक पर्याय परन्तु उस पर्याय में भी विचित्रता! आहा...हा...! एक समय में एक गुना स्निग्ध हो, वह दूसरे समय में अनन्त गुना स्निग्ध हो जाता है। आहा...हा...! यह परिणाम होने पर भी परिणाम में भी ऐसी विचित्रता की स्थिति परमाणु में होती है।

विशेष कहेंगे।

प्रवचन नं. १७१ आषाढ़ शुक्ल ९ गुरुवार, १७ जुलाई १९७५

प्रवचनसार (गाथा १६४)। **विचित्रता धारण करता है...** यहाँ तक आया है। फिर से...

प्रथम तो परमाणु के... यह रजकण है, इसमें परिणाम होता है। **क्योंकि वह (परिणाम) वस्तु का स्वभाव...** है। बदलना, परिणमना, रूपान्तर होना — ऐसा उसका स्वभाव है। वह **उल्लंघन नहीं किया जा सकता।...** उसका जो परिणाम स्वभाव है, वह उल्लंघन नहीं किया जा सकता। **और उस परिणाम के कारण जो कादाचित्क...** किसी काल में **विचित्रता धारण करता है ऐसा,...** क्या विचित्रता (धारण करता है) ? **एक से लेकर एक-एक बढ़ते हुए अनन्त अविभाग प्रतिच्छेदों तक व्याप्त होनेवाला स्निग्धत्व अथवा रूक्षत्व परमाणु के होता है....** एक-एक परमाणु में एक-एक परिणाम में; परिणाम अर्थात् पर्याय, उसमें अनन्त अविभाग प्रतिच्छेद होते हैं अर्थात् स्निग्धता, रूक्षता की पर्याय अनन्तगुनी होती है और एकगुनी रहे — ऐसा उसका स्वभाव है। जरा जानने की बात है।

एक-एक बढ़ते हुए अनन्त अविभाग प्रतिच्छेद की बात है। एक समय की पर्याय में एकगुनी रूक्षता या स्निग्धता, ऐसे दोगुनी, तीनगुनी (से लेकर) अनन्तगुनी स्निग्धता रूक्षता होती है। एक पर्याय में ऐसे अविभाग प्रतिच्छेद अर्थात् जिसके अंश के भाग न पड़े — ऐसे अविभाग अनन्त होते हैं। थोड़ी जानने की बात है। (फिर तो) १७२ (गाथा) आती है न ? समझ में आया ?

अनन्त अविभाग (अर्थात्) जिसका भाग न हो सके — ऐसे प्रतिच्छेद भाग करते... करते... करते... करते... अन्तिम अंश रहे, उसे अविभागप्रतिच्छेद (कहते हैं)। ऐसे अनन्त अविभाग प्रतिच्छेदरूप से एक-एक परमाणु स्निग्ध और रूक्षरूप होता है। **क्योंकि परमाणु अनेक प्रकार के गुणोंवाला है।** गुण अर्थात् पर्यायवाला। यहाँ गुण शब्द से पर्याय के अविभागप्रतिच्छेद लेना। **क्योंकि परमाणु अनेक प्रकार के गुणोंवाला है।** गुण अर्थात् पर्याय। अनेक प्रकार की पर्याय से परिणमने की योग्यतावाला है।

भावार्थ - परमाणु परिणमनवाला है, इसलिए उसके स्निग्धत्व और रूक्षत्व एक अविभाग प्रतिच्छेद से लेकर... एक-एक अंश से लेकर **अनन्त अविभाग-प्रतिच्छेदों तक तरतमता....** तरतमता अर्थात् हीनाधिकता होती है। आहा...हा... ! परमाणु का ऐसा स्वतः स्वभाव है, कहते हैं।

यहाँ तो स्निग्ध, रूक्ष का लेना है। स्निग्ध का एक गुण की अविभाग पर्याय, ऐसी दो, तीन, चार करते... करते... अनन्त तक जाये। आहा...हा...! फिर दूसरे समय एक गुण अर्थात् अविभागप्रतिच्छेद एक अंश हो जाये — ऐसा उसका स्वभाव है। पुद्गल है न? **अनन्त अविभाग प्रतिच्छेदों तक तरतमता को प्राप्त होते हैं।** ●

मुनिराज को शुभभाव के काल में भी स्वभाव की उग्र धारा

निज सुखस्वरूपधाम में बसनेवाले मुनिराज को भी अनेक प्रकार के शुभभाव आते हैं। चौथे गुणस्थान में अविरत सम्यग्दृष्टि को और पाँचवें गुणस्थान में देशव्रती श्रावक को तो अन्तर में ज्ञातृत्वधारा सतत् वर्तती होने पर भी, उस-उस भूमिका के योग्य शुभभाव आते हैं परन्तु मुनिराज स्वरूप स्थिरता में आगे बढ़ गये हैं; इसलिए उन्हें शुभभाव होते ही नहीं - ऐसा नहीं है। तीन कषाय के अभावजनित वीतरागता प्रगट होने पर भी अभी उन्हें भी पूर्ण वीतरागदशा नहीं होने से महाव्रत, समिति, सामायिक, षट् आवश्यक, पञ्चाचार, स्वाध्याय, ध्यान इत्यादि सम्बन्धी शुभभाव आते हैं।

अहा! मुनिराज किसे कहते हैं? 'सुखधाम अनन्त सुसंत चहि दिन -रात रहे तहं ध्यानमही' अर्थात् मुनिराज के तो मुख्य दो ही कार्य होते हैं, ध्यान और स्वाध्याय। पूर्ण वीतरागदशा के अभाव में उन्हें अट्ठाईस मूलगुण इत्यादि तथा सर्वज्ञ वीतराग जिनेन्द्रदेव, आप्तप्रणीत वीतराग श्रुत और वीतराग निर्ग्रन्थ गुरु की भक्ति-उपासना इत्यादि के उल्लासमय शुभभाव आते हैं। भूमिकानुसार ऐसे विविधभावों के समय भी उन्हें निजशुद्धात्मद्रव्य के उग्र आलम्बनजनित मुनि-योग्य उग्र ज्ञानधारा तो सतत् प्रवर्तित होती ही है।

- पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी

गाथा - १६५

अथात्र कीदृशात्स्निग्धरूक्षत्वात्पिण्डत्वमित्यावेदयति -

णिद्धा वा लुक्खा वा अणुपरिणामा समा व विसमा वा।
समदो दुराधिगा जदि बज्झंति हि आदिपरिहीणा।।१६५।।

स्निग्धा वा रूक्षा वा अणुपरिणामाः समा वा विषमा वा।
समतो द्व्यधिका यदि बध्यन्ते हि आदिपरिहीणाः।।१६५।।

समतो द्व्यधिकगुणाद्धि स्निग्धरूक्षत्वाद्बन्ध इत्युत्सर्गः, स्निग्धरूक्षद्व्यधिकगुणत्वस्य हि परिणामकत्वेन बन्धसाधनत्वात्। न खल्वेकगुणात् स्निग्धरूक्षत्वाद्बन्ध इत्यपवादः, एकगुण-स्निग्धरूक्षत्वस्य हि परिणम्यपरिणामकत्वाभावेन बन्धस्यासाधनत्वात्।।१६५।।

अथात्र कीदृशात्स्निग्धरूक्षत्वगुणात् पिण्डो भवतीति प्रश्ने समाधानं ददाति - **बज्झंति हि** बध्यन्ते हि स्फुटम्। के। कर्मतापन्नाः **अणुपरिणामा** अणुपरिणामाः। अणुपरिणामशब्देनात्र परिणामपरिणता अणवो गृह्यन्ते। कथंभूताः। **णिद्धा वा लुक्खा वा** स्निग्धपरिणामपरिणता वा रूक्षपरिणामपरिणता वा। पुनरपि किंविशिष्टाः। **समा व विसमा वा** द्विशक्तिचतुःशक्ति-षट्शक्त्यादिपरिणतानां सम इति संज्ञा, त्रिशक्तिपञ्चशक्तिसप्तशक्त्यादिपरिणतानां विषम इति संज्ञा। पुनश्च किंरूपाः। **समदो दुराधिगा जदि** समतः समसंख्यानात्सकाशाद् द्वाभ्यां गुणाभ्याम-धिका यदि चेत्। कथं द्विगुणाधिकत्वमिति चेत्। एको द्विगुणस्तिष्ठति द्वितीयोऽपि द्विगुण इति द्वौ समसंख्यानौ तिष्ठतस्तावत्, एकस्य विविक्षितद्विगुणस्य द्विगुणाधिकत्वे कृते सति सः चतुर्गुणो भवति शक्तिचतुष्टयपरिणतो भवति। तस्य चतुर्गुणस्य पूर्वोक्तद्विगुणेन सह बन्धो भवतीति। तथैव द्वौ त्रिशक्तिक्तो तिष्ठतस्तावत्, तत्राप्येकस्य त्रिगुणशब्दाभिधेयस्य त्रिशक्ति-युक्तस्य परमाणोः शक्तिद्वयमेलापके कृते सति पञ्चगुणत्वं भवति। तेन पञ्चगुणेन सह पूर्वोक्त-त्रिगुणस्य बन्धो भवति। एवं द्वयोर्द्वयोः स्निग्धयोर्द्वयोर्द्वयो रूक्षयोर्द्वयोर्द्वयोः स्निग्धरूक्षयोर्वा समयोः विषमयोश्च द्विगुणाधिकत्वे सति बन्धो भवतीत्यर्थः, किंतु विशेषोऽस्ति। **आदिपरिहीणा** आदिशब्देन जलस्थानीयं जघन्यस्निग्धत्वं वालुकास्थानीयं जघन्यरूक्षत्वं भण्यते, ताभ्यां विहीना आदिपरिहीणा बध्यन्ते।

किंच-परमचैतन्यपरिणतिलक्षणपरमात्मतत्त्वभावनारूपधर्मध्यानशुक्लध्यानबलेन यथा जघन्यस्निग्ध-शक्तिस्थानीये क्षीणरागत्वे सति जघन्यरूक्षशक्तिस्थानीये क्षीणद्वेषत्वे च सति जलवालुकयोरिव जीवस्य बन्धो न भवति, तथा पुद्गलपरमाणोरपि जघन्यस्निग्धरूक्षशक्ति-प्रस्तावे बन्धो न भवतीत्यभिप्रायः ।।१६५।।

अब, यह बतलाते हैं कि कैसे स्निग्धत्व-रूक्षत्व से पिण्डपना होता है -

हों स्निग्ध अथवा रूक्ष अणु-परिणाम सम या विषम हों।
बँधते यदि गुणद्वय अधिक, जघन्य हों नहीं बन्ध हो॥

अन्वयार्थ - **[अणुपरिणामाः]** परमाणु-परिणाम, **[स्निग्धाः वा रूक्षाः वा]** स्निग्ध हों या रूक्ष हों **[समाः वा विषमाः वा]** सम अंशवाले हों या विषम अंशवाले हों **[यदि समतः द्व्यधिकाः]** यदि समान से दो अधिक अंशवाले हों तो **[बध्यन्ते हि]** बँधते हैं, **[आदि परिहीनाः]** जघन्यांशवाले नहीं बँधते।

टीका - समान से दो गुण (अंश) अधिक स्निग्धत्व या रूक्षत्व हो तो बंध होता है यह उत्सर्ग (सामान्य नियम) है; क्योंकि स्निग्धत्व या रूक्षत्व की द्विगुणाधिकता का होना वह परिणामक (परिणमन करानेवाला) होने से बंध का कारण है।

यदि एक गुण स्निग्धत्व या रूक्षत्व हो तो बंध नहीं होता यह अपवाद है; क्योंकि एक गुण स्निग्धत्व या रूक्षत्व के परिणम्य-परिणामकता[१] का अभाव होने से बंध के कारणपने का अभाव है ॥१६५॥

प्रवचन नं. १७१ का शेष आषाढ़ शुक्ल ९ गुरुवार, १७ जुलाई १९७५

१६५ (गाथा)। **अब, यह बतलाते हैं कि कैसे स्निग्धत्व-रूक्षत्व से पिण्डपना होता है —**

१. परिणमन = परिणमन करने योग्य [दश अंश स्निग्धतावाला परमाणु बारह अंश रूक्षता वाले परमाणु के साथ बंधकर स्कंध बनने पर, दश अंश स्निग्धतावाला परमाणु बारह अंश रूक्षतारूप परिणमित हो जाता है; अथवा दश अंश स्निग्धतावाला परमाणु बारह अंश स्निग्धतावाले परमाणु के साथ बंधकर स्कन्ध बनने पर, दश अंश स्निग्धतावाला परमाणु बारह अंश स्निग्धतारूप परिणमित हो जाता है; इसलिए कम अंशवाला परमाणु परिणम्य है और दो अधिक अंशवाला परमाणु परिणामक है। एक अंश स्निग्धता या रूक्षतावाला परमाणु (सामान्य नियमानुसार) परिणामक तो है ही नहीं, किन्तु जघन्यभाव में वर्तित होने से परिणम्य भी नहीं है। इस प्रकार जघन्यभाव बंध का कारण नहीं है।]

णिद्धा वा लुक्खा वा अणुपरिणामा समा व विसमा वा।
समदो दुराधिगा जदि बज्झंति हि आदिपरिहीणा।।१६५।।

हों स्निग्ध अथवा रूक्ष अणु-परिणाम सम या विषम हों।
बँधते यदि गुणद्वय अधिक, जघन्य हों नहीं बन्ध हो॥

(१६४ गाथा के भावार्थ में) अविभागी प्रतिच्छेद कहा है न? (उसका मूल ग्रन्थ में फुटनोट में अर्थ दिया है) ***किसी गुण में (अर्थात् गुण की पर्याय में)...*** अर्थात् पर्याय में ***अंशकल्पना करने पर,...*** पर्याय में अंशकल्पना करने पर (ऐसा कहा)! ***उसका जो छोटे से छोटा (निरंश) अंश होता है, उसे उस गुण का (अर्थात् पर्याय का) अविभाग प्रतिच्छेद कहा जाता है...*** यह क्या कहा? परमाणु की जो पर्याय है, गुण अर्थात् पर्याय; उस पर्याय का छोटे से छोटा अंश है, वह अविभागप्रतिच्छेद कहा जाता है।

(बकरी से....) इसमें बकरी डाला है, उसमें (जयसेनाचार्यदेव की संस्कृत टीका में) जल डाला है, मूल तो पानी का जघन्य अंश होता है न? (वह) पानी का जघन्य अंश लेना है। क्योंकि जैसे आत्मा में भी जघन्य अंश राग हो, वह राग को नहीं बाँधता, वह राग भले ही दूसरे को बाँधने का कारण हो परन्तु जघन्य अंश राग को नहीं बाँधता। क्या कहा, समझ में आया? जैसे परमाणुओं में जघन्य स्निग्धता का एक अंश दूसरे के साथ बंध को प्राप्त नहीं होता। उससे दो गुण अधिक (स्निग्धता) हो (अर्थात् कि) एक में दो और दूसरे में चार (गुण स्निग्धता हो), एक में तीन और दूसरे में पाँच (गुण हो तो बाँधता है)। क्या? पर्याय का अविभागप्रतिच्छेद। ऐसा सूक्ष्म है, भाई! आया है तो पढ़ना तो चाहिए न? यह परमाणुओं में गुण है, वह त्रिकाल है; उसकी एक समय की पर्याय है, वह पलटती है। उस पर्याय में अनन्त भाग पड़ते हैं। कोई पर्याय एक अंशरूप स्निग्धतारूप होती है, कोई पर्याय अनन्त गुणरूप स्निग्धतावाली होती है — ऐसे अविभागप्रतिच्छेद। पर्याय का एक अंश जिसे अविभाग (कहा जाता है) उसके फिर भाग नहीं पड़ते, इसलिए अविभाग प्रतिच्छेद (कहा जाता है)। ***प्रतिच्छेदता...*** छेदते हुए भाग न पड़े, उसे प्रतिच्छेद कहते हैं। अविभागप्रतिच्छेद! भाई! इसमें तो जरा मस्तिष्क चाहिए, धीरज करे तो समझ में आये।

स्वरूपग्राही ज्ञान में ऐसी चीज का ज्ञान उसे यथार्थ होता है — ऐसा कहते हैं। आहा...हा... ! जिसने स्वरूप को जाना है, चिदानन्द-ज्ञानानन्द शुद्ध चैतन्यस्वरूप है — ऐसा जहाँ ज्ञान (हुआ है) दृष्टि-श्रद्धा हुई है, उस ज्ञान में परवस्तु का इस प्रकार स्वरूप है, इस प्रकार वह ज्ञान जानता है।

प्रश्न : ऐसा ज्ञान हुए बिना पर का ज्ञान नहीं होता ?

समाधान : नहीं। ऐसा ज्ञान नहीं, उसे पर का ज्ञान यथार्थ नहीं होता। ऐ...ई... ! क्योंकि स्वयं स्व कौन है — उसका जहाँ ज्ञान नहीं, उसे पर-प्रकाशक उसका स्वभाव है, उस पर का ज्ञान उसे सच्चा नहीं हो सकता। आहा...हा... ! धारणा में धार ले परन्तु उसे ज्ञान नहीं कहा जाता। आहा...हा... !

जिसे आत्मा ज्ञानस्वरूप सहजानन्दमूर्ति है, सहज आनन्दमय, सहज ज्ञानप्रकाश पिण्ड है — ऐसा जो उसका स्वभाव है, उसका जिसे पर्याय में स्वसन्मुख होकर, उसकी जाति को जिसने जाना है, उसे उस ज्ञान में ऐसे परमाणुओं में इस प्रकार (परिणमन) होता है, (वैसा यथार्थ ज्ञात होता है)। एक परमाणु का एक स्निग्धता का अंश, दूसरे परमाणु का दो, तीन- दो या तीन अंश के साथ ही उसे बंध नहीं होता। समझ में आया ?

जैसे भगवान आत्मा में वेद का अन्तिम अंश हो, वह वेद को नहीं बाँधता; वैसे राग का अन्तिम अंश हो, वह राग को नहीं बाँधता; उसी प्रकार द्वेष का अन्तिम अंश हो, वह द्वेष को नहीं बाँधता। इसी प्रकार परमाणु का एक अंश हो और दूसरे में एक अंश या दो अंश या तीन अंश हो तो भी उसके साथ उसे बंध नहीं होता। एक परमाणु में दो अंश स्निग्धता, रूक्षता हो (और) दूसरे में चार (अंश स्निग्धता-रूक्षता) होवे तो बंध होता है। एक में तीन हो और दूसरे में पाँच हो तो उसका बंध होता है। एक में चार हो और दूसरे में छह हो तो बंध होता है परन्तु (एक में) सात हो और (दूसरे में) आठ हो, उसके साथ बंध नहीं होता। एक (अंश में) बंध नहीं होता और दो अधिक में बंध होता है। बिगड़े दो ! दूसरे में दो गुण अंश अधिक हो दूसरे में या दूसरे से इसमें (दो गुण अधिक हों) उसे बंध होता है।

हों स्निग्ध अथवा रूक्ष अणु-परिणाम सम या विषम हों।
बँधते यदि गुणद्वय अधिक, जघन्य हों नहीं बन्ध हो॥

इसमें कहा न? (स्निग्धता के लिये) गाय के दूध का दृष्टान्त दिया है। रूक्षता में राख से रेत, धूल से राख और राख से रेत में रूक्षता (अधिक होती है)। यह रूक्षता के अंश में अन्तर है न?

टीका - समान से दो गुण (अंश) अधिक... गुण शब्द से अंश लेना। (मूल ग्रन्थ में नीचे फुटनोट है)। अविभागीप्रतिच्छेद लेना। वह **स्निग्धत्व या रूक्षत्व हो तो बंध होता है, यह उत्सर्ग (सामान्य नियम) है;...** अर्थात् वास्तव में यह नियम है। **क्योंकि स्निग्धत्व या रूक्षत्व की द्विगुणाधिकता का होना वह परिणामक (परिणमन करानेवाला) होने से बंध का कारण है।** (परिणामक अर्थात्) परिणमन करने योग्य, परिणमने में निमित्तभूत बंध का कारण है।

यदि एक गुण स्निग्धत्व या रूक्षत्व हो तो बंध नहीं होता यह अपवाद है;... पहले सामान्य उत्सर्ग नियम कहा। **क्योंकि एक गुण स्निग्धत्व...** गुण शब्द से अविभाग प्रतिच्छेद। आहा...हा...! **एक गुण स्निग्धत्व या रूक्षत्व के परिणम्य-परिणामकता का अभाव होने से...** परिणम्य-परिणमने के योग्य। परिणम्य अर्थात् परिणमने के योग्य (मूल ग्रन्थ में फुटनोट में) है नीचे।

दश अंश स्निग्धतावाला परमाणु बारह अंश रूक्षतावाले परमाणु के साथ बंधकर स्कंध बनने पर, दश अंश स्निग्धतावाला परमाणु बारह अंश रूक्षतारूप परिणमित हो जाता है;... (परिणम्य अर्थात्) परिणमन करनेयोग्य कहा। कौन? कि दश अंशवाला परमाणु परिणमता है और बारह अंशवाला परमाणु के साथ बँधता है तो यह परिणम्य है। पहला परिणमानेवाला कहा जाता है। परिणमा सकता नहीं है परन्तु परिणमने के योग्य है और परिणमानेवाले में योग्यता है, इतना। सूक्ष्म बहुत भाई! बनिये को धन्धे (के कारण) निवृत्ति नहीं मिलती। एक तो संसार का व्यापार-धन्धा, छह आठ घण्टा नींद में जाये, दूसरे बहुत व्यापार-धन्धे में जाये, दूसरा थोड़ा गप-शप में जाये, थोड़ा समय मिले उसमें (ऐसा) सुने, उसमें यह कहाँ समझ में आये? ध्यान रखे तो घण्टे में बैठे ऐसा है। ऐसा नहीं कि नहीं बैठे (नहीं समझ में आये)। यह चीज ऐसी है। आहा...हा...! दश अंशवाला अविभाग प्रतिच्छेदवाला परमाणु परिणम्य कहलाता है, परिणमनेयोग्य (कहलाता

है) और बारह अंशवाला परमाणु परिणमानेवाला कहलाता है। समझ में आता है? ***इसलिए कम अंशवाला परमाणु परिणम्य है और दो अधिक अंशवाला परमाणु परिणामक है। एक अंश स्निग्धता या रूक्षतावाला परमाणु (सामान्य नियमानुसार) परिणामक तो है ही नहीं,...*** **परिणामक तो है ही नहीं। और** ***जघन्यभाव में वर्तित होने से परिणम्य भी नहीं है।...*** एक अंशवाला दूसरे को परिणमानेवाला भी नहीं है और परिणमनेयोग्य भी नहीं है। ***इस प्रकार जघन्यभाव बंध का कारण नहीं है।***

एक गुण स्निग्धत्व या रूक्षत्व हो तो बंध नहीं होता, यह अपवाद है; क्योंकि एक गुण स्निग्धत्व या रूक्षत्व के परिणम्य-परिणामकता का अभाव... (है) परिणम्य अर्थात् एक गुणवाला परिणमने के योग्य और एक गुणवाला दूसरे को परिणमानेवाला नहीं है — ऐसी एक गुण स्निग्धता में योग्यता नहीं है (इस प्रकार) **बंध के कारणपने का अभाव है।** समझ में आये उतना समझना। यह तो वीतराग जिनेन्द्र द्वारा '**भणितम्**' कहा है न? इसमें आया है। **भणितम्!** १६४ में आया है — जिनेन्द्रदेव ने ऐसा कहा है, वस्तु का स्वरूप ऐसा है। आहा...हा...!

ऐसा कहने का कारण? कि परमाणु आदि जो स्कन्धरूप होते हैं, उसमें आत्मा का कोई अधिकार नहीं है। दो से अनन्त परमाणुओं में सूक्ष्मरूप या स्थूलरूप बंध होता है, उसमें आत्मा का अधिकार नहीं है। क्योंकि उसमें उस प्रकार की योग्यता से दूसरे रजकणों के साथ परिणमने की योग्यतावाला परिणमता है और परिणमानेरूप स्वयं हो और दूसरा परिणम्य हो तो उसकी योग्यता से वह परिणमानेवाले परिणमनेवाले की योग्यतावाले के साथ बँधता है। आहा...हा...! जैसे कि यह लड्डू बनाना, यह रोटी स्निग्धता में इकट्ठी करना, वह आत्मा नहीं कर सकता — ऐसा कहते हैं। समझ में आया? एक कागज में गोंद डालकर दूसरा कागज चिपकाना, यह आत्मा नहीं कर सकता — ऐसा कहते हैं। उसमें स्निग्धता-रूक्षता की योग्यता से परिणमन और परिणामक — ऐसी उसकी योग्यता से वह होता है। आहा...हा...! ●

गाथा - १६६

अथ परमाणूनां पिण्डत्वस्य यथोदितहेतुत्वमवधारयति -

णिद्धत्तणेण दुगुणो चदुगुणणिद्धेण बंधमणुभवदि।
लुक्खेण वा तिगुणिदो अणु बज्झदि पंचगुणजुत्तो।।१६६।।

स्निग्धत्वेन द्विगुणश्चतुर्गुणस्निग्धेन बन्धमनुभवति।
रूक्षेण वा त्रिगुणितोऽणुर्बध्यते पञ्चगुणयुक्तः।।१६६।।

यथोदितहेतुकमेव परमाणूनां पिण्डत्वमवधार्यं, द्विचतुर्गुणयोस्त्रिपञ्चगुणयोश्च द्वयोः स्निग्धयोः द्वयो रूक्षयोर्द्वयोः स्निग्धरूक्षयोर्वा परमाण्वोर्बन्धस्य प्रसिद्धेः। उक्तं च 'णिद्धा णिद्धेण बज्झंति लुक्खा लुक्खा य पोग्गला। णिद्धलुक्खा य बज्झंति रूवारूवी य पोग्गला।' 'णिद्धस्स णिद्धेण दुराहिएण लुक्खस्स लुक्खेण दुराहिएण। णिद्धस्स लुक्खेण हवेदि बंधो जहण्णबज्जे विसमे समे वा।।१६६।।

अथ तमेवार्थं विशेषेण समर्थयति - गुणशब्दवाच्यशक्तिद्वययुक्तस्य स्निग्धपरमाणोश्चतुर्गुण-स्निग्धेन रूक्षेण वा समशब्दसंज्ञेन तथैव त्रिशक्तियुक्तरूक्षस्य पञ्चगुणरूक्षेण स्निग्धेन वा विषमसंज्ञेन द्विगुणाधिकत्वे सति बन्धो भवतीति ज्ञातव्यम्। अयं तु विशेषः-परमानन्दैकलक्षण-स्वसंवेदनज्ञानबलेन हीयमानरागद्वेषत्वे सति पूर्वोक्तजलवालुकादृष्टान्तेन यथा जीवानां बन्धो न भवति तथा जघन्यस्निग्धरूक्षत्वगुणे सति परमाणूनां चेति। तथा चोक्तम् - 'णिद्धस्स णिद्धेण दुराधिगेण लुक्खस्स लुक्खेण दुराधिगेण। णिद्धस्स लुक्खेण हवेदि बंधो जघण्णवज्जे विसमे समे वा'।।१६६।।

अब, ऐसा निश्चित करते हैं कि परमाणुओं के पिण्डपने में यथोक्त (उपरोक्त) हेतु है —

स्निग्ध द्विगुण परमाणु बँधता, चतुर्गुण स्निग्ध से।
अथवा रूक्ष त्रिगुण अणु, पञ्च गुण अणु के संग बँधे॥

अन्वयार्थ - [**स्निग्धत्वेन द्विगुणः**] स्निग्धरूप से दो अंशवाला परमाणु [**चतुर्गुणस्निग्धेन**] चार अंशवाले स्निग्ध (अथवा रूक्ष) परमाणु के साथ [**बंधं अनुभवति**] बंध का अनुभव करता है। [**वा**] अथवा [**रूक्षेण त्रिगुणितः अणुः**] रूक्षरूप से तीन अंशवाला परमाणु [**पंचगुणयुक्तः**] पाँच अंशवाले के साथ युक्त होता हुआ [**बध्यते**] बँधता है।

टीका - यथोक्त हेतु से ही परमाणुओं के पिण्डपना होता है — ऐसा निश्चित करना चाहिये; क्योंकि दो और चार गुणवाले तथा तीन और पाँच गुणवाले दो स्निग्ध परमाणुओं के अथवा दो रूक्ष परमाणुओं के अथवा दो स्निग्ध-रूख परमाणुओं के (एक स्निग्ध और एक रूक्ष परमाणु के) बंध की प्रसिद्धि है। कहा भी है कि —

'णिद्धा णिद्धेण बज्झंति लुक्खा लुक्खा य पोग्गला।
णिद्धलुक्खा य बज्झंति रूवारूवी य पोग्गला॥'
'णिद्धस्स णिद्धेण दुराहिएण लुक्खस्स लुक्खेण दुराहिएण।
णिद्धस्स लुक्खेण हवेदि बंधो जहण्णवज्जे विसमे समे वा॥'

[अर्थ - पुद्गल 'रूपी'[१] और 'अरूपी' होते हैं। उनमें से स्निग्ध पुद्गल स्निग्ध के साथ बंधते हैं, रूक्ष पुद्गल रूक्ष के साथ बंधते हैं, स्निग्ध और रूक्ष भी बंधते हैं।

जघन्य के अतिरिक्त सम अंशवाला हो या विषम अंशवाला हो, स्निग्ध का दो अधिक अंशवाले स्निग्ध परमाणु के साथ, रूक्ष का दो अधिक अंशवाले रूक्ष परमाणु के साथ स्निग्ध का (दो अधिक अंशवाले) रूक्ष परमाणु के साथ बंध होता है।]

भावार्थ - दो अंशों से लेकर अनन्त अंश स्निग्धता या रूक्षतावाला परमाणु उससे दो अधिक अंश स्निग्धता या रूक्षतावाले परमाणु के साथ बँधकर स्कन्ध बनता है। जैसे — दो अंश स्निग्धतावाला परमाणु चार अंश स्निग्धतावाले परमाणु के साथ बँधता है; ९१

१. किसी एक परमाणु की अपेक्षा से विसदृशजाति का समान अंशोंवाला दूसरा परमाणु 'रूपी' कहलाता है और शेष सब परमाणु उसकी अपेक्षा से 'अरूपी' कहलाते हैं। जैसे - पाँच अंश स्निग्धतावाले परमाणु को पाँच अंश रूक्षतावाला दूसरा परमाणु 'रूपी' है और शेष सब परमाणु उसके लिये 'अरूपी' हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि - विसदृशजाति के समान अंशवाले परमाणु परस्पर 'रूपी' है; और सदृशजातिक अथवा असमान अंशवाले परमाणु परस्पर 'अरूपी' हैं।

अंश स्निग्धतावाला परमाणु ९३ अंश रूक्षतावाले परमाणु के साथ बँधता है; ५३३ अंश रूक्षतावाला परमाणु ५३५ अंश रूक्षतावाले परमाणु के साथ बँधता है; ७००६ अंश रूक्षतावाला परमाणु ७००८ अंश स्निग्धतावाले परमाणु के साथ बँधता है – इन उदाहरणों के अनुसार दो से लेकर अनन्त अंशों (अविभागी प्रतिच्छेदों) तक समझ लेना चाहिए।

मात्र एक अंशवाले परमाणु में जघन्यभाव के कारण बंध की योग्यता नहीं है, इसलिए एक अंशवाला स्निग्ध या रूक्ष परमाणु तीन अंशवाले स्निग्ध या रूक्ष परमाणु के साथ भी नहीं बँधता।

इस प्रकार, (एक अंशवाले के अतिरिक्त) दो परमाणुओं के बीच यदि दो अंशों का अन्तर हो तब ही वे बँधते हैं; दो से अधिक या कम अंशों का अन्तर हो तो बंध नहीं होता। जैसे – पाँच अंश स्निग्धता या रूक्षतावाला परमाणु सात अंशोंवाले परमाणु के साथ बँधता है; परन्तु पाँच अंशोंवाला परमाणु आठ या छह अंशोंवाले (अथवा पाँच अंशोंवाले) परमाणु के साथ नहीं बँधता ॥१६६ ॥

प्रवचन नं. १७१ का शेष आषाढ़ शुक्ल ९ गुरुवार, १७ जुलाई १९७५

अब ऐसा निश्चित करते हैं कि परमाणुओं के पिण्डपने में यथोक्त (उपरोक्त) हेतु है —

णिद्धत्तणेण दुगुणो चदुगुणणिद्धेण बंधमणुभवदि।
लुक्खेण वा तिगुणिदो अणु बज्झदि पंचगुणजुत्तो।।१६६।।

यह तो एक दृष्टान्तरूप से कहा है, हाँ! नहीं तो तीन गुण निद्यत और दूसरा पाँच (गुण निद्यत) होवे तो बंध होता है परन्तु यह तो एक दृष्टान्तरूप से दोनों को भिन्न करके बात की। ऐसा नहीं कि निद्यत गुण चार गुण के साथ बँधे और रूक्ष तीन गुण के साथ – पर के साथ बँधे ऐसा नहीं। यह तो तीन गुणवाला रूक्ष भी दूसरे पाँच के साथ बँधता है। तीन गुण स्निग्धतावाला दूसरे पाँच गुणवाले के (साथ) बँधे — ऐसा नियम है। पाठ में इस प्रकार समझाने को लिया है कि स्निग्धतावाला दो गुण से चार गुण बंध अनुभवे। अनुभवे अर्थात् प्राप्त हो और **लुक्खेण वा तिगुणिदो अणु बज्झदि पंचगुणजुत्तो** और

तीन (गुण) रूक्ष है वह पाँच के साथ होता है। तीन गुण निद्धत पाँच के साथ होता है — ऐसा नहीं लिया। यह तो एक समझाने को लिया है।

स्निग्ध द्विगुण परमाणु बँधता, चतुर्गुण स्निग्ध से।
अथवा रूक्ष त्रिगुण अणु, पञ्च गुण अणु के संग बँधे॥

टीका - यथोक्त हेतु से ही परमाणुओं के पिण्डपना होता है - ऐसा निश्चित करना चाहिये;.... देखा, **ऐसा निश्चित करना चाहिये;....** ऐसा कहते हैं। हेतु यह है। परमाणु-परमाणु एकरूप जहाँ स्कन्धरूप दिखते हैं, उसका कारण उसका भाव है। अन्य होशियार मनुष्य ऐसा करे और यह स्निग्धता लगाये और यह करे — ऐसा है नहीं। आहा...हा...!

ऐसे लोग नहीं थूँक (लगाते)? कागज फिरे नहीं, तब शास्त्र को थूँक लगाते हैं न? यह असातना है। यह पृष्ठ नहीं खुले, तब ऐसा करके (थूँक लगाकर) पृष्ठ (खोलते हैं)। कहते हैं कि यह खोलने की स्निग्धता और रूक्षता की योग्यता उसके कारण है। उसके बदले यह कहता है कि यह थूँक लगाकर ऐसा ऊँचा करूँ! बहुत सों को ऐसी आदत होती है। कुछ पता भी नहीं होता कि यह क्या करता हूँ? बस, आदत पड़ गयी है। पृष्ठ खुलता न हो तो (थूँक लगाते हैं)। यह असातना है। सिद्धान्त को ऐसा थूँक नहीं लगाया जाता। समझ में आया? होता तो है उसके कारण परन्तु उसमें अपना भाव है न?

वहाँ 'कोटा' में लोग बहुत थे, वहाँ गर्मी बहुत तो छपे हुए पृष्ठ दें, (उससे) हवा खाये। अरे... इस शास्त्र से हवा नहीं खायी जाती! एक तो वहाँ पंखा ही नहीं होता, गर्मी बहुत! पाँच-पाँच पंखे ऐसे लाईनसर पंखे! पण्डाल वापस पूरा बँधा हुआ नहीं, बीच-बीच में खाली रखे वरना हवा रूक जाये, तथापि वे छपे पृष्ठों से हवा खाये (कहा) तुम यह क्या करते हो? इसके लिये तुम्हें यह दिया है।

प्रश्न : दिगम्बरों में ऐसा है?

समाधान : यह दिगम्बर की बात चलती है। ढूँढिया को तो यह कहाँ है? विवेक और भान भी कहाँ है? वे तो शास्त्र को नीचे रखते हैं। अभी (एक उनके गुरु) थे न?

कच्छी! वे शास्त्र को नीचे रखते, सिर रखे, पता है न? ऐसा कहते हैं हम मूर्ति को माननेवाले नहीं हैं। शास्त्र के पृष्ठ होते हैं न? उसमें थूँक (लगाते हैं)।

मुमुक्षु : वे तो कुशास्त्र हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : भले कुशास्त्र हो परन्तु उन्होंने माना है न कि यह शास्त्र है? उन्होंने माना है तो दूसरे (भी) साथ-साथ शास्त्र को ऐसा करेंगे। कुशास्त्र है परन्तु उन्होंने तो शास्त्र माना है परन्तु यह कुछ पता नहीं होता। आहा...हा...! श्वेताम्बर मन्दिरमार्गी में फिर ऐसा बहुत है, हाँ! व्याख्यान में पैर पर पैर चढ़ाकर बैठते नहीं। श्वेताम्बर में उसकी रीति बहुत अधिक परन्तु अकेले व्यवहार में फँस गये और मानते हैं कि हम कुछ (धर्म करते हैं)। आहा...हा...! कल आया नहीं था? व्यवहार अर्थात् विकल्प जिसका लक्षण है, यह राग जिसका लक्षण है — ऐसे व्यवहार में जिसे रस चढ़ गया है, वह निश्चय को नहीं समझ सकता, आत्मा को नहीं पा सकता। बहुत मार्ग (सूक्ष्म) बापू! ऐसा मार्ग है! आहा...हा...! इस भक्ति में और इस पूजा में लीन-एकाकार हो जाते हैं न? उसे राग में रस है और कोई तेज आवाज से बोलना, दूसरा सुने ऐसा बोलना तो (मैं) भक्ति करनेवाला हूँ — ऐसा उसे पावर चढ़ता है। कठिन मार्ग भाई! जिसे ऐसे विकल्प के व्यवहार में अन्दर से आदर है... आहा...हा...! कठिन बात, बापू! उसे निश्चय स्वभाव का अनादर है। यह तो दोपहर को बहुत आया था।

लो, (यह भाई) आये, आधा घण्टा हो गया, अन्दर कुछ काम में होंगे। वहाँ सुनने बैठते समय शुरुआत हो, तब सिर ऐसा-ऐसा करे और ऐसा-ऐसा करते थे। इन्हें पता नहीं। अभी शुरुआत की और ऐसा चलता था, हाथ में पुस्तक बाद में ली, लोगों को यह सब समझना कठिन है। दुनिया को तो दिखता तो अवश्य है न कि किस लाईन में हैं? शास्त्र पढ़ना शुरु हो गया, उस समय शरीर को ऐसे-ऐसे - ऐसे-ऐसे करना, यह परसों (इन भाई ने) किया था, पता है। यह इन्हें पता नहीं, इन्हें तो कुछ पता भी नहीं, ऊपर-ऊपर चलता है सब! आहा...हा...! यहाँ तो भाई! मार्ग ऐसा है। यह तो वीतराग का मार्ग है!

मुमुक्षु : क्या करते हैं यह पता नहीं?

पूज्य गुरुदेवश्री : पता नहीं, पता नहीं। यह तो कहा न? पता भी नहीं क्या किया?

यह पता नहीं पड़ता। पढ़ने में शास्त्र की शुरुआत हो, उस समय शरीर को ऐसे-ऐसे करना... यह सब पता नहीं पड़ता। क्या करे? उतावल... उतावल... उतावल... भाई! यहाँ तो ऐसी बातें हैं।

मुमुक्षु : जयसेनाचार्यदेव की टीका में परम चैतन्य है।

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, हाँ, है न। वह तो अन्दर है, पता है। यह तो पहले स्निग्ध-रूक्ष के लिये कहा है। यह तो यह कहा न? **परमचैतन्यपरिणतिलक्षणपरमात्मतत्त्व-भावनारूपधर्मध्यान शुक्लध्यानबलेन यथा जघन्यस्निग्धशक्तिस्थानीये क्षीणरागत्वे सति जघन्यरूक्षशक्तिस्थानीये क्षीणद्वेषत्वे च सति जलवायुकयोरिव जीवस्य बन्धो न भवति** यह कहा। ऊपर से कहा। स्निग्ध राग थोड़ा हो तो भी उससे राग का बंध नहीं होता, उसमें एक गुण स्निग्ध या एक गुण रूक्ष हो तो दूसरे के साथ बंध नहीं होता — ऐसा उसे स्वभाव है। आहा...हा...! इस पर से कहा। उस दिन पढ़ा था, तब कहा था।

आहा...हा...! मार्ग ऐसा है बापू! व्यवहार और निश्चय का क्या स्वरूप है? — यह वास्तविक समझना और उस व्यवहार के रस को वापस उड़ाना... आहा...हा...! व्यवहार होने पर भी, उसका इतना रस नहीं होता कि स्वयं चैतन्य को भूल जाये — ऐसा मार्ग है। आहा...हा...! ऐसा मार्ग है, बापू! हाँ! यह कोई व्यक्ति के लिये नहीं, वस्तु की स्थिति... आहा...हा...!

मन्दिरमार्गियों में तो सुनने बैठे, (तब) पैर के ऊपर पैर नहीं चढ़ाते। है न? यहाँ तो पैर पर पैर चढ़ाकर पैर ऐसे... ऐसे... ऐसे... करते हों वापस! पैर पर पैर चढ़ावें और पैर ऐसे... ऐसे... ऐसे... करें। यह लोटिया-बोहरा (का) देखा? लोटिया-बोहरा तो पैर ऐसा डालकर बैठते हैं। ऐसे नीचे पैर डालकर (बैठते हैं)।

मुमुक्षु : सिक्ख लोगों के धर्म स्थानकों में इतनी अधिक शान्ति.... इतनी अधिक शान्ति...

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, हाँ, सिक्ख में बहुत! वे तो उनकी पुस्तक लेकर आवे, (तब) सब खड़े हो जाते हैं। पुस्तक का बहुमान करते हैं! पुस्तक साहिब ऐसा कुछ (कहते हैं)। (**श्रोता :** ग्रन्थसाहिब!) वह वस्तु अलग, वे लोग मानते हैं, यह तो जो

अपेक्षा है, (उसकी बात चलती है)। बाकी उससे धर्म होता है (— ऐसा नहीं है)। ऐसा विकल्प होता है, ऐसी शैली की शैली में वस्तु का स्वरूप ऐसा है। यह सहज स्वभाव है। आहा...हा...!

मुमुक्षु : मुँह में कुछ खाया हो तो पढ़ें नहीं।

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, मुँह में कुछ खाया हो, तब शास्त्र नहीं पढ़ते। शास्त्र पढ़ते-पढ़ते पानी नहीं पिया जाता। यह तो अनेक प्रकार हैं न? भाई! इसकी विधि है। व्यवहार होता है। निश्चय हो और व्यवहार चाहे जैसा हो — ऐसा नहीं चलता।

यहाँ तो यह चार अंश और दो अंश का बंध है न? ऐसे आत्मा में भी राग में जो दो अंश विशेष होवे तो राग का बंध करे परन्तु राग का अन्तिम एक अंश हो, वह नये राग को नहीं करता; दूसरे कर्म के बंध का कारण हो परन्तु राग का अन्तिम अंश राग का कारण नहीं होता। आहा...हा...! ऐसा ही परमाणु का स्वभाव है — ऐसा कहते हैं। कहाँ ले गये हैं, देखो न!

एक गुण स्निग्धता या एक गुण रूक्षता दूसरे दो गुण या तीन गुण के साथ भी वह बंध नहीं हो सकता। वह परिणमने के योग्य नहीं है। आहा...हा...!

टीका - यथोक्त हेतु से ही परमाणुओं के पिण्डपना होता है - ऐसा निश्चित करना चाहिये; क्योंकि दो और चार गुणवाले तथा तीन और पाँच गुणवाले दो स्निग्ध परमाणुओं के अथवा दो रूक्ष परमाणुओं के अथवा दो स्निग्ध-रूख परमाणुओं के (एक स्निग्ध और एक रूक्ष परमाणु के) बंध की प्रसिद्धि है।.... दो रूक्ष परमाणुओं को बंध की प्रसिद्धि है — ऐसा (कहना है)।

अर्थ - पुद्गल 'रूपी' और 'अरूपी' होते हैं।... एक दूसरी अपेक्षा से अलग बात की है। रूपी किस अपेक्षा से? बंधने के योग्य नहीं है, उसे रूपी कहा और बँधने को योग्य है, उसे अरूपी कहा है। (मूल ग्रन्थ में नीचे फुटनोट है) ***किसी एक परमाणु की अपेक्षा से विसदृशजाति का समान अंशोंवाला दूसरा परमाणु 'रूपी' कहलाता है...*** इस अपेक्षा से (रूपी कहलाता है)। एक परमाणु की अपेक्षा से विसदृश (अर्थात्)

एक स्निग्धतावाला (परमाणु) है और सामने (दूसरा) रूक्षतावाला है। समान अंशवाला दूसरा परमाणु रूपी कहलाता है और बाकी के सब परमाणु उसकी अपेक्षा से अरूपी कहलाते हैं।

जैसे - पाँच अंश स्निग्धतावाले परमाणु को पाँच अंश रूक्षतावाला दूसरा परमाणु 'रूपी' है... क्योंकि उसके साथ बंध नहीं हो सकता ***और शेष सब परमाणु उसके लिये 'अरूपी' हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि — विसदृशजाति के समान अंशवाले परमाणु परस्पर 'रूपी' है;...*** देखा? ***सदृशजातिक अथवा असमान अंशवाले परमाणु परस्पर 'अरूपी' हैं।*** इस अपेक्षा से (अरूपी) कहलाते हैं।

पुद्गल 'रूपी' और 'अरूपी' होते हैं। उनमें से स्निग्ध पुद्गल स्निग्ध के साथ बंधते हैं, रूक्ष पुद्गल रूक्ष के साथ बंधते हैं, स्निग्ध और रूक्ष भी बंधते हैं। यह स्पष्टीकरण किया। पाठ में एक शब्द है न? पाठ में तो अमुक शब्द है न? **णिद्धत्तणेण दुगुणो चदुगुणाणिद्धेण... लुक्खेण वा तिगुणिदो** ऐसे। दो बात है परन्तु उसमें से तीन बातें निकाली कि निद्धत के साथ (स्निग्ध के साथ) दो गुण से अधिक बनते हैं। रूक्ष, रूक्ष से दो गुण बनते हैं — ऐसा स्निग्ध और रूक्ष भी दो गुण से अधिक बनते हैं। स्निग्ध के साथ भी दो गुण अधिक बनते हैं। भले ही पाठ में नहीं है। पुद्गल की बात भी ऐसी!

जघन्य के अतिरिक्त सम अंशवाला हो या विषम अंशवाला हो, स्निग्ध का दो अधिक अंशवाले स्निग्ध परमाणु के साथ, रूक्ष का दो अधिक अंशवाले रूक्ष परमाणु के साथ स्निग्ध का (दो अधिक अंशवाले) रूक्ष परमाणु के साथ बंध होता है। दो अंश अधिक हो तो बंध होता है। इसका स्पष्टीकरण बहुत किया।

भावार्थ - दो अंशों से लेकर अनन्त अंश स्निग्धता या रूक्षतावाला परमाणु उससे दो अधिक अंश स्निग्धता या रूक्षतावाले परमाणु के साथ बँधकर स्कन्ध बनता है।... दृष्टान्त दिया। **जैसे — दो अंश स्निग्धतावाला परमाणु चार अंश स्निग्धतावाले परमाणु के साथ बँधता है; ९१ अंश स्निग्धतावाला परमाणु ९३ अंश रूक्षतावाले परमाणु के साथ बँधता है;...** दो अंश अधिक है न? (इसलिए

बँधता है) **५३३ अंश रूक्षतावाला परमाणु ५३५ अंश रूक्षतावाले परमाणु के साथ बँधता है;...** यह तो दृष्टान्त दिया है।

७००६ अंश रूक्षतावाला परमाणु ७००८ अंश स्निग्धतावाले परमाणु के साथ बँधता है — इन उदाहरणों के अनुसार दो से लेकर अनन्त अंशों (अविभागी प्रतिच्छेदों) तक समझ लेना चाहिए।

मात्र एक अंशवाले परमाणु में जघन्यभाव के कारण बंध की योग्यता नहीं है, इसलिए एक अंशवाला स्निग्ध या रूक्ष परमाणु तीन अंशवाले स्निग्ध या रूक्ष परमाणु के साथ भी नहीं बँधता। एक अंश यहाँ हो और वहाँ से दो अधिक (अंश) दूसरे में हो तो भी नहीं बँधता — ऐसा (कहते हैं)। दो अधिक अंशवाला बँधता है, परन्तु यहाँ एक हो और दूसरे में तीन हो तो वह नहीं बँधता। यहाँ दो हो और दूसरे में चार हो; यहाँ तीन हो और दूसरे में पाँच हो तो बँधता है — ऐसा (कहते हैं)। ऐसी इसकी स्थिति का स्वभाव है, स्वत: स्वभाव है। उसे पता नहीं है कि ऐसा है। वह तो ज्ञान को पता है। आहा...हा...! ज्ञान को पता है कि ऐसी चीज ऐसी है। उसे उसका पता नहीं कि मुझमें चार हो तो छह के साथ बँधता है और तीन हो तो पाँच के साथ बँधता है, दो हो तो तीन के साथ नहीं बँधता, एक हो तो चार के साथ या तीन के साथ नहीं बँधता — ऐसी उसे कहीं खबर नहीं है। आहा...हा...! यह तो ज्ञान की विशेषता है — ऐसा उसका स्वभाव है। उसका स्वरूप ही स्वत: ऐसा है — ऐसा ज्ञान जानता है।

इस प्रकार, (एक अंशवाले के अतिरिक्त) दो परमाणुओं के बीच यदि दो अंशों का अन्तर हो तब ही वे बँधते हैं; दो से अधिक या कम अंशों का अन्तर हो तो बंध नहीं होता। जैसे — पाँच अंश स्निग्धता या रूक्षतावाला परमाणु सात अंशोंवाले परमाणु के साथ बँधता है; परन्तु पाँच अंशोंवाला परमाणु आठ या छह अंशोंवाले (अथवा पाँच अंशोंवाले) परमाणु के साथ नहीं बँधता। पाँच अंशवाला परमाणु के साथ नहीं बँधता।

मुमुक्षु : श्वेताम्बर में ऐसा आता है...

पूज्य गुरुदेवश्री : है, उसमें अन्तर है। यह इसमें भी जरा अन्तर है। अपने धवल

में थोड़ा अन्तर है। यहाँ तो कुन्दकुन्दाचार्यदेव ने स्वयं विशेष कहा, भगवान ऐसा कहते हैं — ऐसा कहकर (कहा)। धवल में थोड़ा अन्तर है, यह तो जरा जानने की बात है। छद्मस्थ आचार्य हैं। यह तो — कुन्दकुन्दाचार्यदेव तो साक्षात् भगवान के पास गये थे, आठ दिन सुना है और उनका क्षयोपशम तथा उनका भगवान के पास सुनना (हुआ) वह सुनने के कारण क्षयोपशम बढ़ा नहीं; क्षयोपशम स्वयं से बढ़ा है। आहा...हा...! कुन्दकुन्दाचार्यदेव की शास्त्र की रचना का क्षयोपशम भी गजब था! अनुभूति और अनुभव हो, तथापि क्षयोपशम की दशा विशेष प्रकार से शास्त्र में रखना या रचना, वह अलग प्रकार की है। और वह भी स्वयं के स्वभाव में रहकर, रखकर... आहा...हा...! यह विकल्प आवे, उसमें एक (एकाकार) हुए बिना यहाँ वाणी की रचना हो, उसमें विकल्प को एकरूप किये बिना (होती है)। आहा...हा...! ऐसी बातें हैं बापू! देखो, अब कहेंगे, वह सारांश लेंगे। देखा? ●

उसका जीवन धन्य है

यह मनुष्यभव प्राप्त करके करोड़ों रुपये कमाना अथवा मान प्रतिष्ठा इत्यादि प्राप्त करने में जीवन व्यतीत करने को यहाँ धन्य नहीं कहते हैं, अपितु जो अन्तरङ्ग में चैतन्य की भावना करता है, उसका जीवन धन्य है – ऐसा कहते हैं।

– पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी

गाथा – १६७

अथात्मनः पुद्गलपिण्डकर्तृत्वाभावमवधारयति -

दुपदेसादी खंधा सुहुमा वा बादरा ससंठाणा।
पुढविजलतेउवाऊ सगपरिणामेहिं जायंते।।१६७।।

द्विप्रदेशादयः स्कन्धाः सूक्ष्मा वा बादराः ससंस्थानाः।
पृथिवीजलतेजोवायवः स्वकपरिणामैर्जायन्ते।।१६७।।

एवममी समुपजायमाना द्विप्रदेशादयः स्कन्धा विशिष्टावगाहनशक्तिवशादुपात्तसौक्ष्म्य-स्थौल्यविशेषा विशिष्टाकारधारणशक्तिवशाद्गृहीतविचित्रसंस्थानाः सन्तो यथास्वं स्पर्शादिचतुष्क-स्याविर्भावतिरोभावस्वशक्तिवशमासाद्य पृथिव्यप्तेजोवायवः स्वपरिणामैरेव जायन्ते। अतोऽबधार्यते द्व्यणुकाद्यनन्तानन्तपुद्गलानां न पिण्डकर्ता पुरुषोऽस्ति।।१६७।।

एवं पूर्वोक्तप्रकारेण स्निग्धरूक्षपरिणतपरमाणुस्वरूपकथनेन प्रथमगाथा, स्निग्धरूक्षगुणविवरणेन द्वितीया, स्निग्धरूक्षगुणाभ्यां द्व्यधिकत्वे सति बन्धकथनेन तृतीया, तस्यैव दृढीकरणेन चतुर्थी चेति परमाणूनां परस्परबन्धव्याख्यानमुख्यत्वेन प्रथमस्थले गाथाचतुष्टयं गतम्। अथात्मा द्व्यणुकादिपुद्गलस्कन्धानां कर्ता न भवतीत्युपदिशति - **जायन्ते** उत्पद्यन्ते। के कर्तारः। **दुपदेसादी खंधा** द्विप्रदेशाद्यनन्ताणुपर्यन्ताः स्कन्धाः। के जायन्ते। **पुढविजलतेउवाऊ** पृथ्वीजलतेजोवायवः। कथंभूताः सन्तः। **सुहुमा वा बादरा सूक्ष्मा** वा बादरा वा। पुनरपि किंविशिष्टाः सन्तः। **ससंठाणा** यथासंभवं वृत्तचतुरस्रादिस्वकीयस्वकीयसंस्थानाकारयुक्ताः। कैः कृत्वा जायन्ते। **समपरिणामेहिं** स्वकीयस्वकीयस्निग्धरूक्षपरिणामैरिति। अथ विस्तर :- जीवा हि तावद्वस्तुतष्टङ्कोत्कीर्णज्ञायकैकरूपेण शुद्धबुद्धैकस्वभावा एव, पश्चाद्व्यवहारेणानादिकर्मबन्धो-पाधिवशेन शुद्धात्मस्वभावमलभमानाः सन्तः पृथिव्यप्तेजोवातकायेकेषु समुत्पद्यन्ते, तथापि स्वकीयाभ्यन्तरसुखदुःखादिरूपपरिणतेरेवाशुद्धोपादानकारणं भवन्ति, न च पुथिव्यादिकायाकार-परिणतेः। कस्मादिति चेत्। तत्र स्कन्धानामेवोपादानकारणत्वादिति। ततो ज्ञायते पुद्गलपिण्डानां जीवः कर्ता न भवतीति।।१६७।।

अब, आत्मा के पुद्गलों के पिण्ड के कर्तृत्व का अभाव निश्चित करते हैं —

द्विप्रदेश आदि स्कन्ध, बादर-सूक्ष्म अरु साकार हैं।
वे पृथ्वी वायु जल तेज होते, स्वयं निज परिणाम से॥

अन्वयार्थ - [**द्विप्रदेशादयः स्कंधाः**] द्विप्रदेशादिक (दो से लेकर अनन्त प्रदेशवाले) स्कंध [**सूक्ष्माः वा बादराः**] जो कि सूक्ष्म अथवा बादर होते हैं और [**ससंस्थानाः**] संस्थानों (आकारों) सहित होते हैं वे — [**पृथिवीजलतेजोवायवः**] पृथ्वी, जल, तेज और वायुरूप [**स्वकपरिणामैः जायन्ते**] अपने परिणामों से होते हैं।

टीका - इस (पूर्वोक्त) प्रकार से यह उत्पन्न होनेवाले द्विप्रदेशादिक स्कन्ध — जिनने विशिष्ट अवगाहन की शक्ति के वश सूक्ष्मता और स्थूलतारूप भेद ग्रहण किये हैं और जिनने विशिष्ट आकार धारण करने की शक्ति के वश होकर विचित्र संस्थान ग्रहण किये हैं वे — अपनी योग्यतानुसार स्पर्शादिचतुष्क[1] के आविर्भाव और तिरोभाव की स्वशक्ति के वश होकर पृथ्वी, जल, अग्नि और वायुरूप अपने परिणामों से ही होते हैं। इससे निश्चित होता है कि द्वि-अणुकादि अनन्तानन्त पुद्गलों का पिण्डकर्ता आत्मा नहीं है॥१६७॥

प्रवचन नं. १७१ का शेष आषाढ़ शुक्ल ९ गुरुवार, १७ जुलाई १९७५

अब, आत्मा के पुद्गलों के पिण्ड के कर्तृत्व का अभाव निश्चित करते हैं — यह हेतु है। इस प्रकार सिद्ध किया कि आत्मा, परमाणु के पिण्ड को किसी प्रकार करे — स्कन्ध बाँधे, लड्डू बनाये, रोटी बनाये, दाल इकट्ठी करे... आहा...हा... ! कील लगाकर लकड़ी को एक दूसरे के (साथ) जोड़े, यह कर्तव्य जीव का नहीं है। यह पुद्गल का ही ऐसा स्वभाव है। आहा...हा... ! लो, यह बात करके वापस यहाँ उतारा ! बापू ! इसका — परमाणु का ऐसा ही स्वभाव है। आहा...हा... !

कर्म की पर्याय भी कर्म के कारण बँधती है; उसमें आत्मा का अविकार नहीं है। आहा..हा... ! क्योंकि उन परमाणुओं में ही उसकी पर्याय होने की योग्यता से कर्म की

१. स्पर्शादिचतुष्क = स्पर्श, रस, गंध, और वर्ण। (स्पर्शादि की प्रगटता और अप्रगटता वह पुद्गल की शक्ति है।)

पर्याय होनी है, उस समय उसकी योग्यता से वे परमाणु परिणमित हुए हैं। जीव का राग निमित्त था, इसलिए परिणमित हुए हैं — ऐसा नहीं है। उसकी (उस) समय की योग्यता ही ऐसी थी। आहा...हा...! उन-उन परमाणुओं में जो कर्मरूप होने की योग्यतावाले (हैं), वे ही कर्मरूप परिणमे हैं; दूसरे परमाणु उस समय (कर्मरूप) नहीं परिणमित होते — ऐसा उनका स्वत: स्वभाव है। उसे ऐसा पता नहीं है कि यह राग है, इसलिए कर्मरूप से परिणमना तथा मेरी पर्याय में कर्म (रूप से) होने की योग्यता है, इसलिए हुआ — ऐसा कोई ज्ञान है? परन्तु उस जड़ का ऐसा ही स्वभाव है कि अपने परिणाम की योग्यता से दूसरे की चीज स्वयं से (गुण आदि) अधिक हो तो परिणमे — ऐसा उसका स्वत: स्वभाव है। परिणमनेवाले को पता नहीं और परिणमानेवाले अर्थात् यह दो (गुण) और दूसरा चार गुण वह परिणमानेवाला कहलाता है, उसे भी पता नहीं कि मैं इसे परिणमाने में निमित्त होता हूँ। आहा...हा...!

दो गुण स्निग्धतावाला चार गुण स्निग्धतावाले के साथ परिणमे तो उसमें दो गुण स्निग्धतावाला परिणमनेवाला कहलाता है; चार गुणवाला परिणमानेवाला कहलाता है। परिणमानेवाला कहलाता है, इसलिए उसे चाररूप परिणमाता है — ऐसा नहीं है। चारपने का अंश में जब आया, तब उसमें चार अंशरूप होने की योग्यता थी, इसलिए हुआ। आहा...हा...! पहले समय दो गुण स्निग्धतावाला था और दूसरे समय चार गुण स्निग्धतावाला हुआ तो अन्य चारवाला था, इसलिए यहाँ चारवाला हुआ — ऐसा नहीं है - ऐसा तत्त्व! उसके द्रव्य-गुण और पर्याय का ऐसा स्वभाव! वह कहते हैं। (१६७ गाथा)

दुपदेसादी खंधा सुहुमा वा बादरा ससंठाणा।
पुढविजलतेउवाऊ सगपरिणामेहिं जायंते।।१६७।।

अपने परिणाम से होता है; आत्मा उसे कुछ नहीं करता। आहा...हा...!

द्विप्रदेश आदि स्कन्ध, बादर-सूक्ष्म अरु साकार हैं।
वे पृथ्वी वायु जल तेज होते, स्वयं निज परिणाम से॥

देखो, वे कहते हैं न? शरीर का कर सकता है, परमाणु का नहीं करता — ऐसा जवाब दिया था। (एक श्वेताम्बर साधु के) गुरु ने, हाँ! ऐसा कहे, शरीर का कर सकता

है। यहाँ कहते हैं — **बादर-सूक्ष्म अरु साकार हैं। वे पृथ्वी वायु जल तेज होते, स्वयं निज परिणाम से॥** सूक्ष्मरूप से भी उससे (होते हैं) और स्थूलरूप से भी उससे होते हैं; आत्मा उसे कुछ नहीं कर सकता। आहा...हा...! कहो! बड़ा आचार्य नाम धरावें और इतना भी पता नहीं पड़ता! तुम गलत करते हो, इसलिए लोगों का कल्याण रूक जाता है। दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजा करने से धर्म नहीं होता (— ऐसा कहते हो तो इससे) लोगों का कल्याण रूक जाता है। लो! (ऐसा) कहने आये। उसमें एक वह था, नहीं? वह वैष्णव था, फिर स्थानकवासी हो गया और फिर मन्दिरमार्गी (हुआ)। मन्दिरमार्गी पैसेवाला! बीस-पच्चीस लाख का आसामी! राजकोटवाला! वह पहले वैष्णव था, फिर स्थानकवासी हुआ, फिर मन्दिरमार्गी हुआ। (वह) लेकर आया था। (दूसरे एक भाई ने कहा कि) महाराज कहते हैं कि हमें चर्चा करनी नहीं और यह कहता है कि हमारी यह बात है। अब तुम्हें क्या चर्चा करनी है? अरे... भगवान! बापू! ऐसे वाद-विवाद करने से यह बात जँचेगी? यह अन्दर में तह कैसे बैठेगी? अन्दर में (तह बैठनी चाहिए)। आहा...हा...!

टीका - इस (पूर्वोक्त) प्रकार से यह उत्पन्न होनेवाले द्विप्रदेशादिक स्कन्ध... देखा? स्निग्ध और रूक्ष के कारण दो से अनन्त प्रदेशों के स्कन्ध होते हैं, अब यहाँ लिया **जिनने विशिष्ट अवगाहन की शक्ति के वश...** है न? विशिष्ट अवगाहन की शक्ति के कारण **सूक्ष्मता और स्थूलतारूप भेद ग्रहण किये हैं...** देखो! इसका विशिष्ट अवगाहन है! स्थूलरूप होना या सूक्ष्मरूप होना। सूक्ष्म में अधिकपने होता अवगाहन में संक्षिप्त में (होता है) और स्थूल में परमाणु थोड़े होने से अवगाहन बड़े में (होते हैं)। आहा...हा...! यह क्या कहा?

इसकी स्निग्ध-रूक्षता में दो से अधिक (अंश होनेरूप) कहा, उस प्रकार परिणमते हुए सूक्ष्म परमाणु स्थूलरूप होते हैं, स्थूल, स्थूलरूप होते हैं। देखा? सूक्ष्म परमाणु हो, पृथक् थे तब सूक्ष्म थे। अब जब स्कन्ध (बनकर) स्थूल हुए (और) उसमें आये तब एक-एक परमाणु में स्थूलता आ गयी। इसलिए लोगों को ऐसा लगता है कि स्कन्ध में मिला, इसलिए स्थूलता आयी। अकेला सूक्ष्म रहेगा — ऐसा नहीं है। आहा...हा...! उस

काल में उसमें — एक-एक परमाणु में स्थूलता है। वह स्थूल होता है। दिखता है न? कार्माण और तैजस सूक्ष्म है, यह स्थूल है। इसका परमाणु भी अभी स्थूल हुआ है क्योंकि परमाणु अपने द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव में यहाँ रहा है। यहाँ भी अपने द्रव्य-क्षेत्र-काल -भावरूप रहा है तो उसके कालरूप भी स्थूलरूप के कालपने यहाँ रहा है। आहा...हा...! यह द्विप्रदेशादिक स्कन्ध इस प्रकार उत्पन्न होते (अर्थात्) उस दो गुण से अधिक आदि (जो कहा वे स्कन्ध) **जिनने विशिष्ट आकार धारण करने की शक्ति के वश...** अवगाहन की शक्ति के वश। सूक्ष्मता में आकाश के थोड़े प्रदेश में अवगाहन (हो जाता है)। स्थूल में विशेष (प्रदेशों में अवगाहन होता है।) **और जिनने विशिष्ट आकार धारण करने की शक्ति के वश होकर...** अवगाहन की शक्ति के वश। सूक्ष्मता के आकाश के थोड़े प्रदेश में अवगाहन (हो जाता है)। स्थूल में विशेष (प्रदेशों में अवगाहन होता है) **और जिनने विशिष्ट आकार धारण करने की शक्ति के वश...** भिन्न-भिन्न आकार (अर्थात्) स्थूल का आकार, सूक्ष्म का आकार। **विचित्र संस्थान ग्रहण किये हैं...** देखा (संस्थान अर्थात्) आकार ग्रहण किये हैं। इसका आकार ऐसा हुआ है, वह इसके कारण — ऐसा हुआ है, कहते हैं।

प्रश्न : नामकरण का निमित्त तो अवश्य है या नहीं?

समाधान : इस निमित्त का अर्थ क्या? वे रजकण ही उस काल में अपनी पर्यायरूप इस प्रकार (ऐसे) आकाररूप हुए हैं। नामकर्म निमित्त (है तो) निमित्त अर्थात्? उससे हुआ है? नामकर्म को तो पता भी नहीं है। आहा...हा...! **जिनने विशिष्ट आकार धारण करने की शक्ति के वश...** देखा? परमाणु स्वयं **विचित्र संस्थान ग्रहण किये हैं...** विचित्र प्रकार का आकार परमाणु ने अवगाहन की शक्ति के वश और विशेष आकार धारण करने की शक्ति के वश आकार ग्रहण किया है। आहा...हा...!

इस स्थूल (स्कन्ध में) परमाणु की संख्या थोड़ी है, तथापि आकार और अवगाहन बड़ा है और उसमें जो सूक्ष्म (स्कन्ध है), उसमें परमाणु ज्यादा है, तथापि अवगाहन ज्यादा नहीं और आकार भी उसके प्रकार का सूक्ष्म का आकार वहाँ है। आहा...हा...!

प्रत्येक समय की परमाणु की पर्याय स्वतन्त्र इस प्रकार होती है, उसमें आत्मा क्या करे?

मुमुक्षु : कुछ नहीं करे — ऐसा कहते हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : इसके लिये तो यह वर्णन किया है।

क्या कहा? **वे - अपनी योग्यतानुसार....** देखा? प्रत्येक रजकण का उसके सूक्ष्मरूप, स्थूलरूप आकाररूप होना — सूक्ष्म के आकाररूप या स्थूल के आकाररूप; सूक्ष्म के अवगाहनरूप या स्थूल के अवगाहनरूप होना, वह योग्यतानुसार (होता है)। आहा...हा...! यह तो जहाँ हो वहाँ (ऐसा मानता है कि) मैंने ऐसा किया और मैंने ऐसा किया... मैंने ऐसा किया... मैंने इसमें चित्र बनाया और अमुक किया और वैसा किया... आहा...हा...!

तुम्हारे यहाँ एक भाई थे, नहीं? राजकोट! 'बोगानी की शेरी' में सामने ढेले में ऊपर रहते थे। वे बहुत चित्राम करते थे। साकर केटी और सब भिन्न-भिन्न (चित्र चित्रित करते थे)। उन्हें ऐसा कि देखो! ऐसा सब मैं कर सकता हूँ। अरे...! फोटो भी खिचते थे न? फोटो का आकार पड़ता है तो कहते हैं कि उस-उस प्रकार के उन रजकणों के स्थूलरूप अवगाहन के कारण वैसा आकार होता है। आहा...हा...! उसका कर्ता आत्मा नहीं है। इसकी बुद्धि में हो कि ऐसा हो और वैसा हो, (उस) बुद्धि के कारण वहाँ होता है (— ऐसा नहीं है)। आहा...हा...!

अपनी योग्यतानुसार स्पर्शादिचतुष्क के आविर्भाव और तिरोभाव की स्वशक्ति के वश... देखा? स्पर्शादिक हैं न? (मूल ग्रन्थ में फुटनोट में इसका अर्थ दिया है।) ***स्पर्शादिचतुष्क = स्पर्श, रस, गंध, और वर्ण।*** यह तो स्पर्श में एकाक्षरी नहीं और रस, गंध, तथा वर्ण में एकाक्षरी होता है - ऐसे वर्ण भले वह किया परन्तु ऐसे वर्ण करे तो एकाक्षरी हो जाता है। तीनों — वर्ण, गंध और रस। वर्ण = व-र-ण, गं-ध, र-स (इस प्रकार) एकाक्षरी हो जाता है। स्पर्श में एकाक्षरी नहीं होता। जैसे मन, वचन और तन - इसमें एकाक्षरी हो जाता है। मन, वाणी और देह — ऐसा कहो तो (उसमें) मन एकाक्षरी है, वाणी और देह फिर एकाक्षरी नहीं है परन्तु मन, तन और वचन (एकाक्षरी है)। इस प्रकार ही उसके परिणाम की योग्यतावाला स्वरूप है। आहा...हा...!

स्पर्श, वर्ण, गंध, रस का चतुष्क है न? (चतुष्क अर्थात् चार) उसका बाहर आना

और ढ़ँक जाना — ऐसी **स्वशक्ति के वश होकर...** आत्मा उसे बनाये, इसलिए लड्डू बनते हैं, अंजन आँजे, नहीं। अंजन बनावे लो! क्या कहलाता है वह तवे का? मश में डालकर... ठण्डा... ठण्डा (लगता है) वह ठण्डा होता है, (इसे) लगता है अग्नि परन्तु उस मिट्टी में से हुआ है न? तो मिट्टी ठण्डी हो इसलिए वह ठण्डा होता है। क्या कहलाता है वह? तवे का निचला काला (होता है उसे क्या कहते हैं)? मश... मश! मश... मश! मश ठण्डा होता है, मिट्टी का है न? वरना अग्नि से गरम (हुआ है) परन्तु उसका स्वभाव भी वहाँ — ऐसा उस प्रकार होता है। उसके रजकण की योग्यता से वहाँ वैसा होता है। कितने ही डिब्बी में भी भर लेते हैं या नहीं?

विशेष कहेंगे...! ●

श्री आचार्यदेव का उपदेश है

आत्मस्वभाव के लक्ष्यवाला जीवन ही आदरणीय है, इसके अतिरिक्त दूसरा जीवन आदरणीय नहीं गिना गया है; इसलिए भव्यात्माओं को बारम्बार शुद्धात्मा की चिन्ता में और उसी के रटन में रहना चाहिए – ऐसा श्री आचार्यदेव का उपदेश है।

– पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी

गाथा - १६८

अथात्मानः पुद्गलपिण्डानेतृत्वाभावमवधारयति -

ओगाढगाढणिचिदो पोग्गलकायेहिं सव्वदो लोगो।
सुहुमेहि बादरेहि य अप्पाओग्गेहिं जोग्गेहिं।।१६८।।

अवगाढगाढनिचितः पुद्गलकायैः सर्वतो लोकः।
सूक्ष्मैर्बादरैश्चाप्रायोग्यैर्योग्यैः।।१६८।।

यतो हि सूक्ष्मत्वपरिणतेर्बादरपरिणतैश्चानतिसूक्ष्मत्वस्थूलत्वात् कर्मत्वपरिणमनशक्तियोगिभिरतिसूक्ष्मस्थूलतया तदयोगिभिश्चावगाहविशिष्टत्वेन परस्परमबाधमानैः स्वयमेव सर्वत एव पुद्गलकायैर्गाढं निचितो लोकः। ततोऽवधार्यते न पुद्गलपिण्डानामानेता पुरुषोऽस्ति।।१६८।।

अथात्मा बन्धकाले बन्धयोग्यपुद्गलान् बहिर्भागान्नैवानयतीत्यावेदयति - **ओगाढगाढणिचिदो** अवगाह्यावगाह्य नैरन्तर्येण निचितो भृतः। स कः। **लोगो** लोकः। कथं भृतः। **सव्वदो** सर्वतः सर्वप्रदेशेषु। कैः कर्तृभूतैः। **पोग्गलकायेहिं** पुद्गलकायैः। किंविशिष्टैः। **सुहुमेहि बादरेहि य** इन्द्रियग्रहणायोग्यैः सूक्ष्मैस्तद्ग्रहणयोग्यैर्बादरैश्च। पुनश्च कथंभूतैः। **अप्पाओग्गेहिं** अतिसूक्ष्मस्थूलत्वेन कर्मवर्गणायोग्यतारहितैः। पुनश्च किंविशिष्टैः। **जोग्गेहिं** अतिसूक्ष्मस्थूलत्वाभावात्कर्मवर्गणायोग्यैरिति। अयमात्रार्थ :- निश्चयेन शुद्धस्वरूपैरपि व्यवहारेण कर्मोदयाधीनतया पृथिव्यादिपञ्चसूक्ष्मस्थावरत्वं प्राप्तैर्जीवैर्यथा लोको निरन्तरं भृतस्तिष्ठति तथा पुद्गलैरपि। ततो ज्ञायते यत्रैव शरीरावगाढक्षेत्रे जीवस्तिष्ठति बन्धयोग्यपुद्गला अपि तत्रैव तिष्ठति, न च बहिर्भागाज्जीव आनयतीति।।१६८।

अब ऐसा निश्चित करते हैं कि (जिस प्रकार आत्मा पुद्गल पिण्ड का करनेवाला नहीं उसी प्रकार) आत्मा पुद्गल पिण्ड का लानेवाला (भी) नहीं है —

इस लोक में है सर्वतः, अवगाह पुद्गलकाय का।
वे सूक्ष्म-बादर स्कन्ध हैं, अरु कर्म योग्य-अयोग्य हैं॥

अन्वयार्थ – **[लोकः]** लोक **[सर्वतः]** सर्वतः **[सूक्ष्मैः बादरैः]** सूक्ष्म तथा बादर **[च]** और **[अप्रायोग्यैः योग्यैः]** कर्मत्व के अयोग्य तथा कर्मत्व के योग्य **[पुद्गलकायैः]** पुद्गल स्कन्धों के द्वारा **[अवगाढगाढनिचितः]** (विशिष्ट प्रकार से) अवगाहित होकर गाढ़ (–घनिष्ट) भरा हुआ है।

टीका – सूक्ष्मतया परिणत तथा बादररूप परिणत, अति सूक्ष्म अथवा अति स्थूल न होने से कर्मरूप परिणत होने की शक्तिवाले तथा अति सूक्ष्म अथवा अति सूक्ष्म होने से कर्मरूप परिणत होने की शक्ति से रहित — ऐसे पुद्गलकायों के द्वारा, अवगाह की विशिष्टता के कारण परस्पर बाधा किये बिना, स्वयमेव सर्वतः (सर्व प्रदेशों से) लोक गाढ़ भरा हुआ है। इससे निश्चित होता है कि पुद्गलपिण्डों का लानेवाला आत्मा नहीं है।

भावार्थ – इस लोक में सर्वत्र जीव हैं और कर्मबंध के योग्य पुद्गलवर्गणा भी सर्वत्र है। जीव के जैसे परिणाम होते हैं, उसी प्रकार का जीव को कर्मबंध होता है। ऐसा नहीं है कि आत्मा किसी बाहर के स्थान से कर्मयोग्य पुद्गल लाकर बंध करता है॥१६८॥

प्रवचन नं. १७२ आषाढ़ शुक्ल १० शुक्रवार, १८ जुलाई १९७५

(प्रवचनसार) १६८ गाथा। अब **(जिस प्रकार आत्मा, पुद्गल पिण्ड का करनेवाला नहीं; उसी प्रकार) आत्मा, पुद्गल पिण्ड का लानेवाला (भी) नहीं है** — (यह सिद्ध करते हैं) वे रजकण लावे और वे बंधे — ऐसा नहीं है।

ओगाढगाढणिचिदो पोग्गलकायेहिं सव्वदो लोगो।
सुहुमेहि बादरेहि य अप्पाओग्गेहिं जोग्गेहिं।।१६८।।

इस लोक में है सर्वतः, अवगाह पुद्गलकाय का।
वे सूक्ष्म-बादर स्कन्ध हैं, अरु कर्म योग्य-अयोग्य हैं॥

टीका – **सूक्ष्मतया परिणत...** सूक्ष्मरूप हुए **तथा बादररूप परिणत,...** हुए **अति सूक्ष्म अथवा अति स्थूल न होने से कर्मरूप परिणत होने की शक्तिवाले तथा अति सूक्ष्म अथवा अति सूक्ष्म होने से कर्मरूप परिणत होने की शक्ति से रहित...**

बहुत सूक्ष्म एक, दो, चार परमाणु हों वे भी कर्म होने योग्य नहीं है और जो स्थूल है, वे भी कर्म होने योग्य नहीं है — ऐसा कहते हैं।

ऐसे पुद्गलकायों के द्वारा, अवगाह की विशिष्टता के कारण... उन परमाणुओं में उस प्रकार की अवगाह होने की विशिष्ट शक्ति के कारण **परस्पर बाधा किये बिना,...** परमाणुओं के स्कन्ध एक दूसरे को अड़चन किये बिना **सर्वतः (सर्व प्रदेशों से) लोक गाढ़ भरा हुआ है। इससे निश्चित होता है कि पुद्गलपिण्डों का लानेवाला आत्मा नहीं है।** ऐसा कि कहीं आगे हो, वहाँ से लावे — ऐसा नहीं है। जहाँ परमाणु है, वहाँ वे परमाणु परिणमन होकर बँध जाते हैं। राग का निमित्त है।

इन **पुद्गलपिण्डों का लानेवाला आत्मा नहीं है।** आगे से लानेवाला (नहीं है)। कल कोई यह प्रश्न करता था कि परमाणु दूर हों, उन्हें ला सकते हैं? लाने की तो बात ही कहाँ है! परन्तु दूर के आते नहीं। यह जहाँ बाँधता है, वही होते हैं। परमाणु जहाँ बँधते हैं, वे (उसी) जगह रजकण होते हैं, वे राग का निमित्त (पाकर) कर्मरूप परिणमित हो जाते हैं। वह भी वस्तुतः तो उस प्रकार परमाणु की कर्मरूप होने की योग्यतावाले (परमाणु) उस समय परिणम जाते हैं और वास्तव में तो उनके निमित्तकारक की भी अपेक्षा नहीं है। हो, निमित्त है परन्तु उसकी अपेक्षा (नहीं है)। उसी समय वे कर्म होने के योग्य परमाणु कर्मरूप होते हैं। आहा...हा...! उन्हें क्या पता पड़ता है कि यहाँ कर्मरूप होना? यहाँ राग किया है, इसलिए मुझे कर्मरूप होना? इतने ही प्रमाण में (बँधते हैं)। पता होने का क्या काम है? ऐसा ही परमाणुओं का स्वभाव है कि उस काल में जिस प्रकार का राग मन्द, तीव्र, द्वेष, मिथ्यात्व आदि (हों) तदनुसार यहाँ परमाणु स्वयं से स्वयं अपने कर्ता होकर उस प्रकार की पर्याय उत्पन्न करते हैं। आहा...हा...!

भावार्थ - इस लोक में सर्वत्र जीव हैं.... पूरी दुनिया में जीव भरे हुए हैं। **और कर्मबंध के योग्य पुद्गलवर्गणा भी सर्वत्र है।...** दोनों सर्व स्थल में है। आहा...हा...! **जीव के जैसे परिणाम होते हैं,...** जिस प्रकार के परिणाम होते हैं। **उसी प्रकार का जीव को कर्मबंध होता है।....** आहा...हा...! **ऐसा नहीं है कि आत्मा किसी बाहर के स्थान से....** इतना यहाँ सिद्ध करना है। **बाहर के स्थान से कर्मयोग्य पुद्गल लाकर**

बंध करता है — ऐसा है नहीं। योग उन्हें ग्रहण करता है, कषाय में स्थिति (और) रस पड़ता है — ऐसा नहीं आता? आता है, उसका अर्थ? कर्म के प्रदेश होने में योग का निमित्त है — इतना; और कषाय है, वह कर्म में स्थिति पड़ने में निमित्त है, बस! स्थिति और प्रदेशों का होना तो उसकी अपनी पर्याय के कारण है। वह कहीं योग के कारण या कषाय के कारण कर्म आते हैं और स्थिति-रस (अनुभाग) पड़ता है — ऐसा नहीं है। आहा...हा...! समय-समय की परमाणु की पर्याय भी स्वतन्त्ररूप से परिणमित होती है, उसे आत्मा कहीं से लाता है — ऐसा नहीं है। आहा...हा...! ●

सहज शीतल आनन्द प्रगट करने के लिए....

अरे! जीवों का लक्ष्य बाहर में दौड़ता है परन्तु अन्तर में स्व तरफ लक्ष्य नहीं जाता; इसलिए अपनी महिमा भाषित नहीं होकर पर की ही महिमा भाषित होती है। सिद्ध भगवन्त कैसे महान्! अरहन्त भगवन् महान्! सन्त-मुनिवर और धर्मात्मा महान्!! इस प्रकार उनकी महिमा गाता है परन्तु हे भाई! जिसकी महिमा तू रात-दिन गाता है, वह तू स्वयं ही है, क्योंकि सन्त कहते हैं कि जैसा हमारा आत्मा, वैसा ही तुम्हारा आत्मा है; इसलिए हे जीव! तू अपने स्वभाव की महिमा को लक्ष्य में ले।

देखो, अरहन्त-सिद्ध अथवा सन्त-महात्माओं की सच्ची महिमा भी तभी ज्ञात होती है कि जब अपने स्वभाव की महिमा को समझे। सर्वज्ञ और सन्त जिस मार्ग से अन्तर में स्थिर हैं, वह मार्ग तेरा तुझमें ही है। अन्तर के चिदानन्दस्वरूप में से सहज शीतल आनन्द प्रगट करके उन्होंने आताप का नाश किया है, तू भी आताप का नाश करके सहज शीतल आनन्द प्रगट करने के लिए अपने चिदानन्दस्वरूप की तरफ जा।

- ***पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी***

गाथा - १६९

अथात्मनः पुद्गलपिण्डानां कर्मत्वकर्तृत्वाभावमधारयति -

कम्मत्तणपाओग्गा खंधा जीवस्स परिणइं पप्पा।
गच्छंति कम्मभावं ण हि ते जीवेण परिणमिदा।।१६९।।

कर्मत्वप्रायोग्याः स्कन्धा जीवस्य परिणतिं प्राप्य।
गच्छन्ति कर्मभावं न हि ते जीवेन परिणमिताः।।१६९।।

यतो हि तुल्यक्षेत्रावगाढजीवपरिणाममात्रं बहिरङ्गसाधनमाश्रित्य जीवं परिणमयितारमन्तरेणापि कर्मत्वपरिणमनशक्तियोगिनः पुद्गलस्कन्धाः स्वयमेव कर्मभावेन परिणमन्ति। ततोऽवधार्यते न पुद्गलपिण्डानां कर्मत्वकर्ता पुरुषोऽस्ति।।१६९।।

अथ कर्मस्कन्धानां जीव उपादानकर्ता न भवतीति प्रज्ञापयति - **कम्मत्तणपाओग्गा खंधा** कर्मत्वप्रायोग्याः स्कन्धाः कर्तारः **जीवस्स परिणइं पप्पा** जीवस्य परिणतिं प्राप्य निर्दोषिपरमात्मभावनोत्पन्नसहजानन्दैकलक्षणसुखामृतपरिणतेः प्रतिपक्षभूतां जीवसंबन्धिनीं मिथ्यात्वरागादिपरिणतिं प्राप्य **गच्छंति कम्मभावं** गच्छन्ति परिणमन्ति। कम्। कर्मभावं ज्ञानावरणादिद्रव्यकर्मपर्यायम्। **ण हि ते जीवेण परिणमिदा** न हि नैव ते कर्म स्कन्धा जीवेनोपादानकर्तृभूतेन परिणमिताः परिणतिं नीता इत्यर्थः। अनेन व्याख्यानैनैतदुक्तं भवति कर्मस्कन्धानां निश्चयेन जीवः कर्ता न भवतीति।।१६९।।

अब, ऐसा निश्चित करते हैं कि आत्मा पुद्गलपिण्डों को कर्मरूप नहीं करता —

जीवभाव का पाकर निमित्त, कर्मत्व योग्य स्कन्ध जो।
स्वयं परिणमें हैं कर्मरूप, जीव परिणमावे नहीं उन्हें॥

अन्वयार्थ – [**कर्मत्वप्रायोग्याः स्कंधाः**] कर्मत्व के योग्य स्कंध [**जीवस्य–**

परिणतिं प्राप्य] जीव की परिणति को प्राप्त करके **[कर्मभावं गच्छन्ति]** कर्मभाव को प्राप्त होते हैं; **[न हि ते जीवेन परिणमिताः]** जीव उनको नहीं परिणमाता।

टीका - कर्मरूप परिणमित होने की शक्तिवाले पुद्गलस्कंध, तुल्य (समान) क्षेत्रावगाह जीव के परिणाममात्र का — जो कि बहिरंग साधन (बाह्य कारण) है उसका - आश्रय करके, जीव उनको परिणमानेवाला न होने पर भी, स्वयमेव कर्मभाव से परिणमित होते हैं। इससे निश्चित होता है कि पुद्गलपिण्डों को कर्मरूप करनेवाला आत्मा नहीं है।

भावार्थ - समान क्षेत्र में रहनेवाले जीव के विकारी परिणाम को निमित्तमात्र करके कार्मणवर्गणायें स्वयमेव अपनी अन्तरंगशक्ति से ज्ञानावरणादि कर्मरूप परिणमित हो जाती हैं; जीव उन्हें कर्मरूप परिणमित नहीं करता॥१६९॥

प्रवचन नं. १७२ का शेष आषाढ़ शुक्ल १० शुक्रवार, १८ जुलाई १९७५

अब, आत्मा पुद्गलपिण्डों को कर्मरूप नहीं करता — १६९ (गाथा)

कम्मत्तणपाओग्गा खंधा जीवस्स परिणइं पप्पा।
गच्छंति कम्मभावं ण हि ते जीवेण परिणमिदा।।१६९।।

जीवभाव का पाकर निमित्त, कर्मत्व योग्य स्कन्ध जो।
स्वयं परिणमें हैं कर्मरूप, जीव परिणमावे नहीं उन्हें॥

लो, '**पामी जीव परिणाम ने**' कहा है या नहीं ? निमित्त पाकर। वह तो होता है इतना सिद्ध किया है। आहा...हा... ! पहले रूपी-अरूपी में कहा था न ? रूपी में विसदृश जाति के समान अंशवाले रजकणों को रूपी कहा है, इतना। वे तो बंध के योग्य नहीं हैं परन्तु उनके अतिरिक्त बंध के योग्य हों या बंध के योग्य न हों, उन सबको अरूपी कहा है। इतना वहाँ अन्तर था। रूपी है, वह बंध के योग्य नहीं है और अरूपी बंध के योग्य है — ऐसा नहीं। रूपी है, वह तो बंध के योग्य है नहीं परन्तु अरूपी है, वह बंध के योग्य और बंध के योग्य नहीं — ऐसे दो प्रकार हैं। मात्र अन्तर कितना डाला ? कहा था न ?

निद्धत जाति के समान अंशवाले परमाणु रूपी कहलाते हैं, बस; और सदृश जाति के और असमान अंशवाले परमाणु अरूपी कहलाते हैं; इसलिए अरूपी बंध के योग्य ही हैं — ऐसा नहीं है। रूपी है, वे तो बंध के योग्य हैं ही नहीं परन्तु अरूपी अर्थात् है तो सब (अरूपी) परमाणु परन्तु विसदृश समान अंशवालों को रूपी कहा और दूसरे समान अंशवाले या असमान अंशवाले सदृश जाति के सबको अरूपी कहा। इसलिए अरूपी की व्याख्या यह नहीं है कि जो कर्म बंध होने के योग्य है — परमाणु, बंध होने के योग्य है, उन्हें अरूपी कहा — ऐसा नहीं है। मात्र इतनी बात बतलायी। विसदृश समान अंशवाले परमाणु या स्कन्धों को रूपी कहा जाता है इतना। समान रूपवाले हैं न? इसलिए, वह भी उनके कारण वहाँ बँधते हैं — ऐसा कहते हैं।

आत्मा जोर से कंपता है, इसलिए योग से परमाणुओं को ग्रहण करता है — ऐसा कहना तो निमित्त का कथन है। आहा...हा...! उस समय परमाणु स्वयं के कारण जितनी प्रदेश योग्यता हो, तदनुसार प्रदेश से परिणम जाते हैं। आहा...हा...! १६९ (गाथा) है न?

कर्मरूप परिणमित होने की शक्तिवाले पुद्गलस्कंध,... कर्मरूप होने की योग्यतावाले **पुद्गलस्कंध, तुल्य (समान) क्षेत्रावगाह...** यहाँ इतना वजन है। जिस क्षेत्र में आत्मा है, उसी क्षेत्र में परमाणु है — तुल्य क्षेत्र में है। वे **जीव के परिणाममात्र का...** देखो! परिणाम शब्द था परन्तु हल्का कर डाला। **परिणाममात्र का...** यह परिणाममात्र बाह्य में हो, इतना। (वे) **बहिरंग साधन (बाह्य कारण) है, उसका — आश्रय करके,....** लो! नये परमाणु जो बँधते हैं, वे जीव के परिणाम का बहिरंग कारण का आश्रय करके (बँधते हैं)। कर्म को पता है कि इसका आश्रय करूँ? मात्र कर्म होने के योग्य परमाणु को इसका (जीव का) योग और राग निमित्त है; इस कारण आश्रय पाकर इतना कहा जाता है।

जीव उनको परिणमानेवाला न होने पर भी,... वजन यहाँ है। जहाँ जीव है, वहाँ कर्म के परमाणु होने योग्य या न होने योग्य, सब ठसाठस भरे हुए हैं। उस जगह जीव के परिणाम का निमित्तमात्र का आश्रय करके **जीव उनको परिणमानेवाला न होने पर भी,...** जीव उन्हें परिणमाता नहीं है। आहा...हा...! कर्मपने के परिणामरूप परिणाम को

जीव परिणमाता नहीं है। आहा...हा...! **स्वयमेव कर्मभाव से परिणमित होते हैं।...** उनकी योग्यता से ही वे कर्मभाव से होते हैं। उन **पुद्गलपिण्डों को कर्मरूप करनेवाला आत्मा नहीं है।**

इससे निश्चित होता है कि पुद्गलपिण्डों को कर्मरूप करनेवाला आत्मा नहीं है। जीव के राग का और कम्पन का निमित्तपना है, इतना आश्रय (कहा) परन्तु इससे योग और राग कर्मरूप परिणमाता है — ऐसा नहीं है। उस समय कर्म होने के योग्य जो परमाणु (होते हैं वे) जीव के परिणमाये बिना स्वयं से स्वयं परिणम जाते हैं। आहा...हा...! ऐसी स्वतन्त्रता है!

तब वहाँ कोई ऐसा कहता था कि राग न करे तो कर्मरूप परिणमे? वह तो उसकी योग्यता से परिणमता है और नहीं परिणमता, वह तो उसकी नहीं परिणमने की योग्यता से नहीं परिणमता। यह प्रश्न छठी के साल में (संवत् २००६ के साल में) राजकोट में हुआ था। ऐसा कि राग न हो, जीव राग का कर्ता न हो तो (पौद्गलिक वर्गणा) कर्मरूप परिणमे? परन्तु न परिणमे तो उसकी योग्यता से नहीं परिणमे। राग नहीं है, इसलिए कर्मरूप नहीं परिणमे — ऐसा नहीं है। आहा...हा...! और राग है, इसलिए यहाँ कर्मरूप परिणमे — ऐसा नहीं है। मूल विवाद पूरा (इसे है कि) जिसे निमित्त से होता है — ऐसा सिद्ध करना है! क्या हो? (यदि परिणमावे) तब तो निमित्त ही नहीं कहलाता। आहा...हा...!

परद्रव्य के परिणमन में निमित्त कुछ करता है — ऐसा नहीं है। आहा...हा...! **इससे निश्चित होता है कि पुद्गलपिण्डों को कर्मरूप करनेवाला आत्मा नहीं है।** रजकणों की अवस्था उस काल में उस समय उसकी उत्पत्ति के काल में वह पर्याय कर्मरूप होती है, उसमें आत्मा उसे नहीं करता। आहा...हा...!

भावार्थ - समान क्षेत्र में रहनेवाले... मूल वजन यहाँ है न? तुल्यक्षेत्रावगाही! **जीव के विकारी परिणाम को निमित्तमात्र करके...** समयसार ८०, ८१, ८२ (में से) प्रश्न आया था, नहीं? कि देखो! वहाँ निमित्त करके पाता है। (ऐसा कहा है) यह तो प्रवचनसार है। ८०, ८१, ८२ (गाथा) नहीं? समयसार! वहाँ निमित्त पाकर (ऐसा) आता है न? परन्तु निमित्त पाकर — (इसका) अर्थ क्या? उस समय वे रजकण स्वयं की

पर्याय की योग्यता से परिणमित होते हैं। यह (राग) निमित्त कहा जाता है। निमित्त अर्थात् साथ में दूसरी चीज है इतना... परन्तु वह निमित्त है, इसलिए यहाँ परिणमे है — ऐसा नहीं है। है न?

८०, ८१ (गाथा का) प्रश्न उस दिन आया था। **जीवपरिणामहेदुं** है न? **कम्मत्तं पोग्गला परिणमंति।** ऐसा कहते हैं, देखो! हेतु है। **पोग्गलकम्मणिमित्तं तहेव जीवो वि परिणमदि॥८०॥** ८०, ८१ (गाथा)। **ण वि कुव्वदि कम्मगुणे जीवो कम्मं तहेव जीवगुणे। अण्णोण्णणिमित्तेण दु परिणामं जाण दोण्हं पि॥८१॥** यह विवाद उठाया था, वहाँ से आया था। **एदेण कारणेण दु कत्ता आदा सएण भावेण। पोग्गलकम्मकदाणं ण दु कत्ता सव्वभावाणं॥८२॥** (अर्थात्) पुद्गल के परिणाम का आत्मा कर्ता नहीं है, वैसे ही जीव के विकार का कर्ता कर्म नहीं है। आहा...हा...! यह बड़ा विवाद! सम्प्रदाय में यह चीज नहीं थी और (लोग) भूल-भूलैया में (पड़ गये) **परिणामहेदुं** पाकर आया न? यहाँ भी यह कहते हैं, देखो! यह तो एक चीज है इतना, बस! परन्तु कर्मरूप होने की योग्यतावाले परमाणु को स्वयं की योग्यता से परिणमित हुए हैं। यह निमित्त आया है, इसलिए परिणमित हुए हैं — ऐसा नहीं है। आहा...हा...! और इसके जो दया के, दान के, भक्ति के जितने प्रमाण में परिणाम हों, उतने ही प्रमाण में परमाणु स्वयं के कारण परिणमते हैं। उन्हें इसकी अपेक्षा नहीं है। आहा...हा...!

उतने ही प्रमाण में परिणमते हैं... दया का सामान्यभाव हो तो चारित्रमोहनीय के सातावेदनीय के (परमाणु) अमुकरूप परिणमते हैं, विशेष हो तो सातावेदनीय के अमुकरूप (परिणमते हैं) परन्तु यह इस निमित्त का विशेष है; इसलिए विशेषरूप परिणमते हैं — ऐसा नहीं है। ओ...हो...! किसे ऐसी स्वतन्त्रता की पड़ी है? इसे तो (ऐसा लगता है कि) मुझसे उसमें होता है और उससे मुझमें होता है, जाओ!

समान क्षेत्र में रहनेवाले जीव के विकारी परिणाम को निमित्तमात्र करके.... निमित्तमात्र! इतना वजन है। **कार्मणवर्गणायें स्वयमेव अपनी अन्तरंगशक्ति से ज्ञानावरणादि कर्मरूप परिणमित हो जाती हैं;...** आहा...हा...! जीव की असातना की, ज्ञान का विरोध किया, अन्तराय डाला — ऐसे जीव के भाव को जीव में रहे परन्तु

उस जीव का निमित्तपना इतना वहाँ है और उस समय उतने ही प्रमाण में जितना उसका विकारी विभाविक विपरीत भाव था, उसके प्रमाण में कर्म का परिणमना होता है। उस कर्म को विकारभाव परिणमाता है — ऐसा नहीं है। अभी इस निमित्त उपादान का बड़ा विवाद है न?

श्रोता : विवाद निकाल डालो न?

पूज्य गुरुदेवश्री : निकाल ही डाला है। अब निकालना कहाँ है? उस दिन कहा था, नहीं? बनारस! उपादान निमित्त का... क्या कुछ कहा था? अभी निर्णय नहीं (ऐसा कहा) फिर कुछ दूसरी भाषा थी। तुम थे? उपादान-निमित्त विचाराधीन है — ऐसा कुछ कहा था। विचार कोटि या कुछ कहा था। मैंने कहा कि (हमारे तो) निर्णय हो गया है। उस दिन (संवत्) २०१३ की साल! १८ वर्ष हुए। क्या हो?

स्वतन्त्र द्रव्य की पर्याय उस काल में उस प्रकार से वह होनी है, वह स्वयं से परिणमती है। आहा...हा...! यहाँ जीव ने मिथ्यात्व सेवन किया, इसलिए दर्शनमोहनीय के परमाणुरूप कर्म को परिणमना पड़ा ऐसा नहीं है और इसने सम्यग्दर्शन प्राप्त किया, इसलिए दर्शनमोह के परमाणुओं को अकर्मरूप परिणमित होना पड़ता है — ऐसा नहीं है। भाई! यह कर्म का बड़ा विवाद था न? दोनों स्वतन्त्र हैं। **जीव उन्हें कर्मरूप परिणमित नहीं करता।** लो! ●

गाथा - १७०

अथात्मनः कर्मत्वपरिणतपुद्गलद्रव्यात्मकशरीरकर्तृत्वाभावमवधारयति -

ते ते कम्मत्तगदा पोग्गलकाया पुणो वि जीवस्स।
संजायंते देहा देहंतरसंकमं पप्पा।।१७०।।

ते ते कर्मत्वगताः पुद्गलकायाः पुनरपि जीवस्य।
संजायन्ते देहा देहान्तरसंक्रमं प्राप्य।।१७०।।

ये ये नामामी यस्य जीवस्य परिणामं निमित्तमात्रीकृत्य पुद्गलकायाः स्वयमेव कर्मत्वेन परिणमन्ति, अथ ते ते तस्य जीवस्यानादिसंतानप्रवृत्तशरीरान्तरसंक्रान्तिमाश्रत्यि स्वयमेव च शरीराणि जायन्ते। अतोऽवधार्यते न कर्मत्वपरिणतपुद्गलद्रव्यात्मकशरीरकर्ता पुरुषोऽस्ति।। १७०।।

अथ शरीराकारपरिणतपुद्गलपिण्डानां जीवः कर्ता न भवतीत्युपदिशति-**ते ते कम्मत्तगदा** ते ते पूर्वसूत्रोदिताः कर्मत्वं गता द्रव्यकर्मपर्यायपरिणताः **पोग्गलकाया** पुद्गलस्कन्धाः **पुणो वि जीवस्स** पुनरपि भवान्तरेऽपि जीवस्य **संजायंते देहा** संजायन्ते सम्यग्जायन्ते देहाः शरीराणीति। किं कृत्वा। **देहंतरसंकमं पप्पा** देहान्तरसंक्रमं भवान्तरं प्राप्य लब्ध्वेति। अनेन किमुक्तं भवति - औदारिकादिशरीरनामकर्मरहितपरमात्मानमलभमानेन जीवेन यान्युपार्जितान्यौदारिकादिशरीर-नामकर्माणि तानि भवान्तरे प्राप्ते सत्युदयमागच्छन्ति, तुददयेन नौकर्मपुद्गला औदारिकादिशरीराकारणे स्वयमेव परिणमन्ति। ततः कारणादौदारिकादिकायानां जीवः कर्ता न भवतीति।।१७०।।

अब, आत्मा के कर्मरूप परिणत पुद्गलद्रव्यात्मक शरीर के कर्तृत्व का अभाव निश्चित करते हैं (अर्थात् ऐसा निश्चित करते हैं कि कर्मरूप परिणत जो पुद्गलद्रव्य उस-स्वरूप शरीर का कर्ता आत्मा नहीं है) —

कर्मरूप परिणत पुद्गलों के, पिण्ड वे-वे पुनि-पुनि।
बनते शरीर हैं जीव के, जब संक्रमण इस देह की॥

अन्वयार्थ - **[कर्मत्वगताः]** कर्मरूप परिणत **[ते ते]** वे-वे **[पुद्गलकायाः]** पुद्गलपिण्ड **[देहान्तर संक्रमं प्राप्य]** देहान्तररूप परिवर्तन को प्राप्त करके **[पुनः अपि]** पुनः पुनः **[जीवस्य]** जीव के **[देहाः]** शरीर **[संजायन्ते]** होते हैं।

टीका - जिस जीव के परिणाम को निमित्तमात्र करके जो-जो यह पुद्गलकाय स्वयमेव कर्मरूप परिणत होते हैं, वे जीव के अनादि संततिरूप (प्रवाहरूप) प्रवर्तमान देहान्तर (भवांतर) रूप परिवर्तन का आश्रय लेकर वे-वे पुद्गलपिण्ड स्वयमेव शरीर (शरीररूप, शरीर के होने में निमित्तरूप) बनते हैं। इससे निश्चित होता है कि कर्मरूप परिणत पुद्गलद्रव्यात्मक शरीर का कर्ता आत्मा नहीं है।

भावार्थ - जीव के परिणाम को निमित्तमात्र करके जो पुद्गल स्वयमेव कर्मरूप परिणत होते हैं, वे पुद्गल ही अन्य भव में शरीर के बनने में निमित्तभूत होते हैं, और नोकर्मपुद्गल स्वयमेव शरीररूप परिणमित होते हैं। इसलिए शरीर का कर्ता आत्मा नहीं है ॥१७० ॥

प्रवचन नं. १७२ का शेष   आषाढ़ शुक्ल १०   शुक्रवार, १८ जुलाई १९७५

अब, आत्मा के कर्मरूप परिणत पुद्गलद्रव्यात्मक शरीर के कर्तृत्व का अभाव निश्चित करते हैं (अर्थात् ऐसा निश्चित करते हैं कि कर्मरूप परिणत जो पुद्गलद्रव्य उस-स्वरूप शरीर का कर्ता आत्मा नहीं है) —

ते ते कम्मत्तगदा पोग्गलकाया पुणो वि जीवस्स।
संजायंते देहा देहंतरसंकमं पप्पा।।१७०।।

कर्मरूप परिणत पुद्गलों के, पिण्ड वे-वे पुनि-पुनि।
बनते शरीर हैं जीव के, जब संक्रमण इस देह की॥

टीका - जिस जीव के परिणाम को निमित्तमात्र करके जो-जो यह पुद्गलकाय... अर्थात् पुद्गल स्कन्ध **स्वयमेव कर्मरूप परिणत होते हैं, वे जीव के अनादि संततिरूप (प्रवाहरूप) प्रवर्तमान देहान्तर...** (अर्थात्) एक के बाद एक देह

का बदलना। **(भवांतर) रूप परिवर्तन का आश्रय लेकर वे-वे पुद्‌गलपिण्ड स्वयमेव शरीर (शरीररूप, शरीर के होने में निमित्तरूप) बनते हैं।...** अर्थात् नये शरीर को वे पुद्‌गलकाय निमित्तरूप होते हैं। पुद्‌गलकाय स्वयंमेव शरीररूप होते हैं — ऐसा कहते हैं। पूर्व के कर्म के परमाणु जो हैं, वे नये शरीररूप होते हैं। इसका अर्थ कि नये शरीररूप में वे निमित्त हैं, शब्द ऐसा है। **'जब संक्रमण इस देह की'**

वे-वे पुद्‌गलपिण्ड स्वयमेव शरीर (शरीररूप, शरीर के होने में निमित्तरूप) बनते हैं। इससे निश्चित होता है कि कर्मरूप परिणत पुद्‌गलद्रव्यात्मक शरीर का कर्ता आत्मा नहीं है। यह कर्म का निमित्त और शरीरपने नया होना — इस शरीर की पर्याय का कर्ता आत्मा नहीं है। अन्दर इस शरीर की रचना होती है न ? आत्मा उसका कर्ता नहीं है — ऐसा कहते हैं।

पहले समय ग्रहे और इन्द्रियरूप परिणमे (ऐसा आता) है न ? आहार, शरीर, इन्द्रिय। आहार, शरीर, इन्द्रिय, श्वाँस, भाषा, और मन इनरूप - पर्याप्तिरूप ग्रहता है न ? (ऐसा) कहते हैं न ?

मुमुक्षु : वस्तु को ग्रहे और बाकी के निकाल डाले।

पूज्य गुरुदेवश्री : निकाले कौन और ग्रहे कौन ?

भावार्थ - जीव के परिणाम को निमित्तमात्र करके जो पुद्‌गल स्वयमेव कर्मरूप परिणत होते हैं, वे पुद्‌गल ही अन्य भव में शरीर के बनने में निमित्तभूत होते हैं,... लो, स्पष्टीकरण किया। पाठ में तो ऐसा है कि जो कर्मरूप परिणमित हैं, वे शरीररूप होते हैं — ऐसा। इसका अर्थ कि नये शरीररूप होने में वे कर्म के पुद्‌गल निमित्त हैं, बस! **और नोकर्मपुद्‌गल स्वयमेव शरीररूप परिणमित होते हैं।...** वे पुद्‌गल अन्य भव में शरीर बनने में निमित्तभूत होते हैं। **और नोकर्मपुद्‌गल स्वयमेव शरीररूप परिणमित होते हैं।...** लो! **इसलिए शरीर का कर्ता आत्मा नहीं है।**

यह शरीर प्राप्त होने में आत्मा इसका कर्ता नहीं है। यह रजकण ही उस काल में शरीररूप परिणमित होने की योग्यतावाले परिणमित हो गये हैं। आहा...हा...! आहार को

ग्रहण करता है — आता है न? आहार, शरीर, इन्द्रियाँ... नहीं? यह शरीर, फिर अन्दर इन्द्रियों की रचना होती है, भाषा बँधती है, मन बँधता है परन्तु वह तो उसके कारण परमाणु के उन रजकणों की पर्याय की योग्यता से होता है। उसमें यह पेट में माता का जीव या बालक का जीव उसका कर्ता नहीं है। आहा...हा...! आहार, शरीर, और भाषा में आता है न? छह पर्याप्ति। छह पर्याप्ति बाँधे। शास्त्र में ऐसा आता है। यहाँ यह स्पष्टीकरण करते हैं कि स्वयं स्वतः बँधते हैं; आत्मा उन्हें बाँधे — ऐसा उनका कर्ता है ही नहीं। आहा...हा...!●

जिनप्रवचन का और सन्तों का उपदेश

प्रत्येक जीव अथवा परमाणु अपने-अपने में स्वतन्त्र अस्तित्व से परिपूर्ण है। किसी के अस्तित्व का अंश किसी दूसरे में नहीं है। अपने-अपने गुण-पर्यायोंस्वरूप जितना अस्तित्व है, उतनी ही प्रत्येक द्रव्य की सीमा है, उतना ही उसका कार्यक्षेत्र है। कोई भी द्रव्य अपने अस्तित्व की सीमा से बाहर कुछ भी कार्य नहीं कर सकता और दूसरे के कार्य को अपने अस्तित्व की सीमा में नहीं आने देता - ऐसा ही वस्तु का स्वभाव है, जिसे सर्वज्ञ भगवान अरहन्तदेव ने प्रसिद्ध किया है।

हे जीव! अपने हित-अहित का कर्तव्य तुझमें ही है। तुझसे भिन्न पाँच अजीव द्रव्यों में अथवा अन्य जीवों में कहीं तेरा हित-अहित नहीं है; तू स्वयं ही अपने हित-अहितरूप कार्य का कर्ता है, कोई दूसरा तेरे हित-अहित का कर्ता नहीं है; अतः अब तुझे स्वयं अपना अहित कब तक करना है? अभी तक तो अज्ञान से पर को हित-अहित का कर्ता मानकर तूने अपना अहित ही किया है परन्तु अब तो 'मेरे हित-अहित का कर्ता मैं स्वयं ही हूँ, मेरा अहित मिटकर हित करने की सामर्थ्य मुझमें ही है' - ऐसा समझकर अपना हित करने के लिए तू जागृत हो जा। पर के अस्तित्व से अपने अस्तित्व की अत्यन्त पृथक्ता जानकर, अपने ज्ञानानन्दस्वरूप में ढल! यही जिनप्रवचन का और सन्तों का उपदेश है; मोक्ष का उपाय भी यही है।

- पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी

गाथा - १७१

अथात्मनः शरीरत्वाभावमवधारयति -

ओरालिओ य देहो देहो वेउव्विओ य तेजसिओ।
आहारय कम्मइओ पोग्गलदव्वप्पगा सव्वे।।१७१।।

औदारिकश्च देहो देहो वैक्रियिकश्च तैजसः।
आहारकः कार्मणः पुद्गलद्रव्यात्मकाः सर्वे।।१७१।।

यतो ह्यौदारिकवैक्रियिकाहारकतैजसकार्मणानि शरीराणि सर्वाण्यपि पुद्गलद्रव्यात्मकानि, ततोऽबधार्यते न शरीरं पुरुषोऽस्ति।।१७१।।

अथ शरीराणि जीवस्वरूपं न भवन्तीति निश्चिनोति - **ओरालिओ य देहो** औदारिकश्च देहः **देहो वेउव्विओ य** देहो वैक्रियकश्च **तेजइओ** तैजसिकः **आहारय कम्मइओ** आहारकः कार्मणश्च **पोग्गलदव्वप्पगा सव्वे** एते पञ्च देहाः पुद्गलद्रव्यात्मकाः सर्वेऽपि मम स्वरूपं न भवन्ति। कस्मादिति चेत्। ममाशरीरचैतन्यचमत्कारपरिणतत्वेन सर्वदैवाचेतनशरीरत्वविरोधा-दिति। ।१७१।।

अब, आत्मा के शरीरपने का अभाव निश्चित करते हैं —

ये देह औदारिक अरु वैक्रियक, तैजस देह हैं।
कार्माण आहारक देह सर्व ही, पुद्गलात्मक देह॥

अन्वयार्थ – [**औदारिकः च देहः**] औदारिक शरीर, [**वैक्रियिकः देहः**] वैक्रियिक शरीर, [**तैजसः**] तैजस शरीर, [**आहारकः**] आहारक शरीर [**च**] और [**कार्मणः**] कार्मण शरीर — [**सर्वे**] सब [**पुद्गलद्रव्यात्मकाः**] पुद्गलद्रव्यात्मक हैं।

टीका – औदारिक, वैक्रियिक, आहारक, तैजस और कार्मण — ये शरीर सब पुद्गलद्रव्यात्मक हैं। इससे निश्चित होता है कि आत्मा शरीर नहीं है ॥१७१ ॥

प्रवचन नं. १७२ का शेष आषाढ़ शुक्ल १० शुक्रवार, १८ जुलाई १९७५

अब, आत्मा के शरीरपने का अभाव निश्चित करते हैं —

ओरालिओ य देहो देहो वेउव्विओ य तेजसिओ।
आहारय कम्मइओ पोग्गलदव्वप्पगा सव्वे।।१७१।।

ये देह औदारिक अरु वैक्रियक, तैजस देह हैं।
कार्माण आहारक देह सर्व ही, पुद्गलात्मक देह॥

यह साधारण बात है। **टीका - औदारिक, वैक्रियिक, आहारक, तैजस और कार्मण - ये शरीर सब पुद्गलद्रव्यात्मक हैं।....** मुनि, आहारकशरीर को बाँधते हैं, तो कहते हैं कि नहीं। आहारकशरीर बनावे, आता है या नहीं ? पुतला बनावे और निकाले तथा भगवान के पास जाये और वहाँ समाधान हो जाये। कहते हैं कि यह आहारकशरीर के रजकण उसके कारण वहाँ बँधे हैं; आत्मा ने नहीं बाँधे हैं। आत्मा ने वह शरीर नहीं बनाया है। वह पुतला आत्मा ने नहीं बनाया है। आहा...हा... !

इसी प्रकार कार्मण बँधता है, ऐसे ही औदारिक, वैक्रियक और तैजस। **ये शरीर सब पुद्गलद्रव्यात्मक हैं। इससे निश्चित होता है कि आत्मा, शरीर नहीं है।** आत्मा, ये शरीर है ही नहीं। (जयसेनाचार्यदेव की) संस्कृत (टीका में) है। **ममाशरीरचैतन्य-चमत्कारपरिणतत्वेन सर्वदैवाचेतनशरीरत्वविरोधादिति।** संस्कृत में है। **ममाशरीर-चैतन्यचमत्कार** — मैं तो अशरीरी चैतन्यचमत्कार परिणतवाला हूँ। आहा...हा... ! **परिणतत्वेन,** हाँ! अकेला चैतन्यचमत्कार — ऐसा नहीं। आहा...हा... !

मैं अशरीर ऐसा चैतन्यचमत्कार **परिणतत्वेन!** चैतन्य के चमत्कार से, ज्ञान के चमत्कार से, जानने के चमत्कार से परिणमनेवाला हूँ। चमत्कार क्यों (कहा) ? कि जैसा यहाँ राग और कर्म बँधे, वैसा यहाँ ज्ञान स्वयं अपने से करता है — ऐसा चैतन्य का चमत्कार है। आहा...हा... ! राग हुआ, इसलिए यहाँ जाना — ऐसा नहीं है। जानने के स्वभाव का चमत्कार ही अपने स्व-पर प्रकाश से जानता है, ऐसी परिणतिवाला मैं आत्मा हूँ — ऐसा कहते हैं। आहा...हा... !

धर्मी ऐसा जानता है कि **ममाशरीरचैतन्यचमत्कारपरिणतत्वेन... परिणतत्वेन** वजन यहाँ है, उसमें सबमें आया था न ? **परिणतत्वेन... परिणतत्वेन।** अकेला द्रव्य है। वह तो द्रव्य का भान हुए बिना, परिणति बिना द्रव्य क्या ? आहा...हा... ! सूक्ष्म विषय है। अब १७२ (गाथा) आती है, हाँ ! आधे घण्टे में चार (गाथाएँ लीं)। कोई भाई कहता है कल आयेगी या नहीं ? कहाँ गया ? यह आयी — १७२ ! वह कहता है सीधी पढ़ेंगे या नहीं ? कहा कि (यह भाई) आये हैं तो सीधी पढ़ते हैं। चार वँच गयी। समझ में आया ? अब १७२ वीं आयी, लो ! आधे घण्टे में चार हो गयी। (इन भाई ने) कल पूछा था कि यह १७२ आयेगी या नहीं ? कथा था न ? मैंने कहा, भाई ! यह चार तो पढ़ने में आ जायेगी।

●

(**यहाँ से १७२ वीं गाथा प्रवचन सुधा** – सातवें भाग में ली जायेगी।)

अवश्य सिद्धि होगी

आकाश–पाताल भले एक हो जाएँ परन्तु भाई ! तू अपने ध्येय को मत चूकना, अपने प्रयत्न को मत छोड़ना। आत्मार्थ को पोषण मिले, वह कार्य करना। जिस ध्येय पर आरूढ़ हुआ, उसे पूर्ण करना, अवश्य सिद्धि होगी। – ***पूज्य बहिनश्री चम्पाबेन***